प्रकाशक—

श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृतिरक्षक संघ
सैलाना (म० प्र०)

द्रव्य सहायक—

श्रीमान् सेठ शामजी वेलजी वीराणी
अने
श्रीमती कड़वीबाई शामजी वीराणी ट्रस्ट

ह० श्रीमान् सेठ दुर्लभजीभाई वीराणी

राजकोट (सौराष्ट्र)

वीर सम्वत् २४८८
विक्रम सम्वत् २०१८

मूल्य [illegible] मात्र
पाँच रुपये

प्रथमावृत्ति १ ००

मुद्रक—जैन प्रिंटिंग प्रेस सैलाना (म० प्र०)

नम्र निवेदन

वर्त्तमान युग में जडविज्ञान ने इतना प्रभाव फैलाया कि जिसके दबदबे मे आत्मवाद, धर्मवाद और आर्य संस्कृति पर से आर्य प्रजा की श्रद्धा हटने लगी। आर्य परम्परा में उत्पन्न व सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अनुयायी भी जड विज्ञान के प्रभाव में आकर विचलित होने लगे। वास्तव में जड, जड विज्ञान और उससे निष्पन्न साधन सामग्री, आत्मा को अधिकाधिक पराधीनता के बन्धन मे जकडने वाली है। इससे द्रव्य पराश्रय भी बढ़ता है और भाव भी। द्रव्य पराधीनता ने शारीरिक शक्ति का ह्रास किया और भाव पराधीनता ने विषय कषाय बढाकर दुर्गति का मार्ग सरल बना दिया।

जैन तत्त्वज्ञान के विवेकशील अभ्यासी के लिए, जड विज्ञान का दिखाई देने वाला चमत्कार आश्चर्य जनक नही है। जैन सिद्धांत जड मे भी अनन्त शक्ति मानता है। जड की गति की तीव्रता, जैन सिद्धात ने, एक सूक्ष्म समय में असंख्य योजन प्रमाण (लोकान्त के एक छोर से दूसरे छोर तक) मानी है। इतनी शक्ति का ज्ञान, वैज्ञानिको को नही है, न जड के अनन्त पर्याय परिणमन (रूपान्तर) का ज्ञान ही उन्हे है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवन्तो ने जड़ के अणु से लगाकर विराट स्वरूप और उसकी जघन्य से लगाकर उत्कृष्ट शक्ति को जाना है—प्ररूपण किया है। साथ ही यह भी बताया है कि जड की इतनी शक्ति का भोक्ता चैतन्य है। प्रयोग परिणत पुद्गल से सारा ससार भरा है। सर्वज्ञो के ज्ञान में सभी द्रव्य, उनके समस्त गुण और सभी पर्यायें हस्तामलक वत् प्रत्यक्ष है। इस वस्तु को जानने समझने वाले सुज्ञ सम्यग्दृष्टि को, जड आविष्कारो से कोई विशेष आश्चर्य नही हो सकता। जड विज्ञानने पुद्गलानन्द को प्रोत्साहन दिया है, साथ ही दृष्टि विकार से भवाभिनन्दीपन को भी प्रोत्साहन दिया है। जड विज्ञान ने आत्म विज्ञान को भुला दिया। आत्म शक्ति से अपरिचित कर दिया।

जैनधर्म, अनादिकाल से आत्मवाद का पुरस्कर्त्ता रहा है। यह क्रियावाद के द्वारा कर्म के बन्धन से आत्मा को मुक्त कर सच्चिदानन्दमय शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का विशुद्ध उपाय बतलाता है। यह उपाय सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप ही है। विचार और आचार रूप यह उपाय, जड के बन्धन से आत्मा को मुक्त कर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र बनाने वाला है।

जैनधर्म की उत्कृष्टता, तत्त्वो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन और उच्च आचार के पवित्र नियम स्पष्ट कर रहे है कि इसके प्रवर्त्तक छद्मस्थ नही, किन्तु सर्वज्ञ थे। हम उपासको का कर्त्तव्य है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए यथाशक्ति पालन करे। सर्वज्ञ के सिद्धात, ध्रुव, शाश्वत, अटल,

और अपरिवर्तनीय होते हैं। आस्रव हेय और संवर उपादेय बन्ध हेय मोक्ष उपादेय —यह सिद्धांत पहले भी अटल था आज भी अटल है और भविष्य में भी अटल रहेगा। इसमें परिवर्तन करने की चेष्टा, बालचेष्टा है। वह सुखदायक नहीं दुःख दायक होगा।

जैन संघ के चार अंग हैं—१ साधु २ साध्वी ३ श्रावक और ४ श्राविका। इन चारों में विचार साम्यता होती है। श्रद्धा की अपेक्षा चारों अंग एक और समान धर्मी हैं। सभी की श्रद्धा निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुसार ही होती है। साधु साध्वी और श्रावक श्राविका में भेद है तो आचार सम्बन्धी। आचार की शुद्धता और उत्तमता के कारण ही साधु साध्वी श्रावक श्राविकाओं के लिए वन्दनीय होते हैं। यदि उपरोक्त चार अंग या इनमें से किसी अंग अथवा उपांग में मोक्षमार्ग के प्रथम अंग—सम्यक श्रद्धान की कमी हो तो वह निर्ग्रन्थ प्रवचन के अन्तर्गत नहीं रहता। श्रद्धा के अभाव में वह जैनत्व से गिर जाता है। श्रद्धा बल के ऊपर ही चारित्र रूपी भवन का उठाव होता है। इसके अभाव में सारा प्रयत्न ही संसार के लिए होता है। इतना होते हुए भी आज के युग में श्रद्धाबल की बहुत ही न्यूनता दिखाई दे रही है। अभद्रालु लोग, जैन श्रावक या श्रमण कहलाते हुए भी जैनत्व के विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं। जैन धर्म के नाम पर सुधारवाद का प्रचार कर रहे हैं और भोले अनभिज्ञ उपासक उसके प्रभाव में आकर अपने प्रिय धर्म से दूर होते जा रहे हैं। यदि हमारे धर्म बन्धु व बहिनें अपने धर्म उसके नियम और विधि निषेध को जाने समझें, तो वे सत्य का आदर करके असत्य का त्याग कर सकते हैं। जब तक उनके सामने जिनेश्वर भगवन्त की वाणी और सूत्रों में लिखे हुए विधि विधान नहीं आवें तब तक वे वास्तविकता को नहीं समझ सकते। और श्रद्धाविहीन प्रचार से वे अपने धर्म से दूर होते रहते हैं।

निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् सर्वज्ञ वाणी को सही रूप में समझने के लिए हमारा आगम साहित्य उपस्थित है। किन्तु सभी भाई बहिनें सभी आगमों को पढ़कर उनके यथार्थ भावों को समझलें—ऐसा होना असम्भव है। उनके लिए एक पुस्तक ऐसी होनी चाहिए—जिसमें आत्म विकास के—आचार विचार के सभी विधि विधानों का संग्रह हो। ऐसी सर्वांगीण पुस्तक की चाह एवं माँग बहुत समय से हो रही थी। इसकी पूर्ति स्थानकवासी जैन समाज के माने हुए विद्वान तत्त्वज्ञ जिनधर्म के रसिक एवं मर्मज्ञ श्रीयुत रतनलालजी डोशी ने—बड़े परिश्रम के साथ की है। उन्होंने 'मोक्ष मार्ग' का सम्पादन करके सर्वोपयोगी ग्रंथ उपस्थित किया है। इसमें सुदेव कुदेव सुसाधु कुसाधु, असाधु सम्यक्त्व मिथ्यात्व और ज्ञान दर्शन चारित्र तथा तप के भेदों का यथार्थ रूप में स्पष्ट रूप से विवेचन करके जिनधर्म को समझने का एक अच्छा साधन उपस्थित कर दिया है। इसके लिए मैं स्वयं और अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ आपका हृदय से आभार मानता है। संघ इस ग्रन्थ का प्रकाशन करके समाज की सेवा में प्रस्तुत करते हुए गौरव एवं कुछ सन्तोष का अनुभव करता है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में दानवीर श्रीमान् सेठ दुर्लभजीभाई शामजीभाई वीराणी राजकोट निवासी ने दो हजार रुपये प्रदान करके अपने धर्म प्रेम का परिचय दिया है। अतएव सघ आपको अनेकानेक धन्यवाद देता है।

मै अपने धर्मबन्धुओ और बहिनो से नम्र निवेदन करता हू कि वे इस ग्रन्थ का अवश्य पठन और मनन करें। इससे उनके धार्मिक ज्ञान में वृद्धि होगी। वे धर्म और अधर्म तथा सदाचार और दुराचार का भेद समझ सकेंगे और अपने को जिनधर्म तथा जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा का आराधक बनाकर स्व-पर कल्याण कर सकेंगे।

इसके बाद सघ, धार्मिक साहित्य का प्रकाशन शीघ्रता पूर्वक करता रहेगा। उत्तराध्ययनादि की पुनरावृत्ति, औपपातिक सूत्र और भगवतीसूत्र का प्रकाशन होगा। सघ, समाज मे आगम-ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार करना चाहता है। यह सब समाज के सहयोग से ही हो सकेगा। समाज से निवेदन है कि अपने इस सघ को उत्साह पूर्वक विशेष सहयोग प्रदान करे।

महाजनवाड़ी
धार [मध्य-प्रदेश]

मानकलाल पोरवाड
बी एस-सी एल-एल.-बी
एडवोकेट, धार (म. प्र.)
अध्यक्ष—अ भा साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक सघ,
सैलाना [म. प्र.]
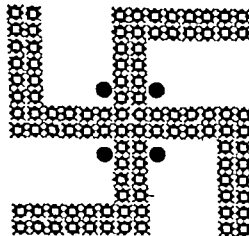
लेखक के उद्गार

देवाधिदेव जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित 'मोक्ष मार्ग' को पाठकों की सेवामें उपस्थित करते हुए मुझे प्रसन्नता होती है। भगवान् ने अपने प्रवचन में ज्ञान दर्शन चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है। उसी मोक्ष मार्ग का—१ दर्शन धर्म २ ज्ञान धर्म ३ अगार धर्म ४ अनगार धर्म और ५ तप धर्म—इन पांच खण्डों में इस ग्रंथ में वर्णन किया गया है। चारित्र धर्म के अगारधर्म और अनगारधर्म ऐसे दो भेद होने से चार प्रकार के धर्म का आलेखन, पांच खण्डों में हुआ है।

ग्रंथ का उत्थान देव तत्त्व के प्रतिपादन से किया गया क्योंकि धर्म का आधार ही देव तत्त्व है। जिनेश्वर देव ही धर्म के मूल उत्पादक हैं। उन्हीं के द्वारा धर्म का प्रथम प्रकाश एवं प्रचार होता है। गणधर आचार्य उपाध्याय उपदेशक मुनिवर आदि धर्म का प्रचार करते हैं वह तीर्थंकर भगवान् रूपी कल्पवृक्ष से गिरे हुए मनोहर एवं सुगन्धित पुष्पों की सुगन्ध मात्र है। जिनेश्वर भगवन्त रूपी अमृत कुण्ड के जल की प्याऊ है। इस प्रकार देव तत्त्व ही धर्मोत्पत्ति का मूल है। गुरु तत्त्व के विवेचन में तो पूरा अनगार धर्म है। जो अनगार भगवन्त इन विधि निषेधों का श्रद्धा पूर्वक पालन करते हैं वे परमेष्ठी पद अर्थात् गुरु पद में वन्दनीय हैं। विशेष रूप से गुरु पद का विषय पृ. ३७१ में बताये हुए "दीक्षा दाता की योग्यता" प्रकरण में बतलाया है। गुरु पद में उन्हीं को स्थान देना चाहिए जिनमें दूसरों की अपेक्षा गुणों की अधिकता हो। गुणवान् महात्मा के विद्यमान होते हुए भी गुणहीन एवं दाप पात्र को गुरु बनाना या तो अज्ञान का कारण है या पक्षपात अथवा स्वार्थ। जिसमें बुद्धि है जो गुणी अवगुणी सुद्धाचारी शिथिलाचारी और कुग्राचारी का भेद समझता है वह तो उत्तम गुणों के धारक महात्मा को ही गुरु पद में स्थान देता है।

हां तो गुरु पद के गुणावगुण बताने वाला 'अनगार धर्म' नामक चौथा खण्ड है। और 'धर्म पद' से तो सारा ग्रंथ ही सुशोभित है। दर्शन और ज्ञान खण्ड का सम्बन्ध श्रुत धर्म से है और शेष तीनों खण्ड चारित्र धर्म से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार देव गुरु और धर्म तत्त्व की आराधना विषयक सामग्री से ही यह ग्रंथ भरा हुआ है।

इस ग्रंथ की योजना का उद्देश्य यही रहा कि धर्म जिज्ञासु बन्धुओं और बहिनों को एक ही ग्रंथ में मोक्ष मार्ग के सभी प्रकार के विधि निषेध की जानकारी हो सके। सभी आगमों का स्वाध्याय-पठन मनन करने की अनुकूलता सब को नहीं होती। यदि एक ही ग्रन्थ में सभी आगमों के चरण-करणानुयोग का सार मिल सके तो उसका उपयोग अधिकता से हो सकता है। उपासक वर्ग अपना

धर्म और कर्त्तव्य को समझकर हेय का त्याग और उपादेय को स्वीकार कर सकता है और गुरु वर्ग के आचार विचार की भी जानकारी हो सकती है। उनमें साधुता असाधुता पहिचानने की विवेक बुद्धि जागृत होती है। इससे वे साधुता का सत्कार करेंगे और शिथिलाचार मिटाने में प्रयत्नशील होंगे। कम से कम वे स्वय शिथिलाचार के पोषक तो नही बनेंगे—जिससे धर्म की अवदशा हो।

मोक्ष मार्ग का निर्माण मुख्यत आगमो के आधार पर किया गया है। जहा अन्य ग्रथो का उपयोग किया है, वह भी मूल सूत्रो के लिए बाधक नही, किन्तु साधक समझ कर ही। जहा तक मेरी दृष्टि पहुँची, मैंने श्रुत चारित्र धर्म सम्बन्धी प्राय सभी विषयो का सग्रह इस ग्रथ में किया है। विषय चुनने, उपयोग करने लिखने और प्रूफ सशोधनादि सब काम मुझ अकेले को ही करना पडा। जनवरी ५७ से इसका लेखन कार्य प्रारभ करके जून ५८ मे पूरा किया गया। इसमे पृ. ३७३ से ३८३ तक का दीक्षा विषयक प्रकरण, प श्री घेवरचन्दजी सा बाँठिया का लिखा हुआ है। इस सारे ग्रथ की पाण्डुलिपि का पडित श्री बाँठियाजी ने सैद्धातिक दृष्टि से सशोधन किया और जहा आवश्यक लगा, बहुश्रुत पडित मुनिराज श्री समर्थमलजी महाराज सा से पूछा और सशोधन किया। इसके लिए मैं पण्डितजी का पूर्ण आभारी हूँ।

इस ग्रथ में वर्णित भाव मेरे नही, किन्तु निर्ग्रंथ प्रवचन के है। मैंने आगमो के पठन मनन और समाज के श्रुतधर महात्माओ से अपने क्षयोपशमानुसार जैसा समझा वैसा कलम के द्वारा कागज पर उतारने का प्रयत्न किया। मै इस ग्रथ का सम्पादक मात्र हू। वस्तु सूत्रो की, और भाषा तथा सजाई मेरी है। विद्वान् लोग मेरी भाषा को पसन्द नही करेंगे। क्योकि व्याकरण सम्बन्धी भूले और सामान्य अशुद्धियाँ भी मेरे लिखने मे रहती है। विराम, सम्बोधन, आदि चिन्हो का उपयोग भी यथायोग्य वही कर सकता है—जो उसका ज्ञाता हो। अतएव इसमे भी भूले होगी।

प्रूफ सशोधक का प्रबन्ध नही हो सकने के कारण यह काम भी मुझे ही करना पडा। यह कार्य बहुत बारीक होता है। जिसने इस कार्य की यथायोग्य शिक्षा ली हो, वही इस कार्य को ठीक तरह से कर सकता है। जिसकी आदत पढने की हो, और वस्तु परिचित हो तथा उतावल से काम करना हो, उससे भूले होती ही है। प्रूफ शुद्धि में मुझ से बहुत भूले रह गई। इसका शुद्धि पत्र बनाते समय पडित बाँठियाजी ने बहुतसी भूले बतलाई, किन्तु शुद्धिपत्र में उन्ही भूलों का उल्लेख किया गया, जो आवश्यक समझी गई। शेष को तो सुज्ञ पाठक स्वय समझलेंगे और किसी प्रकार का भ्रम नही होगा —ऐसी आशा है। इसमे कही कही पुनरुक्ति भी हुई है। खासकर २२ परीषहो का वर्णन दो बार हो गया है।

विषयो के यथा स्थान जमाने से उनका क्रम और सम्बन्ध ठीक रहता है। किन्तु इसमे वैसा नही हो सका। कोई आगे तो कोई पीछे।

पुस्तक की छपाई में जो टाइप हमने काम में लिया उसमें रा मात्राएँ अनुस्वार ह्रस्व दीर्घ उ कार मात्रा आदि ऐसे हैं जो स्पष्ट नहीं आये । यह त्रुटि भी पाठकों को खटकेगी अवश्य किन्तु टाइप पसन्द करते समय यह त्रुटि ध्यान में नहीं आई थी ।

बहुत से ऐसे विषय और विधि विधान होंगे—जिनका इस ग्रंथ में संग्रहित होना आवश्यक है । किन्तु स्मृति में नहीं आने से छूट गये । यदि सुज्ञ धर्म बन्धुओं को इस ग्रंथ की उपयोगिता लगे और वे इसकी त्रुटियाँ दूर करके और नये विषय जोड़कर नया संस्करण परिपूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत उपयोगी बन जायगा ।

परिशिष्ट में दिये गये विषय मेरे प्रिय मित्र आदर्श श्रमणोपासक श्रीयुत मोतीलालजी सा मांडोत के सुझाव के अनुसार हैं ।

यह ग्रंथ समस्त श्वेताम्बर जैन समाज के लिए समान रूप से उपयोगी है । स्थानकवासी जैन समाज में तो अपने ढंग का एक ही होगा । इसमें आत्म कल्याण के प्रायः सभी विषयों का उल्लेख हुआ है और प्रत्येक उल्लेख के साथ सम्बन्धित सूत्र के स्थान का निर्देश भी कर दिया गया है । जिससे जिज्ञासु पाठक चाहें तो उस विषय का मूल आधार भी देख सकें ।

इसके प्रकाशन में विलम्ब भी बहुत हुआ । जून १८ में तय्यार हुआ ग्रंथ अब छपकर प्रकाश में आ रहा है । यों तो संघ स्थापना के समय ही इस प्रकार के एक ग्रंथ के प्रकाशन की माँग हो रही थी किन्तु जब से मोक्ष मार्ग के प्रकाशन का ठहराव संघ की कार्यकारिणी सभा बम्बई में अप्रेल १८ में हुआ और सम्यग्दर्शन द्वारा जाहिर प्रचार हुआ तभी से इसकी माँग आती रही । कई बन्धुओं ने तो विलम्ब के कारण उपालम्भ भी दिये । अब इस चिर प्रतिक्षित ग्रंथ को पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए महा हर्ष होता है ।

सैलाना [म प्र]
माघ पूर्णिमा, सम्वत् २०१८

रतनलाल डोशी

बाल ब्रह्मचारी स्व० श्री विनोद मुनिजी म०

जो भव्यात्माएँ ज्ञान दर्शन और चारित्र में रमण करती हुई मोक्ष मार्ग में आगे वढती जाती है, उनमें से कुछ तो द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता पा कर कृतकृत्य हो जाती है, किन्तु कुछ ऐसी भी होती है, कि जिनकी साधना में पूरी अनुकूलता नही होती। इससे वे अपना आयुष्य पूर्ण करके देवलोक में उत्पन्न होती है। वहा से अपना देव भव पूरा करके मनुष्य भव प्राप्त करती है। अपने शुभ कर्मों के वल से मनुष्य भव में भी वे ऐसे उत्तम स्थान पर जन्म लेती है कि जहा सभी प्रकार की उत्तमता होती है। वहा उनका लालन पालन उत्तम रीति से होता है। वे माता, पिता आदि सभी के प्रेम पात्र होते है। उनके लिए सभी प्रकार की सुख सुविधाएँ होती है। वैभव की प्रचूरता और भोग साधनो की अनुकूलता में मोहित होकर जो उसी में रम जाते हैं, उनके लिए तो वह अनुकूलता पतनकारी बन जाती है। वे प्राप्त सुयोग का दुरुपयोग करके पाप कर्मों का सचय कर लेते हैं और फिर नरक तिर्यंच में जाकर दुखी होते है। ऐसे जीव बहुत होते है। किन्तु प्राप्त काम भोगो के प्रति उदासीन रहकर आत्मभान को जागृत रखने वाला तो कोई विरला ही होता है। वह विरल भव्यात्मा दुनिया की चकाचौध में नही उलझती। ससार के लुभावने दृश्य और भोगोपभोग की सामग्रिया उन्हें नही लुभा सकती। वे उस पौद्गलिक आकर्षण से उदासीन रहते है और त्याग कर आत्मोत्थान में लग जाते है।

पोलासपुर नगर के युवराज, राजऋद्धि के भावी अधिकारी को, दिन रात सतत सम्पर्क रखने वाली राजलक्ष्मी भी नही लुभा सकी, किन्तु एक निर्ग्रंथ के एक बार के साक्षात्कारी ने उस बच्चे के सुप्त सस्कारो को जगा दिया। फिर तो वह अतिमुक्त कुमार निर्ग्रंथ वनकर उसी भव में मुक्ति पा गया।

ऐसी ही भव्यात्माओ में श्री विनोदकुमारजी वीराणी भी एक थे। वे भी पूर्व भव से कोई सयमी तपस्वी या उच्चकोटि के श्रावक होंगे, और अपना आयु पूर्ण कर देवलोक मे गये होंगे। वहा से वे ऐसे ही स्थान पर जन्मे-जहा सभी प्रकार की अनुकूलताएँ थी। यद्यपि उनका जन्म विक्रम सवत् १९९२ में 'पोर्टसुदान' (अफ्रिका) में हुआ था-जिसे हम 'अनार्यभूमि' कहते है, किन्तु यह तो उप-निवास मात्र था। वे तो आर्य घर में ही जन्मे थे। घर आर्य, माता पिता आर्य, घर का सारा वातावरण आर्य। यो तो श्री समुद्रपालजी का जन्म भी समुद्र में हुआ था, किन्तु वे आर्य ही थे। आर्य माता की कुक्षि में अवतरित होकर आपका जन्म हुआ था। माता की धार्मिकता श्री विनोदकुमार के पूर्व सस्कारो को जागृत कर रही थी।

राजकोट के वीराणी खानदान में धर्म रसिकता परोपकार परायणता और धार्य संस्कारों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। श्रीमान् खामजीभाई वीराणी और श्रीमती कड़वीबाई को उदार एवं धार्मिक वृत्ति से पुण्य प्रताप बढ़ता गया। लक्ष्मी की वृद्धि के साथ शुभ प्रवृत्तियें भी वृद्धिगत हुई। ये संस्कार हमारे चरित्रनायक के पूज्य पिता श्री दुर्लभजी भाई में भी पनपे। सद्भाग्य से श्रीमती मणीबेन का सम्बन्ध श्रीमान दुर्लभजी भाई से हुआ। श्रीमती मणीबेन धर्मप्रिय सुश्राविका रही। नित्य सामायिक प्रतिक्रमण और पर्वादि पर यथाशक्ति उपवासादि तप करने वाली तथा वार्षिक एकान्तर तप करने वाली उदार महिलारत्न। स्वर्ग च्युत देव के उत्पन्न होने का योग्य स्थान।

श्री विनोदकुमारजी अपने पुण्य के उदय से ऋद्धि सम्पन्न घर में जन्मे। उनके जन्म के बाद भी सम्पत्ति की अभिवृद्धि होने लगी। इनका लालन पालन तो उच्च प्रकार से हो ही रहा था। माता की धर्म प्रियता सामायिकादि से धर्म की आराधना ने भी विनोदकुमार के पूर्व भव के धर्म संस्कारों को जगाया प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया। वे स्वयं रुचि रखने लगे। यदि कभी आवश्यक काय में लगन के कारण श्रीमती मणीबेन के सामायिक या प्रतिक्रमण का समय हो जाता तो विनोदकुमार उन्हें याद दिला कर सामायिकादि करने की प्रेरणा करते और खुद भी पास बैठकर सुनते।

उनकी पढ़ाई धार्मिक और व्यावहारिक साथ साथ चली। जैनपाठशाला में धार्मिक अभ्यास करते और लौकिक शिक्षाशाला में सांसारिक शिक्षा प्राप्त करते। लौकिक शिक्षा प्राप्त करते हुए और उसमें उत्तरोत्तर सफल होते हुए भी बाद में उनकी रुचि लौकिक शिक्षा में उतनी नहीं रही जितनी धार्मिक शिक्षा में रही। फलत वे नाम मेट्रिक तक ही पढ़ सके किन्तु उनका धार्मिक अध्ययन बढ़ने लगा।

श्री वीराणी कुटुम्ब का व्यापार विदेश में चल रहा था। श्री दुर्लभजी भाई ने श्री विनोदकुमारजी को व्यापार कुशल बनाने के लिए 'पोर्ट सुदान' भेज दिया। विदेश जाने पर भी श्री विनोदकुमारजी के धार्मिक नियम चालू रहे। उन्होंने वहां शहद मक्खन और कन्दमूल का भी सेवन नहीं किया। पेढ़ी का काम काज करते हुए उनकी इच्छा मेट्रिक पास कर लेने की हुई। वे 'पोर्ट सुदान' के कम्बोनी हाई-स्कूल में भर्ती हो गये और सफल भी हो गये। उसके बाद भारत आकर उन्होंने पंजाबयूनिवर्सिटी में प्रवेश पाकर परीक्षा देने पटियाला गये।

परीक्षा दे चुकने के बाद आप कश्मीर पर्यटन को चल गये। आपके पास 'कश्मीर प्रवेश पत्र' तो था ही नहीं अतएव सीमा में प्रवेश होते ही गिरफ्तार कर लिए गये। आपको गिरफ्तार करके जिस बस में ले जाया जा रहा था उस बस में एक उच्च अधिकारी भी सफर कर रहे थे। श्री विनोदकुमार ने अपनी हकीकत बयान की। अधिकारी सहृदयी था। उसे विश्वास हो गया। उसने कहा— जिसा मत

श्री विनोदकुमारजी वीराणी
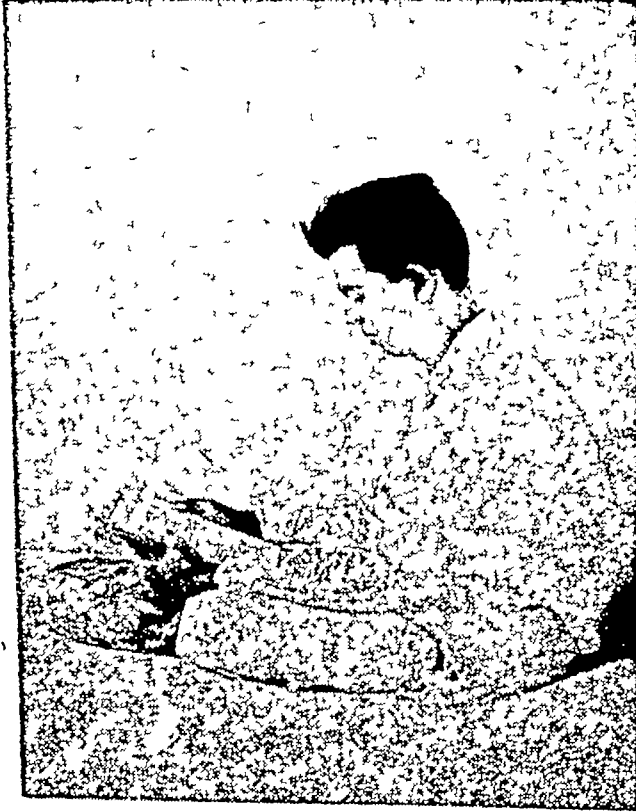
दीक्षा लेने के पूर्व शास्त्राभ्यास करते हुए

जन्म–पोर्ट सुदान (अफ्रिका) विक्रम सम्वत् १९९२

दीक्षा–खीचन (मारवाड) वि स २०१३ जेठ कृ १२

स्वर्गवास–फलोदी (मारवाड) वि स २०१३ श्रावण शु १२

करो, मै तुम्हारे लिए सब व्यवस्था कर दूगा।' उसने खुद ने साथ रहकर प्रयत्न किया और अनुमति-पत्र दिलवा दिया। वे कश्मीर देखकर लौटे और लुधियाना पहुँचकर आचार्य पूज्य श्री आत्मारामजी म० श्री के दर्शन किये।

सन् १९५३ में ब्रिटिश साम्राज्य की महारानी एलिजाबेथ के राज्याभिषेक के जलसे के अवसर पर आप वायुवान द्वारा 'लण्डन' पहुँचे। वहा आपके बडे भाई श्री शान्तिलालजी 'बार-एट-लॉ' का अभ्यास करते थे। इग्लेण्ड भ्रमण के बाद आपने फ्रास, बेल्जियम, हॉलेण्ड, जर्मनी, स्विट्झरलैंड और इटली आदि का परिभ्रमण किया।

श्रीमान् दुर्लभजीभाई की इच्छा थी कि विनोदकुमार एक प्रवीण व्यापारी बने, किन्तु श्रीविनोद-कुमारजी की रुचि दूसरी ही थी। वे धर्म भावना में रगे हुए थे। उनकी रुचि ज्ञानाभ्यास में थी। वे निवृत्तिमय जीवन पसन्द करते थे।

राजकोट में वे श्रीयुत डॉ एन के गाधीजी के सम्पर्क में आये। डॉक्टर साहब सर्विस से निवृत्त हो जाने से, धार्मिक वाचन आदि में समय बिताते है। उनसे मिलकर आप भी ज्ञानचर्चा करके अपने अनुभव बढाने लगे।

श्री विनोदकुमारजी की ससार त्याग की भावना जोर करने लगी। विरक्ति बढने लगी। विदेश सफर–जलयान के द्वारा समुद्र की यात्रा में भी उन्होंने अपने नियम निभाये। कन्दमूल का भक्षण अथवा रात्रि भोजन आदि कुछ भी नहीं किया। विदेश मे रहते हुए भी सामायिक प्रतिक्रमण का नियम चालू रहा। प्रव्रज्या ग्रहण करने की आपकी इच्छा प्रबल होने लगी। इसके लिए आपने विवाह के प्रस्ताव को तो ठुकराया ही, परन्तु दीक्षा की आज्ञा प्रदान करने के लिए माता पिता से निवेदन करना प्रारम्भ कर दिया। पिता श्री टालते ही रहे। श्री दुर्लभजीभाई को यह तो विश्वास हो गया था कि विनोद ससार में नही रहेगा, किन्तु मोहवश वे धकाते रहे।

जब वे डॉक्टर साहब के निर्देश से और सम्यग्दर्शन द्वारा परोक्ष परिचय की प्रेरणावश मुझसे मिलने के लिए मैलाना आये, तब प्रथम बार ही मेरा उनसे साक्षात्कार हुआ था। उनकी रुचि का पता उनकी ज्ञान चर्चा से लग रहा था। मै उस समय रोगग्रस्त था। उनके साथ रतलाम से दो बन्धु भी आये थे। चर्चा में इतने मशगूल कि दोनो साथी तो सो गये, परन्तु रात के २ बजे तक भी सोने का नाम नही। मै समझ गया कि यह भव्यात्मा ससार साधना के लिए नहीं है। मैने पूछा, उन्होने कहा–'हा, मेरी भावना दीक्षा लेने की है। लेकिन आज्ञा प्राप्त होने मे कठिनाई आ रही है।

आज्ञा प्राप्त करने के लिए श्री विनोदकुमारजी ने बहुत प्रयत्न किया। एक बार तो अन्नजल का त्याग तक कर दिया था। किन्तु माता की सिफारिश से पिताजी ने आज्ञा देने का विश्वास दिला

कर भाजन कराया फिर भी आज्ञा नहीं मिली। श्री विनोदकुमारजी को विश्वास हो गया कि अब आज्ञा प्राप्त होना कठिन है। मुझे अपना मार्ग स्वयं ही प्रशस्त करना होगा। आज्ञा के भरोसे बैठे रहने से मनोरथ पूरा नहीं होगा। वे २४-५-५७ की शाम को प्रतिमवार माता के साथ भोजन करके चुपचाप चल दिये बिना किसी को कुछ कहे सुने ही।

राजकोट से रवाना होकर आप महेसाणा पहुँचे। वहाँ अपने बालों का मुण्डन करवाया। पास रजोहरण का सामान करते हुए शंका हुई कि कहीं पूछताछ हो और बाधा खड़ी हो जाय। अतएव आप बसन्तिये और सीधे मारवाड़ जंक्शन होते हुए पिछली रात को फलोदी स्टेशन पर उतर गये।

उस समय लीचन में तप संयम के आदर्श स्वरूप स्व. तपस्वीराज श्री सिरेमलजी म. सा. तथा बहुश्रुत-ज्ञान दर्शन और चारित्र के प्रबल धारक पं० मुनिराज श्री समर्थमलजी महाराज साहब आदि विराजमान थे। इनकी ख्याति भारत में फैल रही थी।

सादड़ी सम्मेलन के बाद साजत में श्रमणसंघ के मुख्य पदाधिकारी मुनिवरों का सम्मेलन हो रहा था। उस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए बहुश्रुत मुनिराज श्री को भी आग्रह पूर्वक आमन्त्रण मिला था। उपाध्याय पूज्यश्री गणेशलालजी महाराज सा. की अध्यक्षता में हुए उस सम्मेलन में बहुश्रुत मुनिराज सैद्धांतिक पक्ष की स्थापना और रक्षण में प्रयत्नशील थे। आपके विपक्ष में उपाध्याय कविवर अमरचन्द्रजी महाराज थे। उन्हें पं० श्री श्रीमलजी आदि का सहयोग मिल रहा था। इस सम्मेलन में तपस्वी श्री लालचन्दजी म. सा. भी मालवे से पधारे थे। आपने वहाँ बहुश्रुत मुनिराज श्री की ज्ञान गरिमा के दर्शन किये। तभी से आपके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि विद्यार्थी मुनियों को बहुश्रुत मुनिराजश्री की सेवामें रखकर सम्यग्ज्ञान का विशेष अभ्यास करवाना चाहिए। साजत सम्मेलन के बाद तपस्वी श्री लालचन्दजी महाराज साहब का चातुर्मास बम्बई हुआ। चिंचपोकली में श्रीविनोदकुमारजी ने आपके दर्शन किये। सेवा का लाभ लिया। इस परिचय ने एक आकर्षण पैदा कर दिया। तपस्वीराज अपने संतों के साथ बम्बई से मालवा मेवाड़ होते हुए लीचन पधार गये थे। यह बात श्री विनोदकुमारजी को ज्ञात हो गई। श्री विनोदकुमारजी फलोदी से पैदल ही लीचन गये। वहाँ मुनिराजों के दर्शन किये। कपड़े उतार कर सामायिक करने लगे। वन्दना नमस्कार करके उच्चारण किया—

"करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि मणसा वयसा कायसा तस्स भंते ! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि"।

सभी संत चकित। उन्हें समझाया— भाई ! इस प्रकार बिना आज्ञा के स्वयं त्यागी बनने की

रीति नही है। तुम्हे मोच समभ कर कार्य करना चाहिए।" श्री विनोदमुनिजी का एक ही उत्तर था–"मैंने यह काम बहुत सोच समझकर किया है। अब इसमें परिवर्त्तन नही हो सकता।" वे अडिग रहे। राजकोट से श्रीमान् रावबहादुर एम पी शाह, श्री केशवलाल भाई पारेख और पडित पूर्णचन्द्रजी दक खीचन पहुँचे। उन्होने श्री विनोदमुनिजी को डिगाने की चेष्टा की, किन्तु वे तो अपने आप दृढ निश्चयी थे। वे क्या डिगते। उन्होने शिष्ट मण्डल से कहा कि–"आप भी अब ससार की मोहमाया को छोडकर इम मार्ग पर आ जाइए और मेरे माता पिता को भी ले आइए।" शिष्टमण्डल, उम द्रव्य भाव सयमी लघुमुनि के चरणो मे अपनी भक्ति अर्पित कर वापिस लौट आया। उसने मारा हाल माता पिना को सुनाया। माता, दर्शन करने को बेचैन। वह तो पहले से ही अपने लाडले को देखने के लिए छटपटा रही थी, किन्तु पिता के मोह ने फिर भी धोखा दिया। पिता कहते थे–"थोडे दिन विनोद को मारवाड को हवा खा लेने दो और सयम के परीषह सह लेने दो। उसका भावावेश उतर जायगा। फिर हम चलेगे, तब उसका समभना सरल हो जायगा'। उनकी धारणा गलत निकली।

श्री विनोदमुनिजी की दीक्षा के कुछ दिन बाद श्री फूमालालजी की दीक्षा के प्रसग पर मै खीचन गया था, तब श्री विनोदमुनिजी के दर्शन किये थ। उनसे मेरी बातचीत हुई थी। उन्होने अपने प्रस्थान और दीक्षा आदि की सारी हकीकत मुझे सुनाई थो। वे प्रसन्न थे और दशवैकालिक का आगे अभ्यास बढा रहे थे।

तपस्वी श्री लालचन्दजी म ने चातुर्मास फलोदी मे किया था। वे अपने सतो के साथ खीचन से फलोदी पधार गये थे। श्री विनोदमुनि का ज्ञानाभ्याम फलोदी मे चल ही रहा था कि आयुष्य पूर्ण होने का समय उपस्थित हो गया। दिनाक ७ अगस्त ५७ की शाम को एकाकी स्थण्डिल भूमि से लौटते हुए उन्होने देखा कि रेलगाडी आ रही है और लाइन पर गाये खडी है। गायें दिग्मूढ बन गई या क्या, जो हटती ही नही है। यदि वे नही हटी, तो कुचल कर मर जायगी। मुनिजी उन्हे बचाने के लिए आगे बढे। गायो को हटाकर बचालिया, किन्तु खुद नही बच सके। उन्हे अपना तो ध्यान ही नही था। इजिन की टक्कर लगी और गिर गये। प्राणहारक आघात लगा। शरीर से रक्त का प्रवाह बह चला और कुछ देर में ही प्राणात हो गया। फलोदी और खीचन मे (जो फलोदी मे तीन माइल दूर है) हाहाकार मच गया। इस प्रकार इम पवित्र आत्मा का, दो सवा दो महीने की चारित्र पर्याय के बाद ही आयुष्य पूरा हो गया।

"असंखयं जीविय मा पमायए" वाक्य–जो सदैव उनका लक्ष्य बना हुआ था, यही बताता है कि वे शीघ्र ही सर्वत्यागी बनना चाहते थे। सभव है अदृष्ट की प्रेरणा उन्हे हो गई हो और इसलिए उन्होने विलम्ब करना उचित नही समभकर तत्काल दीक्षित होने का निश्चय कर लिया हो।

और उन्हें दो सवादो महीने की चारित्र पर्याय भी प्राप्त होना था। हम छद्मस्थ भवितव्यता को क्या समझें? अस्तु

श्री विनोदकुमारजी की आत्मा भव्य थी। वह स्वर्ग से ही आई होगी और मनुष्यभव तथा चारित्र पर्याय पूर्ण करके पुन: स्वर्ग में ही चली गई होगी। संसार से उदासीन मोहमाया और विषय-वासना से पराङ्मुख एवं पतली कषाय वाले तथा ज्ञान ध्यान में रत आत्मा को देवगति के सिवाय और कौनसी गति हो सकती है? सुनक्षत्र मुनि और सर्वानुभूति अनगार अर्हद् भक्ति से प्रेरित होकर गोशाला की पैशाचिक शक्ति के आघात से स्वर्गगामी हुए (भगवती श १५) तब श्री विनोदमुनिजी दया धर्म से प्रेरित होकर पिशाच के समान जड़ इंजिन के आघात से स्वर्गवासी हुए।

श्री विनोदमुनिजी की सिद्धांत प्रियता प्रमोद जन्य थी। वे आर्हत् सिद्धांतों और जिनागमों के दृढ़ श्रद्धालु थे। "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं" और "असंखयं जीविय मा पमायए" तो उनके सदा स्मरणीय सिद्धांत वाक्य थे। वे मोक्षमार्ग के पथिक और भव्य-मोक्षगमन के योग्य थे। संसार के प्रति निर्वेद और मोक्ष के प्रति संवेग उनकी रगरग में भरा था। वे मोहममता के बन्धन तोड़ कर मोक्ष प्राप्त करने में प्रयत्नशील थे। ऐसी मोक्षाभिलाषी पवित्र आत्मा को यह मोक्ष मार्ग ग्रंथ समर्पित करते हुए मुझे प्रसन्नता होती है।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१६	तीथँकर	तीर्थंकर
४	२५	बाराह	वराह
४	२८	आश्चय	आश्चर्य
५	१४	चिए	लिए
७	२०	उत्तरासन	उत्तरासग
८	२२	१६	१०
१८	४	होग	होगे
१८	२४	तीथकर	तीर्थंकर
२२	२	ससर	ससार
२५	१५	टीका नार्गत	टीकान्तर्गत
३२	६	नही देना	नही होने देना
४५	१६	छटता	छूटता
४५	२१	छटता	छूटता
५३	१४	दर्शनचार	दर्शनाचार
६१	२६	विजायादि	विजयादि
६४	२३	भावान्तर	भवान्तर
६५	३	हाकर	होकर
६८	२५	प्रशय	प्रशम
७०	१	कथानुसार	कथनानुसार
७२	१४	मुहत्तपि	मुहुत्तमित्तपि
७६	१०	जिममें	जिसमें
७८	२० से २३	जम्भक	जृम्भक
७६	१२	लोकान्ति	लोकान्तिक
८६	६	स्त्रि	स्त्री
८७	१६	अन्राय	अन्तराय
६०	१	करणो	कारणो
,,	६	दवने	दवानें
६०	१२	पदर्थो	पदार्थों
६३	१७	अप्रत्याख्यानावरण	प्रत्याख्यानावरण
६८	१६	औदरिक	औदारिक
,,	२२	ईष्ट	इष्ट
१००	२१	परमात्मा	परमात्म
१०१	२२	नार्मराजर्षि	नमिराजर्षि
१०५	५	हाने	होने
१०८	१३	जसका	जिसका
,,	२३	सम्यग्श्रत	सम्यग् श्रुत
१०६	४	कालम	काल में
,,	२५	व्यक्तिरिक्त	व्यतिरिक्त
११०	३	द्रेवे–	देवे–
१११	२१	निर्ग्रथ	निर्ग्रन्थ
११४	४	प्रवजित	प्रव्रजित
,,	२०	अन्तरिक	अन्तरिक्ष
,,	२२	वनाने	वताने
११७	१८	हायमान	हीयमान
१२४	२७	हाने	होने
१३८	३	जोदार	जोरदार
१३८	२०	व्यवस्वथा	व्यवस्था
१४०	११	दश	देश
१४१	८	महानपात की	महानुपातकी
१४२	६	तरमता	तरतमता
,,	२८	श्रमण	भ्रमण
१४४	२०	वे अल्प कर्म	वे अल्पक्रिया अल्प कर्म
१४६	८	र्व	पूर्व
१४७	१०	अणव्रत	अणुव्रत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	१२	छटा	छटा
	१५	शास्त्र	शास्त्र
१५०	१८	झठा	झूठा
१५२	१६	स्तेनाभुता	स्तेनाहृत
१६२	३	उत्तदायित्व	उत्तरदायित्व
	४	ग्रश्रित	आश्रित
१६४	१४	समामिक	सामायिक
१६५	१	विषयक	विषय
	२६	अघन्योऽपि	अघन्यतोऽपि
१६६	३	कस	कम
	१५	कुमूर्छितन	कुब्जितम
१६८	२७	की	का
१६९	२३	स्वादारा	स्वदारा
१७०	१८	प्रस	
१७६	११	ग्रमार	आगार
१८२	२७	एकाम्य	एकाक्ष
१८४	११	मुझ	मुझे
१९३	५	उतरना	उतारना
१९६	३	विशपा	विपाया
२	१३	गुणमुरागी	गुणानुरागी
२ ८	२३	निर्गथ	निग्रन्थ
२ ९	१		
२११	१	पापत्याग	पाप
	३	की	का
२२	४	मावन्तर	मवान्तर
२२३	१४	समद्रपार का	समुद्र का पार
२२८	११	में	में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३०	२	प्रस्रमण	प्रस्रवण लेंस
	१२	उद्द्य	उद्देश्य
२३३		सयय	सयम
२३४	१३	का	का
२३६	५	दशकालिक	दशवैकालिक
२३७	३	भर	भार
२३९	२२	ग्रजीव	आजीव
२४०	१४	(ग्रन्तर्राविक) एपणा	ग्रहणैषणा
२४१	१२		
२४४	१	शय्याभ्तर	शय्यान्तर
	२	भाव	भार
२४७	२७	युक्त	याग्य
२४८	१५	पड़े	पड़े
२४९	२४	हुयसी	हुयेसी
२५०	२२	नयपुत्तेए	नायपुत्तण
२५२		ग्रगुलियो के— छिद्रों से	
२५५		ग्रचारांग	आचारांग
२५९	१२	सगार	सगाकर
२६३	२८	व्रतों से	स्थानों में
२६४	११	ग्र्यर्वता	मयचावत्ता
२६४	२६	ह	हैं
२६६	९	समविभाग	सविभाग
२७१	१९	माय	जाय
	२१	तिमात्रा	प्रतिमात्रा
२७५	११	मिट्टा	मिट्टी
२७६	१५	निमस्सना	निर्भर्त्सना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८०	१४	पणिाम	परिणाम
२८७	२१	शभ	शुभ
२९०	२८	अराधक	आराधक
२९४	५	नालिक	नालिका
२९५	१०	गात्राभ्यग्	गात्राभ्यग
,,	२२	कटुम्ब	कुटुम्ब
३०६	१४	अनुलकू	अनुकूल
३०८	५	अयबिल	आयबिल
३१२	१२	में	से
३१४	१३	अदि	आदि
,,	२२	अराधक	आराधक
३१७	२९	ह	है
३१८	२५	ठहने	ठहरने
३२५	९	स्मराणादि	स्मरणादि
३२९	२१	प्रोप्ति	प्राप्ति
३३३	,,	मरता	माग्ता
३४१	,,	आयोग्य	अयोग्य
३४६	१६	स्याध्यायादि	स्वाध्यायादि
३४७	५	निक्षेपण समिति	निक्षेपण समिति उच्चार प्रस्रवण खेल जल सघाण परिस्थापनिका समिति
३४७	८	सामाधि	समाधि
३४९	४	कही	नही
३५०	९	किंचत्	किंचित्
३५१	६	निश्चिय	निश्चय
३५४	२८	समह	समूह
३५५	११	आनाशातना	अनाशातना
३७५	१९	लाहिए	चाहिए
३७७	२४	बतालाया	बतलाया
३८२	१०	जगित	जुगित
३८६	,,	अदि	आदि
३८७	५	कर्ज	फर्ज
३९५	१२	अदिभाग	आदि भाग
४००	८	ध्यैर्य	धैर्य
,,	१४	०१	१०
,,	२४	बार	बाहर
४०१	९	प्रतिमा	प्रतिमा का
४०२	९	सकता	सकती
४०५	१६	आताओ	श्रोताओ
४०९	२८	आयजोइ	आयजोगीण
,,	,,	आग्रपरकक्कमाण	आयपरक्कमाण
४१२	१९	मे एक	में गाव में एक
४१६	१५	निवर्दनी	निर्वेदनी
४१८	१	श्रोतादि	श्रोत्रादि
४१९	७	क्लेवर	कलेवर
४२२	७	उपाएँ	उपमाएँ
४२४	१८	बनता	बनाता
४२५	१७	कारना	कराना
,,	,,	मरणान्तिक	मारणान्तिक
४२८	२५	मन्तरपुर	अन्तपुर
४२९	९	एग्गो	एगो
४३१	२३	जीवो के	जीव
४३२	१४	लगस्सेसण	लोगस्सेसण
४३३	६	आध्वी	साध्वी
४३५	११	पूव्व	पुव्व

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१५	२१	तू	तु
४३६	१७	आचरांग	आचारांग
४४०	३	मणदंसण	माणदसण
४४८	३।४	तेसे	बसे
४५०	१७	अतंगड	अंतगड
४५७	७	आभ्यान्तर	आभ्यन्तर
४५८	२१	आहुर	आहार
४६५	१८	प्रणियों	प्राणियों
	२४	अप्पा	अप्प
४७२	६	जाती	जाता
४७६	१७	हु	है
४७६	१६	गुण	गण
४८१	३।२१	सहसात्कार	सहसाकार
४८४	६	परिस्टापनिकाकार	परिष्ठापनिकाकार
४८८	११	ईमानन्गरी	ईमानदार
४९५	२७	पास	पाश
	२८	सामाम	समान
५००	३	गहण	ग्रहण

पृ २४४ पं २९ अशुद्ध– सबल (बड़ामारी) दोष बताया है कि जिससे चारित्र का नाश हो जाता है।
" शुद्ध– शबल–चारित्र को चितकबरा अर्थात् दूषित करने वाला।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

दर्शन धर्म--

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

चतुर्थ खण्ड

अनगार धर्म

पंचम खण्ड

तप धर्म—

परिशिष्ट— ४८७

भगवान् जिनेश्वर प्रणीत—

मोक्ष मार्ग

दर्शन धर्म

धर्म का उद्गम (देव तत्त्व)

मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुरोह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं, णाणदंसण लक्खणं ॥

धर्म आत्मा का निजस्वभाव है । फिर भी वह पृथ्वी मे दबे हुए रत्न के समान है । जिस प्रकार रत्न को भूगर्भ से निकालकर बाहर लाने वाला और उसे रत्न के रूप में प्रतिष्ठित करनेवाला कोई इस विषय का निष्णात व्यक्ति ही होता है, उसी प्रकार विषय कषाय एव अज्ञान के अनन्त आवरण में दबे हुए धर्म-रत्न को प्रकाश में लाने वाली कोई महाशक्ति ही होती है । उस लोकोत्तर महाशक्ति को ही अरिहत, जिनेश्वर तथा तीर्थंकर आदि गुणनिष्पन्न विशेषणो से विशेषित किया गया है । और यही विश्व विभूति परमआराध्य 'देव' तत्त्व के रूप मे अभिवदित हुई है ।

जिस महान् आत्मा ने अपनी उत्तम साधना से अपने आतमशत्रु—घातिकर्मों को नष्ट कर दिया, जिसने राग द्वेष का अत करके वीतराग दशा प्राप्त करली और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगए, वे ही धर्म के उद्गम स्थान हैं । उन्ही परमवीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् के द्वारा धर्म का प्रकाश हुआ है । धर्म के मूल

प्रवर्त्तक वे जिनेश्वर भगवत ही हैं। अतएव यहां उन परम आराध्य-देवाधिदेव की विशिष्टता का कुछ परिचय दिया जाता है।

जैन धर्म की यह मान्यता है कि 'ईश्वर' नाम की कोई एक महाशक्ति इस विश्व का आधिपत्य नहीं कर रही है और न इस प्रकार की सर्व सत्ता का कोई एक केन्द्र स्थान ही है। जैन दर्शन के अनुसार यह एक सर्वोच्च पद है जिसे आत्मविकास के द्वारा कोई भी भव्यात्मा प्राप्त कर सकती है। जिनेश्वर पद प्राप्त करने वाली अनन्त आत्माएँ भूतकाल में हो चुकी और भविष्य में होती रहेंगी। काल दोष से हमारे क्षेत्र में इस समय कोई अरिहंत परमात्मा नहीं है किंतु महाविदेह क्षेत्र में अभी भी विद्यमान हैं। वहां सदाकाल विद्यमान रहते हैं। तीर्थंकरत्व प्राप्त करने वाली आत्माओं की साधना पूर्व भवों से ही चालू हो जाती है। पूर्व के कितने ही भवों की आराधना का परिणाम अंतिम मनुष्य भव में प्रकट होता है और वे लोकनाथ तीर्थंकर भगवान् होकर भव्यप्राणियों के लिए आधारभूत होते हैं। जिन विशिष्ट सद् गुणों को आत्मा में स्थान देने से यह लोकोत्तर पद प्राप्त होता है वे आगे बताये जा रहे हैं।

तीर्थंकरत्व प्राप्ति के कारण

'जन से जैन' और जैन से जिनेश्वर होते हैं। साधारण जन संसार भक्ती होते हैं। जन साधारण में से जिनकी दृष्टि मोक्ष की ओर लगती है और जो हेयोपादेय को समझ लेते हैं वे जैन होते हैं। जो जैन हैं उनमें से ही कोई भव्यात्मा मोक्ष के कारणभूत उत्तम अवलम्बनों को प्रशस्त राग की तीव्रता से साथ अपनाते हैं वे जिनेश्वर होते हैं। जिनेश्वर (तीर्थंकर) पद प्राप्ति के बीस कारण इस प्रकार हैं।

(१) अरिहंत भगवान् की भक्ति उनके गुणों का चिन्तन और आज्ञा का पालन करते रहने से उत्कृष्ट रस जमे तो तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है।
(२) सिद्ध भगवान् की भक्ति और उनके गुणों का चिन्तन करने से।
(३) निर्ग्रंथ प्रवचन रूप श्रुतज्ञान में अनन्य उपयोग रखने से।
(४) गुरु महाराज की भक्ति आहारादि द्वारा सेवा उनके गुणों का प्रकाश करने एवं आशा तना टालने से।
(५) जाति स्थविर (६ वर्ष की वयवाले) श्रुत स्थविर (स्थानांग समवायांग के धारक) प्रव्रज्या स्थविर (२ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले) की भक्ति करने से।
(६) बहुश्रुत (सूत्र अर्थ और तदुभय युक्त) मुनिराज की भक्ति करने से।
(७) तपस्वी मुनिराज की भक्ति करने से।
(८) ज्ञान की निरन्तर आराधना करते रहने से।

(९) सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करने से।
(१०) गुणज्ञ रत्नाधिकों का तथा ज्ञानादि का विनय करने से।
(११) उभय काल भाव पूर्वक षडावश्यक (प्रतिक्रमण) करते रहने से।
(१२) मूल गुण और उत्तरगुणों का निर्दोष रीति से शुद्धता पूर्वक पालन करने से।
(१३) सदा संवेग भाव रखने से अर्थात् शुभध्यान करते रहने से।
(१४) तपस्या करते रहने से।
(१५) भक्ति पूर्वक सुपात्र दान देने से।
(१६) आचार्यादि दस की वैयावृत्य करने से।
(१७) सेवा तथा मिष्ट भाषणादि के द्वारा गुर्वादि को प्रसन्न रखने से और स्वयं समाधिभाव में रहने से।
(१८) नवीन ज्ञान का अभ्यास करते रहने से।
(१९) श्रुत ज्ञान की भक्ति तथा बहुमान करने से।
(२०) प्रवचन की प्रभावना करने से (धर्म का प्रचार करने से)

(ज्ञाताधर्म कथांग ८)

उपरोक्त बीस बोलों की उत्कृष्टता पूर्वक आराधना करने से तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध होता है। इस बन्ध के उदय वाले महापुरुष, तीर्थंकर बनकर मोक्षमार्ग का प्रवर्त्तन करते हैं और भव्यजीवों का कल्याण करते हैं।

इन बोलों की आराधना साधु ही नहीं श्रमणोपासक भी कर सकते हैं। इतना ही नहीं चौथे गुणस्थान वर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक भी बहुत से बोलों की आराधना करके तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध करलेते हैं।

साधक की साधना का लक्ष्य तो केवल निर्जरा का ही होना चाहिए। उसके मन में तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध की भावना नहीं रहनी चाहिए, क्योंकि यह भी है तो बन्ध ही। साधक का लक्ष्य यदि बंध का रहे, तो यह दृष्टि विकार है। विकारी साधना का उत्तम फल कभी नहीं मिलता। मोक्ष के उद्देश्य से की जाती हुई साधना में शुभ भावों की तीव्रता से अपने आप शुभकर्मों का बन्ध हो जाता है और शुभ कर्मों में सर्वोत्तम प्रकृति तीर्थंकर नाम कर्म की है।

तीर्थंकर नाम कर्म को निकाचित (दृढतम) करके तीर्थंकर बनने वाले महापुरुष या तो वैमानिक देव का भव छोडकर मनुष्य होते हैं, या फिर प्रथम नरक से लगाकर तीसरी नरक तक से आकर मनुष्य होते हैं (भगवती १२-९ तथा पन्नवणा २०) वे वीरत्व प्रधान ऐसे उच्च क्षत्रिय कुल में ही पुरुष रूप‡ से उत्पन्न

‡ भगवान् महावीर का ब्राह्मण कुल में गर्भ में आना और मल्लिनाथजी का स्त्री पर्याय में होना

होते हैं। जिन्होंने नरकायु का बन्ध करलेने के पश्चात् तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया है वेही तीसरी नरक तक जाते हैं और वहां से निकलकर मनुष्य होकर तीर्थंकरत्व प्राप्त करते हैं।

'समरथ को नहीं दोष गुसाईं' —यह सिद्धांत जैन दर्शन को मान्य नहीं है। जिन्होंने जैसा कर्म किया वैसा उसे भोगना पड़ता है। परिणति के अनुसार बन्ध होता है। जिसने अवश्यमेव भुगतने योग्य गाढ़ रूप से निकाचित कर्म बांध लिये हैं उसे वे भुगतनेही पड़ते हैं फिर भले ही वह आत्मा तीर्थंकर होने वाली ही क्यों न हो ?

चौदह स्वप्न

जब महान् आत्माएँ गर्भ में आती हैं तो अपने साथ निश्चित रूप से अवधिज्ञान साथ लेकर आती हैं और उसी समय उनका शुभ प्रभाव भी दिखाई देता है। यदि उस समय आस पास की अथवा देश की स्थिति विषम हो तो सम हो जाती है प्रतिकूल हो तो अनुकूल हो जाती है। रोग शोक उपद्रव आदि शान्त होकर सर्वत्र प्रसन्नता का प्रसार हो जाता है। जब वे विशुद्ध कुलोत्पन्न एवं विशुद्ध आचार विचार सम्पन्न वीर माता के गर्भ में आते हैं तो माता चौदह महास्वप्न देखती है। वे महास्वप्न इस प्रकार हैं।

आश्चर्य रूप माना गया है (स्थानांग १०) क्योंकि सामान्यतया ऐसा नहीं होता। इस प्रकार की आश्चर्य जनक घटनाएँ अनन्त काल में कभी हो जाती हैं और इसका मूल कारण है उन आत्माओं के साथ वैसे कर्मों का संयोग होजाना।

कोई तक यह स्त्री पर्याय की पुरुष पर्याय के समान श्रेष्ठता बताने के लिए तर्क उपस्थित करते हैं कि- यदि स्त्री का तीर्थंकर होना आश्चर्य के रूप में माना जाता है तो कल से गधा भी तीर्थंकर हो जायगा और यह भी आश्चर्य रूप में माना जा सकेगा ? ऐसे महाशय केवल सिद्धांत निरपेक्ष तर्क का सहारा लेते हैं। जो मात्र कुतर्क ही है। क्योंकि स्त्री का सिद्ध होना आश्चर्य जनक नहीं है आश्चर्य जनक है-सिद्ध होने वाली स्त्री का तीर्थंकर पद प्राप्त करना। गधा आदि तिर्यंच न तो सिद्ध हो सकते हैं और न सर्व विरति रूप साधुता का पालन ही कर सकते हैं। वे सहस्रार स्वर्ग से आगे जा ही नहीं सकते, फिर तीर्थंकर होने की तो बात ही कहां रही। गधा तो दूर रहा अकर्मभूमि का मनुष्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। तिर्यंचों नारकों देवों अधर्मियों और अकर्मभूमजों आदि में इस प्रकार की योग्यता होती ही नहीं है। जिस प्रकार अजैन संस्कृति में कच्छपावतार वाराह अवतार आदि माना है उस प्रकार जैनदर्शन कदापि में संभव नहीं मानता। स्त्रियाँ सिद्ध होती हैं उनमें सिद्ध होने की योग्यता है। किंतु तीर्थंकर होने की विशेष रूप से संभावना नहीं है। यह असंभव बात इसलिए कि अधिकांश ऐसा नहीं होता। अनन्त पुरुष तीर्थंकरों में कभी (अनन्त काल में) एक स्त्री तीर्थंकर होजाय तो यह आश्चर्य रूप मानी जाती है। जिस प्रकार स्त्री पर्याय पलटकर उसी भव में सर्वथा पुरुष बनजाना आश्चर्य रूप है उसी प्रकार यह भी समझना चाहिए।

१ सर्वांग सुन्दर गजराज (हाथी) २ वृषभ ३ सिंह ४ लक्ष्मी देवी ५ दो पुष्पमालाएँ ६ पूर्ण चन्द्र ७ सूर्य ८ ध्वजा ९ पूर्ण कलश १० पद्म-सरोवर ११ क्षीर समुद्र १२ देव विमान १३ रत्नो का ढेर और १४ निर्धूम अग्नि ।

जो तीर्थंकर नरक से आते है, उनकी माता बारहवे स्वप्न मे देव विमान नही किन्तु 'भवन' देखती है ।

(भगवती १६-६ तथा कल्पसूत्र)

ये स्वप्न उत्तम है । आगमो मे इन्हे महास्वप्न बतलाये है । जिस मातेश्वरी को ये चौदह स्वप्न आते है, वह या तो चक्रवर्ती सम्राट की माता होती है, या फिर धर्म चक्रवर्ती–तीर्थंकर भगवत को जन्म देती है । ससार का राज्य करने वाले चक्रवर्ती की माता कुछ धुधले स्वप्न देखती है, तब धर्म चक्रवर्ती = जिनेश्वरदेव की माता स्पष्ट एव प्रकाश मान स्वप्न देखती है । भगवान के गर्भ मे आते ही माता पिता के सुख, सौभाग्य, सम्पत्ति और सन्मान की वृद्धि होने लगती है ।

जन्मोत्सव

जब गर्भ काल पूर्ण होता है और तीर्थंकर का जन्म होता है, तब विश्वभर मे प्रकाश होता है । उस समय रात्रि का अन्धकार भी थोडी देर के लिए दूर होजाता है । विश्व प्रकाशक–विश्वदेव के अवतरण से विश्व का द्रव्य अन्धकार भी थोडी देर के लिए दूर हो जाय तो उसमे क्या बडी बात है ? जहा सदैव अन्धकार ही अन्धकार रहता है–ऐसी नरको मे भी उस समय प्रकाश फैलजाता है (ठाणाग ३-१) और सदाही दु ख, शोक एव क्लेश मे रहकर भयकर कष्टो को सहन करते रहने वाले नारक, कुछ देर के लिए शान्ति का अनुभव करते है ।

भगवान् का जन्मोत्सव का वर्णन "जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति" सूत्र के पाचवे वक्षस्कार मे विस्तार से दिया गया है । यहा उस अधिकार को सक्षेप मे दिया जा रहा है ।

जब भावी जिनेश्वर भगवान् का जन्म होता है, तब अधोलोक–अर्थात् चार 'गजदता' पर्वतो के नौ सौ योजन से नीचे रहने वाली भवनपति जाति की महान् ऋद्धिशाली और अपने अपने भवन की स्वामिनी ऐसी आठ दिशाकुमारियो का आसन चलायमान होता है । इसके पहले वे अपने अधीनस्थ देव देवियो के साथ आमोद प्रमोद करती हुई मस्त रहती है, किन्तु जब उनका आसन चलायमान होता है, तब वे एकदम स्तब्ध होजाती है और आसन चलित होने का कारण जानने के लिए वे 'अवधि' का प्रयोग करती है । अवधि के उपयोग मे भगवान् का जन्म होना जानकर प्रसन्न होती है और तत्काल एक दूसरी को बुलाकर कहती है कि–

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में तीर्थकर भगवान् का जन्म हुआ है। हम दिशाकुमारियों का कर्तव्य है कि जिनेश्वर भगवान् के जन्म का महोत्सव करें। भूतकाल में जितनी दिशाकुमारियें हुई उन सबने उस समय जन्म लिए भगवंतों का जन्मोत्सव किया है। भविष्य में होने वाली भी करेंगी और हमें भी करना चाहिए। इस प्रकार कहकर वे अपने अपने आज्ञाकारी देवों को आज्ञा देकर तय्यारी करवाती है। आज्ञाकारी देव अपनी अपनी वैक्रेय शक्ति द्वारा एक योजन के विस्तार वाले अत्यन्त सुन्दर विमान का निर्माण करते है और उस विमान में,प्रत्येक दिशाकुमारी अपने परिवार के देव देवियां तथा संगीत एवं वाद्य सामग्री सहित विमान में बैठती हैं और शीघ्र गति से तीर्थकर भगवान् के जन्म स्थान पर आती हैं। वहां पहुँचते ही पहले तो विमान में रही हुई ही भगवान् के जन्म भवन की तीन बार प्रदक्षिणा करती है उसके बाद विमान को एकांत स्थान में पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर रखकर अपने परिवार सहित नीचे उतरती हैं और गाजे बाजे तथा संगीत के साथ जन्म स्थान में प्रवेश कर भावी जिनेश्वर तथा माता को प्रदक्षिणा देकर प्रणाम करती हैं और माता की स्तुति करती हुई कहती हैं कि—

"हे रत्न कुक्षिधारिनी, हे विश्व को महान् प्रकाशक प्रदान करनेवाली महामाता! तुझे धन्य है। अम्ब! तूने, परम मंगल कला, विश्ववत्सल, विश्वहितंकर, परमज्ञानी, मोक्षमार्गप्रदर्शक, धर्मनायक, लोकनाथ एवं जगत्चक्षु जिनेश्वर भगवंत को जन्म देकर विश्व के लिए अलौकिक आधार उपस्थित किया है।

"महामाता! तू धन्य है, महान् पुण्यशालिनी है, तू कृतार्थ है। हे माता! हम अधोलोक निवासिनी दिशाकुमारियाँ भगवान् का जन्मोत्सव करने आई हैं। अब हम जन्मोत्सव करेंगी। आप हमें अपरिचिता देख कर डरें नहीं"।

इसके बाद वे वैक्रिय समुद्घात करके सुगंधित वायु उत्पन्न करती है और जन्म स्थान के आसपास एक योजन तक के कांटे कचरे आदि तथा अशुचि पदार्थों को उड़ाकर दूर एकओर डाल देती है। इसके बाद वे माता और भगवान् के निकट आकर मंगल गान करती हुई खड़ी रहती है।

इसी प्रकार ऊर्ध्व भाग में रहने वाली आठ दिग्कुमारियाँ आती है और माता तथा भगवान् की स्तुति करके बाद सुगंधित जल की वर्षा करके वहां की धूल को दबा देती है। पुष्पों की वर्षा और सुगन्धित धूप से सारे वायु मण्डल को सुगंधित करके देवों और इन्द्र के आने योग्य बना देती हैं। इसके बाद वे जन्म स्थान पर आकर मंगल गान गाती रहती है।

पूर्व दिशा के रुचक पर्वत पर रहने वाली आठ दिग्कुमारियाँ भी उसी प्रकार आकर हाथ में दर्पण लेकर मंगलगान करती हुई खड़ी रहती है।

दक्षिण के रूचक कूट पर रहने वाली आठ दिशाकुमारियाँ भी इसी प्रकार वन्दनादि करके जलकलश लेकर गायन करने लगती हैं।

पश्चिम रूचक की आठ दिशाकुमारियाँ हाथ मे पखा लेकर हवा करती हुई गायन करती है।

उत्तर रूचक की आठ दिशाकुमारियाँ चामर ढुलाती हुई गाती है।

रूचक की चार विदिशाओ की चार कुमारियाँ हाथ में दीपक लेकर मधुर सगीत करती है।

मध्यरूचक की चार दिशाकुमारिये नमस्कार करने के बाद भगवान् की नाभि-नाल, चार अगुल रखकर बाकी का छेदन करती है और उसे भूमि मे गाड कर रत्नो से उस खड्डे को भर देती है, फिर उसके ऊपर एक पीठ बना देती हैं। इसके बाद वैक्रेय द्वारा तीन दिशाओ मे तीन कदली घर बनाती है। प्रत्येक कदलीघर मे चौशाल बनाकर मध्य मे एक सिंहासन रखती है। इसके बाद एक देवी, तीर्थंकर भगवान् को अपने हाथो मे उठाती है और अन्य देविये माता का हाथ पकडकर दक्षिण दिशा के कदलीघर मे लाती है, उन्हे सिंहासन पर विठाकर शतपाक, सहस्रपाक तैल से शरीर का मर्दन करती है। इसके बाद सुगन्धित वस्तुओ से उबटन करती है। इसके बाद उन्हे पूर्व के कदलीघर मे लाती है और सुगन्धित जल से स्नान करवाकर वस्त्राभूषण से सुसज्जित करती है। इसके बाद उत्तर दिशा के कदलीघर मे लाकर सिंहासन पर बिठाती है। इसके बाद अपने सेवक देवो द्वारा चूल्लहिमवत तथा वर्षधर पर्वतो से गोशीर्ष चन्दन मँगवाकर उनसे तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यो से हवन करती है और उस सुगन्धित राख से रक्षा–पोट्टलिका बाँधकर भूतिकर्म करती है। इसके बाद भगवान् को शुभाशीष देती है और उन्हे माता सहित लाकर उनकी शय्या पर सुलाती है तथा खुद मगल गान गाती है।

उधर प्रथम स्वर्ग के अधिपति और बत्तीस लाख विमानो के स्वामी देवेन्द्र–देवराज शक्र का भी आसन चलायमान होता है। वह भी भगवान् का जन्म जानकर प्रसन्न होता है। तत्काल सिंहासन से नीचे उतरता है और पाँवपोश उतारकर तथा उत्तरासन करके सात आठ पाँवडे उस दिशा की ओर चलकर नीचे बैठता है। दाहिने घुटने को नीचे टिकाकर, बाये घुटने को ऊपर करके, दोनो हाथ जोडकर और मस्तक झुकाये हुए भगवान् की स्तुति करता है। नमस्कार करने के बाद वह उठता है और अपने आज्ञाकारी 'हरिणगमेषी' देव को आज्ञा देता है कि—

"तुम अपनी 'सुघोषा' घटा बजाकर उद्घोषणा करो कि—'शक्रेन्द्र, सपरिवार जिनेश्वर भगवंत का जन्माभिषेक करने के लिए भरत क्षेत्र जाना चाहते है। अतएव देवदेवियें अपनी ऋद्धि एव परिवार सहित सजधजकर उपस्थित होवे"।

सुघोषा घटा के द्वारा इन्द्र की आज्ञा—असख्यात योजन प्रमाण आकाश प्रदेश में रहे हुए ३१९९–९९९ विमानो के देवो तक पहुँची और वे सजधज के साथ शक्रेन्द्र के पास आये। उनमे से कुछ तो तीर्थंकर भगवान् को वन्दना, नमस्कार एव दर्शन करने की भावना से आये और कुछ शक्रेन्द्र की आज्ञा

के ग्राधीन होकर ग्राये। कई मात्र कुतूहल वश कई भक्ति–राग वश होकर कई पुरातन ग्राचार पालन के लिए और कई एक दूसरे का ग्रनुकरण करते हुए ग्राये।

शक्रेन्द्र ने ग्रपने ग्राज्ञाकारी देव द्वारा एक लाख योजन विस्तार वाला एक महाविमान देवशक्ति से तय्यार करवाया। उस सुन्दरतम महाविमान के मध्यमें सर्वोच्च सिंहासन पर शक्रेन्द्र बैठा। ग्रास पास समान ऋद्धिवाले देवों इन्द्राणियों ग्रादि के लाखों सिंहासन होते हैं जिनपर वे सब बैठ जाते हैं। इसके ग्रतिरिक्त गाने बजाने वाले और नृत्य करने वाले देव भी साथ होते हैं। फिर वह विमान शीघ्र गति से चलता है। ग्रसंख्य द्वीप समुद्र को लांघते हुए वह विमान नन्दीश्वर द्वीप के ग्राग्नेय कोण में स्थित रतिकर पर्वत पर ग्राता है। यहां विमान का संकुचित (छोटा) बनाया जाता है ग्रौर वहां से चलकर जन्म स्थान पर विमान ग्राता है। जन्म स्थान की तीनबार परिक्रमा करके विमान एकबार जमीन से चार अगुल ऊपर ठहराकर शक्रेन्द्र परिवार सहित नीचे उतरता है और भगवान् ग्रौर जननी को वन्दना नमस्कार करके ग्रपना परिचय देता है।

इसके बाद माता को निद्राधीन करके ग्रौर उनके पास भगवान् का तद्रूप बनाकर रखता है। फिर शक्रेन्द्र दिव्य शक्ति से ग्रपने पाँच रूप बनाता है। एक रूप भगवान् को ग्रपनी हथेलियों में उठाता है। एक पीछे रहकर छत्र धारण करता है। दो रूप दोनों ग्रोर चामर डुलाते हैं और एक रूप हाथ में वज्र लेकर ग्रागे चलता है। फिर भवनपति व्यंतर ग्रादि देवों के साथ भगवान् को लेकर मेरु पर्वत के पंडक वन में ग्राता है और ग्रभिषेकशिला पर रहे हुए ग्रभिषेक सिंहासन पर भगवान् को पूर्व की ग्रोर मुँह करके बिठाता है।

जिस प्रकार शक्रेन्द्र ग्राये उसी प्रकार ग्रन्य ग्यारह देवलोक के नौ इन्द्र भी ग्राये और भवन–पति व्यन्तर तथा ज्योतिषी के इन्द्र भी ग्राये। कुल चौंसठ इन्द्र हैं जैसे कि–

वैमानिक के दस इन्द्र–प्रथम ग्राठ देवलोक के ८ नौवें दसवें का १ और ग्यारहवें बारहवें का १।

भवनपति के बीस इन्द्र–१ ग्रसुरकुमार २ नागकुमार ३ सुवर्णकुमार ४ विद्युत्कुमार ५ ग्रग्नि–कुमार ६ द्वीपकुमार ७ उदधिकुमार ८ दिशाकुमार ९ वायुकुमार ग्रौर १० स्तनितकुमार इन दस के उत्तरदिशा के दस इन्द्र ग्रौर दक्षिण दिशा के दस इन्द्र।

व्यन्तर के बत्तीस इन्द्र–१पिशाच २ भूत ३ यक्ष ४ राक्षस ५ किन्नर ६ किंपुरुष ७ महोरग ग्रौर ८ गंधर्व इन ८ के दक्षिण तथा उत्तर के १६ इन्द्र तथा १ ग्राणपन्निक २ पाण पन्निक ३ ऋषिवादी ४ भूतवादी ५ कंदित ६ महाकंदित ७ कोमंड ग्रौर ८ पतंग। इन ग्राठ के १६ यों कुल ३२ इन्द्र।

ज्योतिषी के दो इन्द्र–१ चन्द्रमा और सूर्य।

ये कुल चौंसठ इन्द्र हैं। इनमें से शक्रेन्द्र भगवान् के जन्म स्थान पर ग्राते हैं ग्रौर बाकी ६३ इन्द्र सीधे मेरु पर्वत पर ही ग्राते हैं। इन सब में ग्रच्युतेन्द्र (ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग का ग्रधिपति) सबसे बड़ा

और महान् ऋद्धिशाली है। वह अपने आज्ञाकारी देवों को आज्ञा देकर अभिषेक की समस्त सामग्री मंगवाता है। आज्ञाकारी देव, सोने, चाँदी और रत्नादि के कलशों में विविध जलाशयों का शुद्ध एवं सुगन्धित जल लाते है। विविध प्रकार के सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्प, चन्दन, वस्त्राभूषणादि अनेक सामग्री लाते है। वह स्थान देवताओ और देवांगनाओ से भरजाता है और इस प्रकार सज्जित हो जाता है मानो सभी प्रकार की उत्तमोत्तम सामग्रियो का एक विशाल बाजार अथवा प्रदर्शनी ही लगी हो।

उस उत्तमोत्तम सामग्री से अच्युतेन्द्र अभिषेक करना प्रारंभ करता है। उस समय भगवान्को शक्रेन्द्र अपनी गोदी मे लेकर सिंहासन पर बैठता है और अच्युतेन्द्र जलाभिषेक करता है। इधर सभी देव उत्सव मनाने मे लगते है। कई वादिन्त्र बजाते है। अनेक गायन करते है, कितने ही देव नृत्य करते है, कुछ अभिनय (नाटक) करते है। कई देव, उछलते, कूदते, कुश्ती लडते, सिंहनाद करते, और गर्जनादि अनेक प्रकार के शब्द करते है। कोई बिजली चमकाते और कोई मंद मंद वर्षा करते है। यो अनेक प्रकार से हर्ष व्यक्त करते हुए जन्म महोत्सव करते है।

अच्युतेन्द्र जलादि अभिषेक करते हुए भगवान् का जयजयकार करते है। अभिषेक हो जाने के बाद भगवान् के शरीर को उत्तम सुगन्धित एवं कोमल वस्त्र से पोछते है, फिर वस्त्र और आभूषणो से सुसज्जित करते है। तदुपरान्त नृत्य करते है। नृत्य करने के बाद भगवान् के सम्मुख आठ मंगल चिन्हो का आलेखन करते है, जो इस प्रकार है,–

१ दर्पण २ भद्रासन ३ वर्द्धमानक (शरावला) ४ श्रेष्ठ कलश ५ मत्स्य ६ श्रीवत्स (एक प्रकार का स्वस्तिक) ७ स्वस्तिक (साथिया) और ८ नन्दावर्त (नौकोण वाला स्वस्तिक)

इसके बाद विविध वर्ण के उत्तम सुगन्धित पुष्पो के ढेर करते है और सुगन्धित पदार्थों का धूप करते है। इसके बाद सात आठ कदम पीछे हटकर हाथ जोडकर और सिर झुका कर १०८ शुद्ध एवं महान् श्लोको से स्तुति करते है। इसके बाद बांये घुटने को खडा करके और दाहिना घुटना नीचे टिकाकर इस प्रकार स्तुति करते है,–

"हे सिद्ध, बुद्ध, कर्मरज रहित, श्रमणवर ! आपको नमस्कार है। हे शांति के सागर, हे कृतार्थ, हे परम आप्त, हे परम योगी ! आपके चरणों में मेरा बारबार नमस्कार है। हे त्रिशल्य-नाशक, परम निर्भय, वीतराग ! श्री चरणों में मेरा भक्तियुक्त प्रणाम है। हे निर्मोही, सर्व संगातीत, निरभिमानी एवं सर्वोत्तम चारित्र के सागर, सर्वज्ञ प्रभो ! मै आपको हृदय पूर्वक वन्दना करता हूं। हे अप्रमेय, भव्य, धर्मचक्रवर्ती अरिहंत भगवान् ! आपके चरण कमलों में मेरा बहुमान पूर्वक नमस्कार हो"।

इस प्रकार पुन स्तुति वन्दना और नमस्कार करके उचित स्थान पर बैठते हैं।

अच्युतेन्द्र के बैठने के बाद नौवें और दसवें स्वर्ग के अधिपति 'प्राणतेन्द्र' भी उसी प्रकार अभिषेक करते हैं। उसके बाद सहस्रारेन्द्र यों उत्तरते उत्तरते दूसरे स्वर्ग के ईशानेन्द्र अभिषेक करते हैं। फिर भवनपति के २० इन्द्र व्यन्तर के ३२ इन्द्र और ज्योतिषी के २ इन्द्र यों ६३ इन्द्रों द्वारा अभिषेक हो जाने के बाद शक्रेन्द्र की बारी आती है। उस समय ईशानेन्द्र अपने पाँच रूप बनाकर एक रूप से भगवान् को अपनी गोदी में लेकर सिंहासन पर बैठता है। एक छत्र धारण करके पीछे खड़ा रहता है। दो रूप से दोनों ओर चामर विंजाते हैं और एक वज्र लेकर खड़ा रहता है।

शक्रेन्द्र का अभिषेक कुछ भिन्न प्रकार का होता है। वह देवशक्ति से उत्तम वृषभ (बैल) के अपने चार रूप बनाता है और भगवान् के चारों ओर खड़ा रखकर अपने आठ सींगों से स्वच्छ एवं सुगन्धित जल की चमक धाराएँ (फव्वारे की तरह) छोड़ता है। वे जल धाराएँ ऊँची जाकर और एक रूप होकर भगवान् के मस्तक पर पड़ती हैं। शेष सब क्रिया अच्युतेन्द्र जैसी ही होती है।

जन्माभिषेक सम्पन्न होजाने के बाद शक्रेन्द्र पूर्व की तरह पुन पाँच रूप धारण करता है और भगवान् को लेकर जन्म स्थान पर आता है। अन्य ६३ इन्द्र वहीं से सीधे अपने अपने स्थान लौट जाते हैं। भगवान् को जन्मस्थान पर लाने के बाद शक्रेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप हटाकर उन्हें माता के पास सुलाते हैं और माता को निद्रा मुक्त करते हैं।

इसके बाद शक्रेन्द्र भगवान् के सिरहाने क्षोम युगल (उत्तम वस्त्र का जोड़ा) और रत्न जड़ित कुण्डल जोड़ी रखता है। फिर स्वर्ण पर रत्न जड़ित और अनेक प्रकार की मालाओं से वेष्टित एक 'श्रीदामगंड' (गेंद) भगवान् की दृष्टि के सम्मुख रखते हैं। भगवान् उस प्रकाशमान् श्रीदामगंड को देखते और क्रीड़ा करते हुए माता के पास सोये रहते हैं।

शक्रेन्द्र की आज्ञा से वैश्रमण देव ३२ करोड़ चाँदी के सिक्के ३२ करोड़ सोने के सिक्के ३२ सुन्दर नन्दासन और ३२ उत्तम भद्रासनों को (जो अभ्यस्त बैसे ही पड़े हों) संहरण करके भगवान् के जन्म भवन में रखते हैं। इसके बाद शक्रेन्द्र की आज्ञा से यह उद्घोषणा होती है कि—

'यदि किसी देव अथवा देवी ने तीर्थंकर भगवान् और उनकी मातेश्वरी के विषय में अनिष्ट चिंतन किया तो उसका सिर तालवृक्ष की मंजरी की तरह तोड़कर चूर्ण कर दिया जायगा'।

इसके बाद सभी देव वहाँ से चलकर नन्दीश्वर द्वीप आते हैं और वहाँ अष्टान्हिका महोत्सव करने के बाद अपने अपने स्थान पर चले जाते हैं।　　　　(जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—५)

इन्द्रों द्वारा जन्मोत्सव होने के बाद तीर्थंकर भगवान् के पिता नरेन्द्र द्वारा जन्मोत्सव मनाया जाता है।

तीर्थंकर भगवान् के जन्म होने की बधाई लेकर आने वाली दासी नरेश को प्रणाम करके उनको

जयजयकार करती है और जन्म की बधाई देती है। नरेन्द्र के हर्ष का पार नही रहता। वे उसी समय उठकर दासी का आदर सत्कार करते है और उसे दासत्व से मुक्त करके इतना पारितोषिक देते है कि जिससे उसके पुत्र पौत्रादि भी सुख पूर्वक जीवन बिता सके। अपना मुकुट छोडकर शेष बहुमूल्य आभूषण भी प्रदान कर देते है।

इसके बाद नगर रक्षक को आज्ञा देकर नगर को साफ कराया जाता है। फिर पानी का छिटकाव होता है। शहर मे सर्वत्र लिपाई पुताई होती है। द्वार द्वार पर तोरण और ध्वजाएँ लगती है। बन्दनवार लगाये जाते है। स्थान स्थान पर मण्डप बनाये जाते है। उन्हे ध्वजा, पताका, पुष्पमाला तथा स्वर्णजडित वितान (चँदोवा) से सजाया जाता है। मार्ग पर पुष्प बिखेरे जाते है। कही कही पुष्पो के ढेर लगाये जाते है। सुगन्धित धूपो से सारा वायुमण्डल सुगन्धित किया जाता है। मण्डपो मे अनेक प्रकार के कर्णप्रिय वादिन्त्र बजाये जाते है। सगीत मण्डलियाँ सुरीले राग से गायन करती है। नृत्यागनाएँ नृत्य करती है। नट लोग, नाटक करते है। मल्लयुद्ध (पहलवानो की कुश्तियाँ) करते है। विदूषक लोग भाडचेष्टादि से लोगो मे हास्य रस का सचार करते है। कही कविता पाठ होता है, तो कही रास मण्डली जमती है। इस प्रकार सर्वत्र हर्षानन्द की बाढ सी आजाती है।

दूसरी ओर नरेश की आज्ञा से कारागृह खुल जाते है और सभी बदी मुक्त कर दिए जाते है। नगर की जनता की ओर से चलने वाली दानशालाएँ बद करके राज्य की ओर से दानशाला चलाई जाती है। सभी प्रकारका 'कर' माफ कर दिया जाता है। जनता के लाभ के लिये तोल-नाप मे वृद्धि की जाती है। क्रयविक्रय बद करवाकर राज्य से जनता को इच्छित वस्तुएँ दी जाती है। प्रजा का ऋण राज्य की ओर से चुका दिया जाता है और दस दिन तक राज्य की ओर से जब्ती और सख्ती बद करदी जाती है। नरेन्द्र स्वय सिंहासनारूढ होकर अन्य राजाओ, जागीरदारो, अधिकारियो तथा श्रेष्टजनो से भेंट स्वीकार करते है और याचको को लाखो का दान भी करते है।

जन्म के प्रथम दिन जात कर्म, दूसरे दिन जागरण और तीसरे दिन चन्द्र सूर्य का दर्शन कराया जाता है। बारहवें दिन सभी सम्बन्धियो, ज्ञातिजनो राजाओ, जागीरदारो, अधिकारियो, सेठो आदि को एक महान् प्रीति भोज दिया जाता है और उसके बाद उस बृहद् सभा के समक्ष भगवान् का नामकरण किया जाता है। इसके बाद भगवान् का पाच धात्रियो से पालन पोषण होता है।

पाच धात्रिये इस प्रकार होती है।

१ क्षीर धात्री—स्तनपान कराने वाली।

२ मज्जन धात्री—स्नानादि कराने वाली।

३ मडन धात्री—श्रृगार कराने वाली।

४ खेलन धात्री–क्रीड़ा करानें वाली।

५ अंक धात्री–गोदी में उठाकर फिरने वाली।

उपरोक्त पांच धात्रियों तथा अन्य अनेक दास दासियों के द्वारा मातेश्वरी की देख रेख में पालन पोषण होता है। (ज्ञाता १ कल्पसूत्र)

जब तीर्थंकर भगवान् बालवय को पारकर यौवनावस्था को प्राप्त करते हैं तब जिनके पुरुष–वेद का भोगावली कर्म उदयस्थ होता है उनका योग्य राज कन्या के साथ लग्न होता है। संतान भी होती है और जिनके वैसा योग नहीं होता है वे बालब्रह्मचारी भी रहते हैं। कोई राजऋद्धि भोगकर प्रव्रजित होते हैं तो कोई युवराज अवस्था में ही संसार त्याग देते हैं।

वर्षीदान

जब भगवान् के संसार त्याग का समय निकट आता है तो उसके एक वर्ष पूर्व ही उनके मनमें वर्षीदान देने की भावना जागृत होती है। भगवान् की उस भावना से इन्द्र प्रभावित होता है और अपने आज्ञाकारी वैश्रमण देव के द्वारा तीर्थंकर भगवान् के खजाने में तीन अरब अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राएँ पहुँचाई जाती हैं। यह धन ऐसा होता है कि जिसका कोई अधिकारी नहीं रहा हो और यों ही भूमि में गड़ा हुआ पड़ा हो।

भगवान् प्रातः काल से लेकर एक प्रहर दिन चढ़े वहां तक एक करोड़ आठलाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में कुल तीन अरब अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख सोनैये दान में देते हैं। उधर भगवान् के पिता भी दान शाला स्थापित करके याचकों को अशनादि दान देना प्रारंभ कर देते हैं।

देवों द्वारा उद्बोधन

वर्षीदान के पश्चात के बाद भगवान् संसार त्याग कर दीक्षा लेने का विचार करते हैं तब ब्रह्म–देवलोक के तीसरे प्रतर में और कृष्णराजियों के मध्य लोकान्तिक विमानों में रहने वाले नौ प्रकार के लोकान्तिक देव अपने जीताचार के कारण प्रभु के समीप आते हैं और जय जयकार करते हुए निवेदन करते हैं कि–

"हे, जगदुद्धारक, हे विश्ववत्सल प्रभो! अब समय आगया है। भव्य जीवों के हित के लिए अब तीर्थ प्रवर्तन कीजिए"।

इस प्रकार अपने आचार के अनुसार भगवान् को उद्बोधित करके अपने स्थान लौट जाते है।

दीक्षा महोत्सव

इसके बाद भगवान् संसार त्याग कर प्रव्रजित होने की अनुमति माँगते है। माता पिता तो पहले से ही जानते है कि यह विश्व विभूति घर मे रहने वाली नही है। वे अनुमति प्रदान कर देते है और प्रभु का महाभिनिष्क्रमण महोत्सव प्रारभ करते है। उधर चौसठ इन्द्र आते है और भगवान् का दीक्षा महोत्सव बडी धूमधाम से करते है।

दीक्षा के समय भगवान् के प्राय तपस्या होती है। कोई तेले के तप के साथ प्रव्रजित होते है तो कोई बेले के तप के साथ ससार का त्याग करते है। ससार त्याग करते समय भगवान् अपने वस्त्रा-भूषण उतार देते है, तब शक्रेन्द्र एक दिव्य वस्त्र भगवान् के कन्धे पर रख देता है। जब भगवान् पच मुष्टि लोच करके दीक्षा की प्रतिज्ञा करने लगते है, तब शक्रेन्द्र की आज्ञा से सभी वाजिन्त्र और गाना बजाना बद कर दिया जाता है और सभी मनुष्य स्तब्ध होकर खडे रहते है। उस समय भगवान्, सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके अपनी गभीर वाणी मे इस प्रकार प्रतिज्ञा करते है।

"मैं समस्त पापकर्म का सदा के लिए त्याग करता हूं।"

इस प्रकार की प्रतिज्ञा से भगवान् 'सामायिक चारित्र' स्वीकार करते है। अप्रमत्त दशा मे इस क्षयोपशमिक चारित्र की प्राप्ति के साथ ही भावो की विशुद्धि से उन्हे 'मन पर्यव ज्ञान' प्राप्त हो जाता है। इस ज्ञान से वे ढाई द्वीप और दो समुद्र मे रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के मन के भाव जानते है। इसके बाद अपने मित्र, ज्ञाति, सम्बन्धी आदि जनो को विसर्जन करके, प्रतिज्ञा करते है कि—

"मेरी संयम साधना में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न होगा और कोई देव, मानव तथा तिर्यंच जीव, मुझे घोरातिघोर उपसर्ग देगा, तो मैं उसे समभाव पूर्वक सहन करूगा"।

जब तक भगवान् को केवलज्ञान नही होता, तब तक वे उपदेश नही देते। यदि कोई उनके साथ दीक्षा लेता है, तो ठीक, अन्यथा बाद में छद्मस्थ अवस्था मे किसी को दीक्षित नही करते और एक शूरवीर की तरह सयम मे पराक्रम करते ही जाते है। ससार की कोई भी शक्ति उन्हे अपनी साधना मे विचलित नही कर सकती।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी

साधना काल मे तीर्थंकर भगवान् केवल द्रव्य तीर्थंकर होते है। जबसे उन्होने तीर्थंकर नामकर्म का निकाचित (दृढ) बध किया तब से वे द्रव्य तीर्थंकर माने जाते है। इसके बाद वह आत्मा उस

महान् एव सर्वोत्तम शुभ बंध के फल की ओर अग्रसर होती है। पूर्व भव से प्रस्थान कर गर्भ में आना माता को स्वप्न दर्शन जन्म, जन्मोत्सव आदि सभी तीर्थंकरत्व की प्राप्ति की ओर अग्रसर होने की स्थिति है। संसार में रहते हुए जन्म जन्मोत्सव विवाह राज्य सचालनादि क्रियाएँ होती हैं ये सब कर्मोदय से सबधित होने के कारण उदय भाव की क्रियाएँ हैं। वे स्वय पूर्व भव से लगाकर ससार त्याग के पूर्व तक गृहस्थावस्था में चौथे गुणस्थान में ही रहते हैं। इन्द्रों द्वारा जन्मोत्सव आदि होते हैं ये क्रियाएँ भी सावद्य एव आरम युक्त होती हैं। तीर्थंकर भगवान् की गृहस्थ अवस्था अन्य ससारी जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ निष्कलक एव सर्वोत्तम होती है। इसलिए अन्य ससारियों के लिए भी वे आदर्श रूप होते हैं। इसके सिवाय यह निश्चित् होता है कि वे एक लोकोत्तम आत्मा हैं और इसी भव में भाव तीर्थंकर होंगे इसलिए बाद की उस महान् अवस्था को लक्ष में रखकर उन्हें पहले से सर्वज्ञ श्रमण एव वीतराग आदि विशेषण से विशेषित करके स्तुति की जाती है यह भक्तिराग का कारण है किन्तु वास्तविक *तीर्थाधिपति तो वे बाद में होते हैं। जब उनका साधनाकाल पूर्ण होने के निकट आता है तब वे महान्* पुरुषार्थ से क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर मोहनीय आदि चारों घातक कर्मों को नष्ट कर देते हैं। उन्हें सर्वांग परिपूर्ण केवलज्ञान केवल दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। केवलज्ञान और केवलदर्शन ही ज्ञान दर्शन की परिपूर्णता है। इसका परिचय देते हुए आगमों में बताया गया है कि—

'द्रव्य से केवलज्ञानी लोकालोक के समस्त द्रव्यों को जानते देखते हैं। क्षेत्र से समस्त क्षेत्र को काल से भूत भविष्य और वर्तमान के तीनों काल—समस्तकाल और भाव से विश्व के समस्त भावों को जानते और देखते हैं।
(नन्दी सूत्र भगवती ८–२)

वह केवलज्ञान सम्पूर्ण प्रतिपूर्ण अव्याहत आवरणरहित असमस्त और प्रधान होता है। इससे वे सर्वज्ञ और समस्त भावों के प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। वे समस्त लोक के पर्याय जानते देखते हैं। गति आगति स्थिति च्यवन उपपात खाना पीना करना कराना प्रकट गुप्त आदि समस्त भावों को प्रत्यक्ष जानते देखते हैं।
(आचारांग २–१५ सूत्र ८)

यदि कोई शका करे कि जिस प्रकार हम अपनी दो आँखों से देख कर ही जानते हैं तथा कानों से सुनकर यावत् सूघ चख और स्पर्श करके ही जान सकते हैं बिना इन्द्रियों की सहायता के नहीं *जान सकते इसी प्रकार केवलज्ञानी भी इन्द्रियों की सहायता से ही जान सकते होंगे तो इसके समाधान* में आगमों में ही स्पष्ट किया गया है कि—

केवलज्ञानी भगवान् का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है (नन्दी) वे पूर्व आदि दिशाओं में सीमित और असीमित सभी वस्तुओं को जानते देखते हैं। उनके ज्ञान दर्शन पर किसी प्रकार का आवरण नहीं रहता।
(भगवती ५–४ तथा ६–१०)

"केवलज्ञानी भगवत के जानने के लिए किसी दूसरे हेतु की आवश्यकता नही होती, वे स्वय विना किसी वाह्य हेतु के ही जानते देखते है"। (भगवती ५—७)

गागेय अनगार भगवान् की परीक्षा करने के लिए आये थे। जब उन्हे विश्वास हो गया कि भगवान् केवलज्ञानी है, तो भी उन्होने भगवान् से पूछा कि—

"ये सब बाते आप कैसे जानते है ? आपने कही सुनी है—सुनकर जानते है, या बिना सुने ही जानते है" ? तब भगवान् फरमाते है कि—

"हे गागेय ! मै स्वय जानता हू, किन्तु दूसरे की सहायता से नही जानता। मै बिना सुने ही यह सब जानता हू—सुनकर नही"।

तब गागेय अनगार ने पूछा—

"आप स्वय, विना सुने कैसे जानते देखते है" ?

"—गागेय ! केवलज्ञानी अरिहत समस्त लोक की परिमित और अपरिमित ऐसी सभी ज्ञेय बाते जानते देखते है"।

तब उन्हे सतोष हुआ और उन्होने शिष्यत्व स्वीकार किया। (भगवती ६—३२)

"केवलज्ञानी, अधोलोक मे सातो नरक पृथ्वियो को उर्ध्व लोक मे सिद्धशिला तक और समस्त लोक में एक परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक को अर्थात् समस्त पदार्थों को जानते देखते हैं"। और इसी तरह सम्पूर्ण अलोक को भी जानते देखते है। (भगवती १४—१०)

केवलज्ञान और केवलदर्शन,आत्मा की वस्तु है। प्रत्येक आत्मा को उसे प्राप्त करने का अधिकार है। किसी अमुक अथवा विशिष्ठ व्यक्ति का ही इस पर एकाधिकार नही है। जो आत्मा सम्यग् पुरुषार्थ द्वारा आवरणो को हटाती जाती है, वह अत में केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाती है।

यद्यपि सर्वज्ञता, आत्मा की ही वस्तु है तथापि प्राप्ति सर्वसुलभ नही है। इसकी प्राप्ति मनुष्ये-तर प्राणियो को ता हो ही नही सकती, और मनुष्यो में भी सब को नही हो सकती, किन्तु किसी समय किसी महान् आत्मा को ही होती है। जिस प्रकार हिमालय पर्वत पर चढना सब के लिए शक्य नही है। ससार के अधिकाश मनुष्य तो हिमालय को जानते ही नही और जानने वालो मे से अधिकाश मनुष्यो ने तो हिमालय पर चढने का विचार ही नही किया। जिन्होने विचार किया, उनमें से प्रयत्न करने वाले वहुत ही थोडे निकले। उस प्रयत्न करने वालो मे से कई मर मिटे और कई असफल होकर वापिस लौट आये। श्री तेनसिंग नेपाली और मि० हिलैरी न्यूजीलेंड निवासी ही सफल हुए। श्री तेनसिंग के अनुभव का सहारा लेकर अन्य व्यक्ति भी प्रयत्न कर रहे है। केवल्य प्राप्ति के विषय मे भी लगभग ऐसी ही बात है। ससार के अधिकाश लोगो को तो इसका बोध ही नही है। जिन्हे बोध है, तो प्रयत्न

की मन्दता है। यदि कोई उग्र प्रयत्न करता है तो साधनों की अनुकूलता नहीं है इसलिए सफलता प्राप्त नहीं होती। जिस प्रकार तनसिंग और हिलैरी के पहले कितने ही काल तक कोई भी मनुष्य हिमालय पर नहीं चढ़ सका उसी प्रकार इस हायमान काल में कोई भी व्यक्ति ज्ञान के इस सर्वोच्च शिखर पर नहीं पहुँच सकता। जिस प्रकार हिमालय पर चढ़ने के लिए मि. हिलैरी को भारत आकर हिमालय* के निकट आना पड़ा उसी प्रकार महाविदेह क्षेत्र में के व्यक्ति ही सफल हो सकते हैं क्योंकि वहां इसकी पूर्ण अनुकूलता है।

कुयुक्तियाँ बहुत हैं और उनमें से कई प्रभावोत्पादक भी होती हैं। सर्वज्ञता के विरुद्ध भी अनेक कुतर्क खड़े हुए और हो रहे हैं किंतु सिद्धांत विघातक कुतर्कों की उपेक्षा करके हम सिद्धांत साधक तर्कों पर विचार करेंगे तो सम्यग् श्रद्धान को बल मिलेगा।

मनुष्यों में बहुत से ऐसे होते हैं कि जिन्हें अपनी मातृभाषा तथा अपने धर्म का ज्ञान भी पूरा नहीं होता। ऐसे व्यक्ति थोड़े होते हैं—जिन्हें किसी एक भाषा या धन्धे का तलस्पर्शी ज्ञान हो। उसमें से कुछ इने गिने व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जिन्हें अनेक भाषाओं और उद्योगों का आधिकारिक ज्ञान हो। इस स्थिति को समझने वाला यदि सम्यक् विचार करे तो उसकी समझ में आसकता है कि कोई ऐसी महान् आत्मा भी हो सकती है जो संसार के समस्त भावों—सभी द्रव्यादि ज्ञेय वस्तुओं का पूर्ण रूप से ज्ञाता हो। इस प्रकार के सर्वज्ञ सर्वदर्शी महा पुरुष महाविदेह को छोड़कर सर्वत्र और सदासर्वदा नहीं होते कभी किसी क्षेत्र अथवा काल विशेष में ही होते हैं। जिस प्रकार एक सूर्य विशाल क्षेत्र में अनन्त वस्तुओं को एक साथ प्रकाशित कर सकता है उसी प्रकार एक सर्वज्ञ भी विश्व की अनन्तानन्त—समस्त वस्तुओं के त्रिकालज्ञ हो सकते हैं। आगम में भी सर्वज्ञ की उपमा देते हुए लिखा है कि—

"उग्गओ खीण ससारो, सव्वण्णु जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोय, सव्व लोयम्मि पाणिणं ॥ (उत्तरा २३-७८)

जब तक ग्रामोफोन रेडियो टेलिविजन अणुबम आदि का आविष्कार नहीं हुआ था तब तक जिनागमों में प्रतिपादित शब्द की पौद्गलिकता तथा स्पर्शादि गुण और तीव्रगति तथा परमाणु और स्कन्ध की शक्ति आदि पर कौन तार्किक विश्वास कर सकता था? श्री दयानन्द सरस्वती आदि ने तो इस जमाने का गप्प ही कह दिया था किन्तु वही आज प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आधार रखने वाले व्यक्ति सर्वज्ञता पर भी अविश्वास करें तो आश्चर्य नहीं।

हीरा एक खनिज (पृथ्वीकाय) पदार्थ है—पत्थर की जाति का है। पत्थर तो सर्वत्र पाये जाते हैं इनमें से बहुत से ठोकरों में रुलते रहते हैं बहुत से मकानों के उपयोग में आते हैं उनमें

---

*हिमालय का उदाहरण केवल समझने के लिए एकदेशीय ही समझा जाय।

भी मूल्यवान् पत्थर संगमरमर आदि के है। इस प्रकार बढते बढते हीरा अधिक मूल्यवान् होता है। हीरो मे भी सभी समान नही होते। सभी हीरो मे अभी 'कोहेनूर' अकेला सर्वोत्तम माना गया है। आगे चलकर कभी इससे भी अधिक मूल्यवान् हीरा प्रकाश मे आ सकता है। इसी प्रकार ज्ञान की भी तरतमता होती है और कोई ऐसा पूर्ण ज्ञानी भी होता है जो सभी ज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता हो अर्थात् ज्ञान की चरम सीमापर पहुँच कर सर्वज्ञ होगया हो। यदि ऐसा सर्वज्ञ पुरुष आज यहा नही है, तो यह नही मान लेना चाहिए कि पहले कभी था ही नही और भविष्य मे भी नही हो सकेगा।

राग द्वेष की तरतमता प्रत्यक्ष देखी जाती है। कई इतने अधिक क्रोधी होते है, जो बात बात मे आगबबूला हो जाते है और मनुष्य को मौत के घाट उतार देते है, या स्वय आत्म हत्या कर लेते है, तो कई ऐसे भी सहनशील होते है कि उत्तेजित होने के प्रबल प्रसग उपस्थित होने पर भी उत्तेजित नही होते। इस प्रकार राग द्वेष की तरतमता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। तरतमता मे उग्रतमता है और मन्दतमता भी है, और मदत्मता है, तो कही न कही अभाव भी है। जिस महान् आत्मा मे राग-द्वेष की कालिमा का सर्वथा अभाव होता है, वही पूर्ण वीतराग होते हैं। जिस प्रकार राग द्वेष की तरतमता होती है, उसी प्रकार ज्ञान की भी तरतमता होती है और जिस प्रकार राग द्वेष का सर्वथा अभाव होकर परम वीतराग हो सकते है, उसी प्रकार ज्ञानावरण के सर्वथा अभाव से कोई महान् आत्मा, परम ज्ञानी-सर्वज्ञ भी हो सकता है। ऐसी अलौकिक आत्माएँ हमारे भरत क्षेत्र में सदाकाल नहीं होती, किंतु कभी कही अवश्य होती है। यदि हमारे जमाने मे-हमारे इस क्षेत्र मे नही है, इससे कभी कही हो ही नही सकती-इस प्रकार की मान्यता बना लेना एक भूल ही है। ऐसी अलौकिक आत्माएँ असख्य काल तक नही भी होती है।

साधारणतया लोगो की स्मरण शक्ति ऐसी नही होती जो अनेक बातो की स्मृति यथातथ्य रख सके, किन्तु अवधान करने वाले अवधानी, एक साथ एक सौ अटपटे विषयो को स्मृति मे रख सकते है और यथातथ्य रूप से बता सकते है। ऐसे कई प्रयोग जनता के समक्ष हुए है। सहस्त्रावधान करने वाला व्यक्ति भी देखने मे आया है, तब लक्षावधानी और कभी कोई सर्वावधानी-सर्वज्ञ भी हो सके, तो असभव जैसी बात क्या है?

जबतक कोलम्बस ने अमेरिका की खोज नही की, तबतक प्रत्यक्ष दर्शियो के लिए पृथ्वी पर अमेरिका का अस्तित्व ही नही था। उनका ससार इतना विस्तृत नही था, किन्तु कोलम्बस ने अमेरिका की खोज करके भौगोलिक ज्ञान मे वृद्धि की। अभी भी यह ज्ञान अधूरा ही है। मई ५८ मे ही सोवियत रूस के एक अन्वेषक दल ने आस्ट्रेलिया और दक्षिण ध्रुव के मध्य एक छोटे से बेट का पता लगाया है। मई ५८ के पूर्व इसका ज्ञान किसी को नही था।

एक ओर अनपढ आदिवासी-जिसने अपना प्रान्त ही पूरा नही देखा-बहुत कम क्षेत्र को जानता

है तब दूसरी ओर अनेक पर्यटक—जो सभी राष्ट्रों में घूम चुके हैं इनमें क्षत्रीय ज्ञान की कितनी तरतमता है ? और ऐसी अन्वेषक दल तो वर्त्तमान के सभी क्षेत्रज्ञों से आगे बढ़ गया है। इतना होते हुए भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि पृथ्वी की खोज पूरी हो चुकी है और आगे पृथ्वी है ही नहीं। आगे चलकर नई खोज करने वाले भी होंगे और नई नई खोजें भी होंगी। मनुष्य की इस प्रकार की खोजों का अन्त आना असम्भव है क्योंकि उसके पास वैसे भौतिक साधन तथा अनुकूलता नहीं है किन्तु जिस प्रकार क्षेत्रीय ज्ञान में अभिवृद्धि होती जाती है और एक एक से बढ़कर ज्ञाता होता है तो कभी कोई पूर्ण प्रत्यक्ष क्षेत्रज्ञ कालज्ञ भावज्ञ हो तो असम्भव जैसी क्या बात है ?

ऊपर दी हुई कुछ युक्तियाँ श्रद्धालु जनों की सैद्धांतिक श्रद्धा को सुरक्षित रखने में सहायक ही सकेगी—ऐसी आशा है।

तीर्थङ्कर भगवान् की महानता

तीर्थंकर भगवान् के गुणों की महानता का वर्णन औपपातिक भगवती, रायपसेणी कल्पसूत्र आदि के मूल में इस प्रकार किया गया है।

तीर्थंकर भगवत के गुणनिष्पन्न विशेषण इस प्रकार है।

अरिहत—जिसमें मोहनीय की प्रमुखता है—ऐसे चार घातिकर्म रूप शत्रु का नष्ट करने वाले अरि-हंत अथवा जिससे कोई रहस्य गुप्त नहीं रह सका ऐसे अरहंत अथवा जो देवेन्द्रों के लिए भी पूज्य है—उस अर्हन्त भगवान् को नमस्कार है।

भगवत—समस्त ऐश्वर्यादि युक्त पूर्ण ज्ञान यश धर्म आदि और अतिशयादि ऐश्वय युक्त।

आदिकर—श्रुत तथा चारित्र धर्म की आदि—प्रारंभ करने वाले। यद्यपि धर्म अनादि काल से है फिर भी काल प्रभाव से मनुष्यों की व्यापक परिणति के अनुसार पाँच महाव्रत अथवा चारयाम रूप चारित्र धर्म और स्वत के आरमागम से प्रतिपादित श्रुत वाग्धारा से श्रुत धर्म के उत्पादक। यद्यपि समस्त तीर्थंकरों की प्ररूपणा समान रूप से होती है फिर भी अनुयोग में परिवर्त्तन होता रहता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक तीर्थंकर भगवान् अपनी वाणी द्वारा धर्म का प्रवर्त्तन करते हैं और संघ स्थापना करते हैं। अतएव वे धर्म के आदि कर्त्ता कहलाते हैं।

तीर्थंकर—साधु साध्वी श्रावक और श्राविका का यों चतुर्विध संघ रूप तीर्थ अथवा तिरने का साधन ऐसे प्रवचन के करने वाले।

स्वय संबुद्ध—बिना किसी के उपदेश से स्वयं अपने आप ही—जन्म के पूर्व से ही हेय ज्ञेय और उपादेय को जानने वाले और अपने आप समझकर प्रवृत्ति करने वाले।

पुरुषोत्तम—संसार के सभी पुरुषों में उत्तम। रूप बल बुद्धि अतिशय एवं महत्त्वतादि गुणों में

सभी पुरुषो से उच्चतम स्थिति वाले पुरुषोत्तम।

पुरुषसिंह—जिस प्रकार सभी पशुओ में सिंह, शौर्यादि गुण मे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भगवान् तीर्थंकर भी शौर्य आदि गुणो में सभी पुरुषो में श्रेष्ठ हैं।

पुरुषवरपुंडरीक—पुष्पो की जातियो में सहस्र पखुडियो वाला पुडरीक कमल, श्वेत वर्ण एव उत्तम गध से शोभायमान होता है। वह पानी और कीचड से अलिप्त एव शुद्ध–निर्मल रहता है, उसी प्रकार भगवान्, कामरूप कीचड और भोगरूप पानी से अलिप्त रहकर उत्तम रूप तथा यश से शोभायमान होते है।

पुरुषवर गंधहस्ति—गध हस्ति के शरीर से ऐसी सुगन्ध निकलती है कि जिससे अन्य हाथी भाग जाते है। वह शत्रु सेना में भी भगदड मचा देने वाला होता है। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् भी होते हैं। उनके अतिशय के प्रभाव से, रोग, शोक, दु ख, दुर्भिक्ष, ईति, भीति आदि अशुभ परिणाम नष्ट हो जाते है। पाखण्डियो के समूह दूर भागते रहते है।

लोकोत्तम—समस्त लोक के सभी प्राणियो—नरेन्द्रो और देवेन्द्रो से भी उत्तमोत्तम।

लोकनाथ—भगवान् लोकनाथ है। लोक मे सज्ञी भव्य जीव भी मिथ्यात्व एव अविरति के कारण दु खी है—अनाथ है। उनको आनन्द प्रदायक कोई नही मिला, किन्तु जिनेश्वर भगवत, सज्ञी भव्य प्राणियो को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र की प्राप्ति करवाते है और प्राप्ति किए हुए को पालन कराकर क्षेम–आनन्द की प्राप्ति करवाते है। इस प्रकार अनाथ जीवो को सनाथ बनाने के कारण भग-वान् लोकनाथ है।

लोक के हितकर्त्ता—भगवान् लोक के हितकर्त्ता है। उपदेश द्वारा हितकारी मार्ग बताकर और हित साधना में सहायक होने से भगवान् विश्व हितकर है।

लोकप्रदीप—जिस प्रकार दीपक घर में रहे हुए अन्धकार को दूर करके प्रकाश करता है, उसी प्रकार भगवान्, मनुष्य, तिर्यंच और देव रूप विशिष्ठ लोक के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करके ज्ञान का प्रकाश करने वाले दीपक के समान है।

लोकप्रद्योतकर—समस्त लोकालोक के स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण भगवान् सूर्य के समान उद्योत करने वाले है। जीव अजीव मय लोक और अलोक के तत्त्व तथा भेदानुभेद के रहस्य को अपने केवलज्ञान केवदर्शन से जान देखकर प्रवचन द्वारा प्रकाशित करने के कारण भगवान् लोक प्रद्योतकर कहलाते हैं।

अभय दाता—समस्त प्राणियों के भय को दूर करने वाले दया के पालक एवं प्रवर्तक तथा क्रूर प्राणियों को भी अभय देने वाले। जगत् के अन्य देव तो भयका प्रवर्तन करने वाले भी हैं और दुष्टों के लिए भय प्रद भी होते हैं किन्तु जिनेश्वर भगवंत तो समस्त प्राणियों को अभय दान देने वाले हैं। अरिहंत भगवान् के समान अभय—अहिंसा का प्रवर्तन करने वाला दूसरा कोई भी देव संसार में नहीं है। निर्भयता का दान करने वाले जिनेश्वर भगवंत अद्वितीय एवं सर्वोपरि हैं। वे भयभ्रान्त जीवों को अभयकर बनने का मार्ग बता कर निर्भयता का दान करते हैं।

चक्षु दाता—श्रुतज्ञान रूपी चक्षु के देने वाले। जिस ज्ञान नेत्र से हेय ज्ञेय और उपादेय का बोध होता है ऐसी विवेक दृष्टि को प्रदान करने वाले।

जैसे किसी धनाढ्य पथिक को डाकू लोगों ने लूट लिया हो उसकी आँखों पर पट्टी बाँधकर भयानक अटवी में धकेल दिया हो और वह अन्धे की तरह इधर उधर भटक रहा हो उस समय कोई पुरुष उसकी आँखों की पट्टी खोलकर उसे मार्ग बतादे तथा इच्छित स्थान पर पहुँचने में सहायक बन जाय वह उपकारी माना जाता है। उसी प्रकार संसार रूपी भयानक अटवी में रागादि शत्रुओं के द्वारा लूटे हुए और दुष्ट वासनाओं से जिनके ज्ञान रूपी नेत्र बंद हो गए हैं ऐसे अज्ञानी जीवों के अज्ञान रूप पाट को हटाकर सम्यग्ज्ञान रूपी चक्षु का दान करके मोक्ष रूपी इच्छित स्थान का मार्ग बताने वाले तीर्थंकर भगवान् परम उपकारी हैं।

आँखों पर मोतिया आजाने से जिसे दिखाई नहीं देता ऐसे अन्ध समान व्यक्ति का मोतिया उतारने वाला डाक्टर नेत्रदान करने वाला—उपकारी माना जाता है उसी प्रकार जिनके ज्ञान नेत्र बंद हो गए हैं और जो अन्धे की तरह कुमार्ग में भटक रहे हैं उनका अज्ञानरूपी पटल—मोतिया हटाकर एवं ज्ञान नेत्र को खोलकर मुक्तिप्रद मार्ग पर लगाने वाले तीर्थंकर भगवान् परम उपकारी हैं। आँखों का मोतिया तो एक भव को ही द्रव्य दृष्टि से बिगाड़ता है किन्तु अज्ञान का मोतिया तो अनेक भवों को बिगाड़कर दुःख की परम्परा खड़ी कर देता है और जिनेश्वर भगवंत का सद्ज्ञान शाश्वत सुखों की प्राप्ति में सहायक होता है।

मार्गदाता—संसार अटवी में भूले भटके और विषय कषायादि चोरों द्वारा लूटे गये भव्य प्राणियों को मोक्षरूपी शाश्वत सुख के स्थान—निज घर का मार्ग बताने वाले। मोक्ष मार्ग पर लगाने वाले सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप मार्ग का दान करने वाले।

शरणदाता—अनेक प्रकार के उपद्रव से भरे हुए संसार में से भव्य प्राणियों को उपद्रव रहित एस निर्वाण स्थान की प्राप्ति कराने में ज्ञानादि सहायक—रक्षक प्रदान करने वाले।

जीवनदाता—सयमरूप जीवन प्रदान करके मोक्ष नगर मे पहुचाने और सादि अनन्त जीवन—जन्म मरण से रहित दशा को प्राप्त कराने वाले।

बोधिदाता—हितोपदेश के द्वारा वस्तु स्वरूप समझाकर सम्यक्त्व, रत्न प्रदान करने वाले।

धर्मदाता—चारित्र रूपी धर्म का दान करने वाले।

धर्मदेशक—श्रुत और चारित्र धर्म को दिखाने वाले। धर्म का उपदेश करने वाले।

धर्मनायक—धर्म—सघ एव तीर्थ के नायक

धर्मसारथि—धर्म रूप रथ के चालक—रक्षक। जिस प्रकार सारथि, रथ, रथमे बैठने वाले और रथ को खीचने वाले घोडो का रक्षण करता है, उसी प्रकार भगवान् चारित्र धर्म के—सयम, आत्मा और प्रवचन रूप अग की रक्षा करते हुए, धर्म रूपी रथ का प्रवर्त्तन करते है, अतएव धर्मसारथि है।

धर्मवरचातुरंत चक्रवर्ती—जिस प्रकार तीन ओर समुद्र और एक ओर हिमाचल पर्यन्त पृथ्वी का स्वामी, चातुरन्त चक्रवर्ती—राजाओ का भी स्वामी कहलाता है, उसी प्रकार भगवान् भी अन्य सभी धर्म प्रवर्त्तको में अतिशयवत है, इसलिए वे धर्मवर = चातुरत = चक्रवर्ती है। अथवा चारगति रूप ससार का अत करने वाले—भाव—आभ्यन्तर शत्रुओ को नष्ट करने वाले, ऐसे धर्मरूपी चक्र का प्रवर्त्तन करने वाले।

द्वीप-त्राण सरण गतिप्रतिष्ठा रूप—भगवान् ससार समुद्र में डूबते हुए जीवो के लिए द्वीप के समान आधार भूत, तारक, शरणप्रद, उत्तमगति और प्रतिष्ठा रूप है।

अप्रतिहत वरज्ञानदर्शन धर—किसी प्रकार की दीवाल आदि की ओट से नही रुकने वाला अर्थात् किसी ओट में छुपी हुई वस्तु को भी प्रत्यक्ष की तरह देखने वाला, विसवाद रहित, तथा ज्ञानावरण रूप मल को नष्ट कर क्षायक ऐसे प्रधान ज्ञान दर्शन के धारक। जिनेश्वर भगवत, किसी भी प्रकार की बाधा से नही रुक सके—ऐसे उत्तमोत्तम ज्ञान दर्शन के धारक होते है।

व्यावृत्त छद्म—जिनकी छद्मस्थता बीत चुकी—ज्ञानका आवरण नष्ट हो चुका और सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो चुके, ऐसे तीर्थकर भगवान् व्यावृत्त छद्मा है।

जिन—रागद्वेष रूप शत्रुओ को जीत लिया है, जिन्होने।

जापक—दूसरो को जिन बनाने वाले।

तिरक—ससार समुद्र से तिर गये।

तारक—भव्य जीवो को ससार समुद्र से तिराकर पार पहुँचाने वाले।

बुद्ध—जीवादि तत्त्वो को जानने वाले।

बोधक—भव्य जीवों को तत्वज्ञान का बोध देने वाले ।

मुक्त—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त अथवा संसार का मूल एसे मोहनीयादि घातिकर्म से मुक्त ।

मोचक—भव्य जीवों को बन्धन मुक्त करने वाले ।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी—समस्त पदार्थों को विशेष रूप से = समस्त भेदोपभेद से = द्रव्य की त्रिकाल वर्ती समस्त पर्यायों को विस्तार पूर्वक जानने के कारण भगवान् सर्वज्ञ हैं और सामान्य रूप से जानने के कारण सर्वदर्शी हैं ।

मोक्ष प्राप्त करने वाले—वे तीर्थंकर भगवान् उस सिद्धिस्थान को प्राप्त करने वाले हैं कि जो सभी प्रकार के उपद्रवों से रहित अचल—स्थिर रोग रहित अनन्त—जिसका कभी अन्त नहीं हो—जो कभी भी नहीं छोड़ना पड़े अक्षय—जो कभी नष्ट नहीं हो सके अव्याबाध—जहां किसी भी प्रकार की बाधा—अड़चन—पीड़ा नहीं है अपुनरावृत्ति—जहां से फिर कभी नहीं लौटना पड़ ऐसी सिद्धिगति को प्राप्त करने वाले जिनेश्वर भगवान् हैं । वे जीत भय हैं उन्होंने समस्त भयों को जीत लिया है ।

यह जिनेश्वर भगवंत का गुण वर्णन है । इसे शक्रस्तव भी कहते हैं किन्तु आजकल 'नमुत्थुण' के नाम से प्रचलित है । इस मूलपाठ से देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने भगवान् की स्तुति की और करते हैं । ऐसे जिनेश्वर भगवान् ही जिन धर्म के उद्‌गम स्थान है ।

भगवान् महावीर का धर्मोपदेश

भगवान् महावीर प्रभु की धर्म देशना का कुछ स्वरूप 'उववाई' सूत्र में दिया है जो इस प्रकार है ।

भव्यों ! षट् द्रव्यात्मक लोक का अस्तित्व है और आकाशात्मक अलोक का भी अस्तित्व है । जीव हैं अजीव हैं पुण्य पाप आस्रव संवर वेदना और निर्जरा भी है । अरिहंत चक्रवर्ती बलदेव और वासुदेव होते हैं । नरक और नैरियक भी हैं, तिर्यंच जीव हैं । ऋषि देवलोक देवता और इन सब से ऊपर सिद्धस्थान तथा उस में सिद्ध भगवान् भी हैं । मुक्ति है । अठारह प्रकार के पाप स्थान हैं और इन पाप स्थानों से निवृत्ति रूप धर्म भी है । अच्छे आचरणों का फल अच्छा—सुखदायक होता है और बुरे आचरणों का फल बुरा—दुःखदायक होता है । जीव पुण्य और पाप के परिणाम स्वरूप बंध दशा को प्राप्त होता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है । पाप और पुण्य अपनी प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फल देते हैं । इस प्रकार अस्तित्व भाव और नास्तित्व भाव का प्रतिपादन किया ।

भगवान् ने फरमाया कि— यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है । यह उत्तमोत्तम शुद्ध परिपूर्ण और

न्याय सम्पन्न है। माया निदान और मिथ्या दर्शन रूप त्रिशल्य को दूर करने वाला है। सिद्धि, मुक्ति, और निर्वाण का मार्ग है। निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य अर्थ का प्रकाशक-पूर्वापर अविरुद्ध है और समस्त दुखो को नाश करने का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले मनुष्य समस्त दुखो का नाश करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाते है"।

"जो महान् आरभ करते है, अत्यन्त लोभी (परिग्रही) होते है, पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा करते है और मास भक्षण करते है, वे नरक गति को प्राप्त होते है"।

"मायाचारिता-कपटाई करने से, दाभिकता पूर्वक दूसरो को ठगने से, झूठ बोलने से और कम देने तथा अधिक लेने के लिए खोटा तोल नाप करने से,तिर्यच आयु का वन्ध होता है।"

"प्रकृति की भद्रता, विनयशीलता, जीवो की अनुकम्पा करने से तथा मत्सरता=अदेखाई नही करने से मनुष्य आयु का वन्ध होता है"।

"सराग सयम से, श्रावक के व्रतो का पालन करने से, अकाम निर्जरा से और अज्ञान तप करने से देवगति के आयुष्य का वन्ध होता है"।

"नरक में जाने वाले महान् दुखी होते है। तिर्यच मे शारीरिक और मानसिक दुख बहुत उठाना पडता है। मनुष्य गति भी रोग, शोक आदि दुखो से युक्त है। देवलोक में देवता सुख का उपभोग करते है। जीव, नाना प्रकार के कर्मो से बन्धन को प्राप्त होता है और धर्म के आचरण (सवर निर्जरा) से मोक्ष प्राप्त करता है। राग द्वेष मे पडा हुआ जीव,महान् दुखो से भरे हुए ससार सागर मे गोते लगाता ही रहता है-डूवता उतराता रहता है, किन्तु जो राग द्वेष का अत करके वीतरागी होते है, वे समस्त कर्मो को नष्ट करके शाश्वत सुखो को प्राप्त कर लेते है"।

इस प्रकार परम तारक भगवान् महावीर प्रभु ने श्रुत धर्म=शुद्ध श्रद्धाका उपदेश किया, इसके वाद चारित्र धर्म का उपदेश करते हुए फरमाया कि-

"चारित्र धर्म दो प्रकार का है १-पाच अणुव्रत,तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत,इस प्रकार बारह व्रत तथा अतिम सलेषणा रूप अगार धर्म है और २-पाच महाव्रत तथा रात्रि भोजन त्याग रूप-अणगार धर्म है। जो अणगार और श्रावक अपने धर्म का पालन करते है, वे आराधक होते है"। (उववाई सूत्र)

"सभी जीवो को अपना जीवन प्रिय है। वे बहुत काल तक जीना चाहते है। सभी जीवो को सुख प्रिय है और दुख तथा मृत्यु अप्रिय है। कोई मरना अथवा दुखी होना नही चाहते है"। (इसलिए हिंसा नही करनी चाहिए) (आचाराग १--२--३)

"भूतकाल मे जितने भी अरिहत भगवत हुए है और जो वर्त्तमान मे है, तथा भविष्य में होंगे, उन सव का यही उपदेश है, यही कहते है, यही प्रचार करते है कि छोटे बडे सभी जीवो को मत मारो, उन्हे अपनी अधीनता (आज्ञा) में मत रखो, उन्हे बन्धन मे मत रखो, उन्हे क्लेशित मत करो, और

तरह चचल है, फिर इसपर क्यो मोहित हो रहे हो ? भव्य ! स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धव जीतेजी ही साथी होते है, मरने पर कोई साथ नही जाते । पुत्र के मरने पर पिता बडे दु ख के साथ उसे घरमे निकाल कर जला देता है, इसी प्रकार पिता के मरने पर पुत्र दुखित होकर पिता को निकाल देता है और मरने के बाद उसकी सपत्ति का स्वामी बनकर उपभोग करता है । जिस धन और स्त्रियो पर मनुष्य मोहित होता है, उसी धन और स्त्रियो का उसकी मृत्यु के बाद दूसरे लोग उपभोग करते है । इसलिए मोह को छोडकर धर्म का आचरण करो" । आदि (उत्तराध्ययन १८)

भगवान् के अपने उपदेश मे प्राय यही विषय रहता है कि—"जीव अपने अज्ञान एव दुराचार से किस प्रकार बन्धनो मे जकडता है और परिणाम स्वरूप दु ख भोगता है । समस्त बन्धनो से मुक्त होने का उपाय क्या है, किस रीति से जीव समस्त दु खो का अन्त करके मुक्त होकर परम सुखी बन जाता है । इस प्रकार के भावो का भगवान् अपने उपदेश मे प्रतिपादन करते है । (ज्ञाता—१)

"कहिओ भगवया जीवदयाइओ धम्मो । वरिणया मणुसत्ताइया दुल्लहा धम्मसाहणसामग्गी । परूविया मिच्छत्ताइया कम्मबधहेऊ । उवइट्ठाणि महारंभाइयाणि णरयगइकारणाणि । परूविओ जम्माइदुःखपउरो ससारो । परूविय कोहाइकसायाणं भव भमणहेउत्तणं । पयडिओ सम्मदंसणा—इओ मोक्खमग्गो" ।

(उत्तरा० अ० १० श्री नेमीचन्द्रीयटीका नार्गत उद्धरण)

भगवान् की देशना के विषयो का सक्षेप मे निर्देश करते हुए पूर्वाचार्य ने बताया कि—

भगवान् ने जीवदया सत्य आदि धर्म की प्ररूपणा की । मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल आदि धर्म साधन सामग्री की दुर्लभता बतलाई । कर्म बध के हेतु मे मिथ्यात्व, अविरति आदि को हेय बतलाया, महान् आरभ, महापरिग्रह आदि को नरकगति के कारण कहे । इस चतुर्गति रूप ससार को जन्म, जरा, मरण आदि दु ख कि प्रचुरता वाला और क्रोध, मान, माया तथा लोभ को भव भ्रमण का कारण बतलाया और समस्त दु खो से मुक्त होने का उपाय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग् चारित्र और सम्यग् तप का प्रतिपादन किया ।

तीर्थङ्करो के अतिशय

तीर्थंकर भगवन्तो मे इस प्रकार की कई विशेषताएँ होती है कि जो साधारण मनुष्यो मे नही होती । विश्वोत्तम महापुरुष मे अलौकिक विशेषताएँ हो, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है, क्योकि उनके पुण्यानुबन्धी पुण्य की सर्वोत्तम एव परमोत्कृष्ट प्रकृति का उदय होता है । वे प्रभाव—

विशेषताएँ—अतिशय चौंतीस हैं जो इस प्रकार हैं।

१ तीर्थंकर भगवान् के मस्तक और दाढ़ी मूछ के बाल नहीं बढ़ते। उनके रोम नख और केश सदा अवस्थित रहते हैं।

२ उनका शरीर नीरोग औरनिर्मल (स्वच्छ) रहता है।

३ उनके शरीर का रक्त और मांस गाय के दूध की तरह श्वेत होता है।

४ उनके श्वासोच्छ्वास में पद्म एवं नील कमल की अथवा पद्मक तथा उत्पल कुष्ट गन्ध द्रव्य जैसी सुगन्ध होती है।

५ उनका आहार और नीहार प्रच्छन्न होता है वह चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देता।

६ भगवान् के आगे आकाश में धर्मचक्र रहता है।

७ भगवान् के ऊपर—आकाश में तीन छत्र रहते हैं।

८ जिनेश्वर के दोनों ओर अत्यन्त उज्ज्वल एवं श्वेत चामर वींजते हैं।

९ भगवान् के बैठने के लिए आकाश के समान परम उज्ज्वल स्फटिक रत्नमय पादपीठ युक्त उत्तम सिंहासन होता है।

१० जिनेश्वर के आगे एक बहुत ऊँचा इन्द्र ध्वज होता है जो हजारों छोटी छोटी पताकाओं से परिमण्डित होता है।

११ तीर्थंकर भगवान् जहाँ ठहरते या बैठते हैं वहाँ उसी समय देव अथवा यक्ष पत्र पुष्प और पत्तों से युक्त तथा छत्र ध्वज घंटा तथा पताका से युक्त एक अशोक वृक्ष प्रकट करते हैं।

१२ भगवान् के पीछे मस्तक के पास एक तेजमण्डल—प्रभामण्डल रहता है जिससे अन्धकार का नाश होकर दसों दिशाएँ प्रकाशित होती हैं।

१३ भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ की भूमि ऊबड़ खाबड़ नहीं रहकर बहुत ही समतल हो जाती है।

१४ मार्ग के काँटे अधोमुख हो जाते हैं।

१५ भगवान् के विहार क्षेत्र में ऋतु अनुकूल रहता है।

१६ तीर्थंकर भगवान् के गमन क्षेत्र अथवा स्थिति क्षेत्र में शीतल मन्द और सुगन्धित वायु द्वारा एक योजन पर्यन्त—चारों ओर की भूमि शुद्ध हो जाती है।

१७ सुगन्धित जल की वृष्टि होकर ० रज और रेणु दब जाती हैं।

१८ देवों द्वारा घुटने तक ऊँचे ऐसे पाँच वर्ण के सुगन्धित अचित्त पुष्पों के ढेर होते हैं। उन पुष्पों के डण्ठल नीचे ही रहते हैं।

---

० आकाशवर्ती रज कही जाती है और भूमिवर्ती रेणु कही जाती है।

१६ भगवान् के विहार स्थल मे अमनोज्ञ, शद्ध, रस, गन्ध, रूप और स्पर्श नही रहते—दूर हो जाते है ।

२० मनोज्ञ एव उत्तम, शद्ध, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श प्रकट होते है ।

२१ देशना देते समय भगवान् का स्वर अतिशय हृदय स्पर्शी होता हुआ, एक योजन तक सुनाई देता है ।

२२ भगवान् अर्ध मागधी भाषा मे धर्मोपदेश देते है ।

२३ भगवान् के श्रीमुख से निकली हुई अर्धमागधी भाषा मे धर्म देशना का यह प्रभाव होता है कि उसे आर्य और अनार्य सभी प्रकार के और विविध भाषाओ वाले मनुष्य तथा पशु, पक्षी, और सरीसृप आदि तिर्यंच, अपनी अपनी भाषा मे समझ लेते है । वह जिनवाणी उन्हे हितकर, सुखकर एव कल्याणकर प्रतीत होती है ।

२४ जिनक पहले से ही एक दूसरे के (व्यक्तिगत अथवा जातिगत) आपस मे वैर बँधा हुआ है, ऐसे देव, असुर, नाग, सुवर्णकुमार, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुल, गधर्व, महोरगादि, (तथा मनुष्य और तिर्यच भी) अरिहत भगवान् के श्री चरणो मे आते ही वैर को भूलकर प्रशान्त चित्तवाले होकर धर्मोपदेश सुनते है ।

२५ जिनेश्वर के समीप आये हुए अन्य तीर्थी—प्रवर्तक भी भगवान् की वदना करते हुए नमस्कार करते है ।

२६ यदि वे वाद करने को आये हो, तो भी निरुत्तर हो जाते है ।

भगवान् के विहार क्षेत्र के आस पास चारो ओर पच्चीस पच्चीस योजन (सौ सौ कोस) के भीतर निम्न लिखित उपद्रव नहीं होते ।

२७ ईति—चूहे आदि जीवो से धान्यादि को क्षति नही होती ।

२८ मारी—प्लेग आदि जनसहारक रोग नही होते ।

२६ स्वचक्र भय—राज की ओर से किसी प्रकार का भय—अत्याचार नही होता ।

३० परचक्र भय—अन्य राज्य द्वारा आक्रमणादि भय नही होता ।

३१ अतिवर्षा का उपद्रव नही होता ।

३२ अनावृष्टि नही होती ।

३३ दुर्भिक्ष—दुष्काल नही पडना ।

३४ यदि पहले से किसी प्रकार का उपद्रव हो रहा हो, तो जिनेश्वर के पधारने पर अपने आप तुरन्त शान्त हो जाता है । (समवायाग ३४)

उपरोक्त चौतीस भेद में से तीर्थंकरो के जन्म से, दूसरा, तीसरा, चौथा और पाचवा ऐसे चार

अतिशय होते हैं। बारहवां और इक्कीस से लगाकर अंत तक के कुल पन्द्रह अतिशय घातिकर्मों के क्षय होने के बाद उत्पन्न होते हैं और शेष पन्द्रह अतिशय देवकृत होते हैं। ×

यद्यपि अतिशय पौद्‌गलिक ऋद्धि विशेष है तथापि यह उसी आत्मा को प्राप्त होती है जिसकी महान् साधना से आत्मा की निर्मलता होते होते प्रशस्त राग के कारण शुभतम कर्मों का बंध होता है। हमारे बहुत से भाई, तीर्थंकर भगवान् के अतिशयों में विश्वास नहीं करते इतना ही नहीं वे इन्हें गलत और कपोल कल्पना रूप बतलाकर उपहास भी करते हैं किन्तु यह उनकी भूल है। जो वस्तु सब सुलभ नहीं हो और सदा काल किसी क्षेत्र विशेष में विद्यमान नहीं रहती हो वह कभी और कहीं होही नहीं सकती—उसका एकांत अभाव ही होता है ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार के अतिशयों की आंशिक झांकी तो इस हीयमान समय में भी कभी कहीं मिल सकती है। योग विद्या से भी कई प्रकार के क्षणिक चमत्कार उत्पन्न हो सकते हैं तब उत्कृष्टतम साधना से जिन महान् आत्मा के कार्मण शरीर

× प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रंथों में भी चौंतीस अतिशयों का वर्णन है किन्तु इसमें और समवायांग सूत्र के उपरोक्त अतिशयों में कुछ भेद है। प्रवचनसारोद्धारादि में निम्न लिखित सात अतिशय ऐसे हैं जो सूत्र में नहीं हैं—

१ एक योजन प्रमाण क्षेत्र में करोड़ों देव और मनुष्य तिर्यंचों का आराम के साथ बैठ जाना।

२ तीन मूर्तियों सहित भगवान् का चतुर्मुख दिखाई देना।

३ समवसरण का रत्नादि से तीन कोट के रूप में निर्माण होना।

४ मक्खन के समान कोमल ऐसे स्वर्णमय कमल पुष्पों का पृथ्वी पर हो जाना जिनपर तीर्थंकर भगवान् पाँव रखते हुए चलते हैं।

५ रास्ते में चलते हुए पक्षिगण प्रदक्षिणा करे।

६ रास्ते में पड़ने वाले वृक्ष झुककर प्रणाम करें।

७ नवदुंदुभी का बजना।

इन सात अतिशयों के बदले सूत्रगत निम्न चार अतिशय बिलकुल छोड़ दिए गए हैं।

१ एक योजन प्रमाण विस्तार वाली जिनेश्वरों की वाणी।

२ अर्धमागधी भाषा।

३ अन्य तीर्थी द्वारा वन्दना।

४ वादियों का निरुत्तर होजाना।

ये चार अतिशय छोड़ दिए और निम्न तीन अतिशयों को दूसरे अतिशयों में मिला दिया गया है।

१ भूमि का सम होजाना २ दुर्गन्धादि रहित होना और ३ पर चक्र का भय उत्पन्न नहीं होना।

इस प्रकार संख्या बराबर होते हुए भी मूल आगम में और बाद के ग्रन्थों में कुछ भेद है।

में उत्कृष्ट प्रकार की वर्गणाएँ लगी हुई है। उनमे अतिशयो का प्रादुर्भाव हो तो इसमे इन्कार कैसे किया जा सकता है। इस विषय को समझने मे निम्न घटना सहायक होगी।

महात्मा भगवानदीनजी से भारत का विद्वद् समाज परिचित है ही। वे स्पष्टवादी, स्वतन्त्र विचारक, तथा बुद्धिवादी है। प्रत्यक्ष के पक्षपाती है। शास्त्रीय परोक्ष विषयो पर आप विश्वास नही करते, इतना ही नही आप उनका व्यग पूर्वक खण्डन भी करते है। आपने 'मेरे साथी' नामकी पुस्तक (जो भारत जैन महामण्डल, वर्धा से प्रकाशित हुई है) मे आगमाङ्कित नरक पृथ्वियो-नरकावासो और नारकीय भीषण दुःखो का व्यग पूर्वक खडन किया है, किन्तु इसी पुस्तक मे एक अतिशय पूर्ण सत्य घटना का निम्न शब्दो मे उल्लेख किया है।

"कितना आकर्षण रहा होगा उस वीरचन्द राघवजी गाधी मे, जिस वक्त 'मेसॉनिक टेम्पिल मे हिप्नाटिज्म पर वोलते हुए उन्होने लोगो से कहा कि कमरे की वत्तिया हल्की करदी जायँ और जैसे ही हलकी हुई कि उस सफेद कपडे धारी हिन्दुस्तानी की देह से एक आभा चमकने लगी और उसकी पगडी ऐसी मालूम होने लगी मानो उस आदमी के चेहरे के पीछे कोई सूरज निकल रहा हो और जिसे देखकर अमेरिकावासियो का कहना था कि वह उस आभा को न देख सके, उनकी आँखे वन्द होगई और थोडी देर के लिए ऐसा मालूम हुआ मानो वे सव समाधि अवस्था मे हों"।

(मेरेसाथी पृष्ठ १२५)

उपरोक्त घटना को स्वीकार करने वाला सुज्ञ, भगवान् के प्रभामण्डल वाले वारहवे अतिशय मे कैसे इन्कार कर सकता है ?

जो प्रकाश 'स्फटिकरत्न' और 'रेडियम' जैसे पृथ्वीकाय के अश दे सकते है और सूर्यमण्डल का पृथ्वीकायमय पिण्ड देसकता है, वह पृथ्वी एव तेज तत्त्व (पचभूतात्मक) रूप माने जाने वाला कोई विशिष्ट मानव देह नही दे सकता-ऐसा कहने वाले तटस्थता पूर्वक गहरा विचार करे, तो उनकी समझ मे आसके। 'जुगनू' नामक क्षुद्र प्राणी की देह मे हलकासा प्रकाश होता हुआ हम सभी देखते है, तव विश्व की एक मात्र विभूति ऐसे जिनेश्वर भगवतो की देह की उत्कृष्ट प्रभा हो और अलौकिक प्रकाश निकले, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

योग के चमत्कार को वताने वाला आज भी कोई कोई है और वे अपने योगवल से वातावरण को उत्तम सुगन्ध से सुगन्धित वना सकते है। स्वभाव से ही कई मनुष्यो की देह और पसीना दुर्गन्धमय होता है, तो कुछ व्यक्तियो का सुगन्धित भी होता है, तव तीर्थंकर भगवान् का सर्वोत्तम देह और श्वासोच्छ्वास परम सुगन्धित हो, तो असभव कैसे हो सकता है ? आचार्य श्री मानतुगसूरिजी अपने आदिनाथ (भक्तामर) स्तोत्र मे भगवान् आदिनाथ की स्तुति करते हुए कहते है कि-

"यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं, निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावत एव खलु ते प्यणवः पृथिव्यां, यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति" ॥१२॥

अर्थात्—हे भगवान् ! जिन परमाणुओं से आपके शरीर की रचना हुई है वे परमाणु संसार में उतने ही थे, यदि अधिक होते तो आप जैसा रूप किसी दूसरे का भी होता किन्तु वास्तव में आप जैसा सर्वोत्तम रूपवान् संसार में कोई भी नहीं है ।

उत्तम वस्तु, किसी काले नीले या अपारदर्शक भाजन में रखी हुई हो तो उसका परिचय ऊपर से देखने वाले को सरलता से नहीं हो सकता किन्तु वही उत्तम वस्तु कांच के निर्मल बरतन में रखी हो तो दूर से ही अपना परिचय देती है और 'ओबाक्स' की तरह उसमें रोशनी रखदी जाय तो फिर तो वह अन्धेरे में भी प्रकाशित होती रहती है । तीर्थंकर भगवान् का शरीर पुण्य के प्रबल उदय से उत्तमो-त्तम एवं दैदीप्यमान परमाणुओं से बना हुआ होता है। उसमें रही हुई आत्मा भी विश्वोत्तम होती है अतएव उसमें असाधारणता—संसार के समस्त मानवों से अत्यधिक विशेषताएँ होना सुज्ञ विचारकों के बुद्धि में जचने योग्य है ।

जिस प्रकार राष्ट्रपति अथवा राष्ट्र के प्रधान मन्त्री के अन्य स्थान पर जाने के पूर्व उधर के रास्तों की सफाई सजाई और अनेक प्रकार की शोभा बढ़ाई जाती है । बड़े बड़े अधिकारी और नाग रिक उनके स्वागत एवं सेवामें उपस्थित रहते हैं उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के विहार तथा स्थिति के क्षेत्र में देवों द्वारा अतिशय—विशेषताएँ हों तो असंभव नहीं है। देवों का सद्भाव मानने वाला व्यक्ति सरलता से इस बात को समझ सकता है ।

तात्पर्य यह कि तीर्थंकर भगवतों के अतिशय वास्तविक एवं बुद्धि में उतरने योग्य है ।

सत्य वचनातिशय

देहादि की अपेक्षा चौंतीस अतिशय होते हैं उसी प्रकार भगवान् के वचनों के भी पैंतीस अतिशय होते हैं जो इस प्रकार है ।

१ सस्कारित वचन—भाषा एवं व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष वचन होता है ।
२ उदात्त स्वर—उच्च प्रकार की आवाज जो योजन प्रमाण क्षेत्र तक पहुँच सके ।
३ उपचारोपपेत—ग्राम्य दोष रहित अर्थात् तुच्छकार आदि ओछी भाषा का उपयोग न होकर उत्तम प्रकार के सम्बोधनों से युक्त होती है ।
४ गंभीर शब्दता—मेघ गर्जना की तरह प्रभावोत्पादक एवं अर्थ गांभीर्य युक्त वचन ।
५ अनुनादित्व—वचना की प्रतिध्वनि होना ।

६ दाक्षिणत्व–प्रभु के वचन इतने सरल एव प्रभावक होते है कि श्रोतागणो के हृदय मे शीघ्र उतर जाते है और मधुर लगते है ।

७ उपनीतरागत्व–मालव केशिकादि राग से युक्त स्वर जो श्रोताओ को तल्लीन बनाकर बहुमान उत्पन्न करते है ।

८ महार्थत्व–थोडे शब्दो मे विशेष अर्थ युक्त वाणी ।

९ पूर्वापर अबाधित–वचनो मे पूर्वापरविरोध नही होता ।

१० शिष्टत्व–अभिमत सिद्धात का कथन करना, व्यर्थ की अथवा असगन बाते नही करना एव शिष्टता सूचक वचनो का उच्चारण करना ।

११ असन्दिग्धता–स्पष्टता पूर्वक उच्चारण करना कि जिससे श्रोताओ मे सन्देह उत्पन्न नही हो ।

१२ अदूषित–भाषा दोष करके रहित वाणी, जिससे श्रोता को शका समाधान करने की आवश्यकता नही पडे ।

१३ हृदयगाहित–श्रोता के हृदय में कठिन विषय भी सरलता से उतर जाय और वह आकर्षित होकर समझ जाय, इस प्रकार के वचन ।

१४ देशकालानुरूप–उस देश और कालके अनुरूप वचन एव अर्थ कहना ।

१५ तत्वानुरूपता–वस्तु स्वरूप के अनुकूल वचन ।

१६ सारवचन–विवक्षित विषय का उचित विस्तार के साथ वर्णन करना, किन्तु व्यर्थ के शब्दाडम्बर अथवा अनुचित विस्तार नही करना ।

१७ अन्योन्य प्रगृहीत–पद और वाक्यो का सापेक्ष होना ।

१८ अभिजातत्त्व–भूमिका के अनुसार विषय और वाणी होना ।

१९ अतिस्निग्ध मधुरत्व–कोमल एव मधुरवाणी, जो श्रोता के लिए सुखप्रद और रुचिकर हो–उपराम नही हो ।

२० अपरमर्मवेधित–दूसरे के छुपाये हुए रहस्य को प्रकट नही करने वाले, क्योकि इससे छुपाने वाले का मर्म प्रकट होकर उसके लिए दु खदायक होता है ।

२१ अर्थ धर्मोपेत–श्रुत चारित्र धर्म और मोक्ष अर्थ से सबधित वचन ।

२२ उदारत्व–शब्द और अर्थ की विशिष्ठ रचना तथा प्रतिपाद्य विषय की महानता युक्त वचन ।

२३ पर निन्दा स्वात्म प्रशसा रहित–दूसरो की निन्दा और अपनी प्रशसा से रहित वचन ।

२४ उपगत श्लाघत्व–दूसरो को खुश करनें–खुशामद करने के दोष से रहित ।

२५ अनपनीतत्व–कारक काल लिंग वचन आदि के विपर्यास रूप दोष से रहित।
२६ उत्पादितादि विच्छिन्न कुतूहलत्व–श्रोताओं में निरंतर कुतूहल बनाये रखने वाली वाणी।
२७ अद्भुतत्व–अश्रुतपूर्व वचन होने के कारण श्रोताओं के मनमें हर्ष रूप विस्मय बना रहना।
२८ अनतिविलम्बितत्व–धारा प्रवाह रूप से बोलना–रुक रुक कर नहीं बोलना।
२९ विभ्रमविक्षेप किलिकिंचितादि विप्रयुक्तत्व–प्रतिपाद्य विषय में वक्ता के मनमें भ्रान्ति उपराम–अरुचि रोष भय आदि नहीं देना।
विचित्रत्व–वर्णनीय विषय विविध प्रकार के होने के कारण वाणी में विचित्रता होना।
३१ आहित विशेषत्व–अन्य वक्ताओं की अपेक्षा वचनों में विशेषता होना और श्रोताओं में विशेष आकर्षण होना।
३२ साकारत्व–वर्ण पद तथा वाक्यों का भिन्न भिन्न होना।
३ सत्व परिगृहीतत्व–वाणी का ओजस्वी एवं प्रभावोत्पादक होना।
३४ अपरिखेदित्व–उपदेश देते हुए खेदित नहीं होना।
५ अव्युच्छेदित्व–प्रतिपाद्य विषय को सांगोपांग सिद्ध नहीं कर दिया जाय तब तक बिना छोड़ उसका ही व्याख्यान करना।

श्री समवायांग औपपातिक और रायपसेणी सूत्र के मूल में उपरोक्त पतीस सत्य–वचनातिशय के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि– सत्य वचन के पतीस अतिशय है। वे पैंतीस अतिशय कौनसे है–इसका उल्लेख मूल पाठ में नहीं है। समवायांग आदि सूत्रों की टीका में अन्य ग्रंथों के आधार से टीकाकारने पतीस अतिशयों के नाम बताये है। उन्ही के आधार से उपरोक्त अतिशय लिये गये है। जिनेश्वर भगवंतो की वाणी अनेक प्रकार के गुणों से युक्त और अतिशयवाली हो–यह स्वाभाविक ही है।

निर्दोष जीवन

जिनेश्वर भगवन्तो मे किसी भी प्रकार का दोष नही होता। जब वे बालवय में होते है तो उनकी बाल्यावस्था भी अन्य सामान्य बालको की अपेक्षा आदर्श होती है। युवावस्था एवं गृहस्था–श्रम भी अन्य गृहस्थियो की अपेक्षा उत्तम और निर्दोष होता है। छद्मस्थ और तीर्थंकर जीवन भी निर्दोष रहता है। उसमे किसी भी प्रकार के दोष का सद्भाव नहीं रहता। फिर भी पूर्वाचार्यों ने अन्य दर्शनों के माने हुए निम्न लिखित अठारह दोषो से जिनेश्वर भगवंतो को रहित बताया है। वे अठारह दोष ये है।

१ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ वीर्यान्तराय ४ भोगान्तराय ५ उपभोगान्तराय, ये पांच कर्मप्रकृतियाँ असमर्थता को प्रकट करने वाली हैं, ६ मिथ्यात्व ७ अज्ञान ८ अविरति ९ काम १० हास्य ११ रति १२ अरति १३ शोक १४ भय १५ जुगुप्सा १६ राग १७ द्वेष १८ निद्रा।

(उपरोक्त दोष सत्तरिसयठाण वृत्ति गा १९२-१९३ मे है) दूसरी प्रकार से अठारह दोष इस प्रकार है।

१ अज्ञान २ क्रोध ३ भय ४ मान ५ लोभ ६ माया ७ रति ८ अरति ९ निद्रा १० शोक ११ अलीक वचन १२ अदत्त ग्रहण १३ मत्सरता १४ भय १५ हिंसा १६ प्रेम १७ क्रीडा (भोग) और १८ हास्य। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ४१)

जिनमे उपरोक्त दोष विद्यमान हो वे सुदेव नही हो सकते, और जिनमें ये दोष नही हो, वे ही सुदेव हो सकते है। श्री जिनेश्वर भगवतो मे इनमे से एक भी दोष नही होता है। अतएव वे सुदेव है। धर्म के वास्तविक दाता वे ही है। इन की आज्ञा का आराधन करने वाला परमानन्द को प्राप्त करता है।

मूलातिशय

भगवान् के सभी अतिशयो को श्री हेमचन्द्राचार्य ने स्याद्वादमजरी कारिका १ मे निम्न चार मूल अतिशयो मे सम्मिलित किया है।

१ अपायापगमातिशय–अठारह दोषो और समस्त विघ्न बाधाओ का नष्ट होजाना।

२ ज्ञानातिशय–ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट होने से अनन्तज्ञान–सर्वज्ञता की प्राप्ति।

३ पूजातिशय--देवेन्द्र एव नरेन्द्रो के लिए पूज्य, लोकनाथ, देवाधिदेव।

४ वागतिशय--सत्यवचनातिशय के ३५ गुण युक्त वाणी।

आठ महाप्रातिहार्य

उपरोक्त मूलातिशयो के अतिरिक्त नीचे लिखे आठ महा प्रातिहार्य माने है।

१ अशोकवृक्ष २ देव कृत पुष्पवृष्टि ३ दिव्यध्वनि ४ चँवर ५ सिहासन ६ भामण्डल ७ देवदुन्दुभि और ८ छत्र। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ३९)

बारह गुण

उपरोक्त चार मूलातिशय और आठ महा प्रातिहार्य मिलाकर भगवान् के बारह गुण माने गये हैं। (सम्बोधसत्तरी)

'जैनतत्त्व प्रकाश' में ये बारह गुण इस प्रकार मिले हैं—१ अनन्तज्ञान २ अनन्तदर्शन ३ अनन्तचारित्र ४ अनन्ततप ५ अनन्तवीर्य ६ क्षायिक सम्यक्त्व ७ वज्र-ऋषभ-नाराचसहनन ८ सम चतुरस्र संस्थान ९ चौंतीस अतिशय १० पैंतीसवाणी ११ एक हजार आठ लक्षण और १२ चौंसठ इन्द्रों के पूज्य। (जैनतत्त्वप्रकाश आवृत्ति ८ पृ० ९)

उपरोक्त गुणों में आत्मिक गुण तो प्रथम के ६ ही हैं शेष पौद्गलिक हैं। किन्तु ये भी तीर्थंकर भगवान् में ही पूर्ण रूप से प्रकट होते हैं। ये विश्वोत्तम महापुरुष ही तीर्थपति होकर धर्म की उत्पत्ति के स्थान हैं। इन्हीं से धर्म प्रकाश में आता है और भव्यात्माओं का उद्धार होता है।

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व की महान् भयकरता किन शब्दो में बताई जाय। इसी के कारण जीव अनादि काल मे ससार में परिभ्रमण कर रहा है और इसी के कारण नरक निगोद के दु खो का सचय होता है। यदि मिथ्यात्व नही होता तो, सम्यक्त्व के सद्भाव में जीव, कभी नरक निगोद का वन्ध कर ही नही सकता। अनादिकाल से ससार में परिभ्रमण करने का प्रमुख कारण मिथ्यात्व ही है। यह प्राणी की मति ऐसी मोह लेता है कि जिससे उसे हिताहित का यथार्थ भान हो ही नही सकता। वह अपने स्वरूप को भी सही रूप में नही समझ सकता। पारमार्थिक विषयो में उसकी दृष्टि उल्टी ही होती है। उसके घोरतम दु खो–अधमाधम अवस्था मे तो उसकी दशा जड के समान–मुर्दे के समान होती है। इस दशामे उसे अनन्त काल रहना पडता है। अनादि अपर्यवसित मिथ्यात्वी को देव और मनुष्य के भौतिक सुखो में रहने को जितना समय मिलता है, उससे अनन्त गुण समय नरक तिर्यंच के महान दु ख भुगतना पडता है। उसके लिए अधिक समय तक टिकने का स्थान निगोद ही है। इस प्रकार दु खमय अनन्त ससार का कारण, सित्तर कोटाकोटी सागरोपम जितनी उत्कृष्टतम स्थिति का वन्ध करानेवाला मिथ्यात्व ही आत्मा का प्रधान शत्रु है। जिसने इस महान् शत्रु को जीत लिया वह बहुत कुछ पा गया। फिर यदि उसने इस शत्रु को अपने पर अधिकार नही करने दिया और इसकी शक्ति नष्ट करते हुए आगे बढा, तो वह अनन्त सुखो का स्वामी बन सकता है।

सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है मिथ्यात्व। यही अनन्त भव भ्रमण कराने वाला है। अनादिकाल से जीव जन्म मरण के चक्कर में पड़ा है-इसी के प्रताप से। यदि यह महाशत्रु हट जाय तो जीव का परम सुखी होना सरल हो जाय। भगवान फरमाते हैं कि- मिथ्यात्व से संसार मजबूत होता है जिसमें प्रजा निवास करती है। (सूय १-१२-१२) मिथ्यात्व ही के कारण संसार है। यदि संसार में मिथ्यात्व नहीं रहे तो एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि सभी जीव मुक्त हो जाएँ और संसार में कोई जीव नहीं रहे। किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। मिथ्यात्व की सत्ता सम्यक्त्व की अपेक्षा अनन्त गुणी है। सम्यक्त्वी जीव तो केवली समुद्घात के सिवाय लोक के अमुक प्रदेश में ही है किन्तु मिथ्यात्वी तो लोक के प्रत्येक आकाश प्रदेश में विद्यमान हैं। सम्यग्दृष्टि अत्यन्त अल्प संख्यक हैं और रहेंगे और मिथ्यादृष्टि सदा से अत्यन्त बहुत संख्यक ही नहीं अनन्त गुण अधिक रहे हैं और रहेंगे। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व से बचते रहना चाहिए। जिस प्रकार बहुमूल्य वस्तु-रत्नादि का कूड़े कर्कट कर्दम एवं चोरादि से बचाया जाता है उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी स्फटिक रत्न को मिथ्यात्व रूपी मल कर्दम और चोर से बचाना चाहिए। मिथ्यात्व से सतर्क रहने के लिए उसका स्वरूप भी समझना आवश्यक हो जाता है। मिथ्यात्व के भेद निर्ग्रंथ महर्षियों ने इस प्रकार बतलाये हैं।

१ धर्म को अधर्म समझना-सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र और तप रूप धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है। कोई कोई अनसमझ जैनी उपरोक्त धर्म के पालन में 'क्रिया जड़ता' कहकर इस मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

२ अधर्म को धर्म समझना-जिस प्रवृत्ति से आत्मा की पराधीनता बढ़ती है बन्धनों में विशेष बंधना है-उस मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और अशुभ योग में धर्म समझना भी मिथ्यात्व है। हिंसादि कृत्यों में धर्म मानना आदि इसी भेद में आ जाता है और संवर निर्जरा रहित लौकिक क्रिया में धर्म मानना भी इसी भेद में है।

संसार के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझना-मिथ्यात्व अविरति आदि संसार मार्ग हैं। जिस प्रवृत्ति से जीव संसार के परिभ्रमण में ही चक्कर काटा करता है-जन्म मरण की शृंखला कायम रखता है वह सभी संसार मार्ग है। इन मार्गों को मुक्ति का मार्ग मानना।

४ मुक्ति के मार्ग को बंधन (संसार) का मार्ग मानना-संयम संवर और तपस्यादि से मुक्ति की साधना होती है किन्तु इन्हें बन्धनरूप मानना अथवा तप आदि में आत्म हिंसा मानना।

५ अजीव को जीव मानना-जिसमें जीव नहीं है उसमें जीव मानना।

जीव को अजीव मानना-स्थावरकाय और सम्मूर्छिम आदि को जीव नहीं मानना अथवा पंचभूत की मान्यता रखकर जीव का अस्तित्व ही नहीं मानना।

७ कुसाधु को सुसाधु मानना-जिसमें न तो दर्शन और न चारित्र गुण ही है, जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा खोटी है, जो पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति से रहित है, जिसके आचरण सुसाधु जैसे नही है. उसे लौकिक विशेषता के कारण, अथवा साधुवेश देखकर सुसाधु मानने मे यह मिथ्यात्व लगता है।

८ सुसाधु को कुसाधु समझना-जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा शुद्ध है, जो महाव्रतादि श्रमण धर्म का पालक है-ऐसे सुसाधु को कुसाधु समझना।

९ रागी द्वेषी को मुक्त समझना- इतर पथो के देव, राग द्वेष युक्त है और छद्मस्थ है, इसलिए वे मुक्त नही हुए। किन्तु अज्ञान वश उन्हे मुक्त समझना।

१० मुक्त को ससार मे लिप्त समझना-भगवान महावीर प्रभु रागद्वेष से मुक्त हो चुके थे, फिर भी गोशालक मति ने आर्द्रकुमार श्रमण के सामने उन्हे अमुक्त कहा था। इसी प्रकार या प्रकारान्तर से मुक्तात्मा को ससार में लिप्त समझना मिथ्यात्व है।

उपरोक्त दस मिथ्यात्व का उल्लेख स्थानागसूत्र के १० वे स्थान मे है। मिथ्यात्व के कुल २५ भेद पूर्वाचार्यों ने बतलाये है, किन्तु मूल भेद तो ये दस ही है। बाकी के भेद तो इन दस भेदो मे रहे हुए मिथ्यात्व को ही स्पष्ट करने वाले है। एक दृष्टि से देखा जाय, तो उपरोक्त दस भेदो का समावेश निम्न पाँच भेदो में हो जाता है-

(१) नौवा और दसवा भेद, देव सबधी मिथ्यात्व को बतलाता है।

(२) सातवा और आठवा भेद, गुरु सबधी मिथ्यात्व को स्पष्ट करता है।

(३) पाचवाँ और छठा भेद, तत्त्व सबधी मिथ्यात्व से सबधित है। सग्रह नयकी दृष्टि से मुख्य तत्त्व तो जीव और अजीव ही है।

(४) तीसरा और चौथा भेद, मार्ग सबधी है। यह ससार मार्ग और मोक्ष मार्ग के विषय में होती हुई कुश्रद्धा का निर्देष करता है।

(५) पहला और दूसरा भेद धर्म सबधी मिथ्या मान्यता के विषय मे है।

यदि हम और भी सक्षेप में सोचे, तो देव गुरु और धर्म सबधी मिथ्यात्व मे सभी भेदो का समावेश हो जाता है। क्योकि देव और गुरु के अतिरिक्त छहो भेदो का समावेश, धर्म तत्त्व सबधी मिथ्यात्व में हो जाता है। तत्त्व और मार्ग सबधी मिथ्यात्व श्रुतधर्म सबधी मिथ्यात्व ही है।

आगम विहित दस भेदो के सिवाय जो पन्द्रह भेद है, वे इन दस भेदो के मिथ्यात्वी जीवो के प्रकार को स्पष्ट करने वाले हैं-स्वतन्त्र नही हैं। वे पन्द्रह भेद ये है।

१ आभिग्रहिक मिथ्यात्व-अपने ग्रहण किये हुए मिथ्या सिद्धात को, तत्त्व की परीक्षा किये बिना

ही पकड़ रखना। बापदादों से चली आती हुई गलत मान्यता नहीं छूटना। (ठाणांग २-१)

२ अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व-सभी मतों और पथों को सत्य मानना। अपने लिए तो सभी एक समान हैं'-इस प्रकार सत्यासत्य गुणावगुण और धर्म अधर्म का विवेक नहीं रखकर 'सब धर्म समभाव' रूप मूढ़ता अपनाना। (ठाणांग २-१)

३ अभिनिवेशिक मिथ्यात्व-अपने सिद्धांत को गलत जानकर भी अभिमान वश हठाग्रही होकर उसे पकड़े रहना। (भगवती १-३३)

४ सांशयिक मिथ्यात्व-तत्त्व अथवा जिनेश्वर के वचनों में शंकाशील बने रहना। (शंका-उपासक १)

५ अनाभोग मिथ्यात्व-विचार शून्यता अथवा मनन शक्ति के अभाव में ज्ञानावरणीयादि कर्म के उपशम उदय से होने वाला मिथ्यात्व सभी असंज्ञी जीवों में होता है।

६ लौकिक मिथ्यात्व-जिनमें वीतरागता सर्वज्ञता और हितोपदेशकता के गुण नहीं-ऐसे रागी द्वेषी छद्मस्थ और मिथ्यामार्ग प्रवर्त्तक संसार मार्ग के प्रणेता को देव मानना संवर के लक्षण युक्त सम्यग्चारित्र रूप पाँच महाव्रत तथा समिति गुप्ति से रहित नामधारी साधु या गृहस्थ को गुरु मानना और अधर्म-जिसमें सम्यग्ज्ञानादि का अभाव है और जो लौकिक क्रियाकांड मय है उसे धर्म मानना तीर्थयात्रा स्नान यज्ञयागादि सावद्य प्रवृत्ति में धर्म मानना लौकिक मिथ्यात्व है (अनुयोगद्वार)

७ लोकोत्तर मिथ्यात्व-तीर्थंकर भगवान् लोकोत्तर देव हैं वे वीतराग हैं उनकी आराधना अपनी आत्मा में वीतरागता का गुण लाने के लिए ही करनी चाहिए किन्तु अपनी विषय कषायों की पूर्ति के लिए उनकी आराधना की जाय निर्ग्रंथों की सेवा मांगलिक श्रवण सामायिक आयम्बिलादि तप भौतिक स्वार्थ भावना से किया जाय तो यह लोकोत्तर मिथ्यात्व है। इसका दूसरा भेद गौशाला जैसे को देव निन्हवादि को गुरु और शुभ बंधकी क्रिया को लोकोत्तरधर्म मानना भी है।

(अनुयोग द्वार)

८ कुप्रावचन मिथ्यात्व-निर्ग्रंथ प्रवचन के अतिरिक्त अन्य कुप्रावचनिक-मिथ्या प्रवचन के प्रवर्त्तक प्रचारक और मिथ्या प्रवचन को मानना। (अनुयोगद्वार)

९ न्यून-मिथ्यात्व-तत्त्व के स्वरूप में से कम मानना। एकाध तत्त्व या उसके किसी भी भेद में अविश्वासी होना। कोई कोई यों कहा करते हैं कि 'इतनीसी बात नहीं माने तो क्या होगा'? किन्तु यह सब स्वमत या परमत वाद है। जो जैनी कहलाता है उसे तो जिनेश्वरों के वचनों को पूर्ण रूप से यथार्थ मानना ही पड़ेगा। पूर्वाचार्यों ने मिथ्यात्व की व्याख्या करते हुए लिखा कि-"**सूत्रोक्तस्यैक-व्याप्यरोचनाद्दक्षरस्य भवतिनरः मिथ्यादृष्टिः**" (स्थानांग १ टीका) श्री प्रज्ञापना सूत्र के मूल पाठ में

लिखा कि **"मिथ्यादर्शन विरमण समस्त द्रव्यों से होता है"** (पद २२) टीकाकार श्रीमलय-गिरिजी ने इसकी टीका मे सभी द्रव्यो और सभी पर्यायो से मिथ्यादर्शन विरमण माना है। और सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानाग टीका मे लिखा कि **"जिनाभिहिता-र्थश्रद्धानवतीदृष्टिः—दर्शनं श्रद्धानं"**। अतएव इसमे किञ्चित् भी न्यून मानना मिथ्यात्व है। (ठाणाग २--१)

१० अधिक मिथ्यात्व—जिन प्रवचन मे अधिक मानना मिथ्यात्व है। (ठाणाग २--१)

११ विपरीत मिथ्यात्व—जिनागमो के विपरीत प्ररूपणा करना मिथ्यात्व है। क्योंकि सम्यक्त्व का अर्थ ही जिन प्ररूपित तत्त्वों को यथातथ्य मानना है। **"जिणपण्णत्तं तत्तं इहसमत्त"** अतएव जिन प्रवचन मे विपरीत मान्यता नही करना चाहिए। (ठाणाग २—१)

१२ अक्रिया मिथ्यात्व—सम्यग्चारित्र की उत्थापना करते हुए एकान्तवादी बनकर आत्मा को अक्रिय मानना। चारित्रवानो को 'क्रियाजड' कहकर तिरस्कार करना। (ठाणाग ३--३)

१३ अज्ञान मिथ्यात्व—ज्ञान को बध और पाप का कारण मानकर अज्ञान को श्रेष्ठ मानना। (ठाणाग ३—३)

१४ अविनय मिथ्यात्व—पूजनीय देवगुरु और धर्म का विनय नही करके अविनय करना। उनकी आज्ञा का उल्लघन करना, उन्हे असत् कहना आदि। (ठाणाग ३—३)

१५ आशातना मिथ्यात्व—देवगुरु और धर्म की आशातना करना। इनके प्रति ऐसा व्यवहार करना कि जिससे ज्ञानादि गुणो और ज्ञानियो को ठेस पहुँचे। (आवश्यक सूत्र)

इस प्रकार मिथ्यात्व के भेदो को समझकर इससे बचते रहना प्रत्येक जैनी का कर्त्तव्य है। सम्यक्त्व की शुद्धि और रक्षा के लिए अतीव सावधानी की आवश्यकता है। मिथ्याज्ञान से प्रभावित हुए कुछ भाई इसे जैनियो की सकीर्णता कहकर घृणा करते है, किन्तु वे वास्तविकता को समझने का प्रयत्न नही करते। जिस प्रकार आरोग्य का अर्थी कुपथ्य से बचता है, स्वच्छता प्रेमी मैल से बचता है और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री सहवास वर्जनीय है, उसी प्रकार सम्यक्त्व की रक्षा के लिए मिथ्यात्व के निमित्तो से बचना आवश्यक है। यदि इसका कोई यह अर्थ लगावे कि "जैनियो का ऐसा नियम विद्वेष एव झगडे का मूल है"--तो यह कहना गलत है। जैनधर्म किसी से झगडने की शिक्षा नही देता, वह तो सहन करने की शिक्षा देता है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि हम अपनी मूल वस्तु को सुरक्षित नही रखे। जिस प्रकार हम अपनी मूल्यवान और अत्यन्त प्रिय वस्तु को दूसरो से बचाये रखने के लिए पूर्ण सावधान रहते है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रत्न को बचाने के लिए भी पूर्ण सावधान रहना चाहिए। सावधानी नही रखने के कारण नन्द मणिहार मिथ्यात्वी बना। सम्यक्त्व की सुरक्षा के कारणो से

ही पकड़ रखना । बापदादों से चली आती हुई गलत मान्यता नहीं छूटना । (ठाणांग २—१)

२ अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—सभी मतों और पंथों को सत्य मानना । अपने लिए तो सभी एक समान हैं—इस प्रकार सत्यासत्य गुणावगुण और धर्म अधर्म का विवेक नहीं रखकर 'सर्व धर्म समभाव' रूप मूढ़ता अपनाना । (ठाणांग २—१)

३ अभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने सिद्धांत को गलत जानकर भी अभिमान वश हठाग्रही होकर उसे पकड़े रहना । (भगवती ६—३३)

४ सांशयिक मिथ्यात्व—तत्त्व अथवा जिनेश्वर के वचनों में शंकाशील बने रहना । (शंका—उपासक १)

५ अनाभोग मिथ्यात्व—विचार शून्यता अथवा मनन शक्ति के अभाव में ज्ञानावरणीयादि कर्म के उपशम उदय से होने वाला मिथ्यात्व सभी असंज्ञी जीवों में होता है ।

६ लौकिक मिथ्यात्व—जिनमें वीतरागता सर्वज्ञता और हितोपदेशकता के गुण नहीं—ऐसे रागी द्वेषी छद्मस्थ और मिथ्यामार्ग प्रवर्तक संसार मार्ग के प्रणेता को देव मानना संवर के लक्षण युक्त सम्यग्चारित्र रूप पाँच महाव्रत तथा समिति गुप्ति से रहित नामधारी साधु या गृहस्थ को गुरु मानना और अधर्म—जिसमें सम्यग्ज्ञानादि का अभाव है और जो लौकिक क्रियाकांड मय है उसे धर्म मानना तीर्थयात्रा स्नान यज्ञयागादि सावद्य प्रवृत्ति में धर्म मानना लौकिक मिथ्यात्व है (अनुयोगद्वार)

७ लोकोत्तर मिथ्यात्व—तीर्थंकर भगवान् लोकोत्तर देव हैं वे वीतराग हैं उनकी आराधना अपनी आत्मा में वीतरागता का गुण लाने के लिए ही करनी चाहिए किन्तु अपनी विषय कषायों की पूर्ति के लिए उनकी आराधना की जाय निर्ग्रंथों की सेवा मांगलिक श्रवण सामायिक आयम्बिलादि तप भौतिक स्वार्थ भावना से किया जाय तो यह लोकोत्तर मिथ्यात्व है । इसका दूसरा अर्थ गौशाला जैसे को देव निन्हवादि को गुरु और शुभ बंधकी क्रिया को लोकोत्तरधर्म मानना भी है । (अनुयोग द्वार)

८ कुप्रावचन मिथ्यात्व—निर्ग्रंथ प्रवचन के अतिरिक्त अन्य कुप्रावचनिक—मिथ्या प्रवचन के प्रवर्तक प्रचारक और मिथ्या प्रवचन को मानना । (अनुयोगद्वार)

९ न्यून—मिथ्यात्व—तत्त्व के स्वरूप में से कम मानना । एकाध तत्त्व या उसके किसी भी भेद में अविश्वासी होना । कोई कोई यों कहा करते हैं कि 'इतनीसी बात नहीं माने तो क्या होगा' ? किन्तु यह सब स्वमत या परमत वाद है । जो जैन कहलाता है उसे तो जिनेश्वरों के वचनों को पूर्ण रूप से यथार्थ मानना ही पड़ेगा । पूर्वाचार्यों ने मिथ्यात्व की व्याख्या करते हुए लिखा कि—"सूत्रोक्तस्यैक-स्याप्यरोचनादक्षरस्य भवतिनर' मिथ्यादृष्टिः" (स्थानांग १ टीका) श्री प्रज्ञापन सूत्र के मूल पाठ में

लिखा कि **"मिथ्यादर्शन विरमण समस्त द्रव्यों से होता है"** (पद २२) टीकाकार श्रीमलय-गिरिजी ने इसकी टीका मे सभी द्रव्यो और सभी पर्यायो मे मिथ्यादर्शन विरमण माना है। और सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानाग टीका मे लिखा कि **"जिनाभिहिता-र्थश्रद्धानवतीदृष्टिः–दर्शनं श्रद्धानं"**। अतएव इसमे किञ्चित् भी न्यून मानना मिथ्यात्व है ।
(ठाणाग २--१)

१० अधिक मिथ्यात्व–जिन प्रवचन मे अधिक मानना मिथ्यात्व है। (ठाणाग २--१)

११ विपरीत मिथ्यात्व–जिनागमो के विपरीत प्ररूपणा करना मिथ्यात्व है। क्योंकि सम्यक्त्व का अर्थ ही जिन प्ररूपित तत्त्वो को यथातथ्य मानना है। **"जिणपण्णत्तं तत्तं इहसमत्तं"** अतएव जिन प्रवचन से विपरीत मान्यता नही करना चाहिए। (ठाणाग २–१)

१२ अक्रिया मिथ्यात्व–सम्यग्चारित्र की उत्थापना करते हुए एकान्तवादी बनकर आत्मा को अक्रिय मानना। चारित्रवानो को 'क्रियाजड' कहकर तिरस्कार करना। (ठाणाग ३--३)

१३ अज्ञान मिथ्यात्व–ज्ञान को बध और पाप का कारण मानकर अज्ञान को श्रेष्ठ मानना।
(ठाणाग ३–३)

१४ अविनय मिथ्यात्व–पूजनीय देवगुरु और धर्म का विनय नही करके अविनय करना। उनकी आज्ञा का उल्लघन करना, उन्हे असत् कहना आदि। (ठाणाग ३–३)

१५ आशातना मिथ्यात्व–देवगुरु और धर्म की आशातना करना। इनके प्रति ऐसा व्यवहार करना कि जिससे ज्ञानादि गुणो और ज्ञानियो को ठेस पहुँचे। (आवश्यक सूत्र)

इस प्रकार मिथ्यात्व के भेदो को समझकर इससे बचते रहना प्रत्येक जैनी का कर्त्तव्य है। सम्यक्त्व की शुद्धि और रक्षा के लिए अतीव सावधानी की आवश्यकता है। मिथ्याज्ञान से प्रभावित हुए कुछ भाई इसे जैनियो की सकीर्णता कहकर घृणा करते है, किन्तु वे वास्तविकता को समझने का प्रयत्न नही करते। जिस प्रकार आरोग्य का अर्थी कुपथ्य से बचता है, स्वच्छता प्रेमी मैल से बचता है और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री सहवास वर्जनीय है, उसी प्रकार सम्यक्त्व की रक्षा के लिए मिथ्यात्व के निमित्तो से बचना आवश्यक है। यदि इसका कोई यह अर्थ लगावे कि "जैनियो का ऐसा नियम विद्वेष एव झगडे का मूल है"--तो यह कहना गलत है। जैनधर्म किसी से झगडने की शिक्षा नही देता, वह तो सहन करने की शिक्षा देता है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि हम अपनी मूल वस्तु को सुरक्षित नही रखें। जिस प्रकार हम अपनी मूल्यवान और अत्यन्त प्रिय वस्तु को दूसरो से बचाये रखने के लिए पूर्ण सावधान रहते है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रत्न को बचाने के लिए भी पूर्ण सावधान रहना चाहिए। सावधानी नही रखने के कारण नन्द मणिहार मिथ्यात्वी बना। सम्यक्त्व की सुरक्षा के कारणो से

सम्पर्क नहीं रखने से वह मिथ्यात्वी बनगया (ज्ञाता १३) और आनन्दादि श्रमणोपासकों ने इस रत्न की रक्षा की ओर पूरी सावधानी बरती। उन्होंने प्रतिज्ञा करली कि मैं अन्य तीर्थिक देव गुरु से परिचयादि नहीं रखूंगा तो उनका दर्शन गुण कायम रहा और वे एकाभवतारी होगए। (उपासकदशा १)

हम छद्मस्थ हैं हमारी बुद्धि उतनी नहीं जितनी सर्वज्ञों पूर्वधरों श्रुत केवलियों और गण-धरादि महापुरुषों की थी। हमारी यह शक्ति नहीं कि हम उन सर्वज्ञों महाज्ञानियों की सभी बातों को पूर्ण रूप से समझ सकें। हमारी कोशिश तो अवश्य होनी चाहिए कि हम सभी बातों को समझें किन्तु जो समझ में नहीं आवे उसे झूठी मानकर या अविश्वासी बनकर अपने सम्यक्त्व रत्न को नहीं गँवावें। सागरदत्त के पुत्र ने अविश्वास किया तो उसे सुन्दर मयूर नहीं मिल सका और जिनदत्त के पुत्र ने विश्वास रखकर सुन्दर बच्चा प्राप्त किया और सुखी हुआ (ज्ञाता ३) जिस प्रकार हम रत्न की परीक्षा नहीं जानते हैं और जौहरी के वचन पर विश्वास करके उसे खरा और मूल्यवान् मानते हैं और पूर्ण सावधानी से रखते हैं उसी प्रकार यदि कांक्षामोहनीय के उदय से हमारे समझ में कोई बात नहीं आवे तो अविश्वासी नहीं बनकर यही विचार करना चाहिए कि "**तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं**"। [भगवती १–३] =जिनेश्वर भगवान् ने कहा वह सत्य और यथार्थ ही है। उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है। इससे सम्यक्त्व शुद्ध रहती है। मोक्षार्थियों को हृदय में यह बात पूर्ण रूप से जमा लेना चाहिए– निर्ग्रंथ प्रवचन ही धर्म है यही परमार्थ है इसके सिवाय संसार के जितने वाद विवाद सिद्धांत वचन हैं वे सब अनर्थ रूप हैं। संसार के विषय वासना के साधन कुटुम्ब परिवार धन वैभव जमीन जायदाद सत्कार सम्मान और अधिकार सब सबके अनर्थ रूप हैं। सामान्य अर्थ और परम अर्थ एक मात्र निग्रंथ प्रवचन ही है "**णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे**" (भगवती २–५) इस प्रकार जिसके हृदय में दर्शन धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी है और वह इस गुण को छोड़ता नहीं है तो थोड़े भवों में मुक्ति प्राप्त कर सकता है–यह निःसन्देह समझना चाहिए। ऐसी भव्यात्मा पन्द्रह भव से अधिक तो कर ही नहीं सकती (भगवती ८–१०) भगवती सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव सूरिजी ने श. १ उ. १ की टीका में लिखा है कि मोक्ष के मुख्य कारण दर्शन के विषय में विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए।

नन्दीसूत्रकार श्री देववाचक आचार्य ने संघ की स्तुति करते हुए सम्यग्दर्शन रूप विशुद्ध मार्ग वाला' (गा ४) संयम का परिकर–रक्षक (गा ५) सम्यक्त्वरूप प्रभावाला निर्मलचन्द्र (गा ६) और संघ रूपी सुमेरु पर्वत की दृढ़ वज्रमय उत्तम और बहुत गहरी आधारशिला–नींव (गा १२) रूप माना है जिस पर कि चारित्र तप रूप महान् पर्वताधिराज सुदर्शन टिक रहा है।

मिथ्यात्व को नष्ट करके सम्यक्त्व प्राप्त करने के कारणो को बताते हुए विशेषावश्यक भाष्य गा० ११९३ से निम्न लिखित भाव व्यक्त किए है।

आयुष्य कर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम (एक कोडा–कोडी सागरोपम से कुछ कम) परिमाण स्थिति होने पर चार प्रकार की सामायिक मे से किसी एक प्रकार की सामायिक प्राप्त होती है। सामायिक के चार प्रकार ये है,–

१ सम्यक्त्व सामायिक २ श्रुतसामायिक ३ देशविरति सामायिक और ४ सर्वविरति सामायिक।

आयुष्यकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण मे से पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति का क्षय होता है, तब ग्रथिदेश प्राप्त होता है। कठोर, निविड, शुष्क और अत्यन्त गूढ बनी हुई, बास की गाठ जैसी दुर्भेद्य होती है, वैसी ही कर्म जनित मिथ्यात्व की गाठ दुर्भेद्य होती है–जो जीव के प्रबल रागद्वेष रूप परिणाम से ही बनती है। मोह की इस गाठ का भेदन होने पर ही मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्वादि का लाभ होता है।

मनोविघात तथा सामान्य परिश्रम आदि से ग्रथिभेद नही होता। इसमे महान् पराक्रम की आवश्यकता होती है। अनादिकाल की बँधी हुई और गूढ बनी हुई मोह की गाठ, बडी कठिनाई से टूटती है। जिस प्रकार शूरवीर सैनिक को, घोर सग्राम मे विजय प्राप्त करने के लिए, महान् परिश्रम करना पडता है। शत्रुदल की प्रबल शक्ति को तोडने पर उसे विजय प्राप्त होती है। जिस प्रकार मन्त्रादि विद्या सिद्ध करने के समय अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते है, उन विघ्नो को अपने प्रबल पराक्रम से जीतने मे विद्या सिद्ध होती है, उसी प्रकार मोह की प्रबलतम गाठ को तोडना भी महान कठिन है।

प्रश्न-जिस प्रकार सम्यक्त्वादि गुणो के बिना ही जीव, कर्मों की ६९ सागरोपम जितनी बहुत ही लम्बी स्थिति को क्षय कर देता है, तो शेष रही केवल एक सागरोपम से भी कम स्थिति को भी जीव मिथ्यात्व की स्थिति मे क्यो नही क्षय कर सकता है, इसमे सम्यक्त्वादि गुणो की आवश्यकता ही क्या है?

उत्तर–जिस प्रकार महाविद्या को सिद्ध करने वाली प्रारभिक क्रिया सरल होती है, किन्तु अन्तिम क्रिया महान् विघ्नो से घिरी हुई तथा कठिन होती है। उसमें उग्र परिश्रम करना पडता है, उसी प्रकार यथाप्रवृत्तिकरण तक के कर्मों को तोडने की क्रिया तो सरल है–उतनी कठिन नही है, परंतु ग्रथिभेद से लगाकर मोक्षसाधन रूप सम्यग् ज्ञानादि क्रिया, महान् कठिन और अनेक प्रकार के विघ्नवाली है। बिना सम्यग् ज्ञानादि की प्राप्ति के किसी की भी मुक्ति नही होती, अर्थात्–शेष रही हुई कर्म स्थिति, बिना सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र के क्षय नही हो सकती। वैसे तो शेष रही हुई अन्त कोटाकोटि स्थिति भी क्षय होती ही है, किन्तु नवीन कर्म बन्धन भी होता रहता है। इस प्रकार पुराने और नये कर्मों की स्थिति का योग अन्त कोटाकोटि से कम नही रहता, और इस स्थिति को

समाप्त करने में विशेष प्रयत्न की आवश्यकता रहती है। ग्रंथि भेद का क्रम गाथा १२०२ से इस प्रकार बताया है।

अनादिकाल से भव भ्रमण के चक्कर में पड़ा हुआ जीव सर्वप्रथम यथाप्रवृत्तिकरण करता है। फिर अपूर्वकरण करता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है। ये तीनों करण भव्य जीवों के अनुक्रम से शुद्ध होते हैं किन्तु अभव्य जीव को तो एक मात्र यथाप्रवृत्तिकरण ० ही होता है। इसके बाद के दो करण नहीं होते। तीनों करण का क्रम इस प्रकार है।

अनादिकाल से जीव राग द्वेष के महामलिन परिणाम से मोहनीय कर्म के दुरूह भार से दबा हुआ रहता है। उसकी आत्मा पर राग द्वेष की गुरुतम गाँठ लगी ही रहती है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़कर लुढ़कता और अन्य पत्थरादि से टकराता हुआ पाषाण खंड घिसकर गोल और कोमल स्पर्शवाला बन जाता है उसी प्रकार कर्म जनित दुखों को भुगतता हुआ एवं अकामनिर्जरा से कर्मों से हलका होता हुआ जीव ग्रंथिभेद के निकट आता है। इस प्रकार परिणामों की विशेषता से जीव ग्रंथिभेद तक आता है। इस अवस्था को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। इस अवस्था में जीव की सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य परिणति तो नहीं होती किन्तु अध्यवसाय ऐसे होते हैं कि जिससे वह हलका होते होते ग्रंथि स्थान तक पहुंच जाता है। इसके बाद परिणामों की विशेष शुद्धि से 'अपूर्वकरण' § होता है। अपूर्वकरण जैसे विशुद्ध अध्यवसाय उसके पहले कभी नहीं हुए थे। अनादिकाल में प्रथम बार ही हुए। यथाप्रवृत्तिकरण तो भव्य और अभव्य के भी होता है और अनन्त बार भी हो जाता है किन्तु अपूर्वकरण तो भव्य जीव के ही होता है अभव्य के कदापि नहीं होता। इस अपूर्वकरण से जीव मिथ्यात्व की महाकठिन–तीव्रतम गांठ को तोड़कर छिन्नभिन्न करदेता है और सम्यक्त्व के सन्मुख हो जाता है। इसके बाद उसके तीसरा 'अनिवृत्तिकरण' + होता है। इसके प्रभाव से वह अपूर्वकरण से पीछे नहीं हटकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है।

---

० यथाप्रवृत्तिकरण–सम्यक्त्वी जैसी प्रवृत्ति किन्तु यह प्रवृत्ति अज्ञान अवस्था पूर्वक होती है।

§ अपूर्वकरण–सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य परिणाम–जो पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे। यह दशा इसे प्रथम बार ही प्राप्त होती है। इस विषय में आचार्यों में मत भेद भी है। कोई कहते हैं कि यह स्थिति अनादि मिथ्यात्वी को ही प्राप्त होती है। जो सम्यक्त्व से पतित होकर मिथ्यात्व में चला जाता है और बाद में पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसे अपूर्वकरण नहीं होता और कोई आचार्य कहते हैं कि होता है।

+ अनिवृत्तिकरण सम्यक्त्व के योग्य प्राप्त हुई विशुद्धि से पीछे नहीं हटकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना।

उपरोक्त तीनो करणो से प्राप्त होने वाली सम्यक्त्व सामायिक को सरलता से समझने के लिए निम्न लिखित नौ उदाहरण दिये गए है।

१ पल्य—जिस प्रकार कोई किसान अपने भरे हुए धान्य के बडे कोठे मे थोडा थोडा धान्य डाले, किन्तु उसमें से अधिक अधिक निकाले, तो वह धान्य थोडे दिनो में ही बहुतसा निकल जाता है और कोठा खाली हो जाता है, उसी प्रकार जीव, अपने कर्म रूपी कोठे में से अकाम निर्जरा द्वारा—अनाभोग से अधिक अधिक कर्मों को क्षय करता जाय और थोडे थोडे कर्म बाँधता जाय, तो कर्मों की कमी से हलका होता हुआ वह यथाप्रवृत्तिकरण करके ग्रंथि स्थान तक आजाता है।

शिष्य पूछता है—"भगवन्! ग्रंथिभेद होने के पूर्व, जीव असयत, अविरत एव अनादि मिथ्या-दृष्टि होता है। ऐसे जीव को अधिक कर्मों की निर्जरा और थोडे कर्मों का बन्ध नही होता, क्योकि आगमो मे इसका निषेध किया है। उसके बन्ध अधिक और निर्जरा कम ही होती है। कर्मबन्ध के विषय मे तीन भग होते है। जैसे—

१ बडे कोठे में किसान, कुभ प्रमाण अन्न डाले और छोटे प्याले के बराबर निकाले, वैसे ही मिथ्यादृष्टि को बध अधिक और निर्जरा कम होती है।

२ जो प्रमत्तसयत है, वे बन्ध थोडा और निर्जरा अधिक करते है। जैसे—किसान, प्याला भर भर के धान्य कोठे में डालता रहे और घडा भर भर कर निकालता रहे।

३ जो अप्रमत्तसयत है, वे निर्जरा ही करते है—बध नही करते। जैसे—किसान अपने कोठे मे से धान्य निकालता ही जाता है, परन्तु डालता कुछ भी नही है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि, प्रथम भेद के अनुसार प्रति समय बन्ध तो अधिक करता है, और निर्जरा थोडी ही करता है। फिर आप उल्टी बात कैसे बता रहे है?

गुरु महाराज उत्तर देते है—"वत्स! यह एकान्त नियम नही है कि—असयत, अविरत एव मिथ्यादृष्टि को बध अधिक और निर्जरा कम ही होती हो। यदि ऐसा ही नियम हो, तो बहुलकर्मी जीव को कभी सम्यक्त्व प्राप्त नही हो सके। वास्तव में सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व बहुत अधिक (६९ कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण) कर्मों का क्षय होजाता है, तभी वह सम्यक्त्व प्राप्त करता है। यदि मिथ्यादृष्टि सदासर्वदा अधिक प्रमाण में ही बध करता रहे, तो कालक्रम से उसे सभी पुद्गल राशि को कर्म रूप में सग्रहित करने का प्रसग आ सकता है, जिससे एक भी पुद्गल उससे अलग नही रहे। किन्तु ऐसा तो नही होता है। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि स्तभ, कुभ, बादल, पृथ्वी, गृह, शरीर, वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्रादि भाव से परिणत हुए पुद्गल, सदैव भिन्न रहते ही है। इसलिए बध और निर्जरा के विषय मे ये तीन भग समझने चाहिए।

१ किसी का उत्कृष्ट कर्म बन्ध के हेतु से और पूर्वबद्ध कर्मों की थोड़ी निर्जरा के हेतु से बन्ध अधिक और निर्जरा थोड़ी होती है २ किसी को बन्ध और निर्जरा समान होती है और ३ किसी को बन्ध थोड़ा और निर्जरा अधिक होती है। इन भंगों में से कोई मिथ्यादृष्टि जब तीसरे भंग में रहता है तब उसे बंध थोड़ा और निर्जरा बहुत होती है। इससे वह ग्रंथिदेश को प्राप्त होजाता है।

अनाभोग=अनिच्छापूर्वक इतने अधिक कर्मों की निर्जरा कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान करने के लिए आचार्य श्री पर्वतीय नदी में रहे हुए पाषाणखंड का उदाहरण देते हैं।

२ नदी का पत्थर—जिस प्रकार पर्वत से गिरने वाली नदी के प्रवाह का भेलन वाला अथवा प्रवाह से परस्पर टकराकर गोल होने वाला पत्थर अपने आप घिसकर गोल तथा त्रिकोणादि बन जाता है कोमल स्पर्श वाला हो जाता है वैसे ही कर्म जनित दुखों को भोगता हुआ जीव हल्का होकर यथाप्रवृत्तिकरण करते हुए ग्रंथिदेश को प्राप्त कर लेता है।

३ चींटियाँ—जिस प्रकार कुछ चींटियाँ पृथ्वी पर स्वाभाविक रूप से चलती हैं कुछ ठूठ पर चढ़ती हैं कुछ दीवाल पर चढ़ती हैं कुछ खूटे पर चढ़कर उड़जाती हैं कुछ खूंट पर ही रहजाती हैं और कुछ खंभ पर चढ़कर पुन नीचे उतर आती हैं उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। चींटियों के स्वाभाविक रूप से पृथ्वी पर चलने के समान पहला यथाप्रवृत्तिकरण है। खूंट पर चढ़ने के समान अपूर्वकरण है। खूंट पर से उड़ने के समान अनिवृत्तिकरण है। जिसने ग्रंथि का भेदन नहीं किया—ऐसे ग्रंथिसत्व का खूंट पर ठहर जाने की तरह रुकना होता है और वहां से पुन लौटने रूप कर्म स्थिति की वृद्धि होती है।

४ मुसाफिर—तीन मुसाफिर स्वाभाविक गति से अटवी में जाते हुए बहुतसा मार्ग उल्लंघ गये किन्तु सन्ध्या हो जाने से वे भयभीत हो गये। इतने में उन्हें दो चोर मिले। चारों को देख कर उन तीन पथिकों में से एक तो पीछा लौटकर जिधर से आया था उधर ही चला गया। दूसरे को एक चोर ने पकड़ लिया और तीसरा चोर से लड़ता हुआ हिम्मत पूर्वक—उसे हराकर आगे बढ़गया और इच्छित स्थान पर पहुंच गया।

संसार रूपी अटवी में तीनों पथिक चलते रहे। उन्हें राग द्वेष रूपी दो चोरों का सामना हुआ। उसमें से एक जो चोरों को देख कर वापिस लौट गया उसके समान ग्रंथि देश से वापस लौटने वाला है उल्टा लौटने से उसने अपनी कर्मस्थिति बढ़ादी है। जिसे चोर ने पकड़ लिया उसके समान ग्रंथि देश में रहा हुआ जीव है और दो चोर का सामना करते हुए आगे बढ़ने वाले के समान है वह ग्रंथि को भेद कर सम्यक्त्व रूपी नगर में पहुँचने वाला है।

ग्रथिदेश तक यथाप्रवृत्तिकरण लाता है, चोर का सामना करके–उसे पराजित करके आगे बढने के समान अपूर्वकरण है और सम्यक्त्व रूपी नगर की प्राप्ति रूप–अनिवृत्तिकरण है ।

५ मार्ग–शिष्य पूछता है–"भगवन् ! जीव ग्रथि भेद करके सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता है, तो क्या किसी के द्वारा उपदेश देने पर प्राप्त करता है अथवा स्वाभाविक रूप से या फिर दोनो प्रकार का योग मिलने पर भी प्राप्त नही कर सकता" ?

आचार्य कहते है–"वत्स ! जिस प्रकार वन मे इधर उधर भटकते हुए कोई जीव, अपने आप ही योग्य मार्ग प्राप्त कर लेता है, तो कोई दूसरो के मार्ग बतलाने से मार्ग पर आता है, किन्तु कई ऐसे भी होते है, जो किसी भी प्रकार से मार्ग नही पाकर भटकते ही रहते है । इसी प्रकार कोई भव्यात्मा, ससार रूपी वन मे भटकते हुए अपने आप सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, तो कोई गुरु आदि के सदुपदेश से सम्यक्त्व पाता है, तो कई अभव्य अथवा दुर्भव्य जीव, सम्यक्त्व प्राप्त कर ही नही सकते, वे ससाराटवी मे भटकते ही रहते है, और ग्रथिदेश तक आकर वापिस लौट जाते है ।

६ ज्वर–जिस प्रकार किसी व्यक्ति का ज्वर बिना औषधि के अपने आप उतर जाता है, किसी का औषधोपचार से छूटता है, तो किसी (तपेदिकादि) का औषधोपचार करते हुए भी नही छूटता, इसी प्रकार किसी भव्यात्मा का मिथ्यात्व रूपी ज्वर, बिना प्रयत्न के अपने आप छूट जाता है, तो किसी का गुरु के उपदेश रूपी औषधि के योग से छूटता है, और किसी अभव्य अथवा दुर्भव्य का मिथ्यात्व रूपी महाज्वर, किसी भी उपाय से नही छूटता है ।

७ कोद्रव–एक प्रकार के कोद्रव नामक धान्य की मादकता (कालान्तर मे) स्वभाव से ही नष्ट हो जाती है, दूसरे प्रकार के कोद्रव की मादकता प्रयोग करने पर दूर होती है किन्तु एक तीसरा प्रकार ऐसा भी होता है कि जिसकी मादकता बनी ही रहती है, प्रयत्न करने पर भी नही छूटती । इसी प्रकार कुछ जीवो का मिथ्यात्व अपने आप छूट जाता है, कुछ जीवो का उपदेशादि के योग से दूर होता है, तो कुछ जीव ऐसे भी होते है–जिनका मिथ्यात्व प्रयत्न करने पर भी नही छूटता और बना ही रहता है ।

मिथ्यात्व की शुद्धि इस प्रकार से होती है ।

जिस प्रकार कोद्रव की शुद्धि करने से तीन प्रकार के बन जाते है । जिसमे कुछ कोद्रव सर्वथा शुद्ध हो जाते है, कुछ अर्ध शुद्ध होते है, और कुछ शुद्ध होते ही नही–अशुद्ध ही रहते है । इसी प्रकार जीव, मिथ्यात्व के दलिको को शुद्ध करते हुए उसके तीन पुञ्ज करता है,–शुद्ध अर्धशुद्ध और अशुद्ध । इनमें से सम्यक्त्व को आवरित करने वाले रस को नष्ट करके, शुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों का जो पुञ्ज है, वह जिनोक्त तत्त्व रुचि को आवरण नही करता, इसलिए उसे उपचार से सम्यक्त्व कहते है ।

अर्धशुद्ध मिथ्यात्व दलिकों के पुञ्ज को सम्यगमिथ्यात्व—मिश्र कहते हैं और जो सर्वथा अशुद्ध पुद्गलों का पुञ्ज है—वह मिथ्यात्व कहलाता है। इस प्रकार अपूर्वकरण से मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज हो जाते हैं किन्तु *अनिवृत्तिकरण विशेष से जीव सम्यक्त्व पुञ्ज मय हो जाता है फिर दूसरे दो पुञ्ज मय नहीं रहता।* जब सम्यक्त्व से पतित होकर पुनः सम्यक्त्व लाभ करता है तब भी अपूर्वकरण में तीन पुञ्ज करके अनिवृत्तिकरण से सम्यक्त्व लाभ करता है।

शंका—दूसरी बार सम्यक्त्व लाभ करते समय अपूर्वकरणता क्यों कही जाती है? वह अपूर्व तो रहा ही नहीं क्योंकि वह दूसरी बार सम्यक्त्व प्राप्त कर रहा है?

समाधान—सिद्धांतवादी और वृद्ध आचार्य कहते हैं कि स्वल्प समय तक ही उसका लाभ होता है। इसलिए अपूर्व के समान होने से उसे अपूर्वकरण कहते हैं। किन्तु कर्मग्रंथ का मत है कि 'अन्तर-करण' करते हुए जीव उपशम सम्यक्त्व लाभ करता है और उसीसे तीन पुञ्ज करता है। उसके बाद क्षायोपशमिक पुञ्ज के उदय से क्षयोपशम सम्यक्त्व पाता है।

अब ग्रन्थिदेश तक आए हुए अभव्य की दशा बताई जाती है।

तीर्थंकर भगवंत की महिमा पूजा (भक्ति) देखकर अभव्य मनुष्य अपने मनमें विचार करता है कि— इस धर्म में ऐसा सत्कार होता है राज्यऋद्धि अथवा देविक सुख प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की इच्छा से ग्रन्थिदेश को प्राप्त हुआ अभव्य ऋद्धि आदि के लोभ से कष्टकारी धर्मानुष्ठान करता है किन्तु मोक्ष की श्रद्धा रहित होने से वह सम्यक्त्व सामायिक से सर्वथा शून्य होता है। उसे अज्ञान रूप श्रुत सामायिक का लाभ हो सकता है क्योंकि अभव्य को भी ग्यारह अंगों का अध्ययन होना शास्त्र में माना है। +

जिस प्रकार प्रयोग करने से कोद्रव धान्य अशुद्ध अर्धशुद्ध और शुद्ध होता है उसी प्रकार अपूर्व-करण रूप परिणाम से मिथ्यात्व भी शुद्ध अर्धशुद्ध और अशुद्ध यों तीन प्रकार का हो जाता है।

८–६ *जल वस्त्र—पानी और वस्त्र मलिन होता है तब शुद्ध करने से कुछ पानी और वस्त्र शुद्ध* हो जाता है कुछ अर्ध शुद्ध होता है तो कुछ अशुद्ध ही रहता है उसी प्रकार जीव भी अपूर्वकरण रूप परिणाम से दर्शनमोहनीय कर्म को शुद्ध करते कुछ अशुद्ध—मिथ्यात्व कुछ अर्धशुद्ध—मिश्र और कुछ शुद्ध—सम्यक्त्व यों तीन प्रकार बन जाते हैं। किन्तु अनिवृत्तिकरण करने पर मिथ्यात्व और मिश्रपुञ्ज नहीं रहते केवल शुद्ध—सम्यक्त्व ही रहता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति बड़े पराक्रम से होती है। यथाप्रवृत्तिकरण तो जीव ओघसंज्ञा से भी करता है किन्तु अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण प्रबल पुरुषार्थ से होता है। मिथ्यात्व की

+ यहां मतभेद है क्योंकि अभव्य को तो पूर्व से अधिक तक का श्रुत होना सर्वमान्य है।

अनादि काल की बँधी हुई और कठोरतम बनी हुई ग्रंथि को भेदना सरल नहीं है। जिन्हें सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न प्राप्त हो गया, वे महान् भाग्यशाली हैं। उन्हें अपने महान रत्न की प्राणपण से सुरक्षा करनी चाहिए, और विरति के द्वारा आत्मविकास करते हुए अजरामर पद प्राप्त करना चाहिए।

सम्यक्त्व

हां, तो धर्म का उद्गम स्थान परम वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् हैं। उन्होंने आत्मा के लिए उत्थान का सबसे पहला कदम 'सम्यग्दर्शन' बतलाया है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है–यथार्थदृष्टि=सत्य दृष्टि, तत्त्व विषयक वास्तविक विश्वास अथवा ध्येय शुद्धि। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने वाले की सफलता का मूल आधार ही यथार्थ दृष्टि होती है। दृष्टि विकार के चलते कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। जन्म, जरा, रोग, शोक आदि दुःखों से सर्वथा छूटकर, शाश्वत, परम सुख की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। उस मोक्ष को उसके रूप, उपाय आदि तथा अपने स्वरूप आदि की सत्य समझ का नाम ही सम्यग्दर्शन है। उत्तराध्ययन अ० २८ गा० १५ में लिखा है कि–

"तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं" ॥

–जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के उपदेश का अन्तःकरण से विश्वास करने वाले को सम्यग्दर्शन होता है–ऐसा जिनेश्वर देवों ने कहा है। यही बात संक्षेप में तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन शब्दों में कही है–"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"–तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व के चार अंग

अब सम्यग्दर्शन की आराधना कैसे होती है इसे समझ लेना चाहिए। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० २८ में दर्शनाराधना का स्वरूप इस प्रकार बताया है।

"परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थ सेवणा वावि।
वावण्ण कुदंसण वज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा" ॥

अर्थात्—१ परमार्थ का कीर्तन करना विशेष मनन करना २ सम्यग्दर्शनी—परमार्थ के ज्ञाता की सेवा करना ३ सम्यक्त्व से पतित हुए की संगति त्यागना और ४ मिथ्यादर्शनी की संगति का त्याग करना यह सम्यक्त्व की श्रद्धा है।

१ परमार्थ संस्तव—परमार्थ का अर्थ 'मोक्ष' होता है और मोक्ष के कारणभूत तत्त्व—ज्ञान=नव तत्त्व जिनवाणी देव गुरु और धर्म इनका परिचय करना गुण कीर्तन करना हृदय के पूर्ण उल्लास के साथ निग्रंथ प्रवचन का आदर करना 'सद्दहामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं' इस प्रकार अन्तस्तल से मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों के प्रति आदर भाव व्यक्त करना। मोक्ष के उत्तम निमित्त देव गुरु और धर्म के प्रति बहुमान रखते हुए गुण-गान करना जैसे कि—

"अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं" (आवश्यक सूत्र)

—इस जीवन में अरिहंत भगवान ही मेरे देव हैं सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिनेश्वर प्रणीत तत्त्व ही मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है। इस प्रकार की हार्दिक अभिव्यक्ति परमार्थ संस्तव है।

२ सुदृष्ट परमार्थ सेवन—जो सम्यग्दृष्टि और परमार्थ की आराधना करने वाले हैं उन आचार्य उपाध्याय और साधु तथा महासतीजी की सेवा करना।

३ व्यापन्न वर्जन—जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया—जिनकी दृष्टि बदल गई जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो चुके—जैसे निन्हव अथवा अन्य मत को ग्रहण करने वालों की संगति का त्याग करना।

४ कुदर्शन वर्जन—कुदर्शनी=अन्य मतावलम्बी की संगति का त्याग करना।

पूर्वोक्त चार नियमों में पिछले दो तो रक्षाकवच के समान हैं और पहले दो उन्नति के साधन हैं। रक्षाकवच—पिछले दो नियमों का पालन करते हुए पहले के दो नियमों द्वारा दर्शन आराधना करने वाला उत्तरोत्तर उन्नत होता हुआ क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है।

इस दर्शनाचार को पालन करने के निम्न आठ नियम श्री उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ३१ में इस प्रकार बताये हैं।

१ **निःशंकित**--जिनेश्वर भगवतो के वचनो मे शका रहित होना और हृदय मे दृढ विश्वास होना कि **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"**—जिनेश्वर भगवतो ने कहा, वह सर्वथा सत्य और शका रहित है। (आचारांग १-५-५ तथा भगवती १-३)

२ **निःकांक्षित**--जिनधर्म=निर्ग्रंथ प्रवचन मे दृढ रहना, परदर्शन की इच्छा नही करना और यह विश्वास रखना कि-

"कुप्पवयण पासंडी, सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे" । (उत्त० अ० २३-६३)

पहले के श्रावक एक दूसरे से मिलते, तब आपस में अपने भावो को व्यक्त करते हुए कहते कि-

"अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे," (भगवती २-५ तथा सूयग० २-२) इस प्रकार हमें भी अपने धर्म मे विशेष दृढ रहकर काक्षारहित होना ही चाहिए।

३ **निर्विचिकित्सा**--धर्म आराधना=सयम और तप के फल के विषय मे शकाशील नही होना। जो भी क्रिया की जाती है, उसका फल अवश्य मिलता है। वर्तमान मे जो सुख दुख दिखाई देता है, वह पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। इस समय जो आत्म साधना की जा रही है, उसका फल अवश्य मिलेगा।

इसका दूसरा अर्थ-निर्ग्रंथो के मलिन वस्त्र और मैला शरीर देखकर घृणा नही करना है।

४ **अमूढदृष्टि**--अन्यदर्शनी की विद्या, बुद्धि, और धन सम्पत्ति मे बढा चढा देखकर भी विचलित नही होना और अपनी श्रद्धा का दृढ रखना।

५ **उपबृहण**--गुणवानो के गुण की प्रशसा करना, उनके गुणो में वृद्धि करना और स्वय भी उन गुणो को प्राप्त करने मे प्रयत्नशील रहना।

६ **स्थिरीकरण**--धर्म से डिगते हुए को धर्म मे स्थिर करना और स्वय भी स्थिर होना।

७ **वात्सल्य**--साधर्मियो के साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार करना। उनके दुखो को मिटाने का यथा-शक्ति प्रयत्न करना।

८ **प्रभावना**--जिनधर्म की उन्नति करने मे प्रयत्न शील रहना, प्रचार करना, जिससे दूसरे लोग भी धर्म के समुख होकर आत्म कल्याण करे। इनके भेद आगे बताये जावेगे।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की आराधना मे जीव, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे बढकर क्षायिक

सम्यक्त्व प्राप्त करलेता है और बढ़ते बढ़ते केवलदर्शन प्राप्त करके सर्वदर्शी हो जाता है।
(उत्तरा० २९-९)

लक्षण

सम्यग्दृष्टि के पांच लक्षण होते हैं १ सम—इतना विषम नहीं बनना कि जिससे अनन्तानुबन्धी कषाय का बंध मिले अर्थात् भौतिक सुख और दुःख का समभाव पूर्वक वेदना। २ संवेग—धर्म के प्रति प्रेम रखना—मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखना। ३ निर्वेद—संसार के प्रति उदासीन रहना। ४ अनुकम्पा—दुःखी जीवों पर अनुकम्पा करना। ५ आस्तिक्य—जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर विश्वास रखना। ये सम्यग्दृष्टि के पांच लक्षण हैं।

यही लक्षण पश्चानुपूर्वि क्रम से समझना अधिक उपयुक्त होगा जैसे—सबसे पहले आस्तिक्य=श्रद्धा होती है। "पढमनाणं तओ दया" प्रथम ज्ञान दर्शन फिर दया=अनुकम्पा तथा जो जीवाजीव को जानता है वही संयम पाल सकता है' (दशवै० ४ गा० १०-१३) अर्थात् दर्शन युक्त ज्ञान (आस्तिक्य) पहले हो उसके बाद अनुकम्पा होती है। वह सम्यग्दृष्टि पूर्वक अनुकम्पा है। श्रद्धालु की अनुकम्पा स्व-परा-नुकम्पा होगी वह हिंसा को अपने लिए भी दुःखदायक मानेगा। उसकी संसार के प्रति उदासीनता=निर्वेद होगा। जब संसार से उसकी प्रीति हटेगी तो मोक्ष में प्रीति=संवेग बढ़ेगा। इस प्रकार निर्वेद पूर्वक संवेग वाली आत्मा में समत्व विशेष रूप से आ सकेगा क्योंकि वह सुख दुःख को पूर्वकृत कर्मों का फल मानकर संसार के प्रति=भौतिक सुखों के प्रति उदासीन रहेगा। समत्व को विशेष रूप से प्राप्त करने वाली आत्माएँ ही स्वावलम्बी होती हैं और असहेज्जदेवासुरनाग .. जैसी दृढ़तम स्थिति को प्राप्त होकर प्रशंसित होता है। वह समत्ववाली आत्मा विरति के द्वारा अशुभ प्रवृत्ति पर अंकुश लगाकर पांचवे सातवे गुणस्थानों में प्रवेश करती है।

(ये पाँचों लक्षण धर्मसंग्रह' में लिखे हैं और आगमानुकूल हैं। अनन्तानुबंधी के क्षयोपशमादि रूप समत्व स्थानांग ८ में संवेग निर्वेद और आस्तिक्य उत्त० २९ में तथा अनुकम्पा ज्ञाता में ? प्रश्नव्या —१ में है)

सम्यक्त्व के ६७ अंग

सम्यग्दर्शन की आराधना के विषय में पूर्वाचार्यों ने 'सम्यक्त्व के ६७ बोल बतलाये हैं जो अवश्य ही पालन योग्य हैं। उनमें से चार श्रद्धान और पांच लक्षण का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। शेष भाग दिया जा रहा है—

तीन लिंग—१ प्रवचन प्रेम—जिनवाणी के प्रति अधिक प्रेम होना शास्त्र श्रवण स्वाध्याय धर्म

चर्चा मे इस प्रकार उत्कट अनुराग होना कि जिस प्रकार तरुण पुरुष का रग राग मे होता है। उववाई मे वीरवाणी सुनते समय कुणिक नरेश का ऐसा ही अनुराग व्यक्त हुआ है २ धर्मप्रेम—चारित्र धर्म के प्रति प्रेम होना, जिस प्रकार तीन दिन का भूखा मनुष्य, भोजन में विशेष रुचि रखता है, उसी प्रकार चारित्र धर्म की विशेष इच्छा रखना। '**पेमाणुराग रत्त**'का यह लक्षण है और सवेग मे भी इसकी गणना हो सकती है ३ देव गुरु की वैयावृत्य—देव गुरु मे आदर, बहुमान, सत्कार समानादि वैयावृत्य करना। इससे सम्यक्त्वी की पहिचान होती है।

दस प्रकार का विनय—१ अरिहतो का विनय २ अरिहत प्ररूपित धर्म का विनय ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ स्थविर ६ कुल ७ गण ८ सघ ९ चारित्र धर्म और १० साधर्मी का विनय। इनसे दर्शन मे दृढता आती है। भगवती सूत्र श० २५ उ० ७ मे दर्शन विनय के दो भेद आये है, उनमे इनका समावेश हो जाता है।

तीन शुद्धि—जिनेश्वर देव, उनका प्रवचन=जिनागम और उनकी आज्ञानुसार चलने वाले साधु, इन तीनो को विश्व मे सारभूत मानना यह—१ मन शुद्धि, २ गुण ग्राम करना वचन शुद्धि, और ३ काया से नमस्कार करना आदि काय शुद्धि है। (उववाई)

पाच दूषण त्याग—१ शका—श्री जिनवचनो की सत्यता मे सन्देह करना २ काक्षा—बौद्धादि अन्य दर्शन की इच्छा करना ३ विचिकित्सा—सयम तप आदि आज्ञायुक्त करणी के फल मे सन्देह करना ४ परपाषडी प्रशसा—सर्वज्ञ भगवान प्रणीत जिन धर्म के सिवाय दूसरे मतवालो की प्रशसा करना, और ५ परपाषडी सस्तव—अन्य मतावलम्बियो के साथ रहना, अलाप सलाप आदि परिचय करना। ये सम्यक्त्व के पाच दोष है। इससे सम्यक्त्व मलिन होती है, (उपासकदशाग अ० १) यदि विशेष परिचय बढाया जाय, तो सम्यक्त्व का वमन होकर मिथ्यात्व मे चलाजाता है। इसलिए इन अतिचारो (दोषो) से सदैव बचते रहना चाहिए।

आठ प्रभावना—धर्म प्रचार जिससे हो वह प्रभावना कहलाती है। और प्रचारक को प्रभावक कहते है। यह प्रचार आठ प्रकार से होता है।

१ जिनेश्वरो के उपदेश का सर्वत्र प्रचार करना २ हेतु व दृष्टात सहित समझाना ३ वाद प्रभावना—अन्य मतावलम्बियो के असत्य सिद्धात या आक्षेप को वाद द्वारा हटाकर धर्म की प्रभावना करना ४ निमित्त द्वारा—यदि भूत भविष्य का ज्ञान हो, तो उससे धर्म पर आने वाली आपत्ति से बचाव करते हुए सावधानी पूर्वक धर्म का आचरण करे, जिससे लोग प्रभावित हो, ५ उग्रतप करके ६ विद्या द्वारा ७ प्रसिद्ध व्रत ग्रहण करे और ८ कवित्व शक्ति के द्वारा लोगो को प्रभावित करके धर्म का प्रचार करना।

पांच भूषण—१ जिन शासन मे निपुण होना २ जिन धर्म के गुणो की महत्ता प्रकट करना

३ साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप चार तीर्थ की सेवा करना ३ धर्म से डिगते हुए को स्थिर करना और ५ महापुरुषों का विनय करना ।

यतना छः—सम्यक्त्व को सम्हालकर सावधानी पूर्वक सुरक्षित रखने के उपाय का यतना कहते हैं जो छ प्रकार की है १ सम्यग्दृष्टि गुणज्ञों का वन्दना करना—प्रशंसा करना २ नमस्कार करना ३ आलाप—बातचीत करना—प्रेम पूर्वक आदर देना ४ संलाप—बार बार मिष्ठ वचन बोलना धर्म चर्चा करना—क्षेम कुशल पूछना ५ आहारादि आवश्यक वस्तु देना और ६ सम्मान करना ।

स्थान छः—सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा उसी आत्म मन्दिर में हो सकती है—जहाँ उसके योग्य स्थान हो। जिस भव्य आत्मा में—१ आत्मा है २ वह शाश्वत नित्य एव उत्पत्ति और विनाश रहित है ३ वह कर्म का कर्त्ता है ४ कर्म का भोक्ता भी वही है ५ मोक्ष है और ६ मोक्ष का उपाय भी है । इस प्रकार की मान्यता को जिस आत्मा में स्थान है वही सम्यक्त्व का निवास स्थान है । इस प्रकार की मान्यता रखने का विधान सूयग० २—५ में और उववाई में है ।

भावना छः—सम्यक्त्व को अपने आत्म मन्दिर में सुरक्षित रखते हुए दृढीभूत करने की छ भावनाएं हैं । सम्यक्त्वी आत्मा यह भावना करे कि मेरी सम्यक्त्व १ धर्म रूपी वृक्ष का मूल है २ धर्म रूपी नगर का द्वार है ३ धर्म रूपी महल की नींव है ४ धर्म रूपी जगत का पृथ्वी रूपी आधार है ५ धर्म रूपी महारसायन का धारण करनेवाला उत्तम पात्र है और ६ चारित्र रूपी महान निधि का सुरक्षित रखनेवाला खजाना (तिजोरी) है । इन भावनाओं के बल से आत्मा सर्वदर्शिता के निकट पहुँचती है।

आगार छः—विकट परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपवादमार्ग अपनाकर—दोष सेवन करना आत्म बल की कच्चाई है किन्तु गृहस्थ साधकों में अधिकांश आत्म बलके धनी नहीं होते उनके लिए निम्न छ आगार—छूट—रखी गई हैं जिससे वे शुद्ध भाव से दोषों का सेवन करके पुनः अपने सम्यक्त्व में स्थिर हो सकें । ये आगार श्रमणों के लिए नहीं हैं । श्रावक भी दूसरों के दबाव या विकट परिस्थिति के कारण ही इन अपवादों का सेवन करता है ।

१ राजा के दबाव से २ गण=संघ=समूह के दबाव से ३ बलवान के भय से ४ देव के भय से ५ माता पितादि ज्येष्ठ जन के दबाव से और ६ अटवी में भटक जाने पर अथवा आजीविका के कारण *कठिन परिस्थिति का पार करने के लिए किन्हीं मिथ्यादृष्टि देवादि को वन्दनादि करना पड़े तो इसकी* छूट—कमजोरी के कारण रखी गई है । (उपासक दशांग अ १)

इस प्रकार सम्यक्त्व=दर्शन की आराधना की जाती है । इसकी प्राप्ति निम्न लिखित दस प्रकार से होती है ।

सम्यक्त्व रुचि

१ निसर्ग रुचि—मति-ज्ञानावरण एव दर्शन-मोहनीय का क्षयोपशम हो जाने से जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा अपने आप ही—बिना उपदेश या शास्त्र पठन के, सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाना।

२ उपदेश रुचि—सर्वज्ञ अथवा छद्मस्थ मुनिवरो के उपदेश के निमित्त से सम्यक्त्व लाभ होना।

३ आज्ञारुचि--वीतराग भगवान अथवा गुरु की आज्ञा से ही जिनप्ररूपित तत्त्वो पर रुचि होना।

४ सूत्र रुचि—आचारागादि अग प्रविष्ट तथा उववाई आदि अग बाह्य सूत्रो के अध्ययन से तत्त्व श्रद्धान होना।

५ बीज रुचि—जिस प्रकार एक बीज मे अनेक बीज उत्पन्न होते है, और जल में डाली हुई तेल की बूंद फैल जाती है,उसी प्रकार एक पदमे अनेक पदो को समझना और श्रद्धा करना—इशारे से समझ-कर श्रद्धा करना—बीजरुचि सम्यक्त्व कहलाती है।

६ अभिगम रुचि--ग्यारह अग, दृष्टिवाद तथा अन्य सूत्र ग्रथो को अर्थ युक्त पढने से श्रद्धा का होना।

७ विस्तार रुचि—द्रव्यो के सभी भावो और सभी प्रमाणो तथा नयनिक्षेपादि विस्तार से जानने के बाद होने वाली श्रद्धा।

८ क्रिया रुचि—ज्ञानाचार, दर्शनचार, चारित्राचार, तपाचार, विनय, वैयावृत्य, सत्य, समित्ति, गुप्ति, आदि क्रिया करते हुए या इन क्रियाओ से होने वाली श्रद्धा।

९ संक्षेप रुचि—जो जिन प्रवचन को विस्तार से नही जानता है और ज्ञानावरणीय के उदय के कारण मद-बुद्धि होने से विशेष समझ नही सकता, किन्तु जिसने मिथ्या मत को भी ग्रहण नही किया है, केवल यही जानता है कि "जो जिनेश्वर के वचन है वे सर्वथा सत्य है", इस प्रकार की सक्षेप रुचि।

१० धर्म रुचि—सर्वज्ञ वीतराग प्ररूपित धर्मास्तिकायादि द्रव्य और श्रुत चारित्र धर्म की प्रतीति होना, धर्म रुचि है। (उत्तराध्ययन अ० २८)

उपरोक्त दस भेदो का स्थानाग स्थान २ मे 'निसर्ग सम्यक्त्व' और अधिगमिक सम्यक्त्व' मे समावेश हुआ है। दर्शन प्राप्ति और स्थिरता के मुख्य निमित्त इस जमाने मे सद्गुरु सेवा वाणीश्रवण, सूत्रस्वाध्याय, सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग् साहित्य का परिचय है। इसमे क्षयोपशम मे सहायता होती है और सम्यक्त्व सुरक्षित रहती है।

सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व का अर्थ 'तत्त्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान' है और जिसमें यह हो वही सम्यक्त्वी है फिर भी विशेष अपेक्षा से इसके निम्न भेद किये गये हैं।

१ उपशम सम्यक्त्व—मिथ्यात्व मोहनीय मिश्रमोहनीय समकितमोहनीय और अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क इन सात के उपशम—अनुदय से होने वाली तत्त्वरुचि। मिथ्यात्व प्रेरक कर्म पुद्गलों के सत्ता में रहते हुए भी उदय में नहीं आना और राख में दबी हुई अग्नि की तरह उपशान्त रहना—उपशम सम्यक्त्व है। (अनुयोगद्वार सूत्र)

विशेषावश्यक भाष्य गा० २७३५ के अनुसार यह सम्यक्त्व या तो उपशम श्रेणी प्राप्त जीव को होता है या फिर अनादि मिथ्यात्वी को यथाप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण द्वारा होता है। इसका काल अन्तमुहूर्त का है। यह ग्रंथिभेद=अनादि मिथ्यात्व के नष्ट होने पर होता है।

२ क्षायिक सम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय कर्म की तीनों प्रकृति और अनन्तानुबंधी कषाय का चौक इन सातों प्रकृतियों के सर्वथा क्षय हो जाने से होने वाला सम्यक्त्व। यह सम्यक्त्व सर्वथा निर्मल—दोष रहित होता है। और होने के बाद सदाकाल स्थायी रहता है—फिर कभी नहीं छूटता क्योंकि मिथ्यात्व का बीज समूल नष्ट कर देने से फिर उसके उदय का कोई कारण ही नहीं रहता। (अनुयोगद्वार सूत्र)

३ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबंधी चौक के क्षयोपशम से होने वाली तत्त्वरुचि।

मिथ्यात्व के उदय में आये हुए कर्म दलिकों का क्षय कर देना और उदय में नहीं आये हुए का उपशान्त करना—क्षयोपशम कहलाता है। (अनुयोगद्वार सूत्र)

यद्यपि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय की—मिथ्यात्व मोहनीय मिश्रमोहनीय इन दो तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के चौक का—यों छः प्रकृति का क्षयोपशम होता है और सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चालू रहता है और इसमें मिथ्यात्व के शुद्ध दलिक उदय में रहते हैं फिर भी वे इतने सक्षम नहीं होते कि जिससे सम्यक्त्व का घात कर दे। इनसे रसोदय नहीं होता परन्तु प्रदेशोदय होता रहता है। इसके कारण अतिक्रम व्यतिक्रम और अतिचार दोष लगने की सम्भावना है। (अनाचार से तो रसोदय होता है)

उपशम सम्यक्त्व में न तो रसोदय होता है न प्रदेशोदय होता है किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेशोदय होता है यही इन दोनों में भेद है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है।

४ सास्वादन सम्यक्त्व–सम्यक्त्व का मिटता हुआ आस्वाद=परिणाम। उपशम सम्यक्त्व से गिरते हुए और मिथ्यात्व को प्राप्त करने के पूर्व की स्थिति। यह स्थिति चौथे गुणस्थान से गिरकर प्रथम गुणस्थान में पहुँचने के बीच की है। इसका गुणस्थान दूसरा है। और इसकी स्थिति भी जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका की होती है। (विशेषावश्यक गा० ५३१)

जिस प्रकार क्षीर का भोजन करने के बाद किसी को वमन होने पर भी कुछ समय तक क्षीर का स्वाद जबान पर रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के वमन होने पर उसका किंचित्–नष्ट होता हुआ प्रभाव आत्मा पर होता है।

इस स्थिति में तत्त्व के प्रति अरुचि अव्यक्त रूप से रहती है और अनन्तानुबन्धी चोक का उदय हो जाता है।

इस दशा का दूसरा उदाहरण यह भी है–वृक्ष से टूट कर पृथ्वी पर गिरने वाले फल की मध्य अवस्था। फल वृक्ष से तो टूट चुका, किन्तु अभी पृथ्वी पर नहीं गिरकर, नीचे आ रहा है, यह मध्य की दशा जैसी स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व की है।

५ वेदक सम्यक्त्व–क्षपक श्रेणी अथवा क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व, अनन्तानुबन्धी चतुष्क और मिथ्यात्व मोहनीय तथा मिश्रमोहनीय को क्षय कर चुकने पर तथा सम्यक्त्वमोहनीय के अधिकांश दलिकों को क्षय कर चुकने पर, अन्तिम पुद्गल जो रहते हैं, उन्हें नष्ट करते समय अन्तिम एक समय में जो सम्यक्त्व वेदनीय का वेदन होता है, वह वेदक सम्यक्त्व है। अर्थात् क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त होने के एक समय पूर्व की स्थिति–जिसमें नष्ट होते हुए दर्शनमोहनीय के दलिकों का वेदन करना। (सबोध प्रकरण सम्यक्त्वाधिकार गा० २१ तथा कर्मग्रंथ भा १ गा० १५)

६ कारक सम्यक्त्व–जिस श्रद्धान के कारण चारित्र में परिणति हो अथवा जिस आचरण से दूसरों में सम्यक्त्व का आविर्भाव हो, वह कारक–क्रियाशील सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व विशुद्ध चारित्र–वान में होती है। (विशेषावश्यक गा० २६७५)

आचारांग सूत्र अ० ५ उ० ३ का **'जं सम्मंति पासह तं मोणंति पासह'** कारक सम्यक्त्व के भाव को प्रकट करता है।

७ रोचक सम्यक्त्व–रुचि मात्र की उत्पादक, जिसके कारण चारित्र में मात्र रुचि ही हो, वह अविरत सम्यग्दृष्टि का–चौथे गुणस्थान का सम्यक्त्व।

८ दीपक सम्यक्त्व–जिस प्रकार दीपक अपने में अन्धकार रखकर पर को प्रकाशित करता है–

अपने नीचे अन्धेरा होते हुए दूसरों को प्रकाश देता है उसी प्रकार जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त करले किन्तु स्वयं सम्यक्त्व से वंचित ही रहे एसा अन्तरंग में मिथ्यादृष्टि अथवा अभव्य है किन्तु बाहर से यथार्थ प्रतिपादन करके जिनोपदेश के अनुसार उपदेश करता है और उसके यथार्थ उपदेश से दूसरे जीवों को सम्यक्त्व लाभ होता है इसलिए यथार्थ प्ररूपणा और दूसरे में सम्यक्त्व का कारण होने से उपचार से इसे सम्यक्त्व कहा है। (विशेषावश्यक भा० गा० २६७५)

९ निश्चय सम्यक्त्व—जिसके कारण आत्मा का ज्ञान गुण निर्मल हो और वह अपनी आत्मा को ही देव स्वरूप गुरु रूप और धर्म मय माने अनन्तगुणों का भण्डार समझे आत्मा को ही सामायिक संवर आदि रूप माने—वह निश्चय सम्यक्त्व है।

१० व्यवहार सम्यक्त्व—अरिहंत भगवान को सुदेव निर्ग्रंथ श्रमण को सुगुरु और केवली प्ररूपित धर्म को सद्धर्म माने श्रुत धर्म चारित्र धर्म की तथा नवतत्त्वादि जिन प्रवचन की यथार्थ श्रद्धा करे वह व्यवहार सम्यक्त्व है। इसके ६७ भेद पृ० ५ में दिये गए हैं।

११ द्रव्य सम्यक्त्व—विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों को द्रव्य सम्यक्त्व कहते हैं।

१२ भाव सम्यक्त्व—केवली प्ररूपित धर्म में श्रद्धा रुचि और प्रतीति होना।

(आवश्यक सूत्र तथा कर्मग्रंथ भा० १ गा० १५)

प्रवचनसारोद्धार गा० ९४२ से सम्यक्त्व के निम्न भेद भी दिये गए हैं।

एक भेद—तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्व यह सभी भेदों में रहता है।

दो भेद—१ निसर्गज=अपने आप विशुद्धि होने से या जातिस्मरण ज्ञानादि से होने वाला।

२ अधिगम=गुरु के उपदेश से अथवा आगमों के अध्ययन से होने वाला।

तथा—१ द्रव्य स० २ भाव स० अथवा—१ निश्चय स० व्यवहार स०।

तीन भेद—१ कारक २ रोचक ३ दीपक

अथवा—उपशम २ क्षायिक ३ क्षायोपशमिक।

चार भेद—उपरोक्त तीन में सास्वादान सम्यक्त्व मिलाने से।

पाँच भेद—उपरोक्त चार में वेदक सम्यक्त्व मिलाने पर।

दस भेद—उपरोक्त पाँचों को निसर्ग और अधिगम से गिनने पर दस भेद हुए अथवा निसर्गरुचि आदि १० प्रकार की रुचि से दस भेद हुए।

☆•••☆ ☆★☆ ☆•••☆

सम्यक्त्व के नौ भंग

चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी १ क्रोध, २ मान, ३ माया और ४ लोभ और दर्शन-मोहनीयकर्म की ५ मिथ्यात्वमोहनीय ६ मिश्रमोहनीय और ७ सम्यक्त्वमोहनीय, इन सातो प्रकृतियो के उदय मे मिथ्यात्व रहता है और क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से सम्यक्त्व होता है ।

इनके नौ भग इस प्रकार है——

(१) सातो प्रकृतियो का क्षय हो जाना-क्षायिक सम्यक्त्व है ।

(२) सातो प्रकृतियो का उपशम होना—औपशमिक सम्यक्त्व है ।

(३) प्रथम की चार का क्षय और तीन का उपशम
(४) ,, पाच ,, दो ,,
(५) ,, छ ,, एक ,,
} क्षयोपशम सम्यक्त्व है ।

(६) ,, चार का क्षय, दो का उपशम और एक का उदय ।
(७) ,, पाच का क्षय, एक का उपशम और एक का उदय ।
} क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व है ।

(८) ,, छ का क्षय, एक का उदय—क्षायक वेदक सम्यक्त्व है ।

(९) ,, छ का उपशम, एक का उदय—औपशमिक वेदक सम्यक्त्व है ।

उपरोक्त ९ भगो मे से प्रथम के दो भगो को छोडकर शेष सात भग से होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी कहते है । इन नौ भग में से दूसरे और नौवे भग के स्वामी, अवश्य ही पडवाई—मिथ्यात्व में गिरने वाले होते है । (गुणस्थानद्वार)

समकिती की गति

सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव की गति कौनसी होती है'—इस विषय पर विचार करना भी आवश्यक है। जिस जीवने सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में आयु का बन्ध कर लिया है वह तो अपने बन्ध के अनुसार चारों गति में से किसी भी गति में जा सकता है किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद—सम्यक्त्व के सद्भाव में यदि वह मनुष्य या तिर्यंच पंचेन्द्रिय है तो वह मात्र वैमानिक देव का ही आयुष्य बांधता है इसके अतिरिक्त दूसरे किसी का आयुष्य बांध ही नहीं सकता और यदि वह जीव देव या नारक है तो मनुष्य आयु का बन्ध करता है।

श्री भगवती सूत्र श० ३० उ० १ में लिखा है कि— *सम्यग्दृष्टि—क्रियावादी जीव नैरयिक और* तिर्यंच आयु का बन्ध नहीं करते किन्तु मनुष्य और देवायु का ही बन्ध करते हैं'।

उपरोक्त विधान का तात्पर्य यह है कि—जो देव और नारक हैं वे तो मनुष्य आयु का ही बन्ध करते हैं क्योंकि न तो देव मरकर पुनः देव हो सकता है न नारक मरकर सीधा देव हो सकता है। इसलिए देव और नारक सम्यग्दृष्टि जीव एक मात्र मनुष्यायु का ही बन्ध करते हैं अर्थात् वे मनुष्य गति ही प्राप्त कर सकते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव एक मात्र देवायु का ही बन्ध करते हैं। इसी बात को निम्न विधान भी स्पष्ट करता है—

'कृष्ण नील और कापोत लेश्या वाले क्रियावादी केवल मनुष्यायु का ही बन्ध करते हैं। ०

उपरोक्त विधान नारक और भवनपति तथा व्यन्तर देवों की अपेक्षा से है। इसका सम्बन्ध मनुष्य तथा तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय से नहीं है क्योंकि—मनुष्य और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय क्रियावादी—जो कृष्ण नील और कपोत लेश्या में हैं वे किसी भी गति का आयु—तीन अशुभ लेश्या में नहीं बांधते हैं क्योंकि इनका इन तीन लेश्या में आयु बन्ध के योग्य परिणाम नहीं होते। आगे चल कर यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि—

क्रियावादी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के विषय में मनःपर्यवज्ञानी की तरह जानना चाहिये। ‡

और निम्न विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि—

'कृष्ण नील और कापोत लेश्या वाले क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय किसी भी गति का आयुष्य नहीं बांधते हैं। ×

---

० भगवती सूत्र भावनगर से प्रकाशित भाग ४ पृ० १०४

‡ पृ० १०७ कंडिका २८

× पृ० १०७ कंडिका २६

इस विधान की टीका में श्री अभयदेवसूरि ने लिखा है कि—वे क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्च, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या में ही आयु का बन्ध करते हैं और वैमानिक देवों में ये तीन शुभ लेश्याएँ ही हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यञ्च के विषय में मूल पाठ में यह स्पष्ट लिखा है कि—

"सम्मदिट्ठी जहा मणपज्जवनाणी तहेव वेमाणियाउयं पकरेइ"।

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यञ्च, मन पर्यवज्ञानी की तरह वैमानिक देव का ही आयु बांधते हैं।

यदि मनुष्य और तिर्यञ्च, पुन मनुष्य और तिर्यञ्च का ही आयु बाँधे तो उसमें आयु बन्ध के समय मिथ्यादृष्टि होती है। क्योंकि इस प्रकार के मरण को 'तद्भवमरण' कहा है और यह बालमरण है (भगवती श २ उ १) और प्रथम गुणस्थान में होता है। कर्मग्रंथ के मत से प्रथम और द्वितीय गुण-स्थान में भी माना है (कर्मग्रन्थकार तो प्रथम के तीनों गुणस्थानों में अज्ञान ही मानते हैं। अर्थात् दूसरे गुणस्थान में ज्ञान नहीं मानते हैं)। जो कि मिथ्यात्व के सम्मुख हो रहा है, किंतु सिद्धांत और कर्मग्रंथ के मत में यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य और तिर्यञ्च का आयुष्य बाँधने वाले मनुष्य और तिर्यञ्च, सम्यग्दृष्टि तो नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च, एक मात्र देवायु का ही बन्ध करते हैं और वह देवायु भी भवनपत्यादि तीन का नहीं, किंतु एक मात्र वैमानिक का ही। यह बात निम्न मूल पाठ में सिद्ध होती है,—

"नो भवणवासिदेवाउयं पकरेइ, नो वाणमंतर० नो जोइसिय० वेमाणिय देवाउयं पकरेइ"। *

यदि कहा जाय कि 'यह विधान विशेष प्रकार के सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से किया गया है, सामान्य सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंच तो मनुष्यायु भी बाँध सकते हैं,'—तो यह भी ठीक नहीं है। विशेष रूप से विरति का पालन करने वाला तो वैमानिक के ऊँचे देवलोक में जा सकता है, और सामान्य पालक—अविरत सम्यग्दृष्टि, सौधर्म ईशान आदि नीचे के वैमानिक देवों में जाते हैं। इसमें कोई बाधा नहीं है, किन्तु उनका अन्य स्थान का आयुष्य बाँधने का कहना सिद्धांत के अनुकूल नहीं है। भगवती सूत्र में तीन विकलेन्द्रियों को (जो कुछ समयों में ही—उत्पत्ति के बाद--मिथ्यात्वी होने वाले हैं, वे इस पतनावस्था में आयु का बन्ध नहीं कर सकते, इसलिए इन्हें) छोड़कर शेष सभी सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी--जो नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव हैं, क्रियावादी में गिना है और उसकी आयुष्य बन्ध का निर्णय कर दिया है। वहां सामान्य विशेष का भेद नहीं रहा है। ०

---

* पृ० ३०५ कंडिका २२

भगवतीसूत्र श० १ उ० ८ में—१ एकान्तबाल को चारों गति के आयु का बंध करने वाला बताया है तथा—२ एकान्त पण्डित और ३ बालपण्डित को देवायु का बंधक माना है। अविरत सम्यग्-दृष्टि एकान्तबाल नहीं होते इसलिए वे भी देवायु का ही बंध करते हैं। टीका में लिखा है कि—

"अतएव बालत्वे समानेऽपि अविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो देवायुरेव प्रकरोति न शेषाणि"।

श्री भगवती सूत्र श० २६ उ० १ (बन्धी शतक) में मनःपर्यवज्ञानी और नोसंज्ञोपयुक्त जीव में आयुकर्म की अपेक्षा दूसरे भंग को छोड़कर शेष तीन भंग बताये तिर्यचपंचेन्द्रिय के—१ सम्यग्-दृष्टि २ ज्ञानी ३ मतिज्ञानी ४ श्रुतज्ञानी और ५ अवधिज्ञानी इन पाँच बोलों में तीन ही भंग होते हैं। मनुष्यों में समुच्चय बोल होते हुए भी उपरोक्त पाँच बोलों या इनमें से किसी भी बोल के सद्भाव में तीन भंग * ही पाते हैं। इनमें मनुष्यायु नहीं बँधता है इसीसे दूसरा भंग छोड़ा है। इस दृष्टि से भी देवायु ही बाँधता है।

श्री भगवती सूत्र श० ६ उ० ४ में लिखा कि—'वैमानिक देवों में ही प्रत्याख्यान प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान से निबद्ध आयु वाले होते हैं तथा अप्रत्याख्यान निबद्ध आयु वाले होते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि जिसमें किञ्चित् भी विरति होती है वह उस अवस्था में वैमानिक देव का ही आयु बाँधता है।

यदि कहा जाय कि 'सुमुख गाथापति' ने संसार परिमित किया तो वे सम्यग्दृष्टि थे और उन्होंने मनुष्यायु का बंध किया था। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्यायु का बंध कर सकता है? इसका समाधान यह है कि—आयु तो जीवन भर में केवल एक बार ही बँधता है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो जीवन में प्रत्येक हजार बार तक आ जा सकती है (अनुयोगद्वार) तब यह कैसे कहा जाय कि आयु का बन्ध होते समय 'सुमुख' सम्यग्दृष्टि ही था? हाँ संसार परिमित करते समय वह अवश्य सम्यग्दृष्टि था क्योंकि समकिती ही संसार परिमित कर सकते हैं। इसलिए यह मानना चाहिए कि सुमुख गाथापति ने आयुष्य का बंध सम्यक्त्व के छूटने के बाद हुआ था। इसी प्रकार मेघकुमार के विषय में भी समझना चाहिए।

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र दशा ६ में सम्यग्दृष्टि क्रियावादी के नरक में जाने का उल्लेख है किन्तु उसका आशय यह नहीं कि उन्होंने सम्यक्त्व अवस्था में ही नरकायु का बन्ध किया हो। यदि ऐसा माना

* कुल चार भंग इस प्रकार हैं—

१. पाप कर्म या आयु कर्म भूतकाल में बाँधा वर्तमान में बाँधता है और भविष्य में बाँधेगा।
२ बाँधा बाँधता है और आगे नहीं बाँधेगा।
३ बाँधा नहीं बाँधता है और आगे पर बाँधेगा।
४ बाँधा नहीं बाँधता है और आगे भी नहीं बाँधेगा।

जाय, तो भगवती श ३० उ १ मे जो कहा है कि--"कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्च, किसी भी गति के आयुष्य का बन्ध नही करते"--इस विधान का विरोध होगा, क्योकि नरक मे तो ये तीन लेश्या ही है और जिस लेश्या मे आयुष्य बाँधते है, उसी लेश्या मे आयु पूर्णकर दूसरे भव मे उत्पन्न होते है। यदि सम्यग्दृष्टि एव क्रियावादी अवस्था मे नरकायु का बन्ध होना माना जाय, तो कृष्ण, नील और कापोत लेश्या मे भी आयु बन्ध होना मानना पडेगा, जो सिद्धात से विरुद्ध होता है। अतएव दशाश्रुतस्कन्ध लिखित सम्यग्दृष्टि क्रियावादी के नरकायु का बन्ध सम्यक्त्व के सद्भाव मे नही, किंतु मिथ्यात्व के सद्भाव मे होना मानना चाहिए।

यो तो सम्यक्त्व को लेकर छठी नरक तक जासकते है, इतना ही नही, कोई कोई मन पर्यवज्ञान पाया हुआ जीव, मन पर्यवज्ञान मे गिर कर, उस भव को छोडकर नरक मे जासकता है (भगवती श २४-१) तो इसका मतलब यह तो नही कि उन्होने सम्यक्त्व अवस्था मे नरक के योग्य आयुकर्म का बन्ध किया हो। अतएव आगमानुसार यही मानना उचित है कि सम्यक्त्व के सद्भाव मे मनुष्य और तिर्यञ्चपचेन्द्रिय जीव, केवल वैमानिक देव का ही आयु बाँधते है।

सम्यक्त्व को साथ लेकर जीव, इतने स्थानो मे उत्पन्न नही होता-१५ परमाधामी देव, तीन किल्विषी देव, पाँच स्थावरकाय, सातवी नरक मे, छप्पन अन्तरद्वीप के मनुष्यो मे, और समूच्छिम मनुष्यो मे। इसके सिवाय सर्वत्र जा सकता है।

सम्यक्त्व की स्थिति

सम्यग्दर्शन व्यक्ति की अपेक्षा अनादिअपर्यवसित तो हो ही नही सकता। वह सादिसपर्यवसित (आदि अत सहित) या सादिअपर्यवसित (सादि अनन्त) होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व सादिअपर्यवसित होता है। वह एकबार प्राप्त होने के बाद फिर नही जाता (प्रज्ञापना पद १८ और जीवाभिगम-समुच्चय जीवाधिकार) क्षायिसम्यक्त्वी का दर्शन सर्वथा विशुद्ध होता है, उसमे अतिक्रमादि दोष लगते ही नही है (व्यवहारसूत्र उ० २ भाष्य गा० ७ टीका)

उपशमसम्यक्त्व अवश्य छूटता है। इसकी स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। उपशमचारित्र भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहता है, अर्थात् मोह का उपशम अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहता है। इसके बाद अवश्य उदय हो जाता है।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल की है। ये छासठ सागरोपम, यदि विजयादि चार अनुत्तर विमान के हो, तो दो बार और

मच्युत कल्प के हों तो तीन बार में पूरे होते हैं। इनमें जो मनुष्य के भव होते हैं उनका काल अधिक होता है। (प्रज्ञापना पद १८ तथा जीवाभिगम) इसके बाद या तो जीव मुक्त हो जायगा या फिर मिथ्यात्व में गिर जायगा।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के उदय का पूरा अवकाश रहता है। यह एक भव में अधिक से अधिक नौ हजार बार तक आ जा सकती है।

सास्वादन सम्यक्त्व उस समय होता है जब जीव सम्यक्त्व का वमन करता है। इसका गुण-स्थान दूसरा है। जिन विकलेन्द्रियों में अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व का सद्भाव माना है वह यही है। इसकी स्थिति छ आवलिका और सात समय से अधिक नहीं है।

वेदक सम्यक्त्व की स्थिति--क्षपक वेदक और उपशम वेदक की तो एक समय की है किन्तु क्षायोपशमिक वेदक सम्यक्त्व की क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के अनुसार-अधिक से अधिक छासठ सागरोपम से अधिक है। यह सम्यक्त्व मोहनीय की प्रकृति का वेदन है।

जिस भव्यात्मा ने एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया वह मोक्ष का अधिकारी अवश्य ही होगा।

दुर्लभ बोधि के कारण

जिन दुष्कृत्यों से धर्म को प्राप्त करना समझना और श्रद्धा करना कठिन हो जाता है उन्हें दुर्लभ बोधि के कारण कहते हैं। वे पांच कारण इस प्रकार हैं।

१ अरिहंत भगवान के विपरीत बोलना—जैसेकि अरिहंत सर्वज्ञ नहीं होते। सभी पदार्थों का त्रिकालज्ञ-पूर्णज्ञाता एक व्यक्ति कदापि नहीं हो सकता। शास्त्रों में अरिहंतों के अतिशय तथा ज्ञान की झूठी प्रशंसा की गई है इत्यादि।

२ अरिहंत प्रणीत धर्म का अवर्णवाद बोलना-विद्वद्भोग्य संस्कृत भाषा को छोड़कर प्राकृत जैसी तुच्छ भाषा में आगमों की रचना प्रशंसनीय नहीं है। जैनियों के श्रुतज्ञान देव नारक और मोक्ष आदि का ज्ञान किस काम का? साधना का जन-सेवा करनी चाहिए। परिश्रम करके अपना पेट भरना चाहिए। साधुओं का चारित्र-जड़ क्रिया है इससे जनता का कोई लाभ नहीं इत्यादि।

३ आचार्य उपाध्याय के अवर्णवाद बोलना-आचार्य उपाध्याय कुछ भी नहीं समझते। इन्हें संसार का कोई अनुभव नहीं है। अभी इनकी उम्र ही क्या है? आदि।

४ संघ की निन्दा करना-साधु साध्वी श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ होता है। ज्ञान

दर्शन चारित्र और तप रूप गुणो के समूह ऐसे सघ की निन्दा करना, उसे पशुओ का सघ कहना आदि।

५ जो तप और ब्रह्मचर्य का पालन करके देव हुए है, उनकी निन्दा करना, जैसे कि 'भोग के अभाव मे-उत्कृष्ट भोग प्राप्ति के लिए अर्थात् कामेच्छा से युक्त होकर तप आदि करके अब ये देवागनाओ के साथ भोग कर रहे है,' इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, धर्मदाता, धर्म-प्रवर्त्तक और धर्म-पालको की निन्दा करने वाले, अपने दुष्कृत्यो से मोहनीय कर्म का ऐमा दृढतर वन्धन कर लेते है कि जिससे भविष्य मे उन्हे धर्म की प्राप्ति होना कठिन हो जाना है। सम्यग्ज्ञान के निकट आना उनके लिए असभव-सा बन जाता है। इमलिए दुर्लभ-बोधि के उपरोक्त कारणो से सदैव दूर ही रहना चाहिए। (ठाणाग ५-२)

सुलभ बोधि के कारण

जिन सत्कार्यों से जीव का धर्म प्राप्त करना सरल हो जाता है, और बिना कठिनाई के धर्म को समझकर स्वीकार किया जा सकता है, उन्हे सुलभ-बोधि के कारण कहते है। ये कारण दुर्लभ बोधि के कारण से उल्टे है। यथा-

१ अरिहत भगवान का गुणगान करना, जैसे-अरिहत भगवान, राग द्वष को नष्ट करके वीत-राग हुए है, वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। देवेन्द्र भी उनकी वन्दना करते है। उनकी वाणी पूर्ण सत्य और परम हितकारी है। वे मोक्षगामी है। उन्हे मेरा नमस्कार है।

२ अरिहन्त प्रणीत धर्म के गुणग्राम करना-वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने मे सूर्य के समान, गुणरत्नो का समुद्र, सभी जीवो का परम हितैषि बन्धु--ऐसा श्रुतचारित्र रूप जिनधर्म जयवन्त वर्तो।

३ आचार्य उपाध्याय के गुणगान करना--परहित मे रत, पाच आचार के पालक और प्रवर्तक, चतुर्विध सघ के नायक, मोक्ष मार्ग के नेता--ऐसे आचार्य उपाध्याय को नमस्कार हो।

४ सघ की स्तुति करना--ससार में सर्वोत्तम गुणो का भडार, जिनधर्म को धारण करके प्रवर्तन करने वाला, ऐसा जगम तीर्थ रूप सघ, प्रतिदिन उन्नत होता रहे।

५ तप और ब्रह्मचर्यादि शील का पालन करके देव हुए उनकी प्रशसा करना-जैसे अहो! शील का कैसा उत्तम प्रभाव है। जिन्होने काम पर विजय पाई, जो भोग को रोग मानकर त्याग चुके थे और तप के द्वारा कर्मों को क्षय करते थे, वे कर्मों के शेष रहने मे महान ऋद्धिशाली देव हुए है। इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, धमदाता, धर्म नेता आदि का गुणगान करने से भविष्य में--परभव मे धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है। इसलिए दुर्लभबोधि के कारणो को त्यागकर सुलभबोधि के कारणो का विशष रूप मे पालन करना चाहिए। (ठाणाग ५--२)

दर्शन चारित्र और तप रूप गुणो के समूह ऐसे सघ की निन्दा करना, उसे पशुओं का सघ कहना आदि।

५ जो तप और ब्रह्मचर्य का पालन करके देव हुए है, उनकी निन्दा करना, जैसे कि 'भोग के अभाव मे-उत्कृष्ट भोग प्राप्ति के लिए अर्थात् कामेच्छा से युक्त होकर तप आदि करके अब ये देवागनाओ के साथ भोग कर रहे है,' इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, धर्मदाता, धर्म-प्रवर्त्तक और धर्म-पालको की निन्दा करने वाले, अपने दुष्कृत्यो से मोहनीय कर्म का ऐसा दृढतर वन्धन कर लेते है कि जिससे भविष्य मे उन्हे धर्म की प्राप्ति होना कठिन हो जाना है। सम्यग्ज्ञान के निकट आना उनके लिए असभव-सा बन जाता है। इसलिए दुर्लभ-बोधि के उपरोक्त कारणो से सदैव दूर ही रहना चाहिए। (ठाणाग ५-२)

सुलभ बोधि के कारण

जिन सत्कार्यों से जीव का धर्म प्राप्त करना सरल हो जाता है, और बिना कठिनाई के धर्म को समझकर स्वीकार किया जा सकता है, उन्हे सुलभ-बोधि के कारण कहते है। ये कारण दुर्लभ बोधि के कारण से उल्टे है। यथा-

१ अरिहत भगवान का गुणगान करना, जैसे-अरिहत भगवान, राग द्वष को नष्ट करके वीत-राग हुए है, वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। देवेन्द्र भी उनकी वन्दना करते है। उनकी वाणी पूर्ण सत्य और परम हितकारी है। वे मोक्षगामी है। उन्हे मेरा नमस्कार है।

२ अरिहन्त प्रणीत धर्म के गुणग्राम करना-वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने मे सूर्य के समान, गुणरत्नो का समुद्र, सभी जीवो का परम हितैषि बन्धु--ऐसा श्रुतचारित्र रूप जिनधर्म जयवन्त वर्तो।

३ आचार्य उपाध्याय के गुणगान करना--परहित मे रत, पाच आचार के पालक और प्रवर्तक, चतुर्विध सघ के नायक, मोक्ष मार्ग के नेता--ऐसे आचार्य उपाध्याय को नमस्कार हो।

४ सघ की स्तुति करना--ससार मे सर्वोत्तम गुणो का भडार, जिनधर्म को धारण करके प्रवर्तन करने वाला, ऐसा जगम तीर्थ रूप सघ, प्रतिदिन उन्नत होता रहे।

५ तप और ब्रह्मचर्यादि शील का पालन करके देव हुए उनकी प्रशसा करना--जैसे अहो! शील का कैसा उत्तम प्रभाव है। जिन्होने काम पर विजय पाई, जो भोग को रोग मानकर त्याग चुके थे और तप के द्वारा कर्मों को क्षय करते थे, वे कर्मों के शेष रहने मे महान ऋद्धिशाली देव हुए है। इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, धर्मदाता, धर्म नेता आदि का गुणगान करने से भविष्य मे--परभव मे धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है। इसलिए दुर्लभबोधि के कारणो को त्यागकर सुलभबोधि के कारणो का विशष रूप मे पालन करना चाहिए। (ठाणाग ५--२)

उत्थान क्रम

संसार से मुक्त होने की योग्यता उसी जीव में होती है जो भवसिद्धिक=भव्य हो जिसका स्वभाव ऐसा हो जिसमें वैसी योग्यता हो। इस प्रकार की योग्यता जीव में स्वभाव से ही होती है। यह अनादि पारिणामिक भाव है (अनुयोगद्वार) किन्तु जीव की अनादिकाल से मिथ्यापरिणति चालू हो रही जिसके कारण वह अपने स्वभाव का प्रकटीकरण नहीं कर सका। उसकी दशा काली—अन्धकारमयी ही रही—वह कृष्णपक्षी ही बना रहा। अनादिकाल से वह कृष्णपक्षी रहा किन्तु जब उत्थानकाल प्रारम्भ होता है तो सर्वप्रथम वह कृष्णपक्षी मिटकर शुक्लपक्षी होता है। इस प्रकार की अवस्था भी अनन्तकाल—अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी एवं क्षेत्र से देशोन अर्धपुद्गल परावर्तन रहती है अर्थात् मोक्ष जाने के इतने पहले से वह शुक्लपक्षी बन जाता है। कई जीव शुक्लपक्षी बनने के साथ सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं और कई मिथ्यादृष्टि अवस्था में ही रहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं वे बाद में सम्यक्त्व का वमन करके पुनः मिथ्यादृष्टि होते ही हैं क्योंकि देशोन अर्ध पुद्गल परावर्तन तक उन्हें संसार में रहना होता है और इतना समय सम्यक्त्व अवस्था में नहीं रह सकते।

शुक्लपक्षी के लिए अर्ध पुद्गल परावर्तन बताया उसी प्रकार सम्यक्त्व का अन्तर अथवा सादि सान्त मिथ्यात्व का काल भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल यावत् देशोन अर्धपुद्गल परावर्तन है। (जीवाभिगम समुच्चय जीवाधिकार) इसलिए कोई जीव शुक्लपक्षी होने के साथ ही सम्यक्त्व भी पा लेता है और फिर कालान्तर में छोड़ देता है। जब चारित्र—यथाख्यात चारित्र का व्यक्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर इतना हो सकता है तब सम्यक्त्व का हो इसमें तो असंभव जैसी बात ही नहीं है।

शुक्लपक्षी होने के बाद जीव सम्यक्त्वी होता है और सम्यक्त्वी के बाद परिमित संसारी होता है। कई जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके भी उसे सुरक्षित नहीं रख सकते और मिथ्यात्व के झपट्टे में आकर खो देते हैं वे अनन्त संसारी भी बन जाते हैं किन्तु जो सम्यक्त्व को सुरक्षित रखते हैं वे परिमित संसारी ‡ बनजाते हैं फिर उनका निस्तार शीघ्र हो जाता है। इसके बाद सुलभबोधि होता है। जिससे भवान्तर में धर्म प्राप्ति सरलता से हो सके। इसके बाद आराधक होना आवश्यक है जो आराधक हो चुका वह १५ भव से अधिक संसार में नहीं रहता (भगवती ८—१०) और चरिमभव वालों का तो वह भव ही अन्तिम होता है। यदि वह देव हुआ तो फिर देवभव नहीं पाएगा और मनुष्य भव पाकर

‡ परिमित संसारी का अर्थ जीवाभिगम मूल पाठ से तो उत्कृष्ट देशोन अर्ध-पुद्गल परावर्तन होता है किन्तु यहां मध्यम काल स्वरूप संसार ही—लगभग १५ भव ही उपयुक्त लगता है।

मुक्त हो जायगा और मनुष्य हुआ तो उसी भव मे मुक्त हो जायगा।   (रायपसेनी सूत्र)

इस प्रकार जो भव्य जीव होते है वे पहले कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी होते है, फिर सम्यक्त्वी, परिमित ससारी, सुलभबोधि, और आराधक होते है और अत मे चरम शरीरी होकर मुक्त हो जाते है।

जीव, मिथ्यात्व से चौथे गुणस्थान मे पहुच कर सम्यग्दृष्टि होते है। कोई कोई जीव मिथ्यात्व छोडने के साथ ही सम्यक्त्व और अप्रमत्त सयत एक साथ बनजाते है, तो कोई सम्यक्त्व और देशविरत होने के वाद,अप्रमत्त गुणस्थान स्पर्श कर फिर प्रमत्त होते है। अप्रमत्त गुणस्थान से आगे वढकर, क्षपक श्रेणी प्राप्त कर,क्रमश अयोगी अवस्था पाकर मुक्त हो जाते है।

इस उत्थान क्रम से जीव, जिनेश्वर वनकर सिद्ध हो जाता है। मै भी इस पद को प्राप्त करू और सभी आत्माएँ परम पद को प्राप्त कर परम सुखी वने।

सम्यग्दर्शन का महत्व

सम्यग्–ज्ञान से जीवादि पदार्थों और हेय, ज्ञेय तथा उपादेय का ज्ञान होता है, किन्तु उस ज्ञान के साथ श्रद्धा गुण नही हो, तो वह वास्तविक लाभप्रद नही होता। जाने हुए पर विश्वास होने से ही आचरण मे रुचि होती है। बिना श्रद्धा का ज्ञान, मिथ्या दृष्टि का होता है। जिसे शास्त्रीय परिभाषा मे 'दीपक सम्यक्त्व' अथवा 'विषय प्रतिभास ज्ञान' कहते है। जैसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि का होता है वैसा ही–कभी उससे भी अधिक और प्रभाव जनक ज्ञान, मिथ्यादृष्टि को भी होता है, फिर भी वह सम्यग्दृष्टि नही माना जाता, क्योकि उसमें दर्शन=श्रद्धा गुण नही है। सम्यक्ज्ञान पर श्रद्धा होने से ही सम्यग्दृष्टि माना जाता है। श्री उत्तराध्ययन अ २८ गा ३५ मे लिखा कि–

"नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे"।

अर्थात्–ज्ञान से आत्मा जीवादि भावो को जानता है और दर्शन से श्रद्धान् करता है। श्रद्धा का शुद्ध होना और उसे दृढीभूत करना ही दर्शनाराधना है। जिसमे सम्यग्दर्शन नही, उसकी सभी क्रियाएँ कर्म बन्धन रूप ही होती है। श्री सूयगडाग सूत्र अ ८ मे कहा है कि–

जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होई सव्वसो ॥२२॥

–जो व्यक्ति महान् भाग्यशाली और जगत् में प्रशसनीय है, जिनकी वीरता की धाक जमी हुई

है किन्तु वे धर्म के रहस्य को नहीं जानते हैं और सम्यग्दृष्टि से रहित हैं तो उनका किया हुआ सभी पराक्रम—दान तप आदि अशुद्ध है। कर्म बंध का ही कारण है।

सम्यग्दर्शन वह आधार रूप भूमिका है कि जिसके ऊपर चारित्र रूपी महल खड़ा किया जा सकता है। जब तक दर्शन रूपी आधार दृढ़ नहीं हो जाय तब तक पूर्वों का श्रुत भी मिथ्या ज्ञान रूप रहता है और अन्य क्रियाकलाप भी कष्ट रूप रहता है। पूर्वाचार्य ने 'भक्त परिज्ञा' में कहा है कि—

> "दंसण भट्ठो भट्ठो, न हु भट्ठो होइ चरण पब्भट्ठो।
> दंसणमणुपत्तस्स हु परिभमणं नत्थि संसारे ॥६५॥
> दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
> सिज्झंति चरण रहिआ, दंसणरहिया न सिज्झंति" ॥६६॥

अर्थात्—चारित्र भ्रष्ट आत्मा (सर्वथा) भ्रष्ट नहीं है किन्तु दर्शन भ्रष्ट आत्मा ही वास्तव में भ्रष्ट एवं (सर्वथा) पतित है। जो दर्शन से भ्रष्ट नहीं है वह जीव संसार में परिभ्रमण नहीं करता है किन्तु चारित्र प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। वास्तविक पतित तो दर्शन भ्रष्ट जीव ही है क्योंकि केवल चारित्र भ्रष्ट तो दर्शन के सद्भाव में पुनः चारित्र प्राप्त करके सिद्ध गति प्राप्त कर लेता है किन्तु दर्शन भ्रष्ट को सिद्धि लाभ करना कदापि संभव नहीं है।

'सिज्झंति चरण रहिया' का यह अर्थ भी है कि—जो भी सिद्ध होते हैं वे चारित्र रहित होकर सिद्ध होते हैं। सिद्धात्माओं में यथाख्यात चारित्र भी नहीं होता इसीलिए उन्हें 'नो संयमी नो असंयमी' कहते हैं किन्तु दर्शन रहित तो कोई भी सिद्ध नहीं होता। उनमें क्षायक सम्यक्त्व रहता ही है।

श्री आनन्दघनजी ने भी अनन्त जिन स्तवन में कहा है कि—

> देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।
> शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी छार पर लीपणुं तेह जाणो' ॥

जिस प्रकार राख पर लीपना व्यर्थ है उसी प्रकार बिना शुद्ध श्रद्धा के सभी प्रकार की क्रिया व्यर्थ रहती है।

इन सब उक्तियों का सार——धर्म का मूल सम्यग्दर्शन ही है। आगमकार भगवंत ने भी फरमाया कि—

> "नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
> अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥ (उत्तरा॰ २८-३०)

—दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं उसमें चारित्र गुण नहीं होता।

ऐसे गुण हीन पुरुष को मुक्ति नही होती और विना मुक्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नही होती। इसके पूर्व कहा कि–**"नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं"**–सम्यक्त्व के विना चारित्र नही होना।

प्रज्ञापना सूत्र के २२ वे पद मे लिखा कि–**"जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ"**।

अर्थात्–जिसको मिथ्यादर्शन प्रत्ययिक क्रिय लगती है, उसे अप्रत्याख्यान क्रिया अवश्य लगती है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे की हुई क्रिया, सम्यग् चारित्र रूप नही होती। श्रीमद् भगवती सूत्र श० ७ उ० २ मे भी लिखा कि 'जिसे जीव अजीव का ज्ञान नही उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान–खराब पच्चक्खाण है। अजैन मान्यता भी इससे मिलती जुलती है, जिसका वर्णन "सद्धर्ममडन" की भूमिका मे देखना चाहिए।

"दृष्टि जैसी सृष्टि" की कहावत सर्वत्र तो नही, किन्तु यहा चरितार्थ होती है। जिसकी दृष्टि गलत, उसके कार्य भी गलत होते है। इसलिए दृष्टि सुधारने पर–महापुरुषो ने विशेष जोर दिया है। आगमो मे सम्यग्दर्शन का महत्त्व वताया ही है, किन्तु वाद के आचार्यों ने भी सम्यक्त्व का गुणगान वडी विशिष्ठता के साथ किया है। उसके थोडे मे नमूने यहा दिये जाते है।

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहन्ते, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥१॥
सव्वाइ जिणेसर भासिआइं, वयणाइं नन्नहा हुंति।
इअ बुद्धि जस्स मणे, सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥२॥
अंतोमुहुत्तमित्तंपि, फासियं हुज्ज जेहिं समत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ॥३॥ **(नवतत्त्व प्रकरण)**

–जो जीवादि नव पदार्थों को जानता है, उसे सम्यक्त्व होता है। यदि क्षयोपशम की मन्दता से कोई यथार्थरूप से नही जानता, तो भी "भगवान का कथन सत्य है"–इस प्रकार भाव से श्रद्धान करता है, तो भी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है (यही वात आचाराग श्रु० १ अ० ५ उ० ५ मे लिखी है) ॥१॥

भगवान् जिनेश्वर के कहे हुए सभी वचन सत्य है, वे कभी भी असत्य नही होते–ऐसी निश्चल बुद्धि जिसमे है, उसकी सम्यक्त्व दृढ होती है। ॥२॥

जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, उसे कुछ न्यून अर्धपुद्गल परावर्त्तन से अधिक ससार परिभ्रमण नही होता। इतने काल में वह मोक्ष पा ही लेता है। ॥३॥

'सम्यक्त्वकौमुदी' में सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए लिखा कि—

सम्यक्त्वरत्नान्नपरं हि रत्नं, सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्व बन्धोर्न परो हि बन्धुः, सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः॥

—संसार में ऐसा कोई रत्न नहीं जो सम्यक्त्व रत्न से बढ़कर मूल्यवान हो। सम्यक्त्व मित्र से बढ़कर कोई मित्र नहीं हो सकता, न बंधु ही हो सकता और सम्यक्त्व लाभ से बढ़कर संसार में अन्य कोई लाभ हो ही नहीं सकता।

श्लाघ्य हि चरणज्ञान-वियुक्तमपि दर्शनम्।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्व विष दूषिते॥

ज्ञान और चारित्र से रहित होने पर भी सम्यग्दर्शन प्रशंसा के योग्य है किन्तु मिथ्यात्व विष से दूषित होने पर ज्ञान और चारित्र प्रशंसित नहीं होते।

एक आचार्य ने सम्यक्त्व का महत्व बताते हुए लिखा कि—

असमसुखनिधान, धाम संविग्नतायाः,
भवसुख विमुखत्वो,—दीपने सद्विवेकः।
नरनरकपशुत्वो—च्छेदहेतुर्नराणाम्,
शिवसुखतरु बीजं, शुद्ध सम्यक्त्व लाभः॥

—शुद्ध सम्यक्त्व अतुल सुख का निधान है। वैराग्य का धाम है। संसार के क्षण भंगुर और नाशवान सुखों की असारता समझने के लिए सद्विवेक रूप है। भव्य जीवों के नरक तिर्यंच और मनुष्य सबकी दुःखों का नाश करने वाला है और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति ही मोक्ष सुख रूप महावृक्ष के बीज के समान है।

दिगम्बर आचार्य श्री शुभचन्द्रजी ने ज्ञानार्णव में कहा है कि—

सद्दर्शन महारत्नं, विश्वलोकैक भूषणम्।
मुक्ति पर्यन्त कल्याण, दानदक्ष प्रकीर्तितम्॥

सम्यग् दर्शन सभी रत्नों में महान् रत्न है समस्त लोक का भूषण है। आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण-मंगल देने वाला चतुर दाता है।

चरणज्ञानयोर्बीज, यम प्रशम जीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठान, सद्भिःसद्दर्शनं मतम्॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का वीज है। व्रत महाव्रत और उपशम के लिए, जीवन स्वरूप है। तप और स्वाध्याय का यह आश्रय दाता है। इस प्रकार जितने भी शम, दम, व्रत, तप आदि होते हैं, उन सब को यह सफल करने वाला है।

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं, चरणज्ञानविच्युतम् ।
न पुनः संयमज्ञाने, मिथ्यात्व विषदूषिते ॥

ज्ञान और चारित्र के नही होने पर भी अकेला सम्यग्दर्शन प्रशसनीय होता है। इसके अभाव में सयम और ज्ञान, मिथ्यात्व रूपी विष मे दूषित होते हैं।

आराधनासार मे लिखा है कि-

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना,प्रोक्तं जिनेन स्वयं ।
सम्यक्त्वाद्भुत रत्नमेतदमलं,चाभ्यस्तमप्यादरात् ॥
भंक्त्वासंप्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्याच सम्यक्परं-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते ॥

जो मनुष्य तीन जगत के नाथ ऐसे जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित, सम्यक्त्व रूप अद्भुत रत्न का आदर सहित अभ्यास करता है, वह निन्दित कर्मों को बल पूर्वक समूल नष्ट करके विलक्षण आनन्द प्रदान करने वाले पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

दर्शनपाहुड मे लिखा कि-

दंसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोउण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

-जिनेश्वर भगवान ने शिष्यो को उपदेश दिया है कि 'धर्म, दर्शन मूलक ही है। इसलिए जो सम्यग्दर्शन से रहित है, उसे वदना नही करनी चाहिए। अर्थात्-चारित्र तभी वदनीय है जब कि वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

चारित्र पालने मे असमर्थ जीवो को उपदेश करते हुए पूर्वाचार्य 'गच्छाचारपइन्ना' मे लिखते है कि-

जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं ।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागेहिं ॥
ओसन्नोऽविविहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही अ ।
चरणकरण विसुद्धं, अवबूहिंतो परूविंतो ॥

–यदि तू भगवान के कथानुसार चारित्र नहीं पाल सकता तो कमसेकम जैसा वीतराग भगवान् ने प्रतिपादन किया है–वैसा ही कथन तुझ करना चाहिए। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्ध मार्ग का यथार्थ रूप से बलपूर्वक निरूपण करता है तो वह अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य में सुलभबोधी होगा।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा अपरम्पार है। सभी जैनाचार्यों ने एक मत से इस बात को स्वीकार की है किन्तु उदय के प्रभाव से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो तत्त्वार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन' को नहीं मानकर अपनी मति कल्पना से सिद्धांत को दूषित करते हैं और अपनी समझ में आवे उसका ही सत्य मानने को सम्यक्त्व कहते हैं–भलेही वे खुद भूल कर रहे हों। कुछ ऐसे भी हैं जो आगमों का अर्थ अपनी इच्छानुसार–विपरीत–करके मिथ्या प्रचार करते हुए सम्यक्त्व का दूषित करते हैं। और उपासकों की श्रद्धा बिगाड़ कर उन्हें धर्म से विमुख बनाते हैं। ऐसे ही लोगों का परिचय देते हुए सूत्रकृतांग १–१३–३ में गणधर महाराज ने फरमाया है कि–

विसोहियं ते अणुकाहयंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा।
अट्ठाणिए होइ बहुगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा॥

–जो निर्दोष वाणी को विपरीत कहते हैं उसकी मनचाही व्याख्या करते हैं और वीत–राग के वचनों में शंका करके झूठ बोलते हैं वे उत्तम गुणों से वंचित रहते हैं।

ऐसे लोगों से सावधान करते हुए विशेषावश्यक में आचार्यवर ने बताया कि–

सव्वण्णुप्पामण्णा दोसा हु न संति जिणमए केई।
ज अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा॥१४६६॥

–सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग प्रभु के द्वारा प्रवर्तित होने से भी जिनधर्म में किंचित् मात्र भी दोष नहीं है। यह धर्म सर्वथा शुद्ध पूर्णरूप से सत्य और उपादेय है किन्तु अनुपयोगी गुरुओं के कथन से अथवा अयोग्य शिष्यों से जिनशासन में दोष उत्पन्न होते हैं। यह सारा दोष उन दूषित व्यक्तियों का है–जो अपने दोषों से जिनमत को दूषित करते हैं। इसलिए व्यक्तियों के दोष को देखकर धर्म को दूषित नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार दूषित श्रद्धा वालों से बचकर सम्यग्श्रद्धान को दृढ़ीभूत करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। सम्यक्त्व को दृढ़ीभूत करने के लिए शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं कि–

मेरुव्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठ–मलं तिमूढ उम्मुक्कं।
सम्मत्तमणुपमणुप्पज्जइ पवयणब्भासा॥

–प्रवचन (जिनागम) के अभ्यास से आठ प्रकार के मल से रहित, तीन प्रकार की मूढता से वचित और मेरु के समान निष्कम्प ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए आत्मार्थी जनो को नित्य ही जिन प्रवचन का श्रवण, पठन करते ही रहना चाहिए।

आत्म बन्धुओ ! समझो। यह सम्यग्दर्शन ऐसी चीज नही है जो सबकी अपनी मनमानी और घर जानी हो। थोडीसी विपरीतता के कारण, जमाली मिथ्यादृष्टि बन गया, तो अपन किस हिसाब में है। पूर्वों का ज्ञान धराने वाले भी मिथ्यादृष्टि हो जाते है, तो आजकल के थोथे विद्वान–कुतर्की पडितो पर विश्वास करके अपने दर्शन गुण से क्यो भ्रष्ट होते हो ? सम्यक्त्व, इन लौकिक पडितो या बडे बडे नेताओ की जेबो मे–स्वच्छन्द मस्तिष्क मे, या वाक्पटुता मे नही भरी है। वह है निर्ग्रंथ प्रवचन मे। "सद्धा परम दुल्लहा" (उत्तरा० ३–९) सम्यग् श्रद्धान की प्राप्ति परमदुर्लभ है। इस महान् रत्न को सम्हाल कर रक्खो। तुम्हारी बुद्धि पर डाका डालकर इस रत्न को लूटने वाले लुटेरे, साहुकारो के रूप मे कई पैदा हो गए है। उनकी मोहक और धर्म के लेबलवाली, मीठी शराब मत पीलेना। असल नकल की परीक्षा, निर्ग्रंथ प्रवचन अथवा ज्ञानी गुरु से करना। श्री आचाराग सूत्र १–५–६ मे लिखा है कि "पर प्रवाद तीन तरह से तपासना चाहिए– १ गुरु परपरा से २ सर्वज्ञ के उपदेश से ३ या फिर अपने जातिस्मरण ज्ञान से। अभी तीसरा साधन प्राय नही है। दो साधनो से ही परीक्षा करनी चाहिए, अन्यथा धोखा खा जाओगे और खो बैठोगे–इस दुर्लभ रत्न को।

धन्य है वे प्राणी, जो अपने सम्यक्त्वरूपी रत्न की रक्षा करते हुए दृढ रहते है और दूसरो को भी दृढ बनाते है। उन्हे बारबार धन्यवाद है।

। जिणुत्त तत्ते रुइ लक्खणस्स, नमो नमो निम्मल दंसणस्स ।

सम्यक्त्व रत्न की दुर्लभता

संसार में सभी बातें सुलभ हैं। धन सम्पत्ति कुटुम्ब परिवार राज्याधिकार देविकऋद्धि तीर्थंकर भगवान् से साक्षात्कार निग्रंथ प्रवचन का श्रवण, एवं द्रव्य संयम की प्राप्ति भी जीव को कभी हो सकती है। पूर्वों तक का श्रुत भी प्राप्त हो सकता है और अनेक प्रकार की आश्चर्य जनक लब्धियां भी मिल जाती हैं किन्तु सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति महान् दुष्कर है। जो अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि चारित्र क्रिया का उत्तम रीति से पालन कर ग्रहमेन्द्र बन जाते हैं वे भी इस रत्न से वञ्चित होने के कारण वहाँ से नीचे गिरकर फिर चौरासी के चक्कर में भटकते रहते हैं। यदि उनकी आत्मा में श्रद्धा का निवास होता तो उनकी मुक्ति में कोई सन्देह नहीं था।

यों तो मनुष्य-भव की प्राप्ति भी दुलभ है और धर्म श्रवण भी दुलभ है किन्तु श्रद्धा तो परम दुर्लभ है। भगवान ने फरमाया है कि "सद्धा परम दुल्लहा" (उत्तरा० ३-९)

इसलिए सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति और रक्षण में पूर्ण रूप से सावधानी रखनी चाहिए। जिसने अन्तमुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया वह जीव निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करेगा। 'नवतत्व प्रकरण' में कहा है कि—

> "अंतो मुहुत्तमित्तंपि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
> तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ॥"

अर्थात्—जिस जीव ने अन्तमुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया है उसका संसार भ्रमण अर्ध पुद्गल परावर्त्तन से अधिक नहीं होता। इसके पूर्व ही वह मुक्त हो जाता है।

इतना तो करो

परम तारक जिनेश्वर भगवान् फरमाते है कि हे जीव ! यदि तू धर्म का आचरण बरावर नही कर सकता है, तो कम से कम श्रद्धा और प्ररूपणा तो शुद्ध कर, जिससे तेरी आत्मा भविष्य मे भी सुलभ बोधि वनें। 'गच्छाचारपइन्ना' मे लिखा है कि—

"जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाण।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागे हिं ॥
ओसन्नोऽवि विहारे, कम्मं सोहेइ सुलभ बोहीअ।
चरण करण विसुद्धं, उववूहिंतो परूविंतो ॥

अर्थात्—यदि तू भगवान् के कथनानुसार चारित्र का पालन नही कर सकता तो कम से कम प्ररूपणा तो वैसी ही कर—जैसी वीतराग भगवान् ने वतलाई है। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्धमार्ग का यथार्थ रूप से वल पूर्वक प्रतिपादन करता है, तो वह अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य मे अवश्य ही सुलभबोधि होगा।

आचारांग श्रु० १ अ० ६ उ० ४ में भी कहा है कि—**"नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति,"** अर्थात् कई साधु आचार से=सयम से पृथक होजाने पर भी आचार गोचर का यथार्थ प्रतिपादन करते है। व्यवहार सूत्र मे वताया है कि—यदि सुसाधु नही मिले, तो चारित्र से शिथिल किन्तु बहुश्रुत (एव यथार्थ कहने वाले) साधु वेशी के समक्ष आलोचना करे। यदि उसका भी योग नही मिले, तो साधुना छोडे हुए बहुश्रुत श्रावक के समुख आलोचना करे। इनके समुख आलोचना भी तभी हो सकती है जबकि वे चारित्र युक्त नही होने पर भी, सम्यक्त्व युक्त रहे हो। सम्यक्त्व के अभाव में उनकी उपयोगिता नही है।

हा, तो कहने का तात्पर्य यह कि लाख लाख प्रयत्न करके भी सम्यक्त्व को स्थिर रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन कायम रहा, तो सम्यक्चारित्र अवश्य प्राप्त होगा और यदि सम्यग्दर्शन कायम नही रहा, तो फिर उसके अभाव मे चारित्र का वस्तुत कोई मूल्य नही है। सम्यक्त्व शून्य चारित्र, ससार का ही कारण बनता है। इसलिए प्रत्येक भव्य जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति और रक्षा का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

षड् द्रव्य

यह ससार छ द्रव्य मय है। जिसमे गुण और उसकी पर्याय रहे, वह द्रव्य है। द्रव्य के आधार से ही गुण रहते है और गुण की विभिन्न अवस्था पर्याय कहलाती है। ये द्रव्य इस प्रकार है—

१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ जीवास्तिकाय ५ पुद्गलास्तिकाय और ६ काल। इनमे से जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल—ये तीन द्रव्य अनन्त है, शेष तीन द्रव्य केवल एक एक ही है।

काल द्रव्य की सीमा मनुष्य क्षेत्र अथवा चर—ज्योतिषी विमानो तक ही है। धर्मास्ति काय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय, असख्येय योजन प्रमाण लोक व्यापी है, तब आकाशास्तिकाय, लोक के अतिरिक्त अनन्त अलोक मे भी है। लोक मे छ द्रव्य है, किन्तु अलोक मे तो एक आकाश मात्र ही है। इस लोक के चारो ओर अलोक रहा हुआ है। अलोक, लोक से अनन्त गुण बडा है। चारो ओर और ऊपर नीचे फैले हुए अलोक मे यह लोक, सिन्धु मे बिन्दु के समान है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के जितने (असख्य) प्रदेश है, उतने ही एक जीव के आत्म प्रदेश है। (ठाणाग ४—३ तथा भगवती ८—१०)

जीवास्तिकाय का स्वरूप जीव तत्त्व मे और शेष पाच द्रव्य का स्वरूप, अजीव तत्त्व मे बताया गया है।

जीव अनन्त है और पुद्गल भी अनन्त है, किन्तु जीव की अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुण अधिक है। क्योकि प्रत्येक ससारी जीव के प्रत्यक प्रदेश पर, कर्म पुद्गल के अनन्त आवरण लगे हुए है, इसके सिवाय अबद्ध पुद्गल भिन्न है। पुद्गल से भी काल अनन्त गुण है, क्योकि यह जीव और अजीव पर प्रति समय वर्त्तता है। अनन्तकाल बीत चुका और अनन्त बीतेगा। (प्रज्ञापना ३)

आस्तिकता

सम्यग्दृष्टि का मूल लक्षण ही श्रद्धा-आस्तिकता है। इसी पर धर्म का आधार है। यह आस्तिकता वास्तविक होती है। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

आस्तिक्यवादी-१ आत्मा है २ आत्मा अनादिकाल से है और अनन्तकाल-सदा ही रहेगा ३ आत्मा कर्म का कर्ता है ४ आत्मा कर्म का भोक्ता भी है ५ मोक्ष है और ६ मोक्ष का उपाय-सम्यग्ज्ञानादि भी है। इस प्रकार मानने वाला।

आस्तिक प्रज्ञ-आस्तिक बुद्धिवाला परलोक स्वर्ग मोक्ष आदि को समझनेवाला।

आस्तिक दृष्टि-जिसकी आस्तिक बुद्धि श्रद्धा से युक्त है।

सम्यग्वादी-तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा के साथ उसका वाद-अभिप्राय भी सम्यग् ही व्यक्त होता है।

नित्यवादी-द्रव्य तथा उसके गुण की ध्रुवता-नित्यता का हामी होता है।

परलोकवादी-स्वर्ग नरक मोक्ष और पूर्व जन्म पुनर्जन्म का मानने वाला होता है।

(दशाश्रुतस्कन्ध-६)

आत्मवादी-आत्मा का अस्तित्व उसके स्वभाव उसकी शुद्ध एवं अशुद्ध दशा का माननेवाला।

लोकवादी-आत्मा को एक ही नहीं मानकर अनेक मानने वाला अथवा जीव अजीवात्मक अथवा षड्द्रव्यात्मक लोक का मानने वाला। अधोलोक-नरक भवनपत्यादि युक्त तिर्यग् लोक-मनुष्य तिर्यञ्च व्यन्तर ज्योतिषी आदि युक्त ऊर्ध्व लोक- वैमानिक तथा सिद्ध गति मय लोक का स्वीकार करने वाला।

कर्मवादी-ज्ञानावरणादि आठ कर्म इनका आत्मा के साथ बन्ध फल प्राप्ति को मानने वाला।

क्रियावादी-आत्मा के शुभाशुभ व्यापार जिससे कर्म बन्ध हो अथवा क्षय हो। कर्म बन्ध की कारण क्रिया अथवा कर्म क्षय करने की क्रिया को मानने वाला। (आचारांग १-१-१)

इस प्रकार आस्थावान प्राणी सम्यक्त्व का पात्र होता है। वह आस्रव संवर और निर्जरा मोक्ष उत्तम आचार का उत्तम फल दुराचार का दुःख दायक फल सोचकर सिद्ध अनगार सम्यक्त्व विरति आदि का यथातथ्य मानने वाला होता है। इस प्रकार सभी सम्यक् भावों की श्रद्धा करनेवाला ही सच्चा आस्तिक है और सच्चा आस्तिक ही बन होता है।

सात भेद—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय और अकाय।

आठ भेद—नारक, तिर्यच, तिर्यचनी, मनुष्य, मनुष्यनी, देव, देवी और सिद्ध।

नौ भेद—नारक, तिर्यच, मनुष्य, और देव, इन चार के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से ८ भेद और ९ सिद्ध।

दस भेद—पृथ्वीकाय से वनस्पति काय तक के पाच, ६ बेन्द्रिय ७ तेन्द्रिय ८ चौरेन्द्रिय ९ पचेन्द्रिय और १० सिद्ध।

ग्यारह भेद—एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दस भेद हुए और ग्यारहवे सिद्ध।

बारह भेद—पाच स्थावर के सूक्ष्म और वादर—ये दस भेद, ग्यारहवे त्रस (ये बादर ही हैं) और सिद्ध।

तेरह भेद—छ काय के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये १२ भेद और सिद्ध।

चौदह भेद—१ नारक २ तिर्यच ३ तिर्यंचनी ४ मनुष्य ५ मनुष्यनी ६ भवनपति ७ वाणव्यन्तर ८ ज्योतिषी ९ वैमानिक १०-१३ चारो निकाय की देवियाँ और १४ सिद्ध।

पन्द्रह भेद—१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २ बादर एकेन्द्रिय, ३ बेन्द्रिय ४ तेन्द्रिय ५ चौरेन्द्रिय ६ असज्ञी-पचेन्द्रिय ७ सज्ञीपचेन्द्रिय, इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त यो १४ हुए और १५ सिद्ध।

इस प्रकार समस्त जीवो के भेद किये गये है। सिद्ध भगवत को छोडकर ससारी जीवो के विशेष भेद किये जाने पर कुल ५६३ भेद होते है।

संसारी जीवों के ५६३ भेद

नारक के १४ भेद—

१ रत्नप्रभा २ शर्कराप्रभा ३ वालुकाप्रभा ४ पकप्रभा ५ धूम प्रभा ६ तम प्रभा और ७ तमस्तम प्रभा, इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त यो १४ भेद हुए।

तिर्यंच के ४८ भेद—

२२ पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय, इन चारो के प्रत्येक के—१ सूक्ष्म २ बादर ३ पर्याप्त और ४ अपर्याप्त, यो १६ भेद हुए। वनस्पतिकाय के—१ सूक्ष्म २ प्रत्येक और ३ साधारण, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त यो ६ भेद हुए। ये एकेन्द्रिय जीवो के २२ भेद हुए।

६ बेन्द्रिय तेन्द्रिय चौरेन्द्रिय इन तीन विकलेन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त यों ६ भेद हुए।
२० पंचेन्द्रिय तिर्यंच के—१ जलचर २ स्थलचर ३ खेचर ४ उरपरिसर्प ५ भुज परिसर्प इन पांच के सन्नी और असन्नी यों १० भेद हुए और इन दस के पर्याप्त और अपर्याप्त कुल २० भेद हुए।

३०३ मनुष्य के—

१५ कर्मभूमिज मनुष्य के—५ भरत ५ ऐरावत और ५ महाविदेह के—कुल १५ भेद।
३० अकर्मभूमिज के—५ देवकुरु ५ उत्तरकुरु ५ हरिवास ५ रम्यकवास ५ हेमवत और ५ हैरण्यवत इन क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों के कुल ३० भेद हुए।
५६ छप्पन अन्तरद्वीपों में उत्पन्न मनुष्यों के ५६ भेद।
ये कुल भेद १०१ हुए इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से २०२ हुए। और १०१ भेद समूर्छिम मनुष्य के। इस प्रकार मनुष्य के कुल ३०३ भेद हुए।

१९८ देवों के भेद—

१० भवनपति देव—१ असुरकुमार २ नागकुमार ३ सुवर्णकुमार ४ विद्युत्कुमार ५ अग्निकुमार ६ उदधिकुमार ७ द्वीपकुमार ८ दिशाकुमार ९ पवनकुमार और १० स्तनित कुमार।
१५ परमाधार्मिक देव—१ अम्ब २ अम्बरीष ३ श्याम ४ सबल ५ रौद्र ६ महारौद्र ७ काल ८ महाकाल ९ असिपत्र १० धनुष ११ कुम्भ १२ वालुका १३ वैतरणी १४ खरस्वर और १५ महाघोष।
२६ वाणव्यन्तर देव—१ पिशाच २ भूत ३ यक्ष ४ राक्षस ५ किन्नर ६ किंपुरुष ७ महोरग ८ गंधर्व ९ आणपन्नी १० पाणपन्नी ११ इसिवाई १२ भूयवाई १३ कन्दे १४ महाकन्दे १५ कुम्हण्ड १६ पयगदेवे। ये सोलह और १० प्रकार के जृम्भकदेव—१ अन्न जृम्भक २ पान जृम्भक ३ शयन जृम्भक ४ शयन जृम्भक ५ वस्त्र जृम्भक ६ फल जृम्भक ७ पुष्प जृम्भक ८ फलपुष्प जृम्भक ९ विद्या जृम्भक और १० अग्नि जृम्भक।
१० ज्योतिषी देव—१ चन्द्र २ सूर्य ३ ग्रह ४ नक्षत्र और ५ तारा ये पांच चर विमान वाले (चलते फिरते) और पांच स्थिर विमान वाले— यों दस भेद हुए।
३ किल्विषी देव—१ तीन पल्योपम की स्थिति वाले (ये प्रथम और दूसरे देवलोक के नीचे रहते हैं) २ तीन सागर की स्थिति वाले (ये तीसरे और चौथे देव लोक के नीचे रहते हैं) ३ तेरह सागरोपम की स्थिति वाले (ये छट्ठे देवलोक के नीचे रहते हैं।)

३५ वैमानिक देव—

१२—कल्पोत्पन्न—१ सौधर्म २ ईशान ३ सनत्कुमार ४ माहेन्द्र ५ ब्रह्म ६ लान्तक ७ महाशुक्र ८ सहस्रार ९ आणत १० प्राणत ११ आरण और १२ अच्युत ।

१४ कल्पातीत—

९ नौ ग्रैवेयक—ग्रैवेयक के तीन त्रिक है । प्रत्येक त्रिक के नीचे, मध्य मे और ऊपर—यो तीन तीन भेद से कुल ९ भेद हुए । इनकेनाम इस प्रकार है,—१ भद्र २ सुभद्र ३ सुजात ४ सुमनस ५ सुदर्शन ६ प्रियदर्शन ७ आमोह ८ सुप्रतिबद्ध और ९ यशो-धर ।

५ अनुत्तर——१ विजय २ वैजयन्त ३ जयन्त ४ अपराजित और ५ सर्वार्थसिद्ध ।

९ लोकान्ति—१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ वरुण ५ गर्दतोयक ६ तुषित ७ अव्याबाध ८ आग्नेय और ९ अरिष्ट ।

ये कुल ९९ भेद हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त, इन दो भेदो से कुल १९८ भेद हुए ।

इस प्रकार नारक के १४, एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६, तिर्यच पचेन्द्रिय के २०, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८, यो कुल भेद ५६३ हुए ।

जीवो के भेदो का वर्णन प्रज्ञापना , जीवाभिगम, उत्तराध्ययन अ० ३६ आदि मे है ।

गुणस्थान

जीव, कर्म के सयोग से बन्धन मे पडा हुआ है । इसीलिए उसकी दशा विचित्र एव विभिन्न प्रकार की दिखाई देती है । जब पाप कर्मों का उत्कृष्ट उदय होता है, तब आत्मा की निज शक्ति अत्यन्त दब जाती है । उसे अपनी दशा तथा शक्ति का भी भान नही होता । वह स्वयभू=सर्वसत्ता-धिकारी होते हुए भी अपने को नही पहिचान सकता और अपना स्वरूप परमय-पुद्गल रूप ही समझता है । किन्तु जब उसपर से पाप का भार कुछ हलका होता है, तब वह अपने को पहिचानता है और निज गुणो को विकसित करके परमात्मदशा को प्राप्त करलेता है । आत्मा के इस क्रमिक विकास को जैन दर्शन मे "गुणस्थान" के रूप मे बताया है । समवायाग १४ मे इन्हे 'जीवस्थान' सज्ञा दी गई है । इनका सक्षेप मे स्वरूप इस प्रकार है ।

१ मिथ्यात्व गुणस्थान—मिथ्यात्व—मोहनीय कर्म के उदय से जीव की उल्टी दृष्टि होना। इस गुणस्थान में रहे हुए जीवों की मान्यता—श्रद्धा यथार्थ नहीं होती। वे या तो किसी वस्तु का मानते ही नहीं यदि मानते हैं तो कुदर्शन—असत्य पक्ष के मानने वाले होते हैं। इस गुणस्थान में अनन्त जीव सदाकाल बने रहते है। अनन्त स्थावर और असंख्य विकलेन्द्रिय जीव इसी गुणस्थान में रहते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में से भी मिथ्यादृष्टि जीव ही सदैव असंख्य गुण होते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति भी बहुत लम्बी है। अनन्तकाल तक इसमें पड़ रहें तो भी छुटकारा नहीं विश्व में ऐसे अनन्त जीव हैं जो इस मिथ्यात्व गुणस्थान को कभी नहीं छोड़ सकते और सदा सर्वदा इसी में रहते है। मिथ्यात्व की उत्कृष्ट बन्ध स्थिति सो सित्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है किन्तु प्रवाह के कारण यह चलती ही रहती है—(कूप जल की तरह चालू रहती है।)

२ सास्वादन गु०—उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने के बाद जब जीव मिथ्यात्व में आता है तब सम्यक्त्व छूटने के बाद और मिथ्यात्व में पहुँचने के पूर्व इस गुणस्थान को प्राप्त होता है। उसकी दशा एसी होती है कि जिसमें जीव में सम्यक्त्व का कुछ आस्वाद—वमन की हुई खीर के स्वाद की तरह बना रहता है। इसका काल बहुत कम है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छ आवलिका।

३ मिश्र गुणस्थान—सादि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त करते समय अथवा सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त करते समय जीव मिश्र दशा युक्त होता है। इस स्थिति में जीव की ऐसी दशा होती है कि जिससे वह किसी एक निश्चय पर नहीं आकर दुविधा म रहता है। वह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दो में से एक को भी स्वीकार नहीं करके दोनों का कुछ अंश अपने में पाता है। जिस प्रकार शक्कर मिला हुआ दही खाने से खट्टा और मीठा दोनो प्रकार का स्वाद मुँह में रहता है उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का असर बना रहना—मिश्र गुणस्थान है। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं है। तो वह शुद्धता की ओर बढ़कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो तो मिथ्यात्व में चला जाता है। इसकी स्थिति अन्तमुहूर्त की है।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—उपरोक्त दशा से आगे बढ़ने पर—अर्थात्—अनन्तानुबन्धी कषाय चौक और दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशमादि होने पर जीव यथार्थ दृष्टि को प्राप्त करता है। उसमें स्व—पर तथा हेय ज्ञेय और उपादेय का विवेक जागृत होता है। वह तत्त्व के वास्तविक स्वरूप पर विश्वास करता है किन्तु श्रद्धा के अनुसार पालन नहीं कर सकता। रुचि होते हुए भी चारित्र मोहनीयकर्म—अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से वह विरति का पालन नहीं कर सकता है। सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त है और उत्कृष्ट (अपतित अवस्था में—क्षायक समकित की) सादिअपर्यवसित—अनन्त काल और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की छासठ सागरोपम से कुछ अधिक है। यह स्थिति सम्यक्त्व

की है। इस गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति तो ३३ सागरोपम से कुछ अधिक है। ऐसा कर्मग्रथ २ गा २ के अर्थ मे लिखा है। इसके वाद विरति आने पर आगे वढ सकता है। यह मान्यना ठीक लगती है।

५ **देशविरत गुणस्थान**—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो जीव, सावद्य क्रियाओं अर्थात् असयमी जीवन का सर्वथा त्याग तो नही कर सकता, किन्तु देश से=कुछ अशो मे त्याग करके श्रावक के व्रतो का पालन करता है। कोई एक व्रत का--या उसके अश का पालन करता है, तो कोई पूर्ण वारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओ का पालन करता है। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोडपूर्व की है।

६ **प्रमत्तसंयत गुणस्थान**—जिन जीवो के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नही रहता, किन्तु सज्वलन कषाय चतुष्क का उदय होता है, वे सभी पाप प्रवृत्ति का त्याग कर देते है और साधु धर्म—पाच महाव्रत आदि का पालन करते है। इस गुणस्थान मे निद्रा, विषय, कषाय आदि का अवकाश रहता है। इसलिए इस गुणस्थान को 'प्रमत्त सयत' कहा है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड पूर्व की है।

७ **अप्रमत्त संयत गुणस्थान**—इस गुणस्थान वाले जीव--निद्रा, विकथा, विषय, कषाय आदि प्रमाद का सेवन नही करत, किन्तु धर्मध्यान मे हो रहते है। इसकी स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

८ **निवृत्ति बादर गुणस्थान**—जिस अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्या—ख्यानावरण इन तोन चौक रूपी वादर कषाय की निवृत्ति हो चुकी, वह निवृत्ति बादर गुणस्थान का स्वामी है। क्षपक--श्रेणी मे वह इन कषायो को समूल नष्ट करना प्रारभ करता है। यहा उसकी एक धारा जम जाती है, या ता क्षपक या फिर उपशमक। क्षपकश्रेणी मे वह कषायो को नष्ट करने लगता है। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त है।

९ **अनिवृत्ति बादर गुणस्थान**—यहाँ सज्वलन के क्रोधादि की पूर्ण निवृत्ति नही हुई, इसलिए इसे 'अनिवृत्ति--बादर--सम्पराय गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान मे रहा हुआ जीव, पुरुष हो, तो सत्ता की अपेक्षा पहले नपुसकवेद, फिर स्त्रीवेद, और बाद मे × हास्यादि छ, इसके बाद पुरुषवेद तथा सज्वलन के क्रोध, मान और माया को नष्ट कर देता है। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त है।

१० **सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान**—यहा सज्वलन के लोभ के दलिको का सूक्ष्म रूप से उदय होता है। इसकी स्थिति ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त की है।

× यदि वह स्त्री हुई, तो पहले नपुसक वेद, फिर पुरुष वेद, और उसके वाद हास्यादि ६, फिर स्त्री वेद को क्षय करेगा अर्थात् निज वेद बाद में क्षय होता है।

११ उपशान्त–कषाय वीतराग गुणस्थान—जिसने उपशम श्रेणी प्रारम की हो वह सभी कषायों को उपशान्त करके इस गुणस्थान में माता है। इस गुणस्थान में किसी भी कषाय=मोह का किञ्चित् भी उदय नहीं रहता सर्वथा उपशम हो जाता है। ऐसी आत्मा वीतराग दशा में होती है। किन्तु यह स्थिति थोड़ी ही देर रहती है। अन्तमुहूर्त में ही वह उस दशा से वापिस लौटती है। जिस प्रकार वह ऊपर चढ़ी थी उसी प्रकार नीचे उतरती है। होती होते कोई आत्मा मिथ्यात्व में पहुंच जाती है। यदि जीव क्षायक समकित हुआ हो तो वह चौथे गुणस्थान से नीचे नहीं आता। इस गुणस्थान से आगे बढ़ने का तो कोई मार्ग ही नहीं है केवल नीचे ही उतरना पड़ता है। जो क्षपकश्रेणी वाले जीव हैं वे इस गुणस्थान का स्पर्श ही नहीं करते। वे दसवें से सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तमुहूर्त की है।

१२ क्षीणमोहवीतराग गुणस्थान—सभी कषायों को सर्वथा क्षय करके —कर्म सेना के महारथी मोहराज को नष्ट करके आत्मा इस गुणस्थान को प्राप्त होती है। इसकी स्थिति मात्र अन्तमुहूर्त की ही है।

१३ सयोगी केवली गुणस्थान—मोहनीय कर्म के बाद ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म को सर्वथा क्षय करके आत्मा इस गुणस्थान को प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनजाती है। यहां जो भी प्रवृत्ति होती है वह कषाय–इच्छा से नहीं किन्तु मन वचन और काया के योग के कारण होती है। इसलिए इसे सयोगी केवली गुणस्थान कहा है। इसकी स्थिति ज० अन्तमुहूर्त उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व का है।

१४ अयोगी केवली गुणस्थान—सयोगी केवली भगवान् के मन वचन और काया के योगों का व्यापार रुक कर अयोगी हो जाना इस गुणस्थान में प्रवेश करना है। जब केवलज्ञानी भगवान् के आयु कर्म का क्षय होने का समय आता है तब वे योगों का निरुन्धन करके इस गुणस्थान में आते हैं और समवसरण करके देह छोड़कर सिद्धस्थान पर पहुँच जाते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति केवल पांच लघु अक्षर (अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारण जितनी ही है। इसके बाद देह छोड़कर सिद्ध हो जाते हैं।

सभी जीव मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्वी बने। सम्यक्त्वी देश विरत बने। देश विरत सर्व विरत बने। सर्व विरत अप्रमत्त बने। अप्रमत्त अकषायी सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनकर सिद्धदशा को प्राप्त करें। हम भी इस दशा को प्राप्त करें—यही भावना है।

अजीव तत्त्व

जिस तत्त्व मे जीव नही हो--जो जड स्वभाव वाला हो, वह अजीव कहलाता है। इसके मुख्य भेद दो है--१ रूपी २ अरूपी।

१० अरूपी अजीव के दस भेद हैं, जैसे–

३ धर्मास्तिकाय--जीव और पुद्गल के गति करने मे सहायक होने वाला--अरूपी अजीव द्रव्य। इसके तीन भेद है--१ धर्मास्तिकाय २ धर्मास्तिकाय के देश और ३ प्रदेश।

३ अधर्मास्तिकाय–स्थिर होने--ठहरने मे सहायक होने वाला उदासीन द्रव्य, इसके भी १ अधर्मास्तिकाय स्कन्ध २ देश और ३ प्रदेश--ये तीन भेद है।

३ आकाशास्तिकाय--जीव और अजीव द्रव्य को अवकाश देने वाला द्रव्य। इसके भी १ स्कन्ध २ देश और ३ प्रदेश भेद है।

१ काल--वर्त्तना लक्षण वाला--भूत, भविष्यादि तथा समयादि रूप।

४ रूपी अजीव के चार भेद है--१ स्कन्ध २ स्कन्धदेश, ३ स्कन्ध प्रदेश और ४ परमाणु पुद्गल। अजीव के ये १४ भेद है। इन्ही के विस्तार मे ५६० भेद इस प्रकार होते है –

अजीव के ५६० भेद

३० अरूपी अजीव के भेद।

१० भेद तो ऊपर बताये है, शेष २० भेद इस प्रकार है।

५ धर्मास्तिकाय--१ द्रव्य से एक द्रव्य, २ क्षेत्र मे सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त, ३ कालसे अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण से चलन सहायक गुण।

५ अधर्मास्तिकाय–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तो धर्मास्तिकाय के जैसे ही है, किन्तु गुण से स्थिति सहायक होना है।

५ आकाशास्तिकाय--१ द्रव्य से एक, २ क्षेत्र से लोक और अलोक मे व्याप्त, ३ काल मे अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण मे अवगाहन गुण।

५ काल--१ द्रव्य से अनेक (समय आवलिकादि रूप) २ क्षेत्र मे ढाई द्वीप प्रमाण (क्योकि

पर चन्द्र सूर्य का प्रभाव वहीं तक है जिससे मुहूर्त दिन वार आदि की गणना भी वहीं तक है) ३ काल से अनादि अनन्त ४ भाव से अरूपी ५ गुण से पर्याय परिवर्तन।

इस प्रकार अरूपी अजीव के कुल ३० भेद हुए।

५३० रूपी अजीव के भेद—

१०० संस्थान—आकृति विशेष। ये पाँच प्रकार के होते हैं जैसे—१ परिमंडल (चूड़ी की तरह गोल) २ वृत्त (कुम्हार के चक्र जैसा) ३ त्र्यस्र (त्रिकोण) ४ चतुरस्र (चार कोन वाला) और ५ आयत (दंड की तरह लम्बा) इन पाँचों संस्थानों में से प्रत्येक में ५ वर्ण २ गंध ५ रस और ८ स्पर्श होते हैं। एक संस्थान में ये २० भेद पाते हैं तो पाँचों संस्थान के १०० भेद हुए।

१०० वर्ण के—काला नीला लाल पीला और सफेद ये पाँच वर्ण होते हैं। प्रत्येक वर्ण में २ गंध ५ रस ८ स्पर्श और ५ संस्थान—ये २० भेद होते हैं इस प्रकार पाँच वर्ण के १०० भेद हुए।

४६ गंध के—१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध इन दो भेदों में से प्रत्येक में ५ वर्ण ५ रस ८ स्पर्श और ५ संस्थान—ये २३ भेद होते हैं। दोनों प्रकार की गन्ध के कुल ४६ भेद हुए।

१०० रस के—१ तिक्त २ कटु ३ कषाय ४ खट्टा और ५ मीठा—ये पाँच प्रकार के रस हैं। प्रत्येक रस में ५ वर्ण २ गंध ८ स्पर्श और ५ संस्थान ये २० भेद होते हैं। पाँचों रस के कुल १०० भेद हुए।

१८४ स्पर्श—१ कर्कश २ कोमल ३ हल्का ४ भारी ५ शीत ६ उष्ण ७ स्निग्ध और ८ रूक्ष—ये आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं। प्रत्येक के ५ संस्थान ५ वर्ण ५ रस २ गन्ध और ६ स्पर्श (एक स्वयं व एक विरोधी स्पर्श को छोड़कर) ये २३ भेद हुए। इस प्रकार आठ स्पर्श के २३×८=१८४ भेद हुए।

ये रूपी अजीव के ५३० भेद हुए। इस प्रकार रूपी और अरूपी अजीव के कुल ५६० भेद हुए।

पुण्य तत्त्व

पुण्य--जो आत्मा को पवित्र करे। जिससे सुख रूप फल की प्राप्ति हो, वह पुण्य कहलाता है। इसके ९ भेद है।

१ **अन्न पुण्य**--अन्नदान करने से होने वाला शुभ परिणाम।

२ **पान पुण्य**--पानी अथवा पीने की वस्तु देने से शुभ प्रकृत्ति का बँधना।

३ **वस्त्र पुण्य**--कपडा देने से होने वाला शुभ बन्ध।

४ **लयन पुण्य**--स्थान देने से होने वाला शुभाश्रव।

५ **शयन पुण्य**--बिछाने के लिए साधन देनें से होने वाला लाभ।

६ **मनः पुण्य**--गुणवानो को देखकर प्रसन्न होना अथवा दूसरो का हित चाहना।

७ **वचन पुण्य**--वाणी के द्वारा गुणवानो की प्रशसा करना, मीठे वचनो से दूसरो को सुख सतोष देना।

८ **कायपुण्य**--शरीर से दूसरो की सेवा भक्ति करना।

९ **नमस्कार पुण्य**--बडो को और योग्य पात्र को नमस्कार करने से होने वाला शुभबन्ध।

(ठाणाग ९)

उपरोक्त नौ प्रकार से पुण्य का सचय होता है। इस पुण्य बन्ध का फल, नीचे लिखे ४२ प्रकार से मिलता है।

१ सातावेदनीय २ उच्चगोत्र ३ मनुष्यगति ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ मनुष्यायु ६ देवगति ७ देवानुपूर्वी ८ देवायु ९ पञ्चेन्द्रिय जाति १० औदारिक शरीर ११ वैक्रिय शरीर १२ आहारक शरीर १३ तेजस शरीर १४ कार्मण शरीर १५ औदारिक अगोपाग १६ वैक्रिय अगोपाग १७ आहारक अगोपाग १८ वज्र ऋषभनाराच सहनन १९ समचतुरस्र सस्थान २० शुभ वर्ण २१ शुभ गन्ध २२ शुभ रस २३ शुभ स्पर्श २४ अगुरुलघु २५ पराघात २६ श्वासोच्छ्वास २७ आतप २८ उद्योत २९ शुभविहायोगति ३० निर्माण ३१ तीर्थंकर ३२ तिर्यचायु ३३ त्रसनाम ३४ बादर नाम ३५ पर्याप्त नाम ३६ प्रत्येक नाम ३७ स्थिर नाम ३८ शुभ नाम ३९ सुभग नाम ४० सुस्वर नाम ४१ आदेय नाम और ४२ यश कीर्ति नाम।

(प्रज्ञापना २३)

इस प्रकार नौ प्रकार से किये हुए पुण्य का ४२ प्रकार से शुभ फल प्राप्त होता है।

पाप तत्त्व

पुण्य से उल्टा पाप तत्त्व है। इससे आत्मा भारी एवं मैली होती है और इससे अशुभ कर्म का बन्ध होकर दुःख रूप फल की प्राप्ति होती है। पाप के १८ प्रकार इस तरह हैं।

१ प्राणातिपात—प्राणों का अतिपात करना—आत्मा से अन्य प्राणों का जुदा करना अर्थात् हिंसा करना। इसके तीन भेद हैं— १ परितापन=दुःख देना २ संक्लेश=क्लेश उत्पन्न करना और ३ विनाश=मार डालना।

२ मृषावाद—झूठ बोलना।

३ अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तु को लेना।

४ मैथुन—स्त्रि पुरुष या नपुंसक संबंधी भोग।

५ परिग्रह—ममत्व एवं आसक्ति पूर्वक धन आदि का रखना।

६ क्रोध—अप्रसन्न होना—तप्त हो जाना।

७ मान—अहंकार करना

८ माया—कपटाई करना।

९ लोभ—द्रव्य आदि प्राप्त करने की इच्छा।

१० राग—प्रिय वस्तु पर आसक्ति होना।

११ द्वेष—अप्रिय वस्तु पर दुर्भाव होना।

१२ कलह—लड़ाई झगड़ा करके क्लेश करना।

१३ अभ्याख्यान—झूठा कलंक लगाना।

१४ पैशुन्य—चुगली करना।

१५ परपरिवाद—दूसरों की निन्दा करना।

१६ रति अरति—अनुकूल विषयों में रुचि और प्रतिकूल विषयों में अरुचि होना।

१७ मायामृषा—कुटिलता पूर्वक झूठ बोलना

१८ मिथ्यादर्शन शल्य—झूठ—असत्य मत के शल्य को हृदय में स्थान देना।

(ठाणांग १ भगवती १–९)

उपरोक्त अठारह प्रकार से सेवन किये हुए पाप के अशुभ कर्मों का फल नीचे लिखे ८२ प्रकार से भुगतना पड़ता है।

५ आत्मा के ज्ञान गुण का घात करने वाली ज्ञानावरणीय कर्म की पाच प्रकृतिया (१ मति ज्ञानावरणीय, २ श्रुत० ३ अवधि० ४ मन पर्यव० और ५ केवलज्ञानावरणीय)। ६–१४ दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतिया (१ चक्षुदर्शनावरणीय २ अचक्षु० ३ अवधि० ४ केवलदर्शनावरणीय ५ निद्रा ६ निद्रानिद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानगृद्धि) १५ असातावेदनीय।

२६ मोहनीय कर्म की–१ क्रोध, २ मान, ३ माया और ४ लोभ ये चार अनन्तानुबन्धी, ५--८ ये ही चार अप्रत्याख्यान ९--१२ प्रत्याख्यानावरण १३--१६ सज्वलन, ये सोलह प्रकृतिया चार कषाय की हुई। १७--२५ नोकषाय के ९ भेद (१ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ दुगुन्छा ७ स्त्रीवेद ८ पुरुष वेद और ९ नपुसक वेद)और २६ मिथ्यात्व मोहनीय। ये ४१ हुई।

नामकर्म की ३५ प्रकृत्तिया १–५ वज्रऋषभनाराच सहनन को छोडकर शेष पाच सहनन (१ ऋषभ-नाराच २ नाराच ३ अर्धनाराच,४ कीलक और ५ सेवार्त) ६–१० समचतुरस्र को छोडकर पाच सस्थान (१ न्यग्रोधपरिमण्डल, २ स्वाति ३ वामन ४ कुब्ज और ५ हुडक) ११–२० स्थावर दसक (१ स्थावरनाम २ सूक्ष्मनाम ३ साधारणनाम ४ अपर्याप्तनाम ५ अस्थिर ३ अशुभ ७ दुर्भग ८ दु स्वर ९ अनादेय और १० अयश कीर्तिनाम) २१–२३ नरक त्रिक (१ नरकगति २ नरकानुपूर्वी ३ नरकायु) २४ तिर्यञ्चगति २५ तिर्यञ्चानुपूर्वी, २६ एकेन्द्रिय- जाति २७ द्वीन्द्रिय जाति २८ त्रीन्द्रिय २९ चौरेन्द्रिय जाति ३० अशुभ वर्ण ३१ अशुभ गध ३२ अशुभ रस ३३ अशुभ स्पर्श ३४ उपघात नाम ६५ अशुभविहायोगति

गोत्रकर्म की १ नीचगोत्र अन्तराय कर्म की पाच प्रकृतिया (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्नराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय)

ज्ञानावरणीय की ५ दर्शनावरणीय की ९ वेदनीय की १ मोहनीय की २६, नामकर्म की ३५ (नरकायुसहित) गोत्रकर्म की १ और अन्राय कर्म की ५ इस प्रकार ८२ प्रकार से पाप का फल भागना पडता है।

आश्रव तत्त्व

आस्रव-आत्मा में कर्म पुद्‌गलों के प्रवेश करने का मार्ग । कषाय और योग के द्वारा आत्मा में कर्म के आने को आस्रव कहते हैं । इनके २० भेद इस प्रकार हैं ।

१ मिथ्यात्व २ अविरति ३ प्रमाद ४ कषाय और ५ अशुभ योग ६ प्राणातिपात ७ मृषावाद ८ अदत्तादान ९ मैथुन १० परिग्रह ११–१५ पांच इन्द्रियों का विषय सेवन में स्वच्छन्द रखना (निग्रह नहीं करना) १६–१८ मन वचन और काया के योगों को अशुभ प्रवृत्ति करना १९ भण्डोपकरण अयतना से लेना व रखना और २० सूचीकुशाग्र (घास का तिनका भी) अयतना से लेना और रखना।

इस प्रकार आस्रव के २० भेद हुए किन्तु दूसरी अपेक्षा से आस्रव के ४२ भेद इस प्रकार होते हैं ।

५ इन्द्रिय ६–९ चार कषाय १०–१४ प्राणातिपातादि पांच अव्रत १५–१७ तीनयोग और १८–४२ पच्चीस क्रियाएँ (इनका स्वरूप आगे बताया जायगा) ।

दूसरी गणना में उपरोक्त भेदों में से पांच इन्द्रियों के ५ भेद नहीं दिये हैं किन्तु मिथ्यात्व आदि पांच भेद दिये हैं । ये सब कर्म पुद्‌गलों के आत्मा में प्रवेश करने के रास्ते हैं ।

संवर तत्त्व

संवर-कर्म आने के मार्गों का रोक देना संवर है । संवर तत्त्व के २० भेद आस्रव के २० भेदों से उल्टे हैं । जैसे–

१ सम्यक्त्व २ विरति ३ अप्रमत्तता ४ कषाय त्याग ५ अशुभ योगों का त्याग ६–१० प्राणातिपात विरमण यावत परिग्रह विरमण ११–१५ पांच इन्द्रियों का संवरण १६–१८ मन वचन और काया के योग को वश में रखना १९ भण्डोपकरण को यतना से उठाना और रखना और २० सूचीकुशाग्र मात्र यतना से लेना रखना ।

दूसरी अपेक्षा से संवर के ५७ भेद इस प्रकार हैं ।

५ समिति ६–८ तीन गुप्ति ९–३० बावीस परिषह ३१–४० दस यति धर्म ४१–५२ अनित्यादि बारह भावना और ५३–५७ सामायिकादि पांच चारित्र ।

यह संवर धर्म आत्मा का परम रक्षक एवं उपकारी है ।

निर्जरा तत्त्व

आत्मा के साथ बँधे हुए कर्मो को नष्ट करने वाली साधना को निर्जरा कहते है। इसके अन-शनादि बारह भेद है। इनका वर्णन 'तप धर्म' में विस्तार से किया जायगा।

बन्ध तत्त्व

आत्मा से साथ कर्मदलिक का बन्ध जाना–सम्बन्ध हो जाना–बन्ध कहलाता है। जिस प्रकार दूध में पानी मिलजाता है, सोने के साथ मिट्टी रहती है, तिल मे तेल होता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ कर्म पुद्गलो का बन्ध होता है। आत्मा के कषाय भाव और योग से आकर्षित होकर बँधने वाले मूल कर्म आठ प्रकार के होते है। यथा–

१ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्त-राय कर्म।

उपरोक्त आठ प्रकार के कर्म की उत्तर प्रकृतिया इस प्रकार है।

१ ज्ञानावरणीय कर्म–आत्मा के ज्ञान गुण को दवाने वाला कर्म। इसकी पाच प्रकृतियाँ है।

१ मतिज्ञानावरणीय–मति विभ्रम होना, सोचने विचारने और स्मृत्ति रखने की शक्ति का दवना

२ श्रुतज्ञानावरणीय–सुनने या पढने से होने वाले ज्ञान का रुकना।

३ अवधिज्ञानावरणीय–निकट या दूर के रूपी पदार्थो को इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना ही प्रत्यक्ष देखने की शक्ति का अवरुद्ध होना।

४ मन पर्यवज्ञानावरणीय–दूसरो के मनोगत भावो को जानने वाला ज्ञान नही होना।

५ केवलज्ञानावरणीय–सर्वज्ञता की प्राप्ति नही होना।

इस कर्म के बँधने के निम्न ६ कारण है।

१ ज्ञान और ज्ञानी की निन्दा करने से, २ ज्ञान का अथवा ज्ञानदाता का अपलाप करने से, ३ आशातना करने से, ४ ज्ञान देते लेते हुए के लिए बाधक बनने से, ५ ज्ञान या ज्ञानी पर द्वेष रखने

और ६ ज्ञानी के साथ झगड़ा करने से। इन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है।

इस कर्म का फल निम्न दस प्रकार से भुगतना पड़ता है।

५ मतिज्ञानादि पांच प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होना ६ बहिरापन ७ अन्धा होना ८ सूंघने की शक्ति नहीं मिलना ९ गूंगा होना और १० स्पर्श का अनुभव नहीं होना।

दूसरा प्रकार से इसका फल इस प्रकार है-श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों का बेकार होना और इन पांचों इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का रुकना।

२ दर्शनावरण-वस्तु के प्रारंभिक अथवा सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। इस दर्शन शक्ति को रोकने वाला कर्म-दर्शनावरण कर्म है। इस के नौ भेद इस प्रकार हैं-

१ चक्षुदर्शनावरण-आंख अथवा आंख से देखने की शक्ति को रुकने वाला।

२ अचक्षुदर्शनावरण-कान नाक जिम्हा और स्पर्श तथा मन से होने वाले दर्शन-सामान्य ज्ञान का बाधक।

३ अवधिदर्शनावरण- रूपी पदार्थों के इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही होने वाले दर्शन को रोकने वाला।

४ केवलदर्शनावरण- सर्वदर्शिता को अवरुद्ध करने वाला।

५ निद्रा-नींद आजाने से दर्शन में रुकावट होना।

६ निद्रानिद्रा-गाढ़ नींद आजाना।

७ प्रचला-बैठे हुए ऊंघने से।

८ प्रचलाप्रचला-रास्ते चलते हुए घोड़े की तरह नींद लेने से

९ स्त्यानगृद्धि-अत्यन्त गाढ़ निद्रा जिसमें दिन में सोचा हुआ काम निद्रावस्था में किया जाता है-एकदम बहादुर की तरह। इसमें शक्ति के अनुसार बड़ साहस के काम भी किये जाते हैं। नरकगामी जीव ही ऐसी निद्रा में होते हैं। इसका विशेष स्वरूप ग्रन्थ ग्रन्थों से जानना चाहिए।

ज्ञानावरणीय की तरह इसका बन्ध भी छः प्रकार से होता है। इसमें ज्ञान और ज्ञानी की जगह दर्शन और दर्शनी की निन्दा करना। इस प्रकार ज्ञान के स्थान पर दर्शन का व्यवहार करना चाहिए।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

३ वेदनीय कर्म—जिसके निमित्त से सुख और दुख का वेदन—अनुभव हो,वह वेदनीय कर्म है। इसके सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो भेद है।

सातावेदनीय—जो सुख पूर्वक वेदा जाय—जिससे सुख की प्राप्ति हो, इच्छानुकूल प्राप्ति हो।

सुखप्रद कर्म का उपार्जन निम्न लिखित शुभ क्रियाओ से होता है।

एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक के प्राण, भूत, जीव और सत्व की अनुकम्पा करने, उन्हे दुख नहीं देने, शोक नही पहुँचाने, और ताडना नही करने, नही रुलाने मे, त्रास नही देने से और नही मारने से, सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। (भगवती ८—६)

साता वेदनीय कर्म का फल आठ प्रकार से मिलता है। जैसे—

१ मन को आनन्द देनेवाले मधुर एव कोमल शब्द—स्वजन परिजनो की ओर से प्रेम एव आदर युक्त वचनो का सुनना, कर्ण प्रिय गान वादिन्त्रादि की प्राप्ति।

२ मोहक रूपो—दृश्यो की प्राप्ति—जितने भी दृश्य प्राप्त हो वे सुन्दर हो।

३ मनोहर गन्धो की प्राप्ति, ४ स्वादिष्ट रसो की प्राप्ति, ५ समयानुसार इच्छित स्पर्शों की प्राप्ति, ६ मन सुख—खुद का मन सुखकारी होना, ७ वचनसुख—खुद के वचन ऐसे होना कि जिससे सुनने वाले अनुकूल हो जायें और ८ काय सुख—नीरोग तथा सुन्दर शरीर की प्राप्ति (प्रज्ञापना २३)

असातावेदनीय—जो दुख पूर्वक भोगाजाय, जिससे प्रतिकूल विषय और अवस्था की प्राप्ति हो, वह असातावेदनीय है। इसका बन्ध, सातावेदनीय से उल्टी क्रिया—जीवो पर क्रूरता आदि से होता है और इसका फल भी अशुभ शब्दादि रूप मे दुखदायक ही होता है।

वेदनीय कर्म की स्थिति जघन्य १२ मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। यह सापरायिक बन्ध की अपेक्षा से है। उच्च चारित्रियो की अपेक्षा तो ईर्यापथिक बन्ध की स्थिति (जघन्य) दो समय की है।

४ मोहनीय कर्म—आत्मा को विवेक विकल बनानेवाला। जिस प्रकार शराब के नशे से मनुष्य हिताहित का विवेक नही रखकर अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के वश होकर आत्मा, अपने स्वरूप को भी भूल जाता है और दुराचार करता है। इसके मुख्य भेद दो और उत्तर भेद २८ है।

१ दर्शनमोहनीय—आत्मा के सत्य विवेक—यथार्थ समझ का बाधक। मिथ्या विश्वास मे फँसाने वाला, मिथ्या तत्त्वो पर विश्वास करने और सत्य सिद्धातो से विमुख रखनेवाला। अथवा हिताहित का विचार करने की शक्ति को ही दवा देने वाला। इसकी तीन प्रकृत्ति है,—

१ मिथ्यात्वमोहनीय—सम्यक्त्व की विरोधी, यथार्थ श्रद्धान् नही होने देनेवाली। लोक मे जितने

और ६ ज्ञानी के साथ झगड़ा करने से। इन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है।

इस कर्म का फल निम्न दस प्रकार से भुगतना पड़ता है।

५ मतिज्ञानादि पांच प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होना ६ बहिरापन,७ अन्धा होना ८ सूंघने की शक्ति नहीं मिलना ९ गूंगा होना और १० स्पर्श का अनुभव नहीं होना।

दूसरी प्रकार से इसका फल इस प्रकार है—श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों का बेकार होना और इन पांचों इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का रुकना।

२ दर्शनावरण—वस्तु के प्रारंभिक अथवा सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। इस दर्शन शक्ति को रोकने वाला कर्म—दर्शनावरण कर्म है। इस के नौ भेद इस प्रकार हैं—

१ चक्षुदर्शनावरण—आंख अथवा आंख से देखने की शक्ति को ढकने वाला।

२ अचक्षुदर्शनावरण—कान नाक जिह्वा और स्पर्श तथा मन से होने वाले दर्शन-सामान्य ज्ञान का बाधक।

३ अवधिदर्शनावरण—रूपी पदार्थों के इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही होने वाले दर्शन को रोकने वाला।

४ केवलदर्शनावरण—सर्वदर्शिता का अवरोध करने वाला।

५ निद्रा—नींद आजाने से दर्शन में रुकावट होना।

६ निद्रानिद्रा—गाढ़ नींद आजाना।

७ प्रचला—बैठे हुए ऊंघने से।

८ प्रचलाप्रचला—रास्ते चलते हुए घोड़े की तरह नींद लेने से

९ स्त्यानगृद्धि—अत्यन्त गाढ़ निद्रा जिसमें दिन में सोचा हुआ काम निद्रावस्था में किया जाता है—एकदम महाघ की तरह। इसमें शक्ति के अनुसार बड़े साहस के काम भी किये जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव तो इसी निद्रा में होते हैं। इसका विशेष स्वरूप अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए।

ज्ञानावरणीय की तरह इसका बन्ध भी छ प्रकार से होता है। इसमें दर्शन और दर्शनी की निन्दा करना। इस प्रकार ज्ञान के स्थान पर दर्शन का व्यवहार करना चाहिए।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

ससार बढता रहता है। जबतक इसका उदय रहता है तबतक वह मिथ्यात्वी ही रहता है। यह उग्र-रूप मे होता है, तब नरक गति का कारण है। इसके उग्रतम स्वरूप का स्थानाग ४ में इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पर्वत की दरार के समान होता है, जो फटने के बाद फिर नही मिलती।

मान—पत्थर के स्तभ के समान होता है, जो टूट जाय पर झुके नही।

माया—वास की कठिन टेडी जड के समान होती है, जो कभी सीधी नही हो सकती।

लोभ—किरमची + रग के समान पक्का होता है, जो कभी नही छूटता।

२ अप्रत्याख्यान चौक—इस चौक के उदय वाले के सम्यक्त्व हो भी सकती है, किन्तु देश विरति प्राप्त नही होती। इसके विशेष रूप से उदय होने पर तिर्यंचगति का कारण होता है। इस चौक की दशा के लिए निम्न उदाहरण है,—

क्रोध—सूखे हुए तालाब मे पडी हुई दरार की तरह, जो वर्षा होने पर पुन मिल जाती है। इस प्रकार का क्रोध प्रयत्न करने पर शान्त हो सकता है।

मान—हड्डी की तरह, जो विशेष प्रयत्न से नमती है।

माया—मेढे के टेढे सीग की तरह जो कठिनाई से सीधा होता है।

लोभ—कर्दमराग—हरा घास खाकर किया हुआ पशुओ का गोबर, कीचड मे मिल जाय और वह वस्त्र के लगजाय, तो उसका रग छूटना कठिन होता है।

३ अप्रत्याख्यानावरण चौक—जिसके उदय से श्रावक के देश व्रतो मे तो रुकावट नही होती, किन्तु सर्व त्यागी श्रमण धर्म की प्राप्ति नही हो सकती। यह मनुष्य गति तक ले जा सकता है। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

क्रोध—बालू मे खीची हुई लकीर की तरह, जो हवा के चलने से पुन मिल जाती है। इस प्रकार का क्रोध थोडे प्रयत्न से ही शान्त हो जाता है।

मान—उस लकडी के समान है जो थोडे प्रयत्न मे ही सीधी हो जाती है।

माया—चलते हुए बैल के मूत्र के समान, जो टेडा गिरते हुए भी थोडी देर मे सूख जाने से या वायु से उस पर धुल आजाने से मिट जाता है।

लोभ—दीपक के धूएँ से जमे हुए कोरे काजल की तरह, जिसकी कालिमा थोडे प्रयत्न से ही छूट जाती है।

+ कृमिरागरक्त का अर्थ ठाणांग ४-२ की टीका में—'रक्त पिलाकर पाले हुए कीड़े की लार के रग के समान' लिखा है।

भी जीव हैं, उनमें से अनन्तवां भाग ही इस मिथ्यात्वमोहनीय (दर्शन मोहनीय) के प्रभाव से वंचित हैं और जो वंचित हैं उनसे अनन्तगुण जीव इसके फन्दे में फँसे हुए हैं। अनन्त जीव ऐसे भी हैं जो इस दर्शनमोहनीय के फन्दे से न तो कभी निकले और न कभी निकलेंगे ही। वे सदा सर्वदा इसी के अधिकार में बने रहेंगे। इसके विशेष भेद मिथ्यात्व प्रकरण में बताये गये हैं।

मिश्रमोहनीय—अधकचरापन—कुछ सम्यक् कुछ मिथ्या परिणति। न तो एकदम मिथ्यात्वी होता न सम्यक्त्वी ही। दोनों प्रकार का असर—हिलमिल वृत्ति। यह स्थिति थोड़ी देर ही—अन्तर्मुहूर्त ही रहती है। इसके बाद या तो आत्मा मिथ्यात्व मोहनीय में चला जाता है या फिर सम्यक्त्वी हो जाता है। सादि मिथ्यात्वी का मिथ्यात्व गुणस्थान से ऊपर चढ़ते या चौथे गुणस्थान से नीचे उतरकर पहले में आते समय-मध्य में यह स्थिति रहती है।

सम्यक्त्व मोहनीय—क्षायिक सम्यक्त्व को रोकने वाली। इसके उदय से तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा तो होती है। यह सम्यक्त्व में बाधक नहीं है किन्तु यह वह स्थिति है कि जिसमें मिथ्यात्व के दलिक सर्वथा नष्ट नहीं होकर स्वच्छ रूप में भी कायम रहते हैं और जिनके कारण सम्यक्त्व में अतिचार लगते हैं।

इस प्रकार दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति हैं। इनमें से मिथ्यात्व मोहनीय का तो बन्ध होता है किन्तु मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय का बन्ध नहीं होता, क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के दलिक शुद्ध शुद्धतर होने से—विशुद्धि की अवस्था स्वरूप मानी गई हैं। अतएव बन्ध तो केवल एक मिथ्यात्व मोहनीय का ही होता है। ×

२ चारित्र मोहनीय—इससे सदाचार—शुद्धाचार—उत्तम आचार में रुकावट होती है। इसके मुख्य तीन भेद हैं — १ कषाय मोहनीय २ नो—कषाय मोहनीय और ३ वेद मोहनीय। (प्रज्ञापना २३—२ में नो—कषाय और वेद को मिलाकर नो—कषाय के ९ भेद किये हैं)

कषाय मोहनीय—कष का अर्थ संसार होता है और आय का अर्थ लाभ। जो संसार की प्राप्ति करे—संसार में परिभ्रमण करावे उसे कषाय कहते हैं। अथवा—जो आत्मा को कर्मैला—मलिन—विद्रूप करे उसे कषाय कहते हैं। कषाय चार हैं—१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ। इन चार कषायों की चार चौकड़ी होती हैं जिससे सोलह भेद बनते हैं। जैसे—

१ **अनन्तानुबन्धी चौक**—इसमें चारों कषाय का ऐसा प्रभाव होता है कि जिससे आत्मा का अनन्त

× प्रज्ञापना २३—२ में मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय का भी बन्ध होना लिखा है किन्तु वह स्थिति की अपेक्षा से है।

ससार वढता रहता है । जबतक इसका उदय रहता है तबतक वह मिथ्यात्वी ही रहता है । यह उग्र-रूप में होता है, तब नरक गति का कारण है । इसके उग्रतम स्वरूप का स्थानाग ४ मे इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है ।

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पर्वत की दरार के समान होता है, जो फटने के बाद फिर नही मिलती ।

मान—पत्थर के स्तभ के समान होता है, जो टूट जाय पर झुके नही ।

माया—बास की कठिन टेडी जड के समान होती है, जो कभी सीधी नही हो सकती ।

लोभ—किरमची + रग के समान पक्का होता है, जो कभी नही छूटता ।

२ अप्रत्याख्यान चौक—इस चौक के उदय वाले के सम्यक्त्व हो भी सकती है, किन्तु देश विरति प्राप्त नही होती । इसके विशेष रूप से उदय होने पर तिर्यंचगति का कारण होता है । इस चौक की दशा के लिए निम्न उदाहरण है,—

क्रोध—सूखे हुए तालाब मे पडी हुई दरार की तरह, जो वर्षा होने पर पुन मिल जाती है । इस प्रकार का क्रोध प्रयत्न करने पर शान्त हो सकता है ।

मान—हड्डी की तरह, जो विशेष प्रयत्न से नमती है ।

माया—मेढे के टेढे सीग की तरह जो कठिनाई से सीधा होता है ।

लोभ—कर्दमराग--हरा घास खाकर किया हुआ पशुओ का गोबर, कीचड मे मिल जाय और वह वस्त्र के लगजाय, तो उसका रग छूटना कठिन होता है ।

३ अप्रत्याख्यानावरण चौक—जिसके उदय से श्रावक के देश व्रतो मे तो रुकावट नही होती, किन्तु सर्व त्यागी श्रमण धर्म की प्राप्ति नही हो सकती । यह मनुष्य गति तक ले जा सकता है । इसका स्वरूप इस प्रकार है ।

क्रोध—बालू मे खीची हुई लकीर की तरह, जो हवा के चलने से पुन मिल जाती है । इस प्रकार का क्रोध थोडे प्रयत्न से ही शान्त हो जाता है ।

मान—उस लकडी के समान है जो थोडे प्रयत्न मे ही सीधी हो जाती है ।

माया—चलते हुए बैल के मूत्र के समान, जो टेडा गिरते हुए भी थोडी देर मे सूख जाने से या वायु से उस पर धुल आजाने से मिट जाता है ।

लोभ—दीपक के धूएँ से जमे हुए कोरे काजल की तरह, जिसकी कालिमा थोडे प्रयत्न से ही छूट जाती है ।

+ कृमिरागरक्त का अर्थ ठाणाग ४-२ की टीका में—'रक्त पिलाकर पाले हुए कीड़े की लार के रग के समान' लिखा है ।

४ संज्वलन चौक—जिसके उदय से श्रमण निर्ग्रंथ में भी किञ्चित् कषाय की परिणति हो जाती है। यह स्थिति साधु धर्म के लिए बाधक नहीं होती। इसमें रहते हुए प्रथम के चार चारित्र तक की प्राप्ति हो सकती है किन्तु यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। इसमें रहे हुए जीव के देवगति के योग्य बन्ध होता है। इसका परिचय इस प्रकार है।

क्रोध—पानी में खींची हुई लकीर के समान जो खींचने के साथ ही मिल जाती है।

मान—बेंत की लकड़ी के समान—जो सहज ही नम जाती है।

माया—बांस की लकड़ी के छिलके के समान शीघ्र सीधी होने वाली।

लोभ—हल्दी के रंग की तरह सहज ही में मिट जाने वाला।

इस प्रकार चारों कषाय के चार चौक के १६ भेद हुए।

कषायों के उदय की स्थिति—अनन्तानुबन्धी की जीवन पर्यन्त अप्रत्याख्यानी की एक वर्ष प्रत्याख्यानी की चार महीने और सज्वलन की पन्द्रह दिन की बताई जाती है यह 'कर्मग्रंथ' भाग १ गा १८ के अनुसार है। यह स्थिति व्यवहार नय से बताई होगी। निश्चय से तो प्रत्येक कषाय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है—ऐसा प्रज्ञापना पद १८ में मिलता है।

सज्वलन कषाय की उत्कृष्ट स्थिति—परिवर्तित रूप में देशोनक्रोड़पूर्व की—सामायिक आदि चारित्र के समान है।

सज्वलन के क्रोध की बन्ध स्थिति जघन्य दो महीने की मान की एक महीने की माया की पन्द्रह दिन की और लोभ की अन्तर्मुहुर्त की पन्नवणा पद २३ में लिखी है।

नोकषाय मोहनीय—जिनका उदय कषाय के उदय के साथ होता है अथवा जो कषाय को उत्तेजित करने वाली है उसे नोकषाय कहते हैं। इसके ६ भेद इस प्रकार हैं—

१ हास्य मोहनीय (हँसी आने वाली) २ रति मो० (अनुराग होना) ३ अरति मो० (अप्रीति कारक—अरुचि) ४ भय मो ५ शोक मो० और ६ जुगप्सा मोहनीय—घृणा।

वेद मोहनीय—भोगेच्छा। इसके तीन भेद हैं—१ स्त्री वेद—पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा २ पुरुषवेद—स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा और ३ नपुंसक वेद—स्त्री तथा पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा।

उपरोक्त तीन वेद को भी नोकषाय मोहनीय में गिनकर नोकषाय मोहनीय के कुल ९ भेद स्थानांग ९ तथा समवायांग २८ में बताये हैं। इस प्रकार चारित्रमोहनीय के २५ भेद हुए। इनमें दर्शन मोहनीय के ३ भेद मिलाने से मोहनीय कर्म के कुल २८ भेद हुए। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की है।

मोहनीय कर्म का बन्ध, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, तीव्र दर्शनमोहनीय और तीव्र चारित्र मोहनीय से होता है और इसके फल स्वरूप जीव सम्यक्त्व तथा चारित्र से वचित रहता है।

५ आयु कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव, किसी शरीर मे रहकर जीता रहता है और क्षय होने पर मर जाता है, उसे आयु कर्म कहते है। अथवा आयु कर्म वह है, जिसके उदय से जीव, एक गति से दूसरी गति में जाकर शरीर धारण करता है। यह कर्म कारागार के समान है, जहाँ न तो अपनी इच्छा से रहा जाना है, न छुटकारा ही होता है। गति मे गमन--जन्म भी आयुकर्म के उदय से होता है और मरण, आयु के क्षय होने मे होता है। गति की अपेक्षा इसके चार भेद है।

१ नरकायु २ तिर्यञ्चायु ३ मनुष्यायु और ४ देवायु।

चारो प्रकार का आयु बन्ध, निम्न कारणो से होता है।

नरकायु का बन्ध—१ महान् आरभ करने से। जिससे बहुत से प्राणियो की हिंसा हो। हिंसा के तीव्र परिणाम हो।

२ महान् परिग्रह—असीम लोभ। अत्यन्त तृष्णा।

३ पञ्चेन्द्रिय वध—पाच इन्द्रिय वाले जीवो की हिंसा करना।

४ कुणिमाहार—मास भक्षण करना।

तिर्यञ्चायु बध—१ मायाचार—मनमें कुटिलता और मुह से मीठापन।

२ निकृतिवाला—दाभिक प्रवृत्ति से दूसरो को ठगना।

३ झूठ बोलना।

४ खोटे तोल माप करना।

मनुष्यायु बध—१ भद्र प्रकृति २ विनीत स्वभाव ३ करुणा भाव ४ अमत्सर—ईर्षा एव डाह नही करना।

देवायु के कारण—१ सराग सयम २ देश विरति ३ अकाम निर्जरा—पराधीन होकर कष्ट सहन करना, और ४ अज्ञान तप। (ठाणाग ४-४, उववाई)

आयुकर्म की स्थिति, देव और नारक की अपेक्षा, जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है, तथा मनुष्य और तिर्यञ्च की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

नाम कर्म—जिसके कारण जीव, भिन्न भिन्न नामो से पहिचाना जाता है, जिसके कारण उसकी आकृति आदि में भिन्नता होती है, जो कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार—चित्र कलाविद् की तरह जीव को बाहरी साज सजाता है—वह नाम कर्म कहलाता है। नाम कर्म के मूल ४२ भेद इस प्रकार है,—

चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ

१ गति नाम— नरकगति तिर्यंचगति मनुष्य गति और देवगति ।
२ जातिनाम— एकेन्द्रिय बेन्द्रिय तेइन्द्रिय चौरेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जाति ।
३ तनुनाम—औदारिक शरीर वैक्रय शरीर आहारक शरीर तैजस शरीर और कामण शरीर।
४ अंगोपांग नाम—शरीर के मस्तक आदि अंग और उंगली आदि उपांग ।
(ये तैजस और कार्मण शरीर के नहीं होते शेष तीन के ही होते हैं)
५ बन्धन नाम—पाँचों प्रकार के शरीर के पूर्व ग्रहण किये हुए पुद्गलों के साथ वर्तमान पुद्—गलों का बंधना ।
६ संघात नाम—औदारिकादि शरीर परिणत पुद्गलों को बन्धन के योग्य स्थान के निकट लाकर रखनेवाला जिससे बन्धन को प्राप्त हो सके ।
७ संहनन नाम—इसके छ भेद इस प्रकार हैं —
१ वज्र—ऋषभ—नाराच संहनन—वज्र=कीला ऋषभ=पाटा नाराच=वेष्टन अर्थात् —मर्कट बन्ध से बँधी हुई दो हड्डियों के ऊपर वेष्टन होकर, कीले से मजबूत बना हुआ शरीर ।
२ ऋषभ—नाराच संहनन—इसमें वज्र=कीला नहीं होता शेष प्रथम के अनुसार ।
३ नाराच संहनन—दो हड्डियों का केवल मर्कट बन्ध ही होता है ।
४ अर्ध नाराच—एक ओर मर्कट बन्ध और दूसरी ओर मेख हो ।
५ कीलिका—जिस शरीर की हड्डियाँ मेख से जुड़ी हुई हों ।
६ सेवार्त—बिना कील के योंही जुड़ी हुई हड्डियाँ ।
८ संस्थान नाम—इसके भी ६ भेद हैं —
१ सम चतुरस्र संस्थान (चौकोण आकृति वाला) अर्थात् सर्वांग सुन्दर हो ।
२ न्यग्रोध परिमण्डल—जिसमें नाभि के ऊपर के अंग पूर्ण हों और नीचे के हीन हों ।
३ सादि संस्थान नीचे के अंग पूर्ण हों किन्तु ऊपर के हीन हों ।
४ कुब्ज सं०—जिसकी छाती पीठ और पेट हीन हो ।
५ वामनसं०—हाथ आदि अंग हीन हों जिसमें हाथ पैर छोटे हों और बीच का अंग पूर्ण हो ।
६ हुण्ड संस्थान—जिसके सभी अवयव बेडौल हों ।
९ वर्ण नाम—१ काला २ नीला ३ लाल ४ पीला और ५ श्वेत। इन वर्णों वाला शरीर होना ।
१० गन्ध नाम—१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध वाला शरीर होना।

११ रसनाम–१ तिक्त २ कटु ३ कसैला ४ खट्टा और ५ मीठा, इन रसो वाला शरीर होना।

१२ स्पर्शनाम–१ खर २ कोमल ३ हल्का ४ भारी ५ शीत ६ उष्ण ७ स्निग्ध और ८ रुक्ष, स्पर्श होना।

१३ आनुपूर्वी नाम--एक भव से दूसरे भव मे ले जाने वाला कर्म। इसके चार भेद है--१ देवानुपूर्वी २ मनुष्यानुपूर्वी ३ तिर्यञ्चानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी। (सरल--ऋजु गति से जाने वाले के यह कर्म नही होता।)

१४ विहायोगति--चाल, जो शुभ और अशुभ--यो दो प्रकार की होती है।

उपरोक्त चौदह पिण्ड प्रकृतियो की उत्तर प्रकृतियाँ ६५ है। जैसे--

गति	जाति	तनु	अगोपाग	बन्धन	सघातन	सहनन	सस्थान	वर्ण	गध	रस	स्पर्श
४	५	५	३	५	५	६	६	५	२	५	८

आनुपुर्वी, और	विहायोगति ये कुल ६५ हुई।
४	२

प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ

१ पराघात नामकर्म--वलवानो पर भी विजय प्राप्त कराने वाला।

२ उच्छ्वास नाम–श्वासोच्छ्वास लब्धि युक्त होना।

३ आतप नाम--बिना उष्ण स्पर्श के भी उष्ण प्रकाशक शरीर होना। सूर्य मण्डल के वादर पृथ्वी काय के शरीर को ही यह कर्म होता है।

४ उद्योत नाम--शीतल प्रकाश फैलाने वाला। यह कर्म लब्धिधारी मुनि के वैक्रेय शरीर वनाने पर, देवो के उत्तर वैक्रेय शरीर और चन्द्र तथा तारा मण्डल के पृथ्वी कायिक जीवो के शरीर मे होता है। जुगनू, रत्न तथा प्रकाशवाली औषधी के भी इस कर्म का उदय होता है।

५ अगुरुलघुनाम--जिससे शरीर न तो भारी हो और न हलका हो।

६ तीर्थंकरनाम--तीर्थंकर पद की प्राप्ति कराने वाला। इसके २० कारण अन्यत्र बताये है।

७ निर्माण नाम--अग और उपाग का अपने अपने स्थान पर व्यवस्थित होना।

८ उपघात नाम–अपने ही अवयवो से दुख पाना, जैसे–पटजीभ, चोरदात, छठी अगुली आदि।

त्रस दशक

१ त्रस नाम २ बादरनाम ३ पर्याप्त ४ प्रत्येक ५ स्थिर ६ शुभ ७ सुभग–सौभाग्य ८ सुस्वर ९ आदेय–जिसके वचन मान्य करने योग्य हों और १० यशःकीर्ति नाम कर्म ।

स्थावर दशक

१ स्थावर नाम २ सूक्ष्म ३ अपर्याप्त ४ साधारण ५ अस्थिर ६ अशुभ ७ दुर्भग–दुर्भाग्य–जिसका उपकार करते हुए भी अप्रिय लगे ८ दुःस्वर ९ अनादेय–जिसकी सही बात भी कोई नहीं माने और १० अयशःकीर्ति नाम कर्म ।

इस प्रकार पिण्ड प्रकृति प्रत्येक प्रकृति त्रस दशक स्थावर दसक य ४२ प्रकृतियां हुई। पृथक
१४ ८ १० १०
पृथक गिनने पर ये ही प्रकृतियाँ ९३ होती है । जैसे–चौदह पिण्ड प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियाँ प्रत्येक त्रस दसक स्थावर दसक । ६५ ८
१० १०

अन्य गणना के अनुसार १०३ प्रकृतियाँ होती है वे इस प्रकार है–

उपरोक्त ९३ प्रकृतियों में से बन्धन नाम कर्म की पाँच प्रकृतियाँ है यदि बन्ध की निम्न लिखित १५ गिनी जाय तो १०३ भेद होंगे ।

१ औदारिक औदारिक बन्धन नाम २ औदारिक तैजस बन्धन नाम ३ औदारिक कार्मण बन्धन नाम ४ वैक्रिय वैक्रिय बन्धन नाम ५ वैक्रिय तैजस ६ वैक्रिय कार्मण ७ आहारक आहारक ८ आहारक तैजस ९ आहारक कार्मण १० औदारिक तैजस कार्मण बन्धन ११ वैक्रिय तैजस कार्मण १२ आहारक तैजस कार्मण १३ तैजस तैजस १४ तैजस कार्मण और १५ कार्मण कार्मण बन्धन नाम । पूर्वोक्त ८८ में ये १५ जोड़ देने पर कुल १०३ भेद हुए ।

अशुभ नाम कर्म का बन्ध काया की वक्रता भाषा की वक्रता व विसंवादन योग से होता है और अशुभ नाम कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है । शुभ नाम कर्म का बन्ध इससे उल्टा–काया की सरलतादि कारणों से होता है ।

शुभ नाम कर्म का फल चौदह प्रकार का होता है–१ इष्ट शब्द २ इष्ट–रूप ३ गंध ४ रस ५ स्पर्श ६ गति ७ स्थिति ८ लावण्य ९ यशःकीर्ति १० उत्थान–बल–वीर्य–पुरुषाकार पराक्रम

११ ईष्ट स्वरता १२ कान्त स्वरता १३ प्रिय स्वरता और १४ मनोज्ञ स्वरता है। अशुभ नाम कर्म का फल इससे उलटा है।

७ गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव ऊँच या नीच माना जाय। यह कर्म कुंभकार के बनाये हुए घड़े के समान है। एक ही प्रकार की मिट्टी से बना हुआ एक घड़ा, कलश के रूप में अक्षत आदि से पूजा जाता है और दूसरा मदिरादि अपवित्र वस्तु भरने के काम मे आने से निन्द्य होता है। अथवा बिना अपवित्र वस्तु भरे ही उस प्रकार का होने से निन्द्य कहलाता है। जाति कुल आदि की अपेक्षा से ऊँच नीच होना, इसी कर्म का फल है। इसके १ उच्च गोत्र और २ नीच गोत्र—ऐसे दो भेद हैं।

उच्च गोत्र के उदय से जीव, धन, रूप आदि से हीन होता हुआ भी, ऊँचा माना जाता है और नीच गोत्र के उदय से धन, रूप, बल आदि होते हुए भी नीचा माना जाता है। गोत्र कर्म बन्ध के निम्न आठ कारण है,—

१ जाति २ कुल, ३ बल, ४ रूप, ५ तप, ६ श्रुत, ७ लाभ, और ८ ऐश्वर्य—इन आठ का मद-घमण्ड करनेवाले को नीच गोत्र की प्राप्ति के योग्य बन्ध होता है। और मद नही करने वाले के ऊँच गोत्र का बन्ध होता है।

नाम कर्म और गोत्र कर्म की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की है।

८ अन्तराय कर्म—जिसके उदय से जीव की दान लाभ, भोग आदि इच्छा तथा शक्ति मे बाधा उत्पन्न होती है, उसे अन्तराय कर्म कहते है। यह कर्म राजा के कोषाध्यक्ष की तरह है। राजाज्ञा होने पर भी कोषाध्यक्ष, बहाना बनाकर टाल देता है। इसी प्रकार जीव की इच्छा होने पर भी अन्तराय कर्म बाधक बन जाता है। इसके पाँच भेद हैं।

१ दानान्तराय--दान करने की वस्तु और योग्य पात्र होते हुए तथा दान का महत्त्व जानते हुए भी जिस कर्म के उदय से दान नही दिया जा सके।

२ लाभान्तराय--दाता उदार हो, उसके पास वस्तु भी हो, याचक भी योग्य हो, तो भी लाभ प्राप्ति नही हो सकना—लाभान्तराय कर्म का उदय है।

३ भोगान्तराय--भोग के साधन उपस्थित हो, भोग की इच्छा भी हो--त्याग भाव नही हो, फिर भी भोग से वंचित रखनेवाला कर्म।

४ उपभोगान्तराय--उपभोग मे बाधक होने वाला कर्म।

५ वीर्यान्तराय—नीरोग, युवक और बलवान होते हुए भी, एक छोटे से छोटा काम भी नही कर सकना, वीर्यान्तराय कर्म के उदय का परिणाम है। इसकी अवान्तर प्रकृतियाँ तीन इस प्रकार है,—

बाल वीर्यान्तराय—इच्छा और सामर्थ्य होते हुए भी सांसारिक कार्य नहीं कर सकना।
पण्डित वीर्यान्तराय—सम्यग्दृष्टि और मोक्ष की अभिलाषा रखते हुए भी उसकी साधना नहीं कर सके ऐसा निग्रंथ धर्म की साधना में बाधक होने वाला।
बाल पण्डित वीर्यान्तराय—देश विरति रूप श्रावक धर्म के पालन की इच्छा रखता हुआ भी जिसके उदय से पालन नहीं कर सके।

इस कर्म का बन्ध दानादि पांच का बाधक होने—किसी को अन्तराय देने से होता है और उसका उपरोक्त फल होता है। इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट तीस कोडाकोड़ी सागरोपम की है।

उपरोक्त आठ कर्मों का बन्ध चार प्रकार से होता है। जैसे —

१ प्रकृति बन्ध—स्वभाव की भिन्नता जैसे कोई कर्म ज्ञान गुण को ढकता है तो कोई दर्शन गुण को और कोई सुख को। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकृति का बन्ध होना।

२ स्थिति बन्ध—कर्म के आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा।

३ अनुभाग बन्ध—इसे 'रस बन्ध' भी कहते हैं। इसके अनुसार फल का अनुभव—न्यूनाधिक रूप से होता है।

४ प्रदेश बन्ध—कर्म के दलिकों का न्यूनाधिक होना।

इस प्रकार चार प्रकार से बन्ध होता है। बन्ध होना अर्थात्—आत्मा के साथ कर्मों का—दूध और पानी की तरह अथवा मिट्टी और सोने की तरह मिलना है। यह बन्ध तत्त्व आत्मा की पराधीन दशा बताता है। कर्म सिद्धांत इसी तत्त्व में रहा हुआ है। इसके लिए तो अनेक ग्रंथ हैं। यहां संक्षेप में इतना वर्णन किया गया है।

मोक्ष तत्त्व

मोक्ष—आत्मा का जड़ कर्मों के बन्ध से मुक्त होकर स्वतन्त्र रहना परमात्मा दशा को प्राप्त कर लेना—मोक्ष तत्त्व है। श्री सिद्ध भगवान् ऐसी दशा की प्राप्ति मोक्ष तत्त्व में होती है। इसके निम्न लिखित चार कारण हैं।

१ सम्यग्ज्ञान २ सम्यग् दर्शन ३ सम्यक् चारित्र और ४ सम्यक् तप। इन चारों का विशद वर्णन हो यह ग्रंथ है।

मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी

१ चार गति में से केवल मनुष्य गति ही मोक्ष के योग्य है।

२ त्रस काय ही मोक्ष के योग्य है। ३ पाच जाति मे से केवल पचेन्द्रिय ही। ४ सज्ञी जीव ही। ५ भव सिद्धिक जीव ही। ६ क्षायिक सम्यक्त्वी ही। ७ अवेदी ही। ८ अकषायी ही। ९ यथाख्यात चारित्री ही। १० केवलज्ञानी ही। ११ केवल दर्शनी ही। १२ अनाहारक ही १३ अयोगी ही। १४ अलेशी ही मोक्ष के योग्य है।

सिद्ध के पन्द्रह भेद

सिद्ध भगवान् नीचे लिखे पन्द्रह भेदो से सिद्ध होते है।

१ तीर्थ सिद्ध–जिनेश्वर भगवत द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना और निर्ग्रंथ प्रवचन का प्रवर्त्तन होने के बाद जो सिद्ध हो–तीर्थ की विद्यमानता मे सिद्ध हो–वे तीर्थ सिद्ध है।

२ अतीर्थ सिद्ध–तीर्थ स्थापना के पूर्व अथवा तीर्थ विच्छेद होने के बाद सिद्ध होते है, वे अतीर्थ सिद्ध कहलाते है। मरुदेवी माता, तीर्थ स्थापना के पूर्व ही सिद्ध हो गये थे और भगवान् सुविधिनाथ से लेकर भगवान् धर्मनाथ तक सात तीर्थकरो के शासन मे कुछ कुछ समय के लिए तीर्थ विच्छेद हो गया था, उन तीर्थ विच्छेदो के समय (भग० २०–८) जो सिद्ध हुए–वे अतीर्थ सिद्ध है।

३ तीर्थंकर सिद्ध– तीर्थंकर पद प्राप्त कर सिद्ध होने वाले।

४ अतीर्थंकर सिद्ध–तीर्थकर पद प्राप्त किये बिना ही सिद्ध होने वाले सामान्य केवली।

५ स्वयंबुद्ध सिद्ध–बिना किसी के उपदेश के अपने आप धर्म को प्राप्त करके सिद्ध होने वाले। ये तीर्थंकर भी होते है और दूसरे भी। इस भेद मे तीर्थकर व्यतिरिक्त ही लेने चाहिए।

६ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध– बिना किसी के उपदेश से, किसी बाह्य निमित्त को देखकर ससार त्यागकर मोक्ष प्राप्त करने वाले।

स्वयबुद्ध सिद्ध को किसी बाहरी निमित्त की आवश्यकता नही होती, किन्तु प्रत्येक बुद्ध किसी बाह्य निमित्त से प्रेरित होकर दीक्षा लेते है। जैसे नामिराजर्षि कगन से, समुद्रपालजी चोर से, इत्यादि। ये अकेले ही विचरते है।

७ बुद्ध बोधित सिद्ध–गुरु के उपदेश से बोध प्राप्त करके दीक्षित होकर सिद्ध होने वाले।

८ स्त्रीलिंग सिद्ध–स्त्री लिग से सिद्ध होने वाले। ऐसी आत्मा स्त्री शरीर एव वेश से सिद्ध होती है, किन्तु स्त्री वेद से नही, क्योकि जो सिद्ध होते है वे अवेदी होने के बाद ही होते है–किसी भी प्रकार के वेद के उदय मे सिद्ध नही हो सकते।

९ **पुरुष लिंग सिद्ध**—पुरुषाकृति से सिद्ध होने वाले।

१० **नपुंसक लिंग सिद्ध**—नपुंसक शरीर से सिद्ध होने वाले।

११ **स्वलिंग सिद्ध**—साधु के वेश—रजोहरण मुखवस्त्रिकादि युक्त सिद्ध होने वाले।

१२ **अन्य लिंग सिद्ध**—परिव्राजकादि अन्य वेश में रहते हुए सिद्ध होने वाले। इनके द्रव्यलिंग दूसरा रहता है भावलिंग=श्रद्धादि तो अवश्य स्व ही होता है। भावलिंग अन्य होने पर कदापि सिद्ध नहीं हो सकते—वे सम्यक्त्वी भी नहीं हो सकते तब सिद्ध तो हो ही कैसे सकते हैं ? द्रव्यलिंग भी अन्य रहता है वह समय की स्वल्पता के कारण। जिन अन्यलिंगी मिथ्यादृष्टियों को सम्यक्त्व प्राप्त होते ही साधुता और क्षपक श्रेणी का आरोहण—क्रमशः होकर केवलज्ञान हो जाय और मोक्ष प्राप्त करले वे अन्यलिंग सिद्ध होते हैं। उन्हें लिंग परिवर्तन की अनुकूलता और आवश्यकता नहीं रहती है। ऐसे पात्र 'असोच्चा केवली' भी कहलाते हैं और जब तक वे स्वलिंगी नहीं होते—व्यवहार धर्म में नहीं आते तब तक वे उपदेशदान या प्रव्रज्या दान भी नहीं करते। यदि कोई उनके पास शिष्य बनने के लिए आवे तो वे कह देते हैं कि 'अमुक के पास दीक्षा ग्रहण करो'। (भगवती ६-३१) इसका कारण यह कि व्यवहार धर्म का प्रचलन व्यवहार के अनुरूप ही होना चाहिए जिससे मोक्षमार्ग उज्ज्वल रहे—निर्मल रहे एवं प्रतिष्ठा के योग्य रहे। यदि इसका पालन नहीं हो और मिथ्यात्वियों के लिंग में रहकर ही उपदेश और दीक्षा होती रहे तो इससे व्यवहार धर्म का लोप होने के साथ ही मिथ्यात्व की अनुमोदना होती है। एक समझदार व्यक्ति ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करता कि जिससे उसके अनुकरण से बुराई फैले तब केवलज्ञानी भगवन्त व्यवहार धर्म का लोप कैसे कर सकते हैं ? व्यवहार धर्म के निर्वाह के लिए ही तो भरतेश्वर ने गृहस्थावस्था में केवलज्ञान होने के बाद सभी अलंकारों का त्याग किया केशलुंचन और गृहत्याग कर दिया (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) यह व्यवहार धर्म के पालन का उत्तम उदाहरण है। अतएव इन सब अपेक्षाओं को छोड़कर जो इस भेद को लेकर भ्रम फैलाते हैं वे सुज्ञ नहीं हैं।

१३ **गृहस्थलिंग सिद्ध**—मरुदेवी माता की तरह गृहस्थलिंग में रहते हुए सिद्ध होने वाले।

अन्यलिंग और गृहस्थलिंग—मोक्ष के लिए साधनभूत नहीं है इसीलिए इन्हें मोक्ष के साधक ऐसे 'स्वलिंग' से भिन्न बतलाया। 'स्वलिंग' का अर्थ ही मोक्ष साधना का अपना अंग है। इसकी उपयोगिता के कारण ही जिनेश्वर भगवंतों ने आगमों में इसका विधान किया और लोगों की प्रतीति संयम यात्रा तथा ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए स्वलिंग की आवश्यकता स्वीकार की है (उत्तरा २३-३२)। 'स्वलिंग' राजमार्ग—धोरीमार्ग है तब अन्यलिंग और गृहस्थलिंग आपवादिक—विकट और सरल नहीं माननेवाली उपेक्षणीय स्थिति है। अन्यलिंग विधवा के पुत्र की तरह है और गृहलिंग कुमारिका के

पुत्र की तरह है। स्वलिग मे एक समय मे १०८तक सिद्ध होसकते है, तब अधिक से अधिक अन्यलिग मे १० तथा गृहस्थलिग मे ४ ही सिद्ध हो सकते है। (उत्तरा० ३६) यही इसकी आपवादिक स्थिति का प्रमाण है।

१४ एक सिद्ध–एक समय मे एक ही सिद्ध होने वाले।

१५ अनेक सिद्ध–एक समय में एक से अधिक सिद्ध होने वाले। (प्रज्ञापना–१)

उपरोक्त भेद सिद्ध होते समय की अवस्था को बतलाते है। इमसे सिद्ध भगवतो के स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता। सभी सिद्ध भगवन्त अपनी आत्म ऋद्धि से समान ही है। उनके ज्ञान, दर्शन, उपयोग आदि मे किसी प्रकार का अन्तर नही है।

सिद्ध भगवन्त, ऊर्ध्व लोक मे–लोकाग्र पर स्थित है। 'सिद्धशिला' नामकी एक पृथ्वी जो मनुष्य क्षेत्र के अनुसार पेनालीस लाख योजन विस्तार वाली है, उसके ऊपर, उत्सेधागुल के नाप से देशोन एक योजन लोकान्त है। उस योजन के ऊपर के कोश के छठे हिस्से मे (३३३⅓ धनुष्य परिमाण) लोकाग्र से सटकर सिद्ध भगवन्त रहे हुए है (भगवती १४–८) जिस जगह एक सिद्ध है, उसी जगह अनन्त सिद्ध है। सारा क्षेत्र सिद्धभगवन्तो से व्याप्त है। सभी सिद्ध भगवन्तो मे पारिणामिक एव क्षायिक भाव रहा हुआ है। शरीर एव ससार सम्बन्धी, जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, आदि समस्त दु खो से रहित, अनन्त आत्मानन्द मे सदा लीन रहते है।

यह मोक्ष तत्त्व अन्तिम है। मुमुक्षुओ के लिए आराध्य है। इसकी आराधना, सवर और निर्जरा तत्त्व के द्वारा होती है। जो आत्मार्थी, सवर और निर्जरा के साधन से मोक्ष की साधना करेगे, वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करके आराधक से आराध्य बन जावेगे।

इन नौ तत्त्वो मे हेय, ज्ञेय और उपादेय की गणना भिन्न प्रकार से है। नव तत्त्व के विस्तृत वर्णन में अनेक दृष्टियो से इन पर विचार हुआ है। अभी हमारे मे इसका विभाग इस प्रकार चलता है,–

ज्ञेय–(जानने योग्य)–१ जीव २ अजीव और ३ बन्ध।

हेय–(त्यागने योग्य)–१ पुण्य २ पाप और ३ आश्रव।

उपादेय–(आदरने योग्य)–१ सवर २ निर्जरा और ३ मोक्ष।

किन्तु पूर्वाचार्य ने इसका विभाग निम्न प्रकार से भी किया है,–

"हेया बन्धासवपुन्नपावा, जीवाजीवा य हुंति विन्नेया।
संवरनिज्जरमुक्खो, तिन्नि वि एओ उवावेया"।

इस गाथा के अनुसार **ज्ञेय**–१ जीव और अजीव ये दो तत्त्व ही है और **हेय**–१ बन्ध २ आश्रव

३ पुण्य और ४ पाप है तथा उपादेय–पूर्ववत्–१ संवर २ निर्जरा और ३ मोक्ष है। बंध को हेय कोटि में मानना अधिक संगत लगता है क्योंकि निर्जरा द्वारा बंध को काटना इसकी हेयता स्पष्ट बता रहा है।

पुण्य मोक्ष साधना में हेय होते हुए भी प्रारंभिक अवस्था में धर्म और मोक्ष मार्ग का अनुकूलता कराने वाला होने से अपेक्षा पूर्वक उपादेय कोटि में माना जाता है। पुण्यानुबन्धी पुण्य धर्म साधना में उत्तरोत्तर सहायक होता है किन्तु पुण्यानुबन्धी पुण्य की प्राप्ति सराग दशा के चलते धर्म साधना करते करते अपने आप हो जाती है। इसके लिए खास पृथक रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। पुण्य को ही पाप–एकान्त पाप मानना–मिथ्या श्रद्धान है।

उपरोक्त सब तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना दर्शन धर्म है। यह दर्शन धर्म नींव के पत्थर के समान है। इसी पर चारित्र धर्म का विशाल भवन खड़ा होता है और उसी पर मोक्ष का आनन्द दायक शिखर विराजमान होता है। मुक्तात्मा का चारित्र और तप तो यहीं छूट जाता है परन्तु दर्शन और ज्ञान तो सदा सर्वदा=सादि अपर्यवसित बना ही रहता है। ऐसा क्षायिक दर्शन प्राप्त कर सभी आत्मा परमात्म पद को प्राप्त करें।

नमो नमो निम्मल दंसणस्स

मोक्ष मार्ग

द्वितीय खण्ड

×××
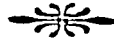
ज्ञान धर्म

ज्ञान आत्मा का निज गुण है, स्व पर प्रकाशक है। ज्ञानोपयोग, जड से जीव की भिन्नता का प्रधान लक्षण है। ज्ञान मे रहित कोई जीव हो ही नही सकता। ज्ञान शून्य केवल जड ही हो सकता है। जिन जीवो की अत्यन्त हीनतम दशा है, जिन अनन्त जीवो का मिलकर एक शरीर बना है, जो हमारे चर्म चक्षु और दूरवीक्षण से भी दिखाई नही देते—ऐसे सूक्ष्म निगोद के जीवो में भी ज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म अश (अनन्तवां भाग) रहा हुआ है। जिस प्रकार जीव, स्वय अनादि अनन्त, अविनाशी एव शाश्वत है, उसी प्रकार उसका निजगुण-ज्ञानभी सदा उसमें उपस्थित रहता है। फिर भले ही वह सुज्ञान हो या कुज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान।

"ज्ञान आत्मा का निजगुण होते हुए भी आत्मा अज्ञानी क्यो कहलाती है? इसके सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ऐसे भेद क्यो बने? किसी मे कम और किसी मे अधिक और किसी महान् आत्मा मे सम्पूर्ण ज्ञान होता है इसका क्या कारण है"? इस शका के समाधान मे कहा जाता है कि यद्यपि ज्ञान आत्मा का निज गुण है तथापि जीव के साथ जड का ऐसा अनादि सयोग सबध जुडा हुआ है कि जिसके कारण ज्ञान ढका हुआ है और उसमे विपरीतता—मिथ्या परिणमन होता है। जिस प्रकार मैल के चढने से दर्पण की प्रतिबिंबक शक्ति ढक जाती है। और सुन्दर चेहरा भी स्याही अथवा काजल पुतजाने पर कुरूप दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मा की ज्ञान शक्ति पर, ज्ञानावरणीय के आवरण (मैल) के थर के थर चढ जाने से एव मोह कालिमा से वह कुज्ञान के रूप मे परिणत होजाता है।

सोना अपने आपमें विशुद्ध है मूल्यवान है किन्तु अज्ञात काल से वह मिट्टी में ही दबा रहा उसका असली रूप प्रकट ही नहीं हो सका। लाखों रुपयों की कीमतवाला हीरा जबतक जमीन में मिट्टी और पत्थर के साथ पड़ा रहा तबतक वह भी पत्थर ही के बराबर हीन दशा में था। उस समय उसका कुछ भी मूल्य नहीं था और अज्ञ जीवों के हाथ में आने पर भी वह उसने तक ही काम में आता रहा। कुम्हार के हाथ पड़ने पर गधे के गले में बाँधा गया। इस प्रकार बुरी संगति से मूल्यवान हीरा भी हीन दशा में भटकता रहा किन्तु ज्यों ही उसकी कुसंगति छूटी और वह जौहरी के सत्संग में आया कि उसका खरा मूल्य प्राप्त हो गया। फिर वह नरेन्द्र आदि के सिर के ताज में लगकर जग-मगाने लगा। कुसंगति के कारणमिट्टी में दबा हुआ और गधे के गले में बँधा हुआ हीरा सुसंगति के कारण नरेन्द्रादि के सिर पर शोभा पाने लगा। बस ऐसी ही दशा जीव के ज्ञान गुण की है। ज्ञाना-वरणीय के अनन्तानन्त पुद्गलों से आच्छादित ज्ञान एकदम दब जाता है। सामान्य जनता कल्पना भी नहीं कर सकती कि पत्थर पानी आदि स्थावर अथवा अण्डे आदि में भी ज्ञान है।

सुन्दर बहुरेवास ने कुकर्म किया और कुकर्म के कारण राज्य सत्ता के द्वारा उसका मुँह काला करवाया गया। वह कालापन उसका खुद का नहीं है। खुद तो सुन्दर है गौर वर्ण युक्त सुन्दर है। जब यह कालिमा छुट जायगी तब उसका सुन्दर रूप निखर आयगा। इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा अपने आपमें अनन्त ज्ञान की सत्ता धराता हुआ भी कुकर्म=ज्ञान का आवरण करनेवाले आठ कर्म के कारण अज्ञानी बना हुआ है। यदि वह भव्य हो उसका कुज्ञान अनादि होते हुए भी सान्त=अन्तवाला हो तो आवरण नष्ट करके अपनी सत्ता में रहे हुए अनन्तज्ञान को प्रकट कर सकेगा।

घर में लाखों की सम्पत्ति दबी पड़ी हो किन्तु उसकी जानकारी नहीं हो तो वह किस कामकी? वह निधि वर्तमान दरिद्रता को नहीं मिटा सकता। उस निधि के ऊपर से सदैव घूमते फिरते रहने पर और उस पर अपना स्वामित्व होने पर भी वह अज्ञान के कारण काम में नहीं आती। जब यह ज्ञान हो जाय कि मेरे परम अमुक स्थान पर लाखों की सम्पत्ति दबी पड़ी है तभी उसे प्राप्त कर सुखी बना जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा की अनन्तज्ञान रूपी लक्ष्मी आत्मा में होने पर भी ज्ञानावरणीय के दारिद्र्य का कर्म के बोझ दबा पड़ी है। जो अन्तर अन्ध और सूझतों में है वही कुज्ञान और सम्यग् ज्ञान में है।

अज्ञान स्वयं अधम है क्योंकि वह आत्मा के निज स्वरूप का भास नहीं होने देता है और स्वभाव का भान भुलाकर विभाव में ही उलझाये रखता है। इसलिए अज्ञान का हटाकर सम्यग्ज्ञानी होना परमावश्यक है। सम्यग्ज्ञान श्रुत धर्म है और चारित्र धर्म का कारण है। ज्ञान धर्म के कारण ही आत्मा हेयोपादेय को जानता है और उस पर श्रद्धान करके चारित्र धर्म का पालन करता है। जो हेयोपादेय को जानता

ही नहीं, वह दुष्कृत्य का त्याग और चारित्र का पालन कैसे कर सकता है ? चारित्र धर्म की उत्पत्ति का कारण ज्ञान धर्म है। ज्ञान धर्म रूपी कारण की अनुपस्थित मे चारित्र धर्म रूपी कार्य नही हो सकता **"नाणेण विना न हुंति चरणगुणा"** (उत्तरा० २८) दर्शन सहचारी ज्ञान धर्म–वह मूल है कि जिस पर चारित्र धर्म रूपी कल्पवृक्ष लहराता है और मोक्ष रूपी महान् उत्तम अमृत फल की प्राप्ति होती है।

मोक्ष का साधक अणगार अपने कर्म बन्धनो से मुक्त होने के लिए प्रतिज्ञा वद्ध हाने के वाद अपनी साधना प्रारभ करता है। वह शूरवीर योद्धा अपने कर्म शत्रुओ पर विजय पाने के लिए कमर कसकर तैयार होता है। उस की साधना के चार कारण है,–

"सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक तप। इनकी आराधना करनेवाला मोक्ष प्राप्त करता है–ऐसा जिनेश्वर भगवतो ने कहा है" (उत्तराध्ययन अ २८)

ज्ञान के द्वारा जीव हिताहित को जानता है। लोकालोक के स्वरूप को समझता है और जड चैतन्य के भेद, सयोग सम्वन्धादि तथा मुक्ति को जानता है। दर्शन द्वारा वह श्रद्धान करता है। वह अपने ध्येय और हेय ज्ञेय उपादेय मे दृढ निश्चयी हो जाता है। फिर वह चारित्र के द्वारा हेय को त्याग कर उपादेय को अगीकार करता है और अपनी आत्मा को बुराइयो से बचालेता है तथा तप के द्वारा आत्मा का मैल हटाता है। यही मोक्ष मार्ग है।

सम्यग्ज्ञान के पांच भेद है, (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन पर्यव-ज्ञान और (५) केवलज्ञान।

मति ज्ञान

मतिज्ञान का दूसरा नाम आभिनिबोधिक ज्ञान भी है। पाँचो इन्द्रियो और मन के द्वारा योग्य देश में रहे हुए पदार्थों का ज्ञान हो, वह मतिज्ञान कहलाता है। यह मतिज्ञान दो प्रकार का होता है १ अश्रुत निश्रित और २ श्रुत निश्रित।

अश्रुत–बिना सुने अपनी बुद्धि द्वारा ज्ञान हो,वह अश्रुत निश्रित ज्ञान है। इसके चार भेद है

(१) उत्पातिकी बुद्धि–बिना देखे,जाने और सुने, पदार्थों को तत्काल ही यथार्थ रूप से ग्रहण करनेवाली बुद्धि।

(२) वैनयिकी बुद्धि–विनय से उत्पन्न होनेवाली बुद्धि।

(३) कर्मजा बुद्धि-कार्य करते करते अभ्यास और चिंतन से होने वाली, या कार्य के परिणाम को देखनेवाली बुद्धि।

(४) पारिणामिकी बुद्धि—अनुमान हेतु और दृष्टान्त से विषय का सिद्ध करनेवाली परिपक्व अवस्था से उन्नत और मोक्ष रूपी फल देनेवाली बुद्धि ।

श्रुत निश्रित मतिज्ञान के चार भेद हैं ।

(१) अवग्रह—सामान्यज्ञान ।

(२) ईहा—विचार करना ।

(३) अवाय—निश्चय करना ।

(४) धारणा—याद रखना । इनके भी अवान्तर भेद नन्दीसूत्र में विस्तार से बताये हैं । जो इन्द्रियों और मनसे संबंधित हैं ।

श्रुत ज्ञान

श्रुत ज्ञान—शास्त्रों का सुनने और पढ़ने से इन्द्रिय और मनके द्वारा जो ज्ञान हो उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । मति पूर्वक श्रुतज्ञान होता है । शब्द और अर्थ का विचार श्रुतज्ञान है । श्रुतज्ञान के निम्न चौदह भेद हैं—

१ अक्षर श्रुत—जिसका कभी नाश नहीं हो उसे अक्षर कहते हैं । इस के तीन भेद हैं—१ संज्ञाक्षर—अक्षर की आकृति या रचना २ व्यञ्जनाक्षर—उच्चारण और ३ लब्धि अक्षर—पांच इन्द्रिय और मन से होने वाला भाव श्रुत ।

२ अनक्षर श्रुत—उच्छ्वास निःश्वास थूकना खांसना छींकना आदि संकेत से समझना ।

३ संज्ञी श्रुत—इसके तीन भेद हैं—१ कालिकी उपदेश २ हेतु उपदेश और ३ दृष्टिवादोपदेश ।

१ कालिकी उपदेश से जिस जीव का ईहा अपोह मार्गणा गवेषणा चिंता और विमर्श होता है वह संज्ञी श्रुत है ।

२ जिसमें बुद्धि पूर्वक कार्य करने की क्षमता हो वह हेतु उपदेश की अपेक्षा संज्ञी है ।

३ सम्यग् दृष्टि के श्रुत का क्षयोपशम होता है इसलिए वह दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा संज्ञी है ।

४ असंज्ञी श्रुत—जिसे संज्ञी श्रुत नहीं है ऐसे जीव ।

५ सम्यग् श्रुत—केवलज्ञान केवलदर्शन के धारक सर्वज्ञ सर्वदर्शी त्रिलोक पूज्य अरिहंत भगवान् प्रणीत तथा आचार्य के मुख्य प्रमाण द्वादशांग श्रुत । दश पूर्व के पूर्णज्ञाता से लगाकर चौदह पूर्व के पूर्णज्ञाता का श्रुत सम्यग् श्रुत है । इससे कम ज्ञान वाले का श्रुत सम्यग् श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी ।

६ **मिथ्याश्रुत**—इसका वर्णन आगे किया जायगा।

७ **सादि श्रुत**—जिसकी आदि हो। द्वादशागी श्रुत पर्यायार्थिक नय मे सादि है। द्रव्यसे—एक व्यक्ति की अपेक्षा सादि है। क्षेत्र से पॉच भरत और पाच ऐरवत क्षेत्र मे सादि है। काल से अवसर्पिणि उत्सर्पिणि कालम और भाव से जिन प्ररूपित भाव, उपदेश व कहे जाते है, तब आदि होती है। तथा भवसिद्धिक जीव के सम्यक् श्रुत की सादि होती है।

८ **अनादि श्रुत**—द्रव्यार्थिक नय से द्वादशागी श्रुत अनादि है। द्रव्य से बहुत से मनुष्यो की अपेक्षा, क्षेत्र से पाच महाविदेह, काल से नो—अवसर्पिणि नोउत्सर्पिणि काल तथा भाव से क्षायोपशमिक भाव से अनादि श्रुत है। अभवसिद्धिक जीव का मिथ्याश्रुत अनादि होता है।

९ **सपर्यवसित**—अतवाला श्रुत। पर्यायार्थिक नय से द्वादशागी श्रुत अतवाला है। द्रव्य से केवल-ज्ञान होने पर, या मिथ्यात्व दशा प्राप्त होने पर, व्यक्ति विशेष के श्रुतज्ञान का अत होता है। क्षेत्र से भरतैरवत मे, काल से अवसर्पिणी उत्सर्पिणी में, और भाव से जिनोपदेश के पश्चात् व मिथ्यात्व का उदय अथवा क्षायिक ज्ञान प्राप्त होने पर श्रुतज्ञान का अत होता है।

१० **अपर्यवसित**--द्रव्यार्थिक नय मे द्वादशागी श्रुत अत रहित है। द्रव्य से बहुत से श्रुतज्ञानियो की अपेक्षा, क्षेत्र से पाच महाविदेह मे, काल से नोअवसर्पिणि नोउत्सर्पिणि में और भाव से क्षायोप—शमिक भाव से, अन्त रहित है तथा अभव्यो का मिथ्याश्रुत अन्त रहित है।

११ **गमिक श्रुत**--दृष्टिवाद के आदि मध्य और अन्त मे कुछ विशेषता के साथ उसी सूत्र का वारवार उच्चारण होता है।

१२ **अगमिक श्रुत**—आचारागादि कालिक श्रुत।

१३ **अंग प्रविष्ट**--१आचाराग सूत्र २ सूयगडाग ३ स्थानाग ४ समवायाग ५ विवाहप्रज्ञप्ति ६ ज्ञाताधर्मकथा ७ उपासकदशा ८ अतकृद्दशा ९ अनुत्तरोपपातिकदशा १० प्रश्नव्याकरण ११ विपाक और १२ दृष्टिवाद।

१४ **अंग बाह्य**—इसके दो भेद है। १ आवश्यक और २ आवश्यक व्यतिरिक्त।

आवश्यक—इसके छह भेद है। यथा—१सामायिक २ चोविसस्था ३ वदना ४ प्रतिक्रमण ५ कायुत्सर्ग और ६ प्रत्याख्यान।

आवश्यक व्यतिरिक्त—इसके कालिक और उत्कालिक ऐसे दो भेद है।

१ **कालिक**—जो दिन और रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में पढे जायँ। इसके अनेक भेद है। जैसे—१ उत्तराध्ययन २ दशाश्रुतस्कन्ध ३ कल्प—बृहद्कल्प ४ व्यवहार ५ निशीथ ६ महानिशीथ

७ ऋषिभाषित ८ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ९ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति १० चन्द्रप्रज्ञप्ति ११ क्षुद्रिकाविमान प्रविभक्ति १२ महद्विमानप्रविभक्ति १३ अंगचूलिका १४ वर्गचूलिका १५ विवाहचूलिका १६ अरुणोपपात १७ वरुणोपपात १८ गरुडोपपात १९ धरणोपपात २० वैश्रमणोपपात २१ वेलन्धरोपपात २२ देवेन्द्रोपपात २३ उत्थान सूत्र २४ समुत्थान सूत्र २५ नागपरीज्ञा २६ निरयावलिका २७ कल्पिका २८ कल्पावतंसिका २९ पुष्पिका ३० पुष्पचूलिका ३१ वृष्णिदशा ३२ आशीविष आदि ८४ हजार प्रकीर्णक भगवान् आदिनाथजी के शासन में थे। मध्य के तीर्थंकरों के शासन में संख्यात हजार थे और भगवान महावीर के १४ हजार प्रकीर्णक थे। वर्तमान समय में हमारे दुर्भाग्य से बहुत थोड़े और संक्षेप रूप में रहे हैं। जिन के नाम नन्दीसूत्र में मिलते हैं उनमें से भी कई अप्राप्य हैं और कई में अनिष्ट परिवर्तन हो गया है। इनमें से केवल १२ सूत्र स्थानकवासी समाज प्रामाणिक मानता है।

२ उत्कालिक—जो अस्वाध्याय काल छोड़कर किसी भी समय पढ़ जा सकें वे उत्कालिक सूत्र हैं। ये भी अनेक प्रकार के हैं। यथा—१ दशवैकालिक २ कल्पाकल्प ३ चुल्लकल्प ४ महाकल्प ५ औपपातिक ६ रायप्रसेणी ७ जीवाभिगम ८ प्रज्ञापना ९ महाप्रज्ञापना १० प्रमादाप्रमाद ११ नन्दी १२ अनुयोगद्वार १३ देवेन्द्रस्तव १४ तन्दुलवेयालिय १५ चन्द्रविद्या १६ सूर्यप्रज्ञप्ति १७ पौरुषीमंडल १८ मंडल प्रवेश १९ विद्याचारण विनिश्चय २० गणिविद्या २१ ध्यानविभक्ति २२ मरण विभक्ति २३ आत्मविशुद्धि २४ वीतरागश्रुत २५ सलेखनाश्रुत २६ विहारकल्प २७ चरणविधि २८ आतुर प्रत्याख्यान २९ महा प्रत्याख्यान आदि। इनमें से आठ सूत्रों को स्था० जैन समाज प्रामाणिक मानता है।

श्रुतज्ञान वैसे तो द्वादशांगी पर्यन्त ही है। क्योंकि दृष्टिवाद में चौदह पूर्व का समावेश हो जाता है और दृष्टिवाद से अधिक श्रुतज्ञान है ही नहीं फिर भी वे शास्त्र ग्रंथ पुस्तकें और साहित्य भी श्रुतज्ञान में ही समावेश हो जाते हैं जो सम्यक श्रुत के अनुकूल पोषक और अविरुद्ध हैं। श्रुतज्ञान और मतिज्ञान दोनों साथ ही रहते हैं। श्रुतपूर्वक मतिज्ञान नहीं होता किन्तु मतिपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। इस दृष्टि से मतिज्ञान को प्रथम स्थान मिला है। मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। इन्द्रियों और मनके द्वारा इनका ज्ञान होता है। परोपकार और देन लेन के काम में श्रुतज्ञान ही आता है। मति अवधि मन पर्यव तथा केवलज्ञान किसी को दिया लिया नहीं जाता। तीर्थंकर भगवान् केवलज्ञान से समस्त पदार्थों की सभी अवस्थाएँ एक साथ एक समय में जानते हैं किन्तु इससे किसी का उपकार नहीं होता। केवलज्ञान से जानी हुई बात वे अपने उपदेश में कहेंगे वह श्रोता के लिए श्रुतज्ञान ही है और उसीसे प्रतिबोध पाकर जीव मोक्षाभिमुख होते हैं।

यह सम्यक श्रुत मोक्षाभिलाषियों के लिए सर्वस्व के समान है। आगमकारों ने इस 'गणिपिटक' अर्थात्—आचार्य का 'सर्वस्वनिधि' के समान बताया है। हमें इस निधि की रक्षा करनी चाहिए।

दुःख है कि इस अमूल्यनिधि की उपेक्षा करके आज कल कई संत और सतियें, मिथ्याश्रुत=जो पत्थर और मैले के समान त्यागने योग्य है, उसकी ओर आकर्षित हो रहे हैं। और कोई कोई मिथ्या ज्ञान से प्रभावित श्रमण, सम्यग्ज्ञान के प्रति अविश्वासी होकर विपरीत प्रचार करते हैं। श्रोताओं को उल्टा सीधा समझाकर श्रद्धा कम करते हैं। यह खेद की बात है।

श्रुतज्ञान के आलम्बन से मन को वश में किया जाकर अशुभ दिशा में जाने से रोका जा सकता है। जिसे हम स्वाध्याय नामक तप कहते हैं—वह श्रुतज्ञान से संबंधित है। वाचना, पृच्छादि पांचों भेद, श्रुतज्ञान से ही संबंधित हैं। धर्मध्यान तो श्रुतज्ञान से संबंधित है ही, किन्तु शुक्ल ध्यान के दो चरण भी श्रुतज्ञान से संबंधित रहते हैं। श्रीउत्तराध्ययन अ० २९ प्रश्न ५९ के उत्तर में आगमकार फरमाते हैं कि—

"ज्ञान सम्पन्नता से सभी भावों का बोध होता है। जिस प्रकार धागे सहित सूई गुम नहीं होती, उसी प्रकार श्रुत ज्ञान सहित आत्मा चतुर्गति रूप संसार में लुप्त नहीं होती, किन्तु विनय, तप और चारित्र को प्राप्त करती है। ऐसा मनुष्य स्वसमय परसमय का विशारद होकर प्रामाणिक पुरुष हो जाता है। बहुश्रुत पुरुष की प्रशंसा में आगमकार महाराजा ने उत्तराध्ययन का सारा ग्यारहवां अध्ययन रच दिया है। ऐसे श्रुत ज्ञान की आराधना करना, सर्व प्रथम आवश्यक है।

श्रुतज्ञान (आगम) तीन प्रकार का होता है। सूत्र रूप, अर्थ रूप और सूत्रार्थ रूप। ज्ञान की आराधना को हमारे निर्ग्रंथ महर्षियों ने आचार रूप माना है, और इसे पांच आचार में सबसे पहला स्थान दिया है, क्योंकि अनन्त भव भ्रमण रूप अज्ञान अन्धकार और मोह को दूर करने में ज्ञान की सर्व प्रथम आवश्यकता है। ज्ञान सर्व प्रकाशित है **"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए"** (उत्तरा०—३२—२) ज्ञान के द्वारा ही जीव, हेय और उपादेय को जानता है। जिसे—**'ज्ञ परिज्ञा'** कहते हैं। इसके बाद **'प्रत्याख्यान परिज्ञा'** होती है **"पढमंनाणं तओ दया"** (दशवै० ४—१०) ज्ञान को आचार रूप में मानना (ठा० ५—२) निर्ग्रंथ धर्म की अनेक विशेषताओं में की एक विशेषता है। ज्ञानाचार निम्न आठ प्रकार का होता है।

१ कालाचार—अस्वाध्याय काल को छोड़कर, कालिक उत्कालिक के काल के अनुसार पढ़ना।

२ विनयाचार—ज्ञान और ज्ञानदान देनेवाले गुरु का विनय करना।

३ बहुमानाचार—ज्ञान, ज्ञानी और गुरु के प्रति हृदय में आदर और भक्ति रखना।

४ उपधानाचार—जिस सूत्र के पढ़ने का जो तप बतलाया गया है, उस तप को करते हुए पढ़ना।

५ अनिन्हवाचार—ज्ञान और ज्ञान दाता के नामको नहीं छुपाना और उनसे विपरीतता नहीं करना।

६ व्यञ्जनाचार—सूत्राक्षरों का शुद्ध उच्चारण करना।
७ अर्थाचार—सूत्र का सत्य अर्थ करना।
८ तदुभयाचार—सूत्र और अर्थ को शुद्ध पढ़ना और समझना।

ज्ञान के अतिचार

इस प्रकार ज्ञानाचार का पालन होता है। ज्ञानाचार को पालनेवाले को निम्न चौदह अतिचारों (दोषों) को टालना आवश्यक है।

१ सूत्र के पदों या अक्षरों का आगे पीछे और उलट पलट कर पढ़ना।
२ सूत्र के भिन्न भिन्न स्थानों पर आये हुए समानार्थक पदों को एक साथ मिलाकर (बीच में के पदों को छोड़कर) पढ़ना।
३ इस प्रकार पढ़ना कि जिससे अक्षर छूट जाय।
४ सूत्र पाठ में अपनी ओर से अक्षर बढ़ाकर पढ़ना।
५ पद को छाड़ते हुए पढ़ना।
६ ज्ञान और ज्ञानदाता का विनय नहीं करते हुए पढ़ना।
७ याग हीन—मन वचन और काया की चपलता—अस्थिरता एव अशुभ व्यापार में लगाते हुए पढ़ना।
८ भली प्रकार से उच्चारण नहीं करना।
९ शिष्य—पढ़नेवाले की शक्ति से अधिक ज्ञान पढ़ाना।
१० मान प्रतिष्ठादि की प्राप्ति आदि बुरे भावों से पढ़ना।
११ जिस सूत्र के पढ़ने का जो काल नहीं हो उस समय पढ़ना।
१२ जिस सूत्र के लिए जो समय निश्चित ह उस समय स्वाध्याय नहीं करना।
१३ अस्वाध्याय क समय स्वाध्याय करना।
१४ स्वाध्याय कालमें स्वाध्याय नहीं करना।

य चौदह अतिचार ह जिससे ज्ञानाचार में दोष लगता है (आवश्यक सूत्र) सूयगडांग सूत्र (१-१४-१९) में लिखा है कि 'सूत्र व अर्थ का छुपाव नहीं और अपसिद्धांत का आश्रय लेकर सूत्र की व्याख्या नहीं करे'। तात्पर्य यह कि सभी प्रकार के दोषा स बचता हुआ ज्ञानाचार का पालन करे।

अस्वाध्याय

सूत्र पठन में निम्न ३४ अनध्याय (अस्वाध्याय) को भी टालना चाहिए (ठाणांग सूत्र)

आकाश संबंधी अस्वाध्याय-१ बडा तारा टूटने पर (एक प्रहर) २ दिशाएँ लालरंग की हो तब तक ३ अकाल मे गाजना (२ प्रहर) ४ अकाल मे बिजली होना (एक प्रहर) ५ बिजली की कडकडाहट हो तो (दो प्रहर) ६ बाल चन्द्र (शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से तृतीया तक छोटा चन्द्रमा रहे तब तक) ७ आकाश में यक्षाकार हो ८ कुहरा या धुँअर छा जाने पर ६ तुषार पात हो तब, और १० धूलि से आकाश ढक जाय तब।

औदारिक शरीर संबंधी अस्वाध्याय-१ हड्डी २ मास ३ रक्त, ये तीनो तिर्यंच पचेन्द्रिय की हो, तो ६० हाथ के भीतर और मनुष्य के हो तो १०० हाथ के भीतर अस्वाध्याय के कारण है। इनका काल तीन प्रहर का है, परन्तु हत्या करने से मरे हो, तो एक दिन रात का अस्वाध्याय काल है ४ विष्ठा आदि दिखाई देते हो, या दुर्गन्ध आती हो, तो ५ स्मशान के निकट ६ चन्द्र ग्रहण ७ सूर्य ग्रहण (८, १२ या १६ प्रहर) ८ राजा, मन्त्री या ठाकुर के मरने पर ६ युद्ध होने पर (उसके निकट रहे हो तो) १० उपाश्रय में या निकट, मनुष्य या पशु का शव पडा हो तो।

अस्वाध्याय जनक तिथियें-पाच पूर्णिमाएँ-१ आषाढी, २ भाद्रपदी, ३ आश्विनी, ४ कार्तिकी और ५ चैत्री पूर्णिमा, तथा इन पाचो पूर्णिमाओ के दूसरे दिन की कृष्ण प्रतिपदाएँ। ये दस दिन।

सन्धिकाल-१ सूर्योदय २ सूर्यास्त ३ मध्यान्ह और ४ मध्य रात्रि के समय, दो दो घडी तक।

नोट-इसमे जो काल का नियम बताया, उसमे आचार्यों मे मत भेद है। हमने पूज्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा के नन्दीसूत्र के परिशिष्ठ से काल का प्रमाण दिया है।

उपरोक्त अस्वाध्यायो को टालकर भाव पूर्वक सूत्र स्वाध्याय करना चाहिए। इससे कर्मों की निर्जरा होती है और ज्ञान की पर्याये निर्मल होती जाती है।

श्रमण जीवन मे स्वाध्याय का बडा भारी महत्त्व है। जिनागमो मे विधान है कि साधु को दिन के प्रथम और चतुर्थ प्रहर में अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए (उत्तराध्ययन २६-१२) और रात को भी प्रथम और चतुर्थ प्रहर मे स्वाध्याय करना चाहिए (उत्तराध्ययन २६-१८, ४४) स्वाध्याय के-वाचना, पृच्छा, पुनरावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, ये पाच भेद है (उत्तराध्ययन ३०-३४, स्थानाग, उववाई आदि)। वही वाचना, पृच्छा आदि स्वाध्याय में मानी जा सकती है जो श्रुत चारित्र धर्म के लिए अनुकूल और उपकारक हो। इसके सिवाय जितना भी वाचन, विचार, विवाद और कथन है, सब कर्म बन्धन के साधन है, मिथ्या श्रुत मे गर्भित है। लौकिक ज्ञान देना, इनके लिए पाठशालादि खुलवाना, कला शिक्षण का प्रचार करना अथवा रोग निदान, औषधालयादि के विषय में प्रेरणा देना

तथा जड़ विज्ञान विषयक साहित्य पढ़ना पढ़ाना य सब मिथ्याज्ञान है। नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र में इन्हें मिथ्याश्रुत कहा है। मिथ्याश्रुत का पठन पाठन उपदेशादि सावद्य क्रिया ह और श्रमण धर्म के विपरीत ह।

हमारे पूर्वकाल के महर्षिगण प्रव्रजित होने क साथ ही सबसे पहल सामायिकादि ग्यारह अग ही पढ़ते थे "सामाइयमाइयाइ एक्कारस्स-अगाइ" विशेष पढ़नेवाले दृष्टिवाद भी पढ़ते थ। वर्तमान में यह प्रथा बहुत अशों में छूट गई ह और लौकिक ज्ञान की ओर झुकाव हो गया है। सबसे पहल स्व समय का ज्ञान होना चाहिए। स्व—समय=अपने श्रुत धम के ज्ञान में पारगत होने के बाद पर—समय को देखना हित कर हो सकता ह। वसे ज्ञानियों को मिथ्याश्रुत सम्यक रूप में परिणत होकर स्वपर उपकारक हो सकता है। अन्यथा लाभ के बनिस्बत हानि ही अधिक होती है—जो वर्तमान में प्रत्यक्ष हो रही है। पूर्वाचार्यों ने 'नमो नाणस्स' कहकर ज्ञान का नमस्कार किया है। वह सम्यग्ज्ञान को ही नमस्कार किया ह मिथ्याज्ञान का नहीं।

मिथ्या ज्ञान

मोक्ष की साधना करनेवाला वैसे ज्ञान से दूर ही रहता है—जिसके द्वारा विषय विकार की वृद्धि हो कुज्ञान और मिथ्यात्व का पोषण हो व ससार परिभ्रमण तथा कर्मों का बन्धन बढ़। जिस ज्ञान से मिथ्यात्व बुरी भावना अविरति कषाय और विषय वासना की वृद्धि हो वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है। और अज्ञान ही अहितकर्त्ता—दुःख दायक है (आचारांग १—३—१)सम्यग्ज्ञान के आराधक को अज्ञान=मिथ्याज्ञान=पापश्रुत से बचना चाहिए। पापश्रुत के समवायांग २९ में भेद बतलाय हैं। वे इस प्रकार है।

१ भूमिकम्पादि निमित्त बतानेवाले शास्त्र २ उत्पात के लक्षण और फल बतानेवाले ग्रथ ३ स्वप्न शास्त्र ४ अन्तरिक्ष शास्त्र जिसमें आकाश के ग्रहादि का फल बताया गया हो। ५ शरीर और उसके अगोपांग के शुभाशुभ लक्षणादि बतानेवाला ६ स्वर शास्त्र ७ शरीर पर के तिलमषादि का फल बताने वाले ८ लक्षण—स्त्री पुरुषों के लक्षण बताने वाले शास्त्र। इन आठों के सूत्र वृत्ति और वार्तिक यों २४ भद हुए। २५ विकथानुयोग—अर्थ और काम के उपायों के बतानवाले विषय वासना को जगाने वाले स्त्री कथा भोजन कथा देश कथा और राजकथादि साहित्य २६ विद्यासिद्धि का उपाय बतानेवाले २७ मन्त्र शास्त्र २८ वशीकरणादि योग बतानेवाले और २९ अन्य तीर्थिक प्रवर्तकानुयोग। य पापश्रुत हैं।

उपरोक्त पापश्रुत के अतिरिक्त नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र मे मिथ्याश्रुत के निम्न भेद बतलाये है।

१ भारत २ रामायण ३ भीमासुर कथित ग्रंथ ४ कौटिल्य—अर्थशास्त्र ५ शकटभद्रिका ६ खोडमुख ७ कार्पासिक ८ नागसुक्ष्म ९ कनकसप्तति १० वैशेषिक ११ बुद्धवचन १२ त्रैराशिक १३ कापिलीय-अक शास्त्र १४ लौकायत १५ षष्ठितन्त्र १६ माठर १७ पुराण १८ व्याकरण १९ भागवत २० पातञ्जलि २१ पुष्यदैवत २२ लेख २३ गणित २४ शकुनरुत २५ नाटक अथवा ७२ कलाएँ और अगोपाँग सहित चार वेद। ये सब असम्यग् दृष्टि और छद्मस्थ द्वारा मति कल्पना से रचे हुए मिथ्याश्रुत है। इनका समावेश ऊपर बताये हुए पापश्रुत मे भी हो सकता है। विकथानुयोग और अन्यतीर्थिक प्रवर्तकानुयोग मे उपरोक्त भेदो को गर्भित किये जा सकते है। ससार व्यवहार चलाने, आजीविका मे सहायक होने वाले और राज्यनीति आदि जितना भी ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान मे शुमार नही है। सम्यग् ज्ञान वही है जिससे आत्मा का शुद्धिकरण हो, मिथ्यात्व का मैल दूर हो। जिस ज्ञान से त्याग, तप, क्षमा और अहिसा की भावना जगे,—

"जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खतिमहिंसयं" (उत्तराध्ययन ३—८)

अज्ञान—मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का होता है—१ मति २ श्रुति और ३ विभग। इसीसे मिथ्याश्रुत की रचना होती है। यह ठीक है कि उपरोक्त मिथ्याश्रुत, सम्यगदृष्टि को सम्यग् रूप से परिणत हो सकता है, (श्री नन्दीसूत्र) किन्तु यह राजमार्ग नही है और इतने मात्र से वह श्रुत, सम्यक्श्रुत नही कहा जा सकता। उसे आगमकार महर्षि ने मूल मे ही पापश्रुत एव मिथ्याश्रुत कहा है। वास्तव मे यह मिथ्याश्रुत ही है। ९९ प्रतिशत पर वह मिथ्या असर ही करता है। कोई एकाध सम्यग्दृष्टि, उसे पढकर सोचे कि 'अहा! कहाँ निर्ग्रंथ प्रवचन! जिसमे सवर निर्जरा द्वारा पाप कर्मो के नाश का ही उपदेश है **"पावाणकम्माण णिग्घायणट्ठाए"** और कहाँ ये राग द्वेष वर्धक, युद्धादि के प्रेरक, कनक-कामिनी और सासारिक सुखो की कामना को जगाने वाले वचन! प्रकाश और अन्धकार जितना अन्तर'। इस प्रकार विचार करके प्राप्त सम्यक्त्व को दृढीभूत कर सकता है, अथवा सम्यग्दृष्टि, उन मिथ्याश्रुत से सम्यक् श्रुत की विशेषता बताकर श्रोताओ की सम्यग् परिणति मे वृद्धि कर सकता है। अथवा उन मिथ्याश्रुत के अनुकूल अश या अर्थ की सहायता से उसके अनुयायियो को समझाकर पाप परिणति छुडाने का प्रयत्न कर सकता है। योग्य वैद्य, विष का उपयोग करके भी रोगी को आराम पहुँचा सकता है। विष का सम्यग् उपयोग, हितकर हो सकता है, किन्तु इससे विष स्वय अमृत नही बन सकता। वह तो विष ही रहने का। साधारण जनता को उससे बचते बचाते रहना ही हितकर है। इसी प्रकार मिथ्याश्रुत अपने आपमे तो मिथ्या ही है, किन्तु किसी सम्यग्दृष्टि द्वारा सम्यग् उपयोग करने पर उसे सम्यग् रूप से परिणत हो सकता है।

भाचारांग श्रु १ म ४ उ २ में "जे भासवा ते परिसवा जे परिसवा ते भासवा", लिखा है। इसका मतलब भी यही है। भास्रव अपने आपमें तो भास्रव ही है और सवर सवर ही है। न तो भास्रव सवर हो सकता है और न सवर ही भास्रव बन सकता है किन्तु क्षयोपशम भाववाला पवित्र आत्मा यदि सयोग से भास्रव के स्थान पर भी चला जाय तो वह वहां उस कर्मबंध के निमित्त को भी सवर का कारण बना सकता है और उदय भाववाला व्यक्ति सवर के निमित्त से भी कर्मो का भास्रव कर लेता है। किन्तु भास्रव अपने आपमें तो भास्रव ही रहता है। उसी प्रकार मिथ्याश्रुत अपने आप में तो मिथ्याश्रुतही रहता है। प्रत्यक हितैषी जन अपने प्रिय को बुरी वस्तु से बचाने की शिक्षा देता है। इसी प्रकार आगमकार भी भव्य प्राणियों को मिथ्याश्रुत से बचने का उपदेश करते हैं। जो मिथ्याश्रुत को पढ़कर पण्डित बनते हैं उनमें अधिकांश सम्यग्ज्ञान से गिरे हुए ही मिलते हैं क्योंकि मिथ्याज्ञान के प्रभाव में वे भाम हुए हैं। सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही भाषा का विशिष्ठ ज्ञान स्वपर का उपकारक हो सकता है अन्यथा उल्टा परिणाम होता है। बिना सम्यक्त्व के भाषा का विशिष्ठ ज्ञान और मिथ्याश्रुत दोष वर्धक हो जाते हैं। कहा है कि—"जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्ज दोपाणुगया परज्झा" अर्थात् जो निग्रंथ प्रवचन को छोड़कर आडम्बरी वचन में आकर्षित होते हैं और अन्य तीर्थियों के शास्त्रों की प्रशंसा करते हैं वे राग द्वेषमे युक्त है (उत्तरा ४—१३) इसलिए मोक्षार्थि को मिथ्याज्ञान से दूर रहकर सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। और उसी श्रुतज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसी श्रुत को पढ़ना चाहिए जिससे अपनी व दूसरों की आत्मा की मुक्ति हो (उत्तरा० ११—३२)

अवधि ज्ञान

मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा है और अवधि मनःपर्यव और केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है (नन्दीसूत्र)। इनमें से एक मात्र केवलज्ञान ही सर्व प्रत्यक्ष है शेष दोनों ज्ञान देश प्रत्यक्ष है। प्राप्त क्रमानुसार यहां अवधिज्ञान का कुछ वर्णन नन्दीसूत्रानुसार किया जाता है।

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है एक तो भव प्रत्ययिक—जो जन्म से ही देव और नारक जीवों को होता है और दूसरा क्षायोपशमिक यह मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों को होता है। जिन मनुष्यों और पशु पक्षियादि तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों के अवधिज्ञान का ढकनेवाले कर्मों का क्षयोपशम होता है उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। जो मुनिराज ज्ञान दर्शन और चारित्र के गुणो से युक्त हैं उन्हें ज्ञान और चारित्र गुण में रमण करते करते तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। यह छ प्रकार का होता है। यथा—

१ **आनुगामिक**—इसके भी दो भेद हैं। जैसे—

अन्तगत— (१) पुरतोअन्तगत, जिस प्रकार कोई मनुष्य दीपकादि को आगे रखकर चलता है और उससे आगे आगे प्रकाश होता है, उसी प्रकार आगे के क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाला। (२) मार्ग तो अन्तगत—पीछे के क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाला। (३) पार्श्व तो अन्तगत—बगल के—आस पास के क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाला।

मध्यगत—जिस प्रकार कोई मनुष्य रोशनी को मस्तक पर रखकर चलता है और उससे चारो ओर प्रकाश फैलता है, उसी प्रकार आगे, पीछे, और अगलबगल की ओर के पदार्थों को दिखाने वाला।

उपरोक्त दोनो भेदो में यह विशेषता है कि अतगत आनुगामिक अवधिज्ञान वाला एक ओर आगे, पीछे या आसपास के सख्यात अथवा असख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र की वस्तुओ को देखता है, किन्तु मध्यगत आनुगामिक भेदवाला—चारो ओर सख्यात या असख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र को देख लेता है।

२ **अनानुगामिक**—जिस क्षेत्र मे रहे हुए अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वही रह कर देख सके, वहाँ से अन्यत्र जाने पर नही दिखाई देनेवाला।

३ **वर्धमान**—जो महात्मा, उत्तम और पवित्र विचारो में वर्त्तमान और वर्धमान चारित्र सम्पन्न है, परिणामो की विशुद्धि से जिनका चारित्र विशुद्धतर होकर आत्म विकास हो रहा है, उनके अवधिज्ञान की सीमा चारो आर बढती जाती है। उसे वर्धमान अवधिज्ञान कहते है।

४ **हायमान**—अप्रशस्त—बुरे—विचारो मे रहने के कारण, उत्पन्न अवधिज्ञान मे हीनता होती है, वह हीयमान है।

५ **प्रतिपाति**—उत्पन्न होने के बाद चला जाने वाला—गिरजाने वाला।

६ **अप्रतिपाति**—जो अवधिज्ञान कभी नही जाता और केवलज्ञान प्राप्त करता है, वह अप्रितिपाति है। इस अवधिज्ञान वाला समस्त लोक को देखता है। उसकी शक्ति लोक से अधिक, ऐसे असख्य लोक प्रदेश को देखने की होती है। ऐसा अवधिज्ञानी कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यो और उत्कृष्ट सभी रूपी द्रव्यो को देखता है। वह भूत भविष्य के असख्य अवसर्पिणि उत्सर्पिणि काल के द्रव्यो को देख सकता है और अनन्त भावो को जानता है।

परम अवधिज्ञानी को तो अतर्मुहूर्त में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है (भगवती श १८–८ टीका)

मन पर्यव ज्ञान

मति श्रुति और सामान्य अवधिज्ञान तो देव नारक मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों को भी उत्पन्न हो सकता है किन्तु मन पर्यवज्ञान तो उन्हीं मनुष्यों को उत्पन्न होता है—जो कर्मभूमज गर्भज पर्याप्त और संख्यात वर्ष की आयुवाले हों। फिर जो सम्यग्दृष्टि युक्त संयती है उन्हीं संयतों में से किसी को यह ज्ञान होता है। सतत साधनाशील—अप्रमत्त और विशिष्ट शक्ति सम्पन्न (ऋद्धि प्राप्त) मुनिवर ही इस ज्ञान को प्राप्त करते हैं। श्रावक और सामान्य साधु को यह ज्ञान नहीं होता है। इसके दो भेद हैं। यथा—

१ ऋजुमति—द्रव्य से अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कन्धों को जानता देखता है क्षेत्र से जघन्य अंगुल के असंख्यात भाग और उत्कृष्ट नीचे—रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी प्रतर से नीचे के छोटे प्रतरों तक ऊपर ज्योतिष्क विमान के ऊपर के तल तक (दोनों मिलाकर १९०० योजन तक) तथा तिर्छे लोक में मनुष्य क्षेत्र के भीतर—ढाई द्वीप समुद्र पर्यन्त अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमि ३० अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर द्वीपों में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानता देखता है। काल से जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण भूत भविष्य काल को जानता देखता है। भाव से अनन्त भावों को और सभी भावों के अनन्तवें भाग को जानता देखता है।

२ विपुलमति—ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक प्रमाण में अधिक स्पष्ट और अधिक विशुद्ध जानते देखते हैं। क्षेत्र से ढाई अंगुल अधिक विस्तार से देखते हैं।

इस ज्ञान से मनुष्य क्षेत्र वर्ती संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनमें सोचे हुए भूत भविष्य के पल्योपम के असंख्यातवें भाग भाव को प्रकट किया जा सकता है। यह केवल उन्हीं विशिष्ट मुनिराजों को होता है जिनकी चारित्र पर्याय विशुद्ध विशुद्धतर हो। जो विशिष्ट शक्ति सम्पन्न हों।

ये चारों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। किसी किसी को चारों भी होते हैं। तीर्थंकर भगवान् दीक्षा लेते हैं तब तत्काल ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान होता है। जिन आत्मा को तीन ज्ञान होते हैं उन्हें या तो मति श्रुति और अवधि होता है या फिर मति श्रुत और मन पर्यव होता है (भग ८-२) जो क्षायोपशमिक ज्ञान वाले सम्यग्दृष्टि हैं उनमें मति श्रुत तो होते ही हैं।

केवलज्ञान

केवलज्ञान क्षायिक है। ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा नाश होने पर ही यह होता है। यह ज्ञान मोक्ष पाने वाले मनुष्यो को ज्ञानावरणीयादि घातिकर्म के नष्ट होने पर होता है और सिद्ध अवस्था मे सदाकाल रहता है। केवलज्ञानी द्रव्य से विश्व के समस्त द्रव्यो को, क्षेत्र से लोका-लोक रूप समस्त क्षेत्र को, काल से सभी भूत, भविष्य, वर्त्तमान काल और भाव से अनन्त पर्यायात्मक समस्त द्रव्यो के समस्त भावो को जानते है। यह ज्ञान अप्रतिपाति–सदा काल कायम रहने वाला और एक ही प्रकार का है। अनन्त केवलज्ञानियो के केवलज्ञान मे कोई अन्तर नही है।

तीर्थंकर भगवान् जो उपदेश देते है, वह केवलज्ञान से सब पदार्थों को जानकर उनमे से जो वर्णन करने योग्य है, उन्ही का वर्णन करते है। वे भाव शेष जीवो के वचन योग से श्रुत रूप होता है।

सबमे थोडी पर्याये मन पर्यवज्ञान की है। इसमे अनन्तगुण अधिक विभगज्ञान की। विभगज्ञान मे अनन्त गुण अधिक पर्याये अवधिज्ञान की है। अवधि से अनन्त गुण अधिक श्रुत अज्ञान की है। इससे श्रुतज्ञान की पर्यायें विशेषाधिक है। इसमे मति अज्ञान की पर्याये अनन्तगुण है और इसमे विशेषाधिक पर्यायें मतिज्ञान की है। केवलज्ञान की पर्याये तो सभी से अनन्तगुण अधिक है। (भ० श० ८–२)

केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट और साध्य दशा है, इसके द्वारा लोकालोक और हिता–हित को जानकर भव्य प्राणियो का बोध कराया जाता है। केवलज्ञानियो के बताये हुये मार्ग से अनन्त जीवो ने मोक्ष को प्राप्त किया है और फिर भी करेगे। फिर भी हमारे लिए तो मति और श्रुतज्ञान ही अभी उपकारी है। जिन जीवो को अज्ञान नही होकर सम्यग् मति श्रुति ज्ञान होता है, वे ही तीर्थंकरो के वचनो की श्रद्धा करते है। आज हमारे सामने जो जिनागम है, वह भी श्रुतज्ञान रूप ही है। यदि हमने इसकी ठीक तरह से आराधना की तो हमारे कर्म बन्धन अवश्य ही कटेगे और हम ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करते करते, कभी केवलज्ञान प्राप्त करके साधक से सिद्ध बन सकेगे। ऐसे परमोपकारी ज्ञान को हमारा बार बार नमस्कार है।

प्रमाण

स्व और पर को निश्चित रूप से जाननेवाला ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है। और श्रुतज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थ का एक धर्म अन्य धर्मों को गौण करके किसी अभिप्राय विशेष से जाना जाता है वह 'नय' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि श्रुतज्ञान रूप प्रमाण अनन्त धर्म वाली वस्तु को ग्रहण करता है तब वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का सापेक्ष जानने वाला ज्ञान 'नय' कहलाता है। प्रमाण के चार भेद हैं—

१ प्रत्यक्ष २ अनुमान ३ आगम और ४ उपमान।

१ प्रत्यक्ष—जो स्पष्ट रूप से साक्षात्कार करावे वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो कानों से सुनकर आँखों से देखकर नासिका से सूँघकर जबान से चखकर और हाथ आदि से स्पर्श कर जाना जाय—वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। क्योंकि यह इन्द्रियों की सहायता से जाना जाता है।

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो इन्द्रियों की सहायता के बिना ही प्रत्यक्ष हो सके वह नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इसके तीन भेद हैं—१ अवधिज्ञान २ मनःपर्यवज्ञान और ३ केवलज्ञान। इन तीन में से अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान तो देश प्रत्यक्ष हैं क्योंकि ये सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। एक केवलज्ञान ही ऐसा है जो पूर्ण प्रत्यक्ष—सर्व प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष को व्यवहार प्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह प्रत्यक्ष भी देश प्रत्यक्ष ही है क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा भी वस्तु का एक देश—ऊपरी भाग ही जाना जाता है। हम अपनी आँखों से दवा की एक गोली देखते हैं किन्तु वह किन चीजों की बनी है उसमें क्या क्या गुण हैं—यह प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। अतएव इन्द्रिय प्रत्यक्ष वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है। वास्तविक प्रत्यक्ष तो नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है जिसे निश्चय प्रत्यक्ष कहते हैं।

२ अनुमान प्रमाण—किसी साधन के द्वारा साध्य को जानना—अनुमान प्रमाण है। इसके तीन भेद हैं।

पूर्व अनुमान–पहले देखे हुए चिन्हो से पहिचानना, जैसे–किसी का पुत्र बाल्यावस्था मे विदेश गया हो और जवान होने पर वापिस घर आवे, तो उसकी माता, उसके चेहरे, वर्ण,तिल मसादि पहले के समान देखकर पहिचान लेती है। तात्पर्य यह कि पूर्वकाल मे देखे हुए किसी खास चिन्ह को देखकर अनुमान करना।

शेष अनुमान–इसके पाँच भेद इस प्रकार है।

१ कार्य से–जैसे आवाज पर से पहिचानना कि यह मयूर बोल रहा है, पोपट या कोयल इस वृक्ष पर है, या बिना देखे ही आवाज पर से मनुष्य को पहिचान लेना।

२ कारण से–बादलो को देखकर वर्षा का,अनुमान करना। आटा देख कर रोटी बनाने का अनुमान करना आदि।

३ गुण से गुणी का अनुमान करना, जैसे–क्षार से नमक का, सुगन्ध से पुष्प अथवा इत्र का।

४ अवयव से–एक अवयव देखकर अवयवी का अनुमान कर लेना, जैसे सिंग देखकर जान लेना कि यह भैस है या गाय है। सूंड से हाथी और कलगी से मुर्गे का अनुमान करना।

५ आश्रय से–धूम्र के आश्रय से अग्नि का अनुमान करना।

दृष्टि साम्य–इसके दो भेद है–१ सामान्य और २ विशेष।

सामान्य–एक वस्तु को देखकर वैसी ही दूसरी का अनुमान करना, जैसे एक रुपये को देखकर अन्य रुपयो का, मारवाड के एक धोरी बैल को देखकर, उस देश मे वैसे अनेक बैल होने का अनुमान करना।

विशेष–विदेश जाने पर वहा हरियाली और गड्ढो मे पानी भरा हुआ देखकर अच्छी वर्षा होने का अनुमान करना। यह भूत का अनुमान हुआ। फसले अच्छी और लोगो को समृद्ध देखकर वर्त्तमान सुखी अवस्था का अनुमान लगाना। शुभ लक्षण देखकर उज्ज्वल भविष्य का अनुमान करना आदि।

३ आगम प्रमाण–आप्त पुरुषो–निर्दोष और परम मान्य महर्षियो के वचनो को आगम कहते है। इसके तीन भेद है–१ सूत्रागम २ अर्थागम और ३ तदुभयागम। सूत्र, अर्थ और दोनो के विधान को स्वीकार करना आगम प्रमाण है। इनका वर्णन पहले हो चुका है।

४ उपमान प्रमाण–किसी प्रसिद्ध एव ज्ञात वस्तु की अप्रसिद्ध एव अज्ञात वस्तु को उपमा देना। इसके चार भग है।

१ सत् की सत् से उपमा देना—जैसे आगामी प्रथम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समान होंगे या भगवान्‌की भुजा अर्गला के समान है।

२ सत् की असत् से—जैसे 'नारकों और देवों की आयु पल्योपम सागरोपम की है' यह बात सत्य है किन्तु पल्योपम व सागरोपम का जो प्रमाण है वह असत्कल्पना है क्योंकि वैसा किसीने किया नहीं करता नहीं और करेगा नहीं।

३ असत् की सत् से—जैसे जुवार को मोती के दाने जैसी', किसी बड़ी भारी नगरी को देवपुरी जैसी कहना। अथवा यह कल्पित वार्तालाप—पककर गिरा हुआ पत्ता नये पत्ते से कहता है कि कभी हम भी तुम्हारे जैसे थे' या ठोकर खाई हुई हड्डी ठोकर मारनेवाले को कहती है कि 'मैं भी कभी तेरे जैसी थी—यह असत् की सत् से उपमा है। जो अवस्था नष्ट होकर असत् हो चुकी उसको विद्यमान सत् वस्तु से उपमा देना।

४ असत् की असत् से—जैसे यह कहना कि 'गधे के सींग कैसे होते है,तो कहे कि घोड़े के सींग जैसे' फिर पूछा कि घोड़े के सींग कैसे ? तो उत्तर दिया कि गधे के सींग जैसे'। ये दोनों बातें झूठी है।

इस प्रकार प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से वस्तु को जानकर सम्यग् उपयोग करना चाहिए।

(भगवती ५—४ अनुयोगद्वार)

निक्षेप

किसी भी वस्तु को समझने के लिए उसके नाम, आकृति, आधार और गुण अथवा विशेषता तो जाननी ही पडती है। यदि विशेष विस्तार में नही जा सके, तो कम से कम ये चार बाते तो जाननी ही पडती है, जिन्हें चार निक्षेप कहते है। चार निक्षेप ये है।

१ नाम २ स्थापना ३ द्रव्य और ४ भाव

(१) नाम निक्षेप–जिस जीव, अजीव और जीवाजीव का जो नाम हो, उसे नाम निक्षेप कहते है। जैसे किसी जीव या अजीव का 'आवश्यक' ऐसा नाम दिया जाय, तो वह नाम निक्षेप है। नाम जाति-वाचक, व्यक्ति वाचक, गुण वाचक, आदि कई प्रकार के हो सकते है।

जाति वाचक–एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय आदि अथवा मनुष्य, गाय, भैस, घोडा आदि।

व्यक्ति वाचक–जिनदत्त, ऋषभदेव, महावीर, धनराज, सुखलाल आदि।

गुण वाचक–मुनि, तपस्वी, श्रावक, मन्त्री, आचार्य, आदि।

नाम के तीन भेद इस प्रकार है।

यथार्थ नाम–गुण के अनुसार नाम होना यथार्थ नाम है। जैसे–चेतना सहित को 'जीव', अचेतन को जड, धनवान को लक्ष्मीचन्द्र, असत्यवक्ता को झूठाभाई आदि।

अयथार्थ नाम–गुण शून्य नाम अयथार्थ होता है, जैसे दरिद्री को धनपाल, ग्वाले को इन्द्र, मजदूर को जगदीश, तृष्णावान को सतोषचन्द्र, आदि।

अर्थ शून्य–जिसके नाम का कोई अर्थ ही नही हो, जैसे–डित्थ, डवित्थ, खुन्नी आदि।

नाम निक्षेप का सम्बन्ध वस्तु के नाम से ही है, गुण अवगुण से नही, और यह आयु पर्यन्त अथवा वस्तु की उसी रूप मे स्थिति रहे–वहा तक रहता है।

(२) स्थापना निक्षेप–किसी मूल वस्तु का, प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र में आरोप करना–स्थापना निक्षेप है। यह आरोप बिना मूर्ति और चित्र के भी हो सकता है। इसलिए स्थापना निक्षेप के दो भेद किये है,–१ सद्भाव स्थापना और २ असद्भाव स्थापना।

सद्भाव स्थापना—काष्ठ पाषाण धातु, मिट्टी वस्त्र या कागज आदि की किसी असल वस्तु की मूर्ति बनाई जाय मूल वस्तु की आकृति अंकित की जाय अथवा कागज वस्त्र या काष्ठ-फलक पर चित्र उतारा जाय तो वह सद्भाव (मूल की आकृति के अनुसार) स्थापना है। तोलन के आधा तोला सेर मन आदि के अंक लोह आदि के बाट पर अंकित हो सिक्के पर 'एक रुपया' आदि अंकित हो अथवा दस्तावेज पर १ १० १०० १००० आदि अंकित होना और द्वीप समुद्रादि के नक्शे—ये सब सद्भाव स्थापना है।

असद्भाव स्थापना—बिना मूल की आकृति के यों ही किसी काष्ठखण्ड पत्थर ईंट आदि किसी भी वस्तु में मूल वस्तु का आरोप करना जैसे कि—बालक लकड़ी को अपना 'घोड़ा' कहकर खुद अपने ही पैरों से दौड़ता है। लोग किसी पत्थर आदि को यों ही रखकर उसे भैरवादि देव रूप मानते हैं या अनपढ़ लोग कंकर अथवा धान्य के दाने रखकर रुपयों का हिसाब लगाते हैं उस समय कंकर या दानों में रुपयों की स्थापना करते हैं अथवा शतरंज के खेल में खेल की गोटों को राजा वजीर हाथी घोड़ा आदि कहते हैं—यह सब असद्भाव स्थापना है।

स्थापना थोड़े काल तक भी रहती है और स्थिति पर्यन्त भी रहती है।

(३) द्रव्य निक्षेप—गुण के उस आधार (पात्र) को द्रव्य कहते हैं कि जिसमें भविष्य में गुण उत्पन्न होने वाला हो अथवा भूतकालमें उत्पन्न होकर नष्ट हो चुका हो और खाली पात्र रहगया हो। उपयोग रहित क्रिया भी द्रव्य निक्षेप में मानी गई है। यह द्रव्य निक्षेप दो प्रकार का है। यथा—

आगमतः—बिना उपयोग के आगमोक्त क्रिया करना अथवा आगमों का पठन वाचन पृच्छा परावर्तना और धर्मकथन बिना उपयोग करना—आगम से द्रव्य निक्षेप है। इसमें स्वाध्याय के चार भेद ही लिए हैं अनुप्रेक्षा नहीं ली गई है क्योंकि अनुप्रेक्षा तो उपयोग—भाव पूर्वक ही होती है। जो व्यक्ति आवश्यक करता है उसका उच्चारणादि शुद्ध एवं अत्यासातिचार से रहित है किन्तु उस आवश्यक में उसका उपयोग नहीं है वह बिना भाव के उच्चारणादि कर रहा है तो वह आगमतः द्रव्य निक्षेप है।

नो आगमतः—जिसमें आगमोक्त क्रिया नहीं हो रही है वह नोआगमतः द्रव्य निक्षेप है। इसके तीन भेद हैं—१ ज्ञशरीर २ भव्य शरीर और ३ तद्व्यतिरिक्त।

१ ज्ञ शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप—आगम का ज्ञाता आत्मा के शरीर से निकलकर जाने पर वह मृत शरीर—नोआगम ज्ञायक शरीर द्रव्य है। उसमें भूतकाल में आगमज्ञ आत्मा निवास करती थी। अब वह ज्ञान भाव होने से खाली पात्र रह गया है। घृत निकल जाने के बाद खाली रहे हुए घड़े की तरह। तीर्थंकर भगवान् अथवा साधु महात्मा का निर्जीव शरीर भी इसी भेद में आता है।

भव्य शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप—भविष्य मे आगम का ज्ञाता होनेवाला द्रव्य। जिसने सुश्रावक के घर मे जन्म लिया है ऐसा बालक, जो भविष्य मे श्रावक धर्म का ज्ञाता होगा। जैसे कि किसीने घृत भरने के लिए घडा बनाया या खरीदा, वह भविष्य मे उसमे घृत भरेगा, किन्तु अभी खाली है।

तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित करके, देव या नरक भव मे जाकर वहा से माता के गर्भ मे आनेवाले और जन्म लेकर तीर्थंकर पद प्राप्त करने के पूर्व की सभी अवस्था—द्रव्य तीर्थंकरत्व की ही है। इस भेद में वास्तविक गुण उत्पन्न होने के पूर्व की अवस्था ग्रहण की गई है।

ज्ञ—भव्य—व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेप—इसके तीन भेद है, १ लौकिक २ लोकोत्तर और ३ कुप्रावचनिक।

लौकिक—ससारी लोग, अपना नित्य—लौकिक कार्य करते है, जैसे—प्रात काल उठकर शौच जाना, हाथ मुँह धोना, स्नान करना, केश सँवारना, और वस्त्राभूषण पहनकर अपना अपना कार्य करते है, यह उनकी लौकिक नित्य क्रिया है। इसलिए यह उनका लौकिक द्रव्यावश्यक है। तात्पर्य यह कि लोक सबधी जितनी भी क्रिया की जाय, वह लौकिक नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

लोकोत्तर--लोक से परे—परभव के उद्देश्य से क्रिया करनेवाले, श्रमण के गुण से रहित, जीवों की अनुकम्पा जिनमें नही है, जो स्वच्छन्द है, मदोन्मत्त तथा निरकुश होकर विचरते है, जिनमे शरीर और वस्त्रादि की सफाई की ही विशेष रुचि रहती है, जो जिनाज्ञा के विराधक है, ऐसे साधु आदि कहे जानेवाले और धार्मिकपन का—लोकोत्तर साधक का डौल करनेवाले की क्रिया, लोकोत्तर नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

कुप्रावचनिक—निर्ग्रंथ प्रवचन के अतिरिक्त दूसरे प्रवचन को माननेवाले, तदनुसार मृगछाला अथवा व्याघ्रचर्म धारन करनेवाले, गेरुए वस्त्र धारण करने वाले, शरीर पर भस्म लगाने वाले, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र से रहित, गृहस्थधर्म के उपदेशक, गृहस्थ—धर्म के चिंतक आदि पाखण्डी लोग, प्रात काल होते ही इन्द्र, स्कन्ध, वैश्रमण आदि कुप्रावचनिक देवो की पूजा वन्दनादि करते है। इनकी इस प्रकार की सभी क्रिया 'कुप्रावचनिक—लोकोत्तर—नोआगम—द्रव्यावश्यक'—द्रव्य निक्षेप मे है।

नाम, स्थापना और द्रव्य—ये तीनो निक्षेप अवस्तु है। क्योकि इनमे गुण=भाव=वास्तविकता की अपेक्षा नही होती।

(४) **भाव निक्षेप**—जो गुण युक्त हो, सार्थक हो, जिसमे अपने अर्थ की सगति यथार्थ रूप से होती हो—वह भाव निक्षेप है। इसके दो भेद है,—

आगमत'—जिसका आगम में उपयोग लगा हुआ हो अथवा जो आगमोक्त क्रिया उपयोग पूवक कर रहा हो । इस प्रकार भाव पूवक आगमों का पठन स्वाध्याय कर रहा हो अनुप्रेक्षा युक्त हो—वह आगमत भाव निक्षप है ।

नोआगम से—इसके तीन भेद हैं ।

लौकिक—अजैन लोग अपने मतानुसार प्रात काल भारत आदि और सायंकाल रामायणादि का भाव पूवक वाचन अथवा श्रवण करते ह वह लौकिक नोआगम भाव निक्षेप है ।

लोकोत्तर—निर्ग्रंथ साधु साध्वी श्रावक श्राविका आत्म कल्याण के लिए उपयोग पूवक और यथाकाल जो जो आराधना करते हैं वह लोकोत्तर नोआगम भाव निक्षप है । भाव पूवक उभयकाल किये हुए आवश्यक को लोकोत्तर नोआगम भावावश्यक कहते हैं ।

कुप्रावचनिक—अन्य मतावलम्बी चरक आदि अपने इष्ट देव को भाव पूर्वक अर्घ्य देते ह प्रणाम करते है हवन करते हैं और मन्त्र का जाप आदि अनेक क्रियाएँ करते हैं । ये सब कुप्रावचनिक नोआगम भाव आवश्यक है । कुप्रवचन सम्बन्धी सभी क्रियाएँ जो भाव पूवक की जाती हैं वे सब इस भेद में आती हैं । (अनुयोगद्वार)

ये चारों निक्षप वस्तु को समझने के लिए हैं । यह ज्ञान का विषय है । ज्ञान से वस्तु का स्वरूप जानना और फिर हेय का त्याग कर उपादेय को स्वीकार करना प्रत्येक आत्मार्थी का कर्तव्य है।

निक्षेपों की भी मर्यादा है । दूर रहे हुए मनुष्य को पुकारने अथवा पता लगाने के लिए नाम निक्षेप उपयोगी है । उसे ऊपर से पहिचानने के लिए स्थापना निक्षेप (आकृति) आवश्यक है। नाम निक्षप देखने का विषय नहीं किन्तु पुकारने या सुनने से सबंध रखता है तब आकृति—स्थापना आँखों से देखने या दिखाने से सबंध रखती है । ये दो निक्षप मूल वस्तु में खुद में भी होते है और इनका आरोप दूसरे में भी किया जा सकता है। इनका भिन्न वस्तु में निक्षप हो सकता है किन्तु द्रव्य तो द्रव्य की (उपयोग अथवा गुण रहित) क्रिया होने पर ही होता है । और भाव तो मूल वस्तु ही है ।

पूर्ण रूप से उपयोगी भाव है । उससे द्रव्य कम उपयोगी ह और नाम स्थापना तो बहुत कम उपयोगी है। वस्तु का उतना ही उपयोग होना चाहिए जितने के वह योग्य हो। योग्यता से अधिक महत्व देना समझदारी नहीं है ।

जिस प्रकार ससार पक्ष में भाव रहित (असलियत से भिन्न) नाम स्थापना असली वस्तु की तरह स्वीकार नहीं की जाती उसी प्रकार धम पक्ष में भी भाव शून्य नामादि तीन निक्षेप भाव की तरह वन्दनीय पूजनीय नहीं होते ।

नय

श्रुतज्ञान, नय युक्त होता है। श्रुत के प्रमाण से विषय किये हुए पदार्थ का किसी अपेक्षा से कथन करना, दूसरी अपेक्षाओं का विरोध नही करते हुए, अपने दृष्टि के अनुसार, अभिप्राय व्यक्त करना —नयवाद है।

प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म रहे हुए है। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्यता से जानने वाला ज्ञान, 'नय ज्ञान' कहलाता है। नय प्रमाण का एक अंश होता है।

'जितने वाक्य उतने ही नय'—इस प्रकार नय के अनेक भेद होते हैं। और ये अनेक नय सुनय और दुर्नय—ऐसे दो भेद मे बट जाते है।

जो नय सम्यग्दृष्टि पूर्ण हो, जिसमें अभिप्रेत नय के अतिरिक्त दृष्टियो का विरोध नही होता हो, और जिसमे विषमता नही हो—वह सुनय कहलाता है। इसके विपरीत जो अभिप्रेत दृष्टि के अति-रिक्त सभी दृष्टियो का विरोध करता हो, जिसकी विचारधारा में विषमता हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि पूर्ण, एकान्तिक अभिप्राय को दुर्नय कहते है।

सुनय के सक्षेप मे दो भेद है। १ द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक।

द्रव्यार्थिक— द्रव्य—सामान्य वस्तु को विषय करने वाले नय को—द्रव्यार्थिक नय कहते है। इसके तीन भेद है—१ नैगम २ सग्रह ३ व्यवहार ×।

पर्यायार्थिक— पर्याय विशेष, द्रव्य की परिवर्तनशील अवस्थाविशेष को—विषय करनेवाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते है। इसके चार भेद है—१ ऋजुसूत्र २ शब्द ३ समभिरूढ और ४ एवभूत।

उपरोक्त दोनो भेदो मे सात नय माने गये है। इनका स्वरूप इस प्रकार है।

१ नैगम नय—जिसके अनेक गम—अनेक विकल्प हो, जो अनेक भावो से वस्तु का निर्णय करता हो, वह नैगम नय है।

दो द्रव्यो, दो पर्यायो, और द्रव्य और पर्याय की प्रधानता तथा गौणता से विवक्षा करने वाला—नैगम नय है। इसका क्षेत्र, अन्य नयो की अपेक्षा अधिक विशाल एव सर्व व्यापक है।

× इसमें मत भेद भी है। विशेषावश्यक में द्रव्यार्थिक नय मे 'ऋजुसूत्र' सहित चार नय माने हैं और पर्यायार्थिक नय में शब्दादि तीन नय माने हैं।

जिस देश में जो शब्द जिस अर्थ में प्रचलित हो वहाँ उस शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का जानना भी नैगम नय है।

निगम का अर्थ है 'सकल्प', जो सकल्प का विषय करता है वह नैगम नय कहलाता है। यह सकल्प के अनुसार एक अंश को ग्रहण करके वस्तु का पूर्ण मान लेता है।

जैसे एक स्थान पर कई व्यक्ति बैठे हैं। वहाँ कोई आकर पूछे कि आप में से बंबई कौन जा रहा है तो उनमें से एक व्यक्ति कहता है कि 'मैं जा रहा हूँ' वास्तव में वह बैठा है—जा नहीं रहा है किन्तु जाने के सकल्प मात्र से जाने का कहा। यह नैगम नय की अपेक्षा से सत्य है।

यह नय कार्य का एक अंश उत्पन्न होने से ही वस्तु को पूर्ण मान लेता है। जैसे—

किसी कुम्भकार को घड़ा बनाने की इच्छा हुई। वह मिट्टी लेने जगल में जाने लगा। पड़ौसी ने पूछा—'कहाँ जाते हो' ? उसने कहा—घड़ा लेने जाता हूँ। मिट्टी खोदते समय किसी ने पूछा—क्या करते हो ? कहा—'घड़ा लेता हूँ। मिट्टी लेकर घर आने पर किसी ने पूछा तो कहा—'घड़ा लाया हूँ। इस प्रकार घड़े के विचार—सकल्प तथा उस दिशा में किञ्चित् प्रवृत्ति प्रारम्भ करने पर उस कार्य को सम्पूर्ण मान लेना नैगम नय का अभिप्राय है।

नैगम नय के दो भेद हैं—१ सामान्य और २ विशेष। सामान्य में पर्याय का ग्रहण नहीं होता। यह नहीं कहा जाता है कि घट किस रंग का किस आकृति का कितना बड़ा मिट्टी का ताम्बे का पीतल का या चाँदी आदि का। मात्र 'घट' कहा जाय—उसे सामान्य अंश रूप नैगम कहते हैं। किन्तु जिसमें उसकी पर्याय—रंग आकृति तथा छोटे बड़े आदि का जिक्र हो उसे विशेष अंश रूप नैगम कहते हैं।

इसके अतिरिक्त काल की अपेक्षा नैगम के तीन भेद होते हैं—१ भूत नैगम २ भविष्य नैगम और ३ वर्तमान नैगम।

भूतकाल में वर्तमान् काल का सकल्प करना—भूत नैगम नय है। जैसे दीवाली के दिन कहना कि आज भगवान् महावीर मोक्ष पधारे थे जब कि उन्हें मोक्ष पधारे हजारों वर्ष बीत गये। इस वाक्य में आज का सकल्प हजारों वर्ष पहले—भूत काल में किया गया है।

भावी नैगम—अरिहत को सिद्ध कहना बछिया को गाय कहना बछड़े को बैल कहना अधिकार रहित राजपुत्र (युवराज) को राजा कहना अर्थात् भविष्य में उत्पन्न होने वाली पर्याय में भूत का सकल्प करना—भावी नैगम है।

वर्तमान नैगम—जैसे भोजन बनाना शुरू कर दिया हो किन्तु उसके बन जाने न पूर्व हो कह देना कि आज तो भात बनाया है।

२ संग्रहनय—यह नय विशेष (भेदो) को छोडकर सामान्य–द्रव्यत्व को ग्रहण करता है। एक जाति मे आने वाली समस्त वस्तुओ मे एकता लाना इसका अभिप्राय है। यह एक शब्द मात्र से उन सभी अर्थों को ग्रहण करलेता है, जो इससे सम्बन्ध रखते है। जैसे किसी ने अपने सेवक को आज्ञादी कि–"जाओ दातुन लाओ," वह सेवक एक 'दातुन' शब्द से वे सभी वस्तुएँ–मजन, कूची, जीभी, पानी का लोटा, टुवाल आदि ले आता है।

सग्रह नय के भी दो भेद है, एक पर–सग्रह और दूसरा अपर सग्रह। पर–सग्रह सामान्य ग्राहक है। यह सत्ता मात्र को ग्रहण करता है। 'द्रव्य' शब्द से यह जीव अजीव का भेद नही करके सभी द्रव्यो को ग्रहण करता है। अपर सग्रह उसे कहा गया है कि जो अपने मे विषयभूत होने वाले द्रव्य विशेष को ही ग्रहण करके दूसरे द्रव्य को छोड देता है। जैसे–'जीव' शब्द से यह सभी जीवो को ग्रहण करके अजीव को छोड देता है। इसलिए इसे अपर--सामान्य सग्रह नय कहते है।

शब्द के समस्त अर्थों का बिना किसी भेद के ग्रहण करना–सग्रह नय का अभिप्राय है।

३ व्यवहार नय—सग्रह किये हुए पदार्थों में, लोक व्यवहार के लिए विधिपूर्वक भेद करना, जैसे द्रव्य के छ भेद, फिर प्रत्येक द्रव्य के अन्तर्भेद करना। पर्याय के सहभावी और क्रमभावी तथा जीव के ससारी और मुक्त, इस प्रकार भेद करना व्यवहार नय का कार्य है। यह नय सामान्य की उपेक्षा करके विशेष को ग्रहण करता है।

यह नय निश्चय की उपेक्षा करता है और लोक व्यवहार को ग्रहण करता है। जैसे निश्चय से घट पटादि वस्तुओ में आठ स्पर्श, पांच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस पाये जाते है, किन्तु व्यवहार एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, और एक स्पर्श का होता है, जैसे–कोयल काली है, फूल सुगन्धी है, मिश्री मीठी है, मक्खन कोमल है। इस प्रकार एक एक वर्णादि को ग्रहण करके शेष को छोड देना, व्यवहार नय का विषय है।

यह नय प्राय उपचार में ही प्रवृत्त होता है। इसके ज्ञेय विषय भी अनेक है, इसलिए इसे विस्तृतार्थ भी कहते है। लोक व्यवहार अधिकतर इसी से सबधित होता है। बोलचाल मे जो यह कहा जाता है कि 'घड़ा चूता है, मार्ग चलता है, गांव आ गया, चूल्हा जलता है'—ये सब औपचारिक शब्द है। वास्तव मे चूता है पानी–घडा नही चूता, चलता है मनुष्य–मार्ग नही चलता, आता है मनुष्य –गांव नही आता और जलती है लकडियां–चूल्हा नही जलता, किन्तु लोग जो इस प्रकार का उपचार करते है–यह व्यवहार नय के अनुसार है।

व्यवहार नय के भी सामान्यभेदक और विशेषभेदक–ऐसे दो भेद है। सामान्य सग्रह मे भेद करनेवाले नय को सामान्यभेदक कहते है, जैसे–द्रव्य के दो भेद–१ जीव द्रव्य और २ अजीव द्रव्य।

और विशेष संग्रह में भेद करनेवाले नय को विशेषभेदक कहते हैं जैसे—जीव के दो भेद १ सिद्ध और २ संसारी ।

जीव के ५६३ अजीव के ५६० चौदह गुणस्थान पांच चारित्र आदि विषय व्यवहार नय के अन्तर्गत होते हैं—निश्चय नय से नहीं ।

४ ऋजुसूत्र नय—द्रव्य की पर्याय—वर्तमान पर्याय का ग्रहण करके भूत और भविष्य की उपेक्षा करने वाला यह नय है । वर्तमान में यदि आत्मा सुख का अनुभव करती है तो यह नय उसे सुखी कहेगा और बाह्य रूप से अनेक प्रकार की अनुकूलता होने पर भी यदि आत्मा में किसी प्रकार का खेद वर्तमान हो तो यह नय उसे दुखी कहेगा ।

एक सेठ सामायिक में बैठे थे । उस समय बाहर के किसी व्यक्ति ने आकर पुत्रवधू से पूछा—'सेठ कहाँ हैं' ? उसने कहा—'चमार के यहाँ गये हैं। उसने वापस लौटकर कहा—'चमार के यहाँ तो नहीं हैं' तब उसने कहा—पसारी की दुकान पर गये हैं । वह वहाँ से भी खाली लौटकर आया तब उसे दुकान पर जाने का कहा । दुकान पर नहीं मिलने पर वह फिर घर आया । इतने में सेठ ने सामायिक पारली थी । उन्होंने पुत्रवधू से पूछा—तुझे मालूम था कि मैं सामायिक कर रहा हूँ फिर तेने उसे झूठा उत्तर क्यों दिया' ? पुत्रवधू बुद्धिमती और मानस विज्ञान की ज्ञाता थी । उसने कहा पिताजी ! आप ऊपर से तो सामायिक में थे किन्तु उस समय आप विचारों से चमार की दुकान पर जूते खरीद रहे थे इसलिए मैंने आपके विचारों के अनुसार ही आपकी उपस्थिति बताई । दूसरी बार वह आया तब आप पँसारी की दुकान पर सौंठ खरीदने के विचारों में लग हुए थे और तीसरी बार आपकी विचारणा में दुकान का कार्य चल रहा था। इसलिए मैंने आपके विचारों के अनुसार ही उपस्थिति बताई । सेठ यह बात सुनकर समझ गये कि बहू ने व्यवहार की उपेक्षा करके वर्तमान पर्यायग्राही ऋजुसूत्र नय के अनुसार उत्तर दिये जो ठीक ही है ।

इस नय के भी दो भेद हैं—१ सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय और २ स्थूल ऋजुसूत्र नय । सूक्ष्म ऋजुसूत्र एक समय मात्र की पर्याय को ग्रहण करता है जैसे—शब्द क्षणिक है । जो अनेक समयों की वर्तमान पर्यायों को ग्रहण करे वह स्थूल ऋजुसूत्र नय है। जैसे—मनुष्य पर्याय सौ वर्ष से कुछ अधिक है' ।

व्यवहार में साधु का वेश धारण किये हुए होने पर भी यदि किसी का मन सांसारिक विषयों में लगा हो तो यह नय उस समय उसे साधु नहीं मानता । तात्पर्य यह कि यह नय व्यवहार की उपेक्षा करके वर्तमान अभिप्राय अथवा वस्तु की पर्याय को ही ग्रहण करता है ।

५ शब्द नय—यह नय शब्द प्रधान है । काल कारक लिंग वचन पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थ भेद करनेवाला है । जैसे—'सुमेरु था सुमेरु है सुमेरु होगा' । इन शब्दों में

काल भेद से सुमेरु के तीन भेद बन गये। 'घड़े को करता है', 'घडा किया जाता है',—इस प्रकार कारक भेद मे घडे के भेद होते है। पुल्लिग आदि लिग भेद, एक वचनादि वचन भेद और इस प्रकार अन्य शब्द भेद से अर्थ भेद व्यक्त करनेवाला शब्द नय है।

ऋजुसूत्र नय शब्द भेद की उपेक्षा करता है। वह कहता है कि 'शब्द भेद भले ही हो, उसमे वाच्य पदार्थ मे भेद नही होता। इसलिए वह शब्द की उपेक्षा करता है, किन्तु शब्द नय काल आदि भेद से अर्थ भेद मान कर तदनुसार ग्रहण करता है। यदि काल, लिग, और वचनादि भेद नही हो, तो यह नय, भिन्न अर्थ होने पर भी शब्द के भेद नही करता, जैसे—'इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, इन तीनो शब्दो का वाचक—बिना काल, लिग और वचनादि भेद के 'प्रथम स्वर्ग का इन्द्र' ही होता है। इसलिए यह नय एकार्थवाचक भिन्न शब्दो मे भेद नही करता। यह नय शब्द प्रधान है।

६ समभिरूढ नय—यह शब्द नय मे भी सूक्ष्म है। शब्द नय अनेक पर्यायवाची शब्दो का एक ही अर्थ मानता है और उनमे भेद नही करता है, तब समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्द के भेद से अर्थ भेद मानता है। इसके अभिप्राय से कोई भी दो शब्द, एक अर्थ के वाचक नही हो सकते। जैसे—इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची है, फिर भी इनके अर्थ में अन्तर है। 'इन्द्र' शब्द से 'ऐश्वर्यशाली' का बोध होता है और 'पुरन्दर' शब्द से 'पुरो अर्थात् नगरो का नाश करनेवाले' का ग्रहण होता है। दोनो शब्दो का आधार एक होते हुए भी अर्थ भिन्नता है ही। प्रत्येक शब्द का अर्थ, मूल मे तो अपना पृथक् अर्थ ही रखता है, किन्तु कालान्तर में व्यक्ति या समूह द्वारा प्रयुक्त होते होते वह पर्यायवाची बन जाता है। यह नय शब्दो के मूल अर्थों को ग्रहण करता है—प्रचलित अर्थ को नही। इस प्रकार अर्थ भिन्नता को मुख्यता देकर समभिरूढ नय अपना अभिप्राय व्यक्त करता है।

७ एवंभूत नय—शब्दो की स्वप्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही उनका वाच्य माननेवाला नय 'एवभूत' नय है। यह नय, पूर्व के सभी नयो मे अत्यन्त सूक्ष्म है।

समभिरूढ नय, शब्द के अनुसार अर्थ को ही स्वीकार करता है, तब एवभूत नय कहता है कि 'खाली अर्थ को स्वीकार कर लेने से ही क्या होना है, जब इन्द्र ऐश्वर्य का भोग नही करके नगरो का नाश कर रहा हो, तब उसमे इन्द्रपना है ही कहा? उस समय उसमें इन्दन क्रिया नही होने से उसे इन्द्र मानना व्यर्थ ही है, और जिस समय वह ऐश्वर्य भोग कर रहा हो, उस समय उसे 'पुरन्दर' मानना व्यर्थ है'। यह नय खाली घडे को 'घट' नही मानता, किन्तु जब वह अपना कार्य कर रहा हो अर्थात् जल धारण कर रहा हो, तभी घट मानता है। इस नय में उपयोग युक्त क्रिया ही प्रधान है। यह वस्तु की पूर्णता को ही ग्रहण करता है। यदि उसमे कुछ भी खामी हो—एक अश मे भी न्यूनता हो, तो वह वस्तु, इस नय के विषय से बाहर रहती है।

(स्थानाग ७ अनुयोगद्वार)

नय के निश्चय और व्यवहार—ये दो भेद भी होते हैं। निश्चय नय वस्तु की शुद्ध दशा को बतलाता है और व्यवहार नय अशुद्ध—संयोगजन्य दशा का प्रतिपादन करता है। यद्यपि व्यवहार नय दूसरी वस्तुओं के निमित्त से वस्तु को दूसरे ही रूप में बतलाता है फिर भी वह असत्य नहीं है। जैसे कि हम व्यवहार में घृत से भरे हुए घड़े का 'घी का घड़ा' कहते हैं; किन्तु वस्तुतः घड़ा तो मिट्टी, तांबा या पीतल का बना होता है। घी का नहीं। इसलिए निश्चय नय के अनुसार घी का घड़ा नहीं है। व्यवहार नय उसे घी का घड़ा कहता है वह इसलिए असत्य नहीं है कि उस घड़े का संबंध घृत से है—उसमें घी भरा हुआ है या घी भरा जाता है। तात्पर्य यह कि निश्चय नय वस्तु के मूल स्वरूप को ही ग्रहण करता है—निमित्त को नहीं और व्यवहार नय निमित्त अवस्था को ग्रहण करता है। अपनी अपनी दृष्टि से दोनों सत्य है। यदि एक दूसरे का विरोध करे तो दोनों मिथ्या नय—कुनय बन जाते हैं। भाषा के भेद में सत्य और व्यवहार भाषा को सत्य रूप ही माना है और स्थानांग १० में व्यवहार को भी सत्य कहा है। व्यवहार नय में पर दृष्टि मुख्य है तब निश्चय नय में स्वदृष्टि ही है। नैगमादि तीन नय निमित्तग्राही हैं। सबसे विशेष अशुद्ध दशा नैगमनय की है। तब ऋजुसूत्रादि चार नय निश्चय नयी हैं और एवंभूत नय परम विशुद्ध दशा का ग्राहक है। व्यवहार नय गुड़ को मीठा कहता है किंतु निश्चय नय उसमें पाँचों रस मानता है। व्यवहार नय की अपेक्षा भौंरा काला और पोपट हरा है किन्तु निश्चय नय इनमें पाँचों वर्ण मानता है। अपनी अपनी अपेक्षा से दोनों सत्य हैं।

(भगवती १८–६)

व्यवहार भाष्य गा ४७ में बताया है कि 'आदि के तीन नय अशुद्ध और बाद के चार नय शुद्ध हैं। वैनयिक मिथ्यादृष्टि आदि के तीन नय अपनाते हैं। वास्तव में किसी भी नय का एकान्त ग्रहण मिथ्यात्व युक्त होता है। जो एकान्त व्यवहार को पकड़कर निश्चय का विरोध करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और उसी प्रकार वे भी मिथ्यादृष्टि हैं जो एकान्त निश्चय को पकड़कर व्यवहार का खण्डन करते हैं। निश्चय का लक्ष रखकर तदनुकूल व्यवहार के आश्रय से उन्नत होना और विमुक्त दशा को प्राप्त करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है।

सप्तभंगी

अनेकान्तवाद का पहला रूप सप्तनय है, तो दूसरा है सप्तभंगी, जिसे 'स्याद्वाद' भी कहते है। सप्तनय में वस्तु का वस्तु की अपनी अपेक्षा से स्वरूप समझना मुख्य है, तब सप्तभंगी मे स्वपर-उभय अपेक्षा से वस्तु को समझा जाता है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म रहे हुए है। सर्वज्ञो के ज्ञान मे प्रत्येक वस्तु अपने मे अनन्त धर्म रखती है। उसका परिचय भी भिन्न भिन्न अपेक्षाओ से होता है। जैन दर्शन ने वस्तु स्वरूप समझने के लिए स्याद्वाद की दृष्टि प्रदान की है। इस दृष्टि से वस्तु का पूर्ण स्वरूप समझमे आ जाता है।

स्याद्वाद के मूल भग तो दो है-१ स्याद् अस्ति=कथचित् है, और २ स्यान्नास्ति=कथचित् नही है। अर्थात् अपेक्षा भेद से अस्तित्व नास्तित्व बताने वाले दो भग है, जैसे--'जीव कथचित् शाश्वत है और कथचित् अशाश्वत है। (भगवती ७-२) तथा लोक, क्षेत्र की अपेक्षा अन्त सहित है और कालकी अपेक्षा अन्त रहित है', आदि। इसमें लोक की सान्तता, अनन्तना की अस्ति नास्ति स्वीकार की गई है। इन दो भेदो के अतिरिक्त तीसरा 'अवक्तव्य' भग भी मूल ही है, किन्तु यह उपरोक्त दोनो भगों की अपेक्षा रखता है। 'स्याद् अवक्तव्य' भग यह बताता है कि--अस्ति नास्ति भी पूर्ण रूप से नही कही जा सकती है। वस्तु की कुछ ऐसी अवस्था भी होती है कि जिसका वर्णन कर सकना अशक्य होता है। आचारांग १-५ में लिखा है कि 'मुक्तात्मा का स्वरूप बताने में शब्द की भी शक्ति नही है'। इन तीन भगो से दूसरे चार भग उत्पन्न हुए, जिससे यह सप्तभगी कहलाई। वे सात भग इस प्रकार है।

१ **स्याद् अस्ति**-कथचित् है।

२ **स्याद् नास्ति**-कथचित नही है।

३ **स्याद् अस्ति नास्ति**-कथचित् है और नही भी है।

४ **स्याद् अवक्तव्य**-कथचित् कहा नही जा सकता।

५ **स्याद् अस्ति अवक्तव्य**-कथचित् है, पर कहा नही जा सकता।

६ **स्याद् नास्ति अवक्तव्य**-कथचित् नही है, पर कहा नही जा सकता।

७ **स्याद् अस्तिनास्ति अवक्तव्य**-कथचित् है, नही है, फिर भी कहा नही जा सकता।

इन सात भंगो को ही सप्तभंगी कहते हैं। प्रत्येक वस्तु पर सप्तभंगी लागू हो सकती है। जैसे—

१ जीव का जीव के रूप में अस्ति है।

२ जीव में जड़ की अपेक्षा नास्ति है क्योंकि वह जड़ नहीं है।

इन दोनों भंगों के मिलने से तीसरा (मिश्रित) भंग बना अर्थात् जीव जीव है, जड़ नहीं है।

४ जीव है वह जड़ नहीं है यह बात एक साथ नहीं कही जा सकती क्योंकि जिस समय अस्तित्व कहा जाता है, उस समय नास्तित्व नहीं कहा जाता है और जिस समय नास्तित्व कहा जाता है उस समय अस्तित्व नहीं कहा जाता। एक ही वस्तु कही जाती है और दूसरी रह जाती है। इसलिए अवक्तव्य' नाम का भंग हुआ।

५ जीव है फिर भी कहा नहीं जा सकता। यह भंग बताता है कि जीव समस्त धर्मों का भण्डार है। उन सभी धर्मों को बतानेवाले न तो पूरे शब्द हैं और न कहने की शक्ति ही है। थोड़े कहे जाते हैं परन्तु बहुत से रह जाते हैं। कितने ही गुण ऐसे हैं जो अनुभव तो किए जाते हैं किन्तु कहने में नहीं आते। जैसे घृत के स्वाद का अनुभव तो होता है किन्तु उसका स्वाद शब्द द्वारा बताया नहीं जाता। न मानसिक सुख दुःख आदि का पूरा वर्णन ही किया जा सकता है। इसलिए अस्तित्व के अवक्तव्य को बताने वाला यह पाँचवाँ भंग है।

६ इसी प्रकार जीव की जड़ की अपेक्षा नास्ति भी सम्पूर्ण रूप से नहीं कही जा सकती।

७ अस्ति नास्ति भी एक समय में एक साथ नहीं कही जा सकती।

अस्ति और नास्ति ये दो परस्पर विरोधी धर्म हैं। विरोधी धर्म एक वस्तु में कैसे रह सकते हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है किन्तु ऊपर बताए माफिक अपेक्षा भेद से दोनों विरोधी धर्म एक वस्तु में घटित हो सकते हैं।

प्रत्येक वस्तु का स्व चतुष्टय (अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भाव) की अपेक्षा अस्ति है और पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति है। जैसे—१ द्रव्य से—जीव जीवद्रव्य रूप से अस्तित्व रखता है २ क्षेत्र से—वह असंख्यात प्रदेश वाला और असंख्य आकाश प्रदेश में रहा है ३ काल से—जीव भूतकाल में भी था वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा और जीव का जीवत्व रूप है—परिणमन पर्याय परिवर्तन विविध पर्यायों की वर्तना गति जाति आयु स्थिति आदि का प्रारम्भ मध्य और अन्तराल सिद्ध। का प्रथम समय सिद्ध अप्रथम समय सिद्ध सादि सपर्यवसित आदि अपर्यवसित आदि जीव की स्वकाल की अपेक्षा अस्ति है और ४ भाव से—जीव की अपने ज्ञान दर्शन चारित्र सामान्य अथवा और विशेष ता भाव से अस्ति है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की स्व द्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति और पर द्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति है।

एक वस्तु मे दूसरी अनेक दृष्टियो से अनेक प्रकार का अस्तित्व नास्तित्व रह सकता है। जैसे एक व्यक्ति पूर्व मे भी है, पश्चिम मे भी है, उत्तर मे भी है और दक्षिण मे भी है। जो उसके पीछे खडा है, उसकी अपेक्षा वह पूर्व मे है, और जो आगे खडा है। उसकी अपेक्षा पश्चिम मे है, दाहिनी ओर खडे व्यक्ति की अपेक्षा उत्तर मे और बायी ओर खडे व्यक्ति की अपेक्षा दक्षिण मे है। पर्वत पर खडे व्यक्ति की अपेक्षा नीचे, कूएँ या खदान वाले की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा मे और समभूमि पर तिर्छी दिशा में माना जाता है। ये सभी अपेक्षाएँ भिन्न दृष्टियो से सही है।

एक व्यक्ति स्वय बेटा भी है, बाप भी है, काका, मामा, भानजा, भतीजा, भाई, ससुर, साला, जमाई, पति, बहनोई, फूफा आदि अनेक सम्बन्ध रखता है और सभी सम्बन्ध अपेक्षा भेद से सत्य है, अस्तियुक्त है। किंतु ये ही अपेक्षा भेद से नास्ति रूप बन जाते है, जैसे–वह अपने बाप की अपेक्षा बेटा है, किंतु पुत्र की अपेक्षा नही। मामा की अपेक्षा भानजा है, काका की अपेक्षा नही। इस प्रकार अपेक्षा भेद से प्रत्येक वस्तु अस्ति नास्ति युक्त सिद्ध होती है।

धर्मास्तिकाय अरूपी ही है, और चलन गुण युक्त ही है, वह रूपी और स्थिर गुण वाला नही है। इसमे अस्ति भी निश्चित है और नास्ति भी निश्चित है। दोनो दृष्टियाँ भिन्न होने से अनेकान्त है। और यही सम्यग् एकान्त भी है, क्योकि धर्मास्तिकाय मे अरूपी और चलन सहाय गुण का निश्चित रूप से स्थापन और रूप तथा स्थिरत्व गुण-का निषेध कर रहा है, जो सत्य ही है।

जीव ज्ञान गुण युक्त है। जड मे न तो ज्ञान है, न वह आत्मा ही है। जीव कभी भी जीवत्व का त्याग कर सम्पूर्ण जड रूप नही बन सकता, और जड कभी जीव नही बन सकता। मोक्ष अक्षय अनन्त सुखो का भण्डार है वहाँ दु ख का लेश भी नही है। इस प्रकार अनेकान्तवाद, सत्य निर्णय देने वाला, सम्यग् एकान्त से युक्त है। हाँ, इसमें मिथ्या एकान्त को स्थान नही है।

वास्तव में वस्तु को सही रूप मे विभिन्न दृष्टियो से समझाने के लिए अनेकान्त एक उत्तमोत्तम सिद्धात है। इसे सशयवाद कहना भूल है, और इसका दुरुपयोग करना मिथ्यात्व है। आजकल अनेकान्त का दुरुपयोग करके भ्रम फैलाया जा रहा है। यह मिथ्या प्रयत्न है।

अनेकान्तवाद वस्तु को विविध अपेक्षाओ से जानने के लिए उपयोगी है, किन्तु आचरण में अनेक दृष्टिया नही रहती। वहा तो एक लक्ष्य, एक पथ, एक साधना, एक आराध्य और एकाग्रता ही कार्य साधक बनेगी। यदि सयम पालन मे एक लक्ष नही रहा और आचरण में अनेकान्तता अपनाई, तो लक्ष्य की सिद्धि नही हो सकेगी। अनेकान्त के नाम पर मिथ्यात्व, अविरति असाधुता और ध्येय की विपरीतता नही चलाई जा सकती। हेय, हेय-है, उपादेय, उपादेय है। अनेकान्त के नाम पर हेय को उपादेय बतानेवाले के विचार स्वीकार करने के योग्य नही है। एक की आराधना ही सफलता प्राप्त

करवाती है। गुणस्थानों को चढ़कर और श्रेणि का आरोहण कर, वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी तथा सिद्ध दशा वे ही प्राप्त कर सकते हैं—जो अपने ध्येय में दृढ़—निश्चल—कट्टर रहकर प्रगति करते हैं।

अनेकान्त के नाम पर 'सर्व धर्म समभाव" का प्रचार करनेवाले स्वयं भ्रम में हैं। वास्तव में मोक्षार्थियों के लिए—सम्यग्दृष्टियों के लिए जिनेश्वर भगवंत का मार्ग ही उपादेय है। इसी मार्ग से शाश्वत सुखों की प्राप्ति हो सकती है अन्य मार्गों से नहीं। इसमें भी सम्यग् अनेकान्त रहा हुआ है। जैसे—जिनमार्ग में—धर्म की अस्ति अधर्म की नास्ति उत्थान की अस्ति पतन की नास्ति इत्यादि। इस प्रकार सम्यग् रूप से अनेकान्त का उपयोग कर जीवन को उन्नत बनाना चाहिए।

अन्नाण समोह तमोहरस्स, नमो नमो नाण दिवायरस्स

नमो नमो नाण दिवायरस्स

मोक्ष मार्ग

तृतीय खण्ड

★☆★
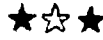
अगार धर्म

ज्ञानधर्म और दर्शनधर्म युगपत् होते हैं। जहां ज्ञान धर्म है, वहा दर्शन धर्म भी होता है और जहां दर्शनधर्म है वहां ज्ञानधर्म भी होता है। प्ररूपणात्मक ज्ञान तो कभी मिथ्यादृष्टि में भी हो सकता है। उसके द्वारा वह सामान्य लोगो को सम्यक्त्वी दिखाई देता है और वह दूसरो मे सम्यक्त्व जगा भी सकता है। इस कारण वह दीपक-प्रकाशक सम्यक्त्वी माना जाता है। किन्तु वह प्रकाश केवल दूसरों को प्रभावित करनेवाला ही होता है, खुद तो उससे शून्य ही है। 'दीपक तले अन्धेरा'—इस उक्ति के अनुसार खुद में अन्धकार रहता है। हमारे जैसे छद्मस्थों की दृष्टि में ऐसा प्रचारक, सम्यक्त्वी लग सकता है, किन्तु सर्वज्ञो के ज्ञान से तो वह मिथ्यात्वी ही होता है। उसे दर्शन धर्म का आराधक नही माना जाता और जो दर्शनधर्म का आराधक नही है, वह ज्ञानधर्म का भी आराधक नही है। श्रद्धा के अभाव मे उसका ज्ञान, मात्र "विषय-प्रतिभास" ज्ञान ही माना जाता है। जिससे वह विषय का प्रतिपादन कर सके। इस प्रकार का विषय प्रतिभास ज्ञानवाला वस्तुत मिथ्यादृष्टि ही है। जब तक उस ज्ञान के साथ श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नही होती, तब तक वह "आत्म परिणत" ज्ञान नही होता, और जब तक आत्म परिणत ज्ञान नही होता, तब तक दर्शन श्रावक भी नही हो सकता।

मार्गानुसारी के ३५ गुण

सद्धांतिक दृष्टि से अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्र मोहनीय कर्म का उदय साधारण भी होता है और बादार भी। जिसके कारण वह किसी प्रकार का त्याग नहीं कर सकता और मिथ्यात्व के सिवाय उसकी सभी वृतियाँ खुली रहती है।

साधारण तया पूर्वाचार्यों ने सम्यक्त्व प्राप्ति की सुलभता उन मनुष्यों में मानी है कि जिनका गृहस्थ जीवन अनिन्दनीय हो। इस प्रकार की दशा को 'मार्गानुसारिता' के नाम से बताया गया है। मार्गानुसारी के ३५ गुण इस प्रकार बताये गये हैं।

१ न्याय सम्पन्न विभव—जिसकी आजीविका के साधन न्याय के अनुकूल तथा सचाई से युक्त हो।

२ शिष्टाचार प्रशंसक—शिसका आचरण उत्तम लोग करते ह उन आचार की प्रशंसा करना। जैसे—लोकापवाद स डरना दुखियों की सेवा करना। तात्पर्य यह है कि बुरे कर्मों और खोटे रीति रिवाजों की प्रशंसा करने वाला नहीं होकर उत्तम आचार की प्रशंसा करनेवाला हो।

३ समान कुल शीलवाले अन्य गोत्रीय के साथ विवाह सबंध करनेवाला। जिनके आचार विचार और संस्कार ही भिन्न हो उसके साथ वैवाहिक संबंध जोड़ने से आगे चलकर क्लेशमय जीवन बन जाता है और उत्तम सस्कार—खानदानी बिगड़कर पतन होने की सभावना रहती है।

४ पाप भीरु—पाप जनक कार्मों से डर कर अलग रहने रहनेवाला।

५ प्रसिद्ध देशाचार का पालक—खान पान वेश भूषा भाषा आदि का पालन अपने देश के उत्तम व्यक्तियों द्वारा मान्य हो वैसा ही करना।

६ अवर्णवाद त्याग—पर निन्दा का त्यागी हो।

७ घर की व्यवस्था—रहने के लिए घर एसा हो कि जिसमें चोरों अथवा दुराचारियों का प्रवेश सुगम नहीं हो सके। क्योंकि इससे शांति भंग होने की संभावना है। पड़ोस भी भले और उत्तम लोगों का ही होना—घर संबंधी सुरक्षा और धार्मिक सुरक्षा का कारण होता है। नीचजनों के मध्य में रहने म और कुछ नहीं तो साथ खेलने आदि से बाल बच्चों के संस्कार बिगड़ना अधिक संभव हो जाता है।

८ सत्संग—भले और सदाचारियों की संगति करे और दुराचारियों स दूर रहे। सत्पुरुषों की संगति से सम्यक्त्व का प्राप्त होना सरल हो जाता है।

९ माता पिता की सेवा करे—यह सबसे पहला सदाचार है।

१० उपद्रव युक्त स्थान का त्याग करे। जहाँ विग्रह बलवा अथवा महामारी दुष्काल आदि की

सभावना हो, जिस स्थान पर युद्ध होने के लक्षण हो, वहाँ से हटकर निरापद स्थान पर चला जाय, जिससे शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत हो सके।

११ घृणित-निन्दनीय कृत्य नही करे।

१२ आय के अनुसार व्यय करे, अर्थात् आमदनी से अधिक खर्च नही करे। अधिक खर्च करने वाले कर्जदार होकर दुखी हो जाते है। इसलिए आमदनी से अधिक खर्च नही करे।

१३ अपना वेश, देश, काल और अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार रखे।

१४ बुद्धिमान होवे। बुद्धि के नीचे लिखे आठ गुण धारण करे।

१ शुश्रूषा-शास्त्र सुनने की इच्छा।
२ श्रवण-शास्त्र सुने।
३ ग्रहण-अर्थ को समझे।
४ धारण-स्मृति मे रक्खे।
५ ऊह-तर्क करे।
६ अपोह-युक्ति से दूषित ठहरनेवाली बात को त्याग दे।
७ अर्थविज्ञान-ऊह और अपोह द्वारा ज्ञान के विषय में हुए मोह अथवा सन्देह को दूर करे।
८ तत्त्वज्ञान-निश्चयात्मक ज्ञान करे।

उपरोक्त गुणो से विकसित बुद्धिवाला अकार्य से वचित रहकर सदाचार मे लगता है।

१५ प्रतिदिन धर्म श्रवण करे, क्योंकि धर्म श्रवण से ही उस पर श्रद्धा होकर सम्यक्त्व प्राप्त होती है।

१६ अजीर्ण होने पर भोजन नही करे, क्योंकि इससे बीमारी बढती है और बीमार व्यक्ति का धर्म में रुचि रखना, सत्सगति आदि करना कठिन हो जाता है।

१७ यथा समय भोजन करे। समय चुकाकर भोजन करने से भी मन्दाग्नि आदि रोग हो जाते है। भूख से अधिक भोजन भी नही करे, क्योकि यह अजीर्ण का कारण होता है।

१८ अबाधित त्रिवर्ग साधन-अर्थ और काम की इस प्रकार साधना नही करे, जिससे कि धर्म बाधित हो। एकान्त काम साधना से, तन धन और धर्म नष्ट होकर दुखी जीवन बिताना पडता है। एकान्त अर्थ साधना करने से, धर्म का नाश होता है और काम का भी और अर्थ तथा काम को त्याग-कर एकान्त धर्म साधना करना सर्वोत्तम होते हुए भी अनगार भगवतों के अथवा ब्रह्मचारी श्रावक के

योग्य है यह स्थिति मार्गानुसारी से ऊपर की है। यदि तीन में से एक का त्याग करना पड़े तो काम का त्याग दे और धर्म तथा धन के सेवन में कमी कर। यदि दो का त्याग करना पड़े तो काम और अर्थ का त्याग करदे और धर्म का सेवन करे, क्योंकि वास्तविक धन तो धर्म ही है।

१६ साधु और दीन अनाथों को दान दे। अभय सुपात्र और अनुकम्पा दान करना गृहस्थ का धर्म है।

२० दुराग्रह से रहित होना। अपना खोटा आग्रह पकड़ कर दूसरों को अपमानित करने का प्रयत्न करना—दुराचार है। इसलिए खोटी बातों का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

२१ गुण पक्षपात—गुणवानों सदाचारियों धर्मीजनों और सज्जनों तथा अहिंसा सत्यादि सद्गुणों का पक्ष करनेवाला हो।

२२ निषिद्ध देशादि में नहीं जावे। जहाँ जाने से अपने सदाचार की सुरक्षा नहीं होती हो जिस देश में जाने से अपनी शान्ति और सदाचार का भंग हो, वहाँ नहीं जाना।

२३ अपनी शक्ति को जानकर कार्य में प्रवृत्ति करे। यदि शक्ति से बाहर और सामर्थ्य से अधिक कार्य करना प्रारंभ कर दिया और सफलता नहीं मिली तो अशान्ति का कारण खड़ा हो जाता है।

२४ वृतस्थ ज्ञानवृद्धों की पूजा—दुराचार का त्याग करके सदाचार का पालन करने वाले वृतस्थ कहलाते हैं। ऐसे महात्माओं ज्ञानियों और अनुभवियों की सेवा भक्ति और विनय करना चाहिए।

२५ पोष्य पोषक—माता पिता पत्नी पुत्रादि और आश्रितजनों का पोषण करना उन्हें आवश्यक वस्तुऐं देना।

२६ दीर्घदर्शी—दूरदर्शिता पूर्वक लाभ हानि लाभ का विचार करके कार्य करना।

२७ विशेषज्ञ अपना ज्ञान बढ़ाकर कार्य अकार्य एवं हेय उपादेय के विषय में अनुभव बढ़ाना चाहिए।

२८ कृतज्ञ—अपने पर किये हुए उपकारों को सदा याद रखकर उनका आभार मानते रहना चाहिए।

२९ लोकवल्लभ—विनय सेवा सहायतादि से लोक प्रिय होना चाहिए।

३० लज्जावान—लज्जावान होना चाहिए। जिसमें लज्जा गुण होता है वह अनेक प्रकार की बुराई से बच कर धर्म के संमुख हो सकता है।

३१ दयालु — दुखी प्राणियों के दुःख देख कर हृदय का कोमल होना और उनके दुःख दूर करने का यथा शक्ति प्रयत्न करना।

३२ सौम्य —सदैव शान्त स्वभाव और प्रसन्न रहे। क्रूरता को अपने पास भी नही आने दे।

३३ परोपकार कर्मठ—दूसरो की भलाई करने मे सदैव तत्पर रहे।

३४ क्रोध, लोभ, मद, मान,काम और हर्ष—इन छ अन्तरग शत्रुओ का यथा सभव त्याग करे।

३५ इन्द्रिय जय —इन्द्रियो पर यथा शक्ति अकुश रखे। (योगशास्त्र प्रकाश १)

उपरोक्त ३५ गुण मार्गानुसारी के कहे गये है। ये प्राय सुखी गृहस्थ के लिए आवश्यक है। इनमे बहुत से गुण तो ऐसे है जो सम्यक्त्व के लिए भूमिका तैयार करनेवाले है, और कुछ सम्यक्त्वी अवस्था के। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि जिनमे ये अथवा इनमे से अमुक गुण विद्यमान नही हो वह सम्यक्त्व के योग्य हो ही नही सकता। क्योकि थोडी देर पहले जो क्रूर, हत्यारा और महानपात की था, वह भी अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यग्दृष्टि हो गया। जो महान क्रूर कर्म करके और परम कृष्ण लेश्या के उदय से सातवी नरक मे गया, वह भी उत्पत्तिके अन्तर्मुहूर्त बाद—पर्याप्त होने के बाद—सम्यग्दृष्टि हो सकता है। किन्तु मनुष्यो को अपनी परिणति सुधारकर उत्थान करना हो, तो उसे उपरोक्त गुणो को अपने हृदय में टटोलकर देखना चाहिए कि मुझमे दर्शन श्रावक बनने की योग्यता रूप मार्गानुसारी के गुण है या नही ? यदि नहीं हो, तो प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और हो तो उनमे सम्यक्त्व रत्न को दृढता पूर्वक धारण करना चाहिए।

दर्शन श्रावक

दर्शन श्रावक भी वही हो सकता है कि जिसकी निर्ग्रंथ प्रवचन मे पूर्ण श्रद्धा हो। वह हृदय से मानता हो कि—

'निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है, सर्वोत्तम है, प्रतिपूर्ण है, न्याय युक्त है, शुद्ध है, शल्य को दूर करने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है और समस्त दुखो का अन्त करके परम सुख को प्राप्त करने का मार्ग है। इस निर्ग्रंथ प्रवचन में रहा हुआ जीव, आत्मा से परमात्मा बन जाता है। मै इस धर्म की श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता हूँ"। (भगवती ९–३३, आवश्यक तथा उववाई)

"जिनेश्वर भगवान् ने जो कुछ कहा है वह सब सत्य है। उसमें किसी प्रकार का सन्देह नही है"।
(आचाराग १–५–५ तथा भगवती १–३)

"अरिहत भगवान् ही मेरे आराध्य देव है। निर्ग्रंथ श्रमण मेरे गुरु है, और जिनेश्वर भगवत का उपदेश किया हुआ तत्व ही मेरे लिए धर्म है। मेरा इन पर दृढ विश्वास है"। (आवश्यक सूत्र)

वह मानता है कि—

आत्मा के लिए अरिहंत सिद्ध निर्ग्रंथ साधु और धर्म ही मंगल रूप है। संसार के उत्तमोत्तम विशिष्ट पदों में ये चार पद ही सर्वोत्तम है। संसार के सातों भयों से भयभीत बने हुए जीवों के लिए शान्ति एवं निर्भयता प्राप्त करने रूप आश्रय स्थान—ये अरिहंतादि चार ही है। इनका शरण ही जीवों का परम शान्ति प्रदान कर सकता है'। (आवश्यक सूत्र)

सम्यक्त्वी की षद्रव्य नौतत्त्व और ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्षमार्ग में पूर्ण श्रद्धा होती है।

(उत्तराध्ययन २८)

अविरत सम्यग्दृष्टि—दर्शन श्रावक का गुणस्थान तो चौथा होता है किन्तु इसमें परिणति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। कोई जघन्य दर्शन आराधनावाले होते हैं तो कोई मध्यम और कोई उत्कृष्ट। प्रत्येक भेद में भी तरतमता लिए हुए जीव होते हैं। सम्यक्त्व रूपी रत्न अपने आप में है तो एक ही प्रकार का (क्षायिक सम्यक्त्व) किन्तु पात्र भेद से अथवा अवस्था भेद से इसके तीन भेद किये हैं— १ उपशम २ क्षयोपशम और ३ क्षायिक। पूर्व के दो भेद पात्र की कुछ मलीन अवस्था के कारण हुए हैं। जिस व्यक्ति का मिथ्यात्व अन्तमुहूर्त के लिए एक दम दब गया हो—वह उपशम सम्यक्त्ववाला होता है और जिसका मैल प्रदेशोदय में ही रहकर रसोदय दब गया हो वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वामी होता है। उपशम और क्षायिक सम्यक्त्वी जीव परिणति में समान ही होते हैं। उनमें पेशा किसी में कोई तरतमता नहीं होती किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में वर्तमान जीवों की परिणति प्रत्येक की भिन्न प्रकार की होती है। क्षायिक सम्यक्त्वी तो दर्शन के उत्कृष्ट आराधक ही होते हैं किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट—ऐसे तीन भेद हैं।

श्री भगवतीसूत्र ८–१० में लिखा है कि उत्कृष्ट दर्शन आराधना वाला या तो उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है यदि उस भव में मुक्ति प्राप्त नहीं करे तो दो भव करके तीसरे भव में तो अवश्य मुक्ति पा सकता है। मध्यम आराधना वाले जीव उस भव में तो सिद्ध नहीं होते किन्तु तीसरे भव में सिद्ध हो जाते हैं और जघन्य आराधनावाले यदि जल्दी सिद्ध हों तो तीसरे मनुष्य भव में अर्थात् पाँचवे भव में अन्यथा अधिक से अधिक पन्द्रह भव करके सिद्ध हो सकते हैं।

दर्शनश्रावक के किसी प्रकार की विरति नहीं होती किन्तु यह दर्शन गुण चारित्र गुण को प्राप्त करवाकर उन्नत कर देता है। दर्शनश्रावक का सबसे प्रथम और महत्व पूर्ण कर्तव्य यह होता है कि वह अपने दर्शन रत्न को सुरक्षित रखकर मिथ्यात्व से बचाता रहे। यदि दर्शन गुण सुरक्षित रहा तो दुर्गति का कारण नहीं रह कर अधिक से अधिक पन्द्रह भव में मुक्ति दिला ही देगा। यदि सम्यक्त्व रत्न को गँवा दिया तो इसको पुनः प्राप्त करना मुश्किल हो जायगा। भाग्य प्रबल हो तो पुनः अन्तमुहूर्त में ही प्राप्त हो सकता है और दुर्भाग्य में वृद्धि होता रहे तो अनन्त भव भ्रमण रूप वनस्पति अर्धपुद्गल परावर्तन तक जन्म मरणादि के महान् दुःखों को भुगतना पड़ता है।

दर्शन सम्यक्त्व की उत्कृष्ट आराधना करनेवाले दर्शन श्रावक, विना देश चारित्र के ही अपूर्व स्थिति को प्राप्त करके तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन कर सकते है। श्री कृष्णवासुदेव और मगधेश्वर महाराज श्रेणिक, दर्शन श्रावक ही थे। किन्तु जिनेश्वर भगवन्त और निर्ग्रंथ प्रवचन पर अटूट श्रद्धा होने के कारण उन्होंने अविरत अवस्था मे ही तीर्थंकर नाम कर्म का बँध कर लिया था।

चारित्र मोहनीय कर्म के प्रगाढ उदय से जीव, विरति को आत्मा के लिए उपकारक मानते हुए भी अपने जीवन मे उतार नही सकता। वह त्याग भावना रखते हुए भी अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से अविरत रहता है, फिर भी दर्शन विशुद्धि इतनी जोरदार हो जाती है कि जिसके द्वारा अरिहत, सिद्ध, निर्ग्रंथ प्रवचन, गुरु, स्थविर, वहुश्रुत, तपस्वी की सेवा, भक्ति, वहुमान, हित कामनादि से तथा विशुद्ध श्रद्धान्, श्रुत भक्ति और प्रवचन प्रभावना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करके तीसरे भव मे तीर्थंकर भगवान् हो जाता है (ज्ञाता ८)।

चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों का है, किन्तु सभी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, 'दर्शन श्रावक' नही कहे जाते, क्योंकि श्रावक तो वही माना जाता है जो निर्ग्रंथ–प्रवचन को सुने। निर्ग्रंथ प्रवचन सुनने का सौभाग्य, कर्म भूमि के कुछ मनुष्यो, कुछ तिर्यचो और कुछ देवो को ही मिलता है। नारको को तो ऐसा योग मिलता ही नही, अधिकाश तिर्यञ्चों और देवो को भी नही मिलता। इसलिए वे अविरत सम्यग्दृष्टि तो कहे जा सकते है, किन्तु दर्शन–श्रावक नही कहे जाते।

आस्तिकवादी

श्रावक आस्तिकवादी होता है। वह जीव, जीव की शाश्वतता, जीव की कर्म वद्धता, जीव को भोक्ता' मुक्ति और मुक्ति के उपाय को मानता है। वह आस्तिकज्ञान वाला है और आस्तिक दृष्टि युक्त होता है।

वह सम्यग्वादी–तत्त्वो का यथार्थ निरूपण करनेवाला होता है।

वह नित्यवादी–आत्मा को शाश्वत, ध्रुव तथा मुक्ति को शाश्वत सुखदायक मानने वाला होता है।

वह सत्परलोकवादी–परलोक का सत्य स्वरूप कहनेवाला होता है।

वह जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, वेदना, निर्जरा–इन सबका अस्तित्व और परिणाम को मानने और कहनेवाला होता है।

वह पाप और पुण्य को तथा पाप का नरक रूप बुरा फल और पुण्य का स्वर्ग रूपी शुभ फल मानता है। वह संवर और निर्जरा की क्रिया से मुक्ति मानता है। अतएव वह क्रियावादी है। वह इस लोक परलोक और अलोक को भी मानता है।

वह माता पिता और उनके साथ अपना कर्तव्य भी मानता है। वह अरिहंत चक्रवर्ती बलदेव और वासुदेव को भी मानता है।

वह समस्त अस्ति भावों का अस्तित्व स्वीकार करता है और सभी प्रकार के नास्ति भाव की नास्ति मानता है।

इस प्रकार सम्यक श्रद्धावाला श्रावक सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जिसकी उपरोक्त विषयों में पूर्ण आस्था नहीं है–वह जैनी नहीं है। (उववाई दशा श्रु ६)

सुश्रावक क्षमा आदि तत्वों से और अरिहंत भगवान् उनकी परम वीतरागता सर्वज्ञसर्वदर्शीता से इन्कार नहीं कर सकता। साधुओं को आगमानुसार निरवद्य आचरण श्रावकों की विरति सामायिक पौषध आदि करणी और दीक्षा की उपादेयता के विषय में विपरीत भाव नहीं करता। इस प्रकार हेय को हेय और उपादेय को उपादेय मानने और कहनेवाला श्रावक–आस्तिकवादी है क्रियावादी है। सम्यग्ज्ञान सम्पन्न है और सम्यग्दृष्टि वाला है।

विरति की अपेक्षा श्रावक के भेद

जिस प्रकार साधुओं में दीक्षा पर्याय की अपेक्षा तथा क्रिया कर्म और आराधना की अपेक्षा भेद होते हैं उसी प्रकार श्रमणोपासकों के भी चार भेद हैं। ये भेद इस प्रकार हैं।

१ कोई श्रावक पर्याय से बड़े हैं किन्तु गुणों से नहीं हैं। वे महान् क्रिया महान् कर्म और अति प्रमाद युक्त होकर धर्म की साधना बराबर नहीं करते हुए धर्म के आराधक नहीं होते।

२ कोई व्रत पर्याय में बड़े हैं और गुणों से भी बड़े होते हैं। वे अल्प कर्म अल्प प्रमाद तथा साधना युक्त होकर आराधक होते हैं।

३ कोई व्रत पर्याय में छोटे भी हैं किन्तु हैं महान् क्रिया महान् कर्म और अति प्रमाद युक्त। ये धर्म साधना बराबर नहीं करते हुए धर्म के अनाराधक होते हैं।

४ कोई व्रत पर्याय में छोटे होते हुए भी गुणों में बड़े होते हैं उनका अल्पक्रिया अल्पकर्म अल्प प्रमाद तथा प्रत्याख्यानादि अधिक होता है। वे भगवान् की आज्ञा के आराधक होते हैं। (स्थानांग ४–३)

श्रमणोपासकों को भगवान की आज्ञा के आराधक होने का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

अभिगम

तीर्थंकर देव अथवा धर्माचार्य की सेवामे, धार्मिक नियम के अनुसार ही जाना चाहिए। जिस प्रकार राजसभा आदि मे उसके नियम के अनुसार जाना ही सभ्यता है, उसी प्रकार धर्म स्थान पर भी धार्मिक नियमो का पूर्ण रीति से पालन करते हुए जाना धार्मिकता का प्रथम कर्त्तव्य है। उन नियमो को आगमो मे 'अभिगम' कहा है और अभिगम पाच प्रकार का इस प्रकार है।

(१) सचित्त द्रव्य– पुष्प, ताम्बुल आदि का त्याग करना, साथ नही ले जाना ‡।

(२) अचित द्रव्य—वस्त्र आभूषण का त्याग नही करे—इन्हे व्यवस्थित रखे।

(३) एक वस्त्रवाले दुपट्टे का उत्तरासग करे।

(४) धर्माचार्य अथवा मुनिराज को देखते ही दोनो हाथ जोडकर विनय बतावे।

(५) मन को एकाग्र करे। (भगवती २–५)

ये पाँच अभिगम, है। इनका पालन अवश्य करे। यह धर्मस्थान सम्बन्धी मर्यादा है। इससे मुनिराज अथवा महासतीजी के प्रति अत्यन्त आदर व्यक्त होता है। श्रमण निर्ग्रंथ, उपासक श्रावको के लिए अत्यन्त आदरणीय होते है। उनका बहुमान करना श्रावको का प्रथम कर्त्तव्य है।

पर्युपासना

मर्यादानुसार धर्मस्थान मे प्रवेशकर गुरुदेव को तीन बार आदान प्रदक्षिणा करके वन्दना करनी चाहिए। इस के बाद नीचे लिखी तीन प्रकार की पर्युपासना करनी चाहिए।

१ कायिक पर्युपासना—मस्तक, दो हाथ और दोनो पांव झुकाकर नमस्कार करना और विनम्र होकर दोनो हाथ जोडकर पर्युपासना करना।

२ वाचिक पर्युपासना—ज्यो ज्यो भगवान् उपदेश करे, त्यो त्यो उनकी वाणी का बहुमान करते हुए कहना कि भगवन्! आप फरमाते है वह सत्य है, यथार्थ है, नि सदेह सत्य है। इसमे रत्तिभर भी अन्तर नही है। मै आपके उपदेश को चाहता हूँ, रुचि करता हूँ। आपके वचनो पर मुझे पूर्ण विश्वास है। इस प्रकार अनुकूल शब्दो से पर्युपासना करना।

---

‡ मान प्रदर्शक आयुध (शस्त्र) छत्र, चामरादि तथा उपानह (पाँवपोशआदि) का भी त्याग करे (भगवती ६–३३ तथा उववाई ३२)

आदि प्रव्रजित होकर सर्व चारित्री बन जाते है, किन्तु मै उतना शक्तिशाली नही हूँ। मेरी शक्ति का विकास उतना नही हुआ कि मै सर्वस्व त्यागकर निर्ग्रंथ बन जाऊँ। इसलिए मै देशविरत होता हूँ और आंशिक संयम को स्वीकार करता हूँ"।

देश विरत श्रावको के पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते है,-किन्तु सभी देश विरत श्रावक इन बारह व्रतो के पालक होते ही है-ऐसी बात नही है। कोई किसी एक व्रत या उसके, अंश का पालक होता है, तो कोई सभी व्रतो का और उससे भी आगे बढकर 'उपासक प्रतिमाओ का पालक भी होता है। इस प्रकार परिणति के अनुसार त्याग मे भेद होते हुए भी सबका गुणस्थान तो एक पांचवां ही होता है। कोई पाँचवे के जघन्य स्थान पर होता है, तो कोई उत्कृष्ट स्थान पर। इसे अगार धर्म कहते है।

अनगार भगवतो के पाच महाव्रत होते है, तो अगारी-श्रावको के पांच अणुव्रत होते है। महाव्रतो की अपेक्षा छोटे होने के कारण श्रावको के व्रतो को 'अणुव्रत' कहते है। इनका क्रमश विवेचन किया जाता है।

स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत

श्रावक के प्रथम अणुव्रत का नाम 'स्थूल प्राणातिपात विरमण' है। स्थूल=बडे, साधु तो एकेन्द्रिय स्थावर जैसे छोटे जीवो की भी हिंसा नही करते, किन्तु गृहस्थ इनकी हिंसा से पूर्ण विरत नही हो सकता। इसलिए वह स्थूल-बडे-त्रस जीवो के विषय मे ही विरत होता है।

प्राणातिपात=प्राणो को धारण करने के कारण जीव को प्राणी कहते है। जीवो के कुल दस प्राण होते है। यथा-

१ श्रोतेन्द्रिय बल प्राण, २ चक्षुइन्द्रिय, ३ घ्राणेन्द्रिय, ४ रसेन्द्रिय, ५ स्पर्शेन्द्रिय ६ मन बल प्राण, ७ वचन, ८ काया, ९ श्वासोच्छ्वास, और १० आयुष्य बल प्राण।

इन दस प्राणो में से एकेन्द्रिय के-१ स्पर्श २ काय ३ श्वासोच्छ्वास और ४ आयु-ये चार प्राण होते है। बेइन्द्रिय के-५ रसेन्द्रिय और ६ वचन बढकर छह, तेइन्द्रिय के घ्राणेन्द्रिय बढकर ७, चौरेन्द्रिय के चक्षुइन्द्रिय बढकर ८, असज्ञी पचेन्द्रिय के श्रोतेन्द्रिय बढकर ९, और सज्ञी पचेन्द्रिय के मन बढकर १० प्राण होते है। प्राणियो के इन प्राणो का नाश करना-प्राणातिपात है।

विरमण-विरत होना, स्थूल प्राणातिपात का त्याग करना। दूसरे शब्दो मे इस व्रत का नाम 'स्थूल हिंसा त्याग व्रत' अथवा 'श्रावको का अहिंसा व्रत' कहते है।

हिंसा दो प्रकार की होती है—१ संकल्पजन्य और २ आरंभजन्य

संकल्पजा—संकल्प पूर्वक अर्थात् इच्छा युक्त—प्रतिज्ञा पूर्वक रक्त के लिए मांस के लिए अथवा हड्डी चमड़ी दवाई, केश रोम नख दांत के लिए या फिर मनोरंजन के लिए शिकार खेलकर, इत्यादि अनेक प्रकार से संकल्पी हिंसा की जाती है।

आरंभजा—मकान बनाते भूमि खोदते झाड़ते बुहारते भोजन पकाते अग्नि प्रज्वलित करते वस्त्र धोते और व्यापारादि आरंभ के अनेक प्रकार में स्थावर के साथ त्रस जीव की घात हो जाना—आरंभजा हिंसा है। यहाँ त्रस जीवों को मारने का संकल्प तो नहीं है किन्तु उनकी हिंसा हो जाती है।

श्रावक त्रस जीवों की संकल्पजा हिंसा का त्याग करता है किन्तु इसमें वह छूट रखता है कि अपने तथा अपने सम्बन्धियों के शरीर में पीड़ा करनेवाले कृमी नारु आदि का दवाई आदि से विनाश होता हो और अपराधी को दण्ड देने की आवश्यकता हो तो इसकी छूट रखकर इसके अतिरिक्त जान बूझकर संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। वह गृहस्थ है। घरबार, कुटुम्ब परिवार और धन सम्पत्ति से उसका स्नेह बन्धन छूटा नहीं है। वह संसार से सर्वथा विरक्त नहीं है। इसलिए प्रत्याख्यानावरण मोह के उदय से वह अपराधी को दण्ड देता है और अपनी अपने सम्बन्धियों की अपनी संपत्ति की और अपने उत्तरदायित्व की रक्षा के लिए वह विवश होकर आक्रमक या चोर जार आदि को दण्ड देने को तत्पर होता है उसके विरुद्ध शस्त्र का उपयोग करता है। वह त्रस हिंसा का त्याग भी सर्वथा नहीं कर सकता।

जिसने प्राणातिपात विरमण व्रत स्वीकार किया है वह प्राणियों को मारे पीटे अंगभंग करे भूखा प्यासा रक्खे समय पर भोजन नहीं दे या कम दे सामर्थ्य से अधिक काम ले तो उसका व्रत निर्मल नहीं रहता है। अतः व्रत को निर्दोष रखने के लिए पांच अतिचारोंको टालना चाहिए।

१ बन्ध—यदि किसी मनुष्य अथवा पशु को अपराध के कारण या सुधारने के लिए दण्ड देना पड़े तो उस समय उसे क्रूरता पूर्वक गाढ़ बन्धनों से नहीं बांधना कि जिससे वह अपने हाथ पांव हिला नहीं सके। उसका हलन चलन कठिन हो जाय। अंगों में रक्त का संचालन रुक जाय और जीवन समाप्त होने की स्थिति बन जाय। इतना क्रूर बनने से अहिंसक भावना नष्ट हो जाती है। इसलिए दण्ड देने के लिए दृढ़ बन्धनों से नहीं बांधना चाहिए। यह पहला 'बन्ध नामक' अतिचार है।

अपने मौज शौक के लिए तोता मैना आदि पक्षी को बन्दी बनाना किसी मनुष्य पर अनुचित एवं अन्याय पूर्वक दबाव डालकर उसे बन्दी बनाना उसकी स्वतंत्रता का अपहरण करना आदि भी इस अतिचार में आ सकते हैं।

२ वध—वध दो प्रकार से होता है । एक तो अकारण और दूसरा सकारण । बिना कारण या अपने मनोरजन अथवा बडप्पन प्रदर्शित करने के लिए किसी को मारना पीटना तो निषिद्ध ही है, किन्तु सकारण किसी को मारना पडे—दण्ड देना पडे, तो इस प्रकार का प्रहार नही हो कि जिससे उसकी हड्डी पसली टूट जाय, गहरे घाव लग जाय, और अग भग हो जाय । निर्दयता पूर्वक किया हुआ प्रहार, तत्काल नही तो कालान्तर मे भी प्राण घातक हो सकता है । अतएव कठोर प्रहार नही करना चाहिए। किसी को वध करने की सलाह या आदेश देना, मर्मान्तिक आक्षेप करना भी इसमें आता है ।

३ छविच्छेद—हाथ पाँव आदि अगो का छेदन करना—छविच्छेद नामका तीसरा अतिचार है । निष्कारण अग का छेदन तो निषिद्ध ही है । सकारण मे रोगी अग की चिरफाड, अतिचार नही है, क्योकि वह दण्ड नही किन्तु रोगी के जीवन की रक्षा के लिए है । दण्ड देने के लिए अथवा स्वार्थ वश पशुओ की नासिका का छेदन कर 'नाथ' डालना, सीग पूछ आदि काटना, कान चीरना, और उन्हे खशी (नपुसक) बनाना, ये सब कार्य क्रूरता के है । अहिसक भावना को नष्ट करनेवाले है । मनुष्यो के नाक, कान या हाथ आदि काट देना, अन्तपुर की रक्षा के लिए नपुसक कर देना, ये कार्य अहिसा 'अणुव्रत को सुरक्षित नही रहने देते। इसलिए ऐसे कार्य नही करना चाहिए ।

४ अतिभार—गाडी, घोडा, बैल आदि पर उसकी सामर्थ्य से अधिक भार लादना, तांगे या बग्घी मे अधिक सवारियें बैठना, मजदूरो या हमालो से ज्यादा बोझ उठवाना, अर्थात् किसी भी मनुष्य अथवा पशु से उसकी शक्ति से अधिक काम लेना भी निर्दयता है । इस प्रकार की निर्दयता श्रावक को नही करनी चाहिए।

५ भक्त पान विच्छेद—आश्रित मनुष्य अथवा पशुओ को भूखे प्यासे रखना, उन्हे समय पर भोजनादि नही देना—इस प्रकार का दड भी क्रूरता से ही होता है । रोग के कारण लघन कराना हित बुद्धि है, इसलिए यह तो निषिद्ध नही है, किन्तु दण्ड देने के लिए अथवा स्वार्थ बुद्धि से भूखों मारना, अथवा आजीविका के साधन नष्ट कर देना अतिचार है ।

उपरोक्त पाच अतिचारो से श्रावक को सदैव बचते रहना चाहिए । ये पांच अतिचार तो प्रसिद्ध ही है । इनके अन्तर्गत अन्य अनेक बाते आ जाती है । इन सब का तात्पर्य यही है कि जिस अहिसक भावना से अहिसा अणुव्रत स्वीकार किया गया, वह कायम रहनी चाहिए। स्वार्थ अथवा क्रूरता के कारण अहिसकता में मलिनता नही आनी चाहिए ।

३ भूम्यलीक—भूमि सम्बन्धी झूठ बोलना। दूसरों की-भूमि को अपनी बतलाना या दूसरों की भूमि को अपने किसी रागी की भूमि बतलाना। यही बात घर, खेत बाग बगीचे आदि के विषय में है। भूमि सवधी झूठ बोलने मे यह अर्थ भी है कि 'क्षार युक्त भूमि अथवा खराब भूमि को अच्छी बताकर किसी के गले मढ देना, इससे लेने वाला दुखी हो जाय। इस प्रकार का झूठ भी त्याज्य है। यहा भूमि से उत्पन्न धान्यादि और धातु आदि का भी समावेश हो सकता है।

४ न्यासापहार—किसी की धरोहर रखकर बदलजाना और झूठ बोलना। स्वार्थान्धता के कारण यह झूठ बोला जाता है और इसका परिणाम भी भयकर होता है। अतएव ऐसा झूठ भी त्याज्य है।

५ कूटसाक्षी—झूठी गवाही देकर किसी निरपराध को फँसाना, किसी का अहित कर देना। यह भी वडा झूठ है।

वडे झूठ के ये पांच प्रकार—पूर्वाचार्यों ने वतलाये है। ऐसे झूठ कि जिससे किसी प्राणी का विशेष अहित हो, वे सभी वडे झूठ मे आ जाते है, और ऐसे झूठ के श्रावक के त्याग होते है। किसी का भी अहित नही हो, किन्तु किसी प्राणी की प्राण रक्षा होती हो, तो ऐसा झूठ बोलने में श्रावक लाचारी समझता है। इस व्रत के पांच अतिचार भगवान् ने बतलाये है, जो इस प्रकार है।

१ सहसाभ्याख्यान—किसी पर बिना विचारे कलक लगाकर झूठे दोष मढना।

२ रहस्याभ्याख्यान—किसी के मर्म—गुप्त भेद को प्रकट करना।

३ सदारमन्त्र भेद—अपनी पत्नी की गुप्त बातो को प्रकट करना।

४ मृषोपदेश—असत्य सिद्धातो का उपदेश करना, विषय वर्धक प्रयोग बताना, झूठ बोलकर ठगने को प्रेरित करना और ऐसी बाते बताना कि जिससे दूसरे लोग महान् आरम्भ परिग्रह तथा विषय कषाय मे प्रेरित हो।

५ कूटलेख करण—झूठे दस्तावेज बनाना, जाली लेख बनाना, नकली बहियाँ तय्यार करना, लिखे हुए को मिटाकर नये जाली अक बना देना। नकली हस्ताक्षर बनाना और नकली मुहर आदि लगाना ये सब त्याज्य है।

तात्पर्य यह कि उन सब झूठो को त्याग देना चाहिए, जिससे असत्य त्याग व्रत मलिन होता हो। और दूसरो के लिए अहितकर प्रमाणि होता हो।

☆—•—☆
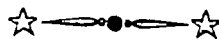
स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत

वैसे तो बिना दिया हुआ एक तिनका लेना भी अदत्तादान है किन्तु इस प्रकार का सर्वथा अदत्त त्याग तो महाव्रतों के पालक अनगार ही कर सकते हैं। श्रावक तो स्थूल अदत्तादान का ही त्याग कर सकते हैं।

जिस वस्तु का स्वामी दूसरा हो या कहीं सुरक्षित स्थान पर रखी हो या कहीं रास्ते में गिरी हुई पड़ी हो या कोई कहीं भूल गया हो ऐसी बड़ी वस्तु कि जिसके बिना आज्ञा के उठाने का न्याय अधिकार नहीं हो जिसका लेना लोक विरुद्ध तथा न्याय के प्रतिकूल हो ऐसी वस्तु को लेना स्थूल अदत्तादान है। ऐसी वस्तु लेते समय लेनेवाले के भाव भी बुरे हो जाते हैं। इस प्रकार का बड़ा अदत्तादान पूर्वाचार्यों ने पाँच प्रकार का बताया है।

१ दीवाल अथवा भित्ति में खात देकर माल चुराना।

२ गांठ खोलकर, खोलकर अथवा जेब काटकर चोरी करना।

३ दूसरी कूची लगाकर ताला खोलकर या ताला तोड़कर माल निकालना।

४ पथिकों का लूटना।

५ दूसरों की गिरी या भूली हुई वस्तु को अपनी बतलाकर लेना।

इस प्रकार की बड़ी चोरियाँ न्याय नीति के भी विरुद्ध हैं। ऐसे अदत्त लेनेवाले की आत्मा भी बहुत सक्लेश मय होती है। इसलिए श्रावक को तो इस प्रकार के सभी अदत्तादान का त्याग ही करना चाहिए।

इस अदत्त त्याग व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं।

१ स्तेनाहृत—चोरी की वस्तु खरीदना या वैसे ही लेकर रखना। चोरी की वस्तु बहुमूल्य हो तो भी अल्पमूल्य में मिल जाती है। इसी स्वार्थ के कारण चोरी की वस्तु खरीदी जाती है। चुराई हुई वस्तु—जानते हुए भी खरीदना चोरी को प्रोत्साहन देना है। इसलिए अदत्त त्याग व्रती श्रावक चोरी की वस्तु नहीं खरीदे। इससे उसका गार्हस्थ्य जीवन भी नीतिमय एवं सुख पूर्वक चलता है और वह राज दण्ड से भी बच जाता है।

२ स्तेन प्रयोग—चोर को चोरी करने के लिए प्रेरित करना उसे सहायता देना और चोरी में उपयोग आनेवाले साधन देना—दूसरा अतिचार है।

३ विरुद्ध राज्यातिक्रम—शत्रु राज्यों देशों—जिनमें राज्य में आना जाना तथा व्यापार करना राज्य की ओर से बन्द कर दिया गया है। उस राजाज्ञा का अतिक्रम कर शत्रु देश में आना जाना या उसमें व्यापारादि करना।

राज्य की ओर से जिन बुराइयो का निषेध कर दिया है, उन्हे अपनाना भी इस अतिचार का अर्थ होता है।

४ कूटतुला कूटमान—तोल और नाप के साधन खोटे रखना, जिससे लेते समय अधिक तोल में और नाप मे लिया जा सके, और देते समय कम तोल नाप का उपयोग किया जा सके। इस प्रकार की ठगाई श्रावक को नही करनी चाहिए।

५ तत्प्रतिरूपक व्यवहार—अच्छी वस्तु मे वैसी ही बुरी वस्तु मिला देना। सौदा करते समय अच्छी चीज दिखाना, किन्तु देते समय उसी प्रकार की हल्की—कम मूल्य की वस्तु देना अथवा असली बताकर वैसी ही नकली वस्तु देना। यह विश्वासघात भी है। इस दोष से भी दूर ही रहना चाहिए।

तीसरे व्रत को शुद्धता पूर्वक पालने के लिए उन सभी दोषो से बचना चाहिए कि जिसमे अदत्त त्याग के भाव दूषित नहीं हो।

अदत्त त्याग व्रत के जो नियम और अतिचार बताय है, वे तो मोटे है। उस हद तक तो किसी को नही जाना चाहिए, किन्तु धर्म को विचार कर अधिकाधिक ईमानदारी से व्यवहार करना चाहिए। किसी की पीठ ताक कर (छुपाकर) तो एक पाई भी नही लेनी चाहिए। साधारण नीतिमान् भी ऐसा करता है तब श्रावक को तो अधिक नि स्वार्थ वृत्ति अपनानी चाहिए।

स्वदार—संतोष व्रत

श्रावक का चौथा अणुव्रत स्थूल मैथुन त्याग विषयक है। यदि श्रावक समर्थ है, तो वह मैथुन का त्रिकरण त्रियोग से भी त्याग कर सकताहै, किन्तु इतनी योग्यता नही हो, तो 'स्वदार सतोषव्रत ग्रहण करना है और अपनी कामेच्छा को अपनी विवाहिता स्त्री तक सीमित रखकर शेष स्थूल मैथून का त्याग कर देता है।

स्वदार=जिसके साथ नियम पूर्वक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ हो, वह स्वदार कहलाती है। उसके सिवाय शेष स्त्रियो तथा तिर्यंच स्त्रियो मे त्याग होता है।

यदि यह व्रत कुमार और कुमारिका ले, तो उनके लिए विवाह काल तक मैथुन सेवन के सर्वथा त्याग किये जाते है और जिन्हे गृहस्थवास मे रहते हुए जीवन पर्यन्त विवाह नही करना हो—ऐसे आजीवन ब्रह्मचारी, विधुर या विधवा को भी जीवन पर्यन्त मैथुन के त्याग होते है, फिर उसमें 'स्वदार सतोष' अथवा 'स्व पति सतोष' मर्यादा रखने की आवश्यकता नही रहती। करण योग, योग्यतानुसार रखे जा सकते है।

स्वदार संतोष व्रत' में दो विकल्प होते हैं। एक तो वर्तमान विवाहित पत्नी के अतिरिक्त मैथुन सेवन का त्याग और दूसरा जिसके साथ विवाह हो उसके अतिरिक्त मैथुन के त्याग। इसमें भावी हो तो उसके लिए भी अवकाश रहता है। दूसरा विकल्प पहले की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य में भावी हो तो उसके लिए भी अवकाश रहता है। दूसरा विकल्प पहले की अपेक्षा नीची कोटि का है।

श्रावश्यक चूर्णि में व्रतधारण करनेवालों की अपेक्षा से स्वदार संतोष व्रत के साथ 'परदार त्याग' व्रत को भी स्वीकार किया है। इस त्यागवाले के 'पर' अर्थात् दूसरे पति की पत्नी के साथ गमन करने का त्याग है—स्वतन्त्र नारी का त्याग नहीं है। इस प्रकार के त्याग महत्त्व हीन—जघन्य कोटि के होते हैं।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं।

१ इत्वरिका परिगृहीता गमन—नियम पूर्वक विवाह हो जाने पर भी यदि पत्नी छोटी उम्र की हो भोगकाम को प्राप्त नहीं हुई हो तो उसके साथ गमन करना अपने व्रत को दूषित करना है।×

२ अपरिगृहीता गमन—योग्य वय होने पर भी यदि केवल वाग्दान=सगाई ही की हो और नियमानुसार लग्न नहीं हुए हों तो ऐसी अपरिगृहिता से गमन करना अपने व्रत को मलिन करना है।

३ अनगक्रीड़ा—काम सेवन के खास अंग के अतिरिक्त अन्य अंग से क्रीड़ा करना। यह काम की प्रबलता से होता है। त्याग के दिनों में स्वस्त्री के साथ या पर स्त्री के साथ मैथुन सेवन का त्याग होता है। इससे बचने के लिए अनग क्रीड़ा करे तो यह अतिचार लगता है। हस्त मैथुन आदि का इसमें समावेश होता है।

४ पर विवाह करण—अपना और अपनी संतान तथा आश्रित संबंधी के अतिरिक्त दूसरों के विवाह करवाना चौथा अतिचार है। मैथुन में प्रवृत्त करने की भावना व्रत को दूषित करती है।

५ काम भोग तीव्राभिलाष—काम भोग की तीव्र अभिलाषा करना। स्व—पत्नी के साथ भी भोग में अति आसक्त होकर वाजीकरणादि के द्वारा काम क्रीड़ा में विशेष रूप से प्रवृत्ति करना भी व्रत को दूषित करना है।

काम भोग की प्रवृत्ति पाप रूप है और सर्वथा त्याज्य है किन्तु वेदोदय को सहन करके विफल

× कुछ ग्रंथों में इस अतिचार का अर्थ यों किया है कि—"स्वामित्व हीन—स्वाधीन स्त्री का द्रव्यादि से वशीभूत करके कुछ काल के लिए अपनी बनाकर उससे गमन करे तो यह अतिचार है किन्तु यह अर्थ व्रत की भावना के उतना अनुकूल नहीं जितना पहले लिया हुआ अर्थ है।

दूसरे अतिचार का अर्थ भी कुछ ग्रंथों में 'वेश्या, अनाथा विधवा, कन्या आदि से गमन करना' लिया है।

करने की शक्ति नही हो, तो वासना को सीमित करने के उद्देश्य से और अनीति से बचने के लिए वैवाहिक सम्बन्ध किया जाता है। इनमें भी वासना को घटाने का लक्ष रहे, तो व्रत निर्मल रहता है।

इच्छा परिमाण व्रत

परिग्रह की लालसा को मर्यादित करना पाँचवा अणुव्रत 'इच्छा परिमाण व्रत' है। बाह्य परिग्रह नव प्रकार है। जैसे–

१ क्षेत्र–खेत, बाग, बगीचे आदि। २ मकान आदि ३ चाँदी ४ सोना ५ धन (जो गिनती, तोल, नाप, और परख कर जाना जा सके) ६ धान्य (सभी प्रकार के धान्य, बीज, तिलहनादि) ७ द्विपद (दास दासी) ८ चतुष्पाद (गाय, बैल, भैंस घोडे आदि) ९ कुप्य (तावा, पीतल, कासा आदि धातु के पात्र तथा अन्य वस्तुएँ)। इनमें वाहन, बिस्तर, फर्निचर आदि का भी समावेश हो जाता है। साधारण तया जितनी भी पौद्गलिक ग्रहण योग्य वस्तुएँ है, वे सभी इस व्रत के विषय है। इन सबका परिमाण करके–परिग्रह की मर्यादा करके विशेष की इच्छा का त्याग कर देना ही इस व्रत का उद्देश्य है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार इस प्रकार है।

१ क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम–अपनी व्रत मर्यादा का ध्यान नही रखकर अनुपयोग से क्षेत्र वस्तु मर्यादा का उल्लघन करना। (यदि जानबूझकर उल्लघन करे तो वह अनाचार हो जाता है) अथवा बढी हुई जमीन को पूर्व के खेत या घरमें मिलाकर खेत तथा घर की सख्या उतनी ही रहने से (यद्यपि लम्बाई चौडाई वढा दी गई) देश भग रूप अतिचार है।

२ हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम–चाँदी, सोना और इनसे बने हुए गहने इसी प्रकार हीरा, पन्ना मोती आदि और इनके आभूषणो के परिमाण का अतिक्रम करना।

३ धन धान्य प्रमाणातिक्रम–धन और धान्य के परिमाण का उल्लघन करना।

४ द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम–दास दासी और पशुओ के परिमाण का उल्लघन करना।

५ कुप्य प्रमाणातिक्रम–धातुओ के वर्तन, बिछौने, ओढने, पलग, आसन, कम्बलादि के परिमाण का अतिक्रमण करना।

यह व्रत लोभ सज्ञा को घटाकर सीमित करने के लिए है। यदि इस उद्देश्य को भुलाकर सग्रह बढाने की भावना से व्रत मे रास्ते निकाल कर सग्रह बढाया जाय, तो उससे व्रत की भावना सुरक्षित नही रहती। अनुपयोग से मर्यादा से अधिक वस्तु आजाय, वहा तक ही अतिचार है, यदि जान

बूझ कर अधिक रखा जाय तो वह अतिक्रम (इच्छा मात्र) नहीं रह कर अनाचार होकर व्रत भंग हो जाता है।

कई वस्तु मर्यादा से अधिक परिग्रह प्राप्त होने पर उसे पुत्र पत्नी आदि के नाम पर अथवा भावी खर्च के लिए अलग रख छोड़ कर अपने व्रत को सुरक्षित मानते हैं किन्तु यह भाव व्रत की निर्दोषता के अनुकूल नहीं है।

व्रत लेते समय जितना परिग्रह हो उसमें से कम करना विरति का उत्तम प्रकार है। जितना है उतना ही रखकर आगे के लिए त्याग करना मध्यम प्रकार है और जितना है उससे अधिक मर्यादा बनाना जघन्य प्रकार है। फिर रखी हुई अधिक मर्यादा से द्रव्य बढ़ जाय और उसे रखने के लिए नये बहाने बनाये जाय तो यह व्रत की निर्मलता के अनुकूल तो नहीं है।

(ठाणांग ५—२ उपासकदशा १ आवश्यक आदि)

श्रावक के तीन गुणव्रत

श्रावक के पांच अणुव्रत 'देश मूल गुण प्रत्याख्यान' है और तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत और अंतिम संलेखना 'देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान' है (भग ७—२) छठे से लगाकर आठवें व्रत को गुण-व्रत माना है। ये गुणव्रत अणुव्रतों में विशेष गुण उत्पन्न करते हैं। जैसे कि छठे दिशा परिमाण व्रत में मर्यादित भूमि के बाहर हिंसादि पांचों प्रकार के पाप का सेवन रुक जाता है सातवें में उपभोग परि-भोग की रखी हुई मर्यादा से बाहर रहो हुई वस्तुओं का त्याग होता है और आठवें में इनमें भी अनर्थ दंड का त्याग होता है। इसलिए इनकी गुणव्रत संज्ञा यथार्थ है।

कई जीव अपने क्षयोपशमानुसार एकमूल गुण को स्वीकार करते हैं और कई दो तीन चार और पांचों को। कई केवल मूल गुणों को ही स्वीकार करते हैं और कई बिना मूल गुणों के किसी उत्तर गुण का पालन करते हैं। बिना मूल गुण के भी उत्तर गुण के प्रत्याख्यान हो सकते हैं। और ऐसे उत्तर गुण प्रत्याख्यानीजीव मूल गुण प्रत्याख्यानी से असंख्य गुण अधिक होते हैं (भग० ७—२)

दिशा परिमाण व्रत +

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उर्ध्व और अधो-इन छहो दिशा मे जाने आने की मर्यादा करके उनसे आगे जाकर हिंसा मृषादि पाप सेवन का त्याग करना-प्रथम गुणव्रत है।

इस व्रत को दूषित करने वाले नीचे लिखे पाच अतिचार भी त्यागने योग्य है।

१ **ऊर्ध्व दिशा परिमाणातिक्रम**--ऊँची दिशा के परिमाण का उल्लघन करना।

२ **अधोदिशा परिमाणातिक्रम**--नीची दिशा के परिमाण का उल्लघन करना।

३ **तिर्यक्दिशा परिमाणातिक्रम**--पूर्वादि चारो दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण करना।

४ **क्षेत्रवृद्धि**--एक ओर की दिशा कम करके दूसरी ओर की दिशा को बढाना।

५ **स्मृति भ्रंश**--गमन करते समय अपने व्रत के परिमाण का याद नही रह कर सन्देह होना कि 'मैने कितने योजन का परिमाण किया है, सौ योजन का या पचास का" ? इस प्रकार सन्देह होने पर पचास योजन से आगे जाना।

उपरोक्त पाचो अतिचार अनुपयोग से लगने पर ही अतिचार है, जानबूझ कर परिमाण का उल्लघन किया जाय तो वह अतिचार नही, किंतु अनाचार होकर व्रत को भग कर देता है।

इस प्रथम गुणव्रत के द्वारा श्रावक, असख्यात योजन प्रमाण लोक में की खुली हुई सावद्य प्रवृत्ति को थोडे से क्षेत्र मे सीमित करके शेष को बद कर देता है। उस के आश्रव का असख्यातवाँ हिस्सा शेष रहकर असख्य गुण क्षेत्र की लगती हुई क्रिया रुक जाती है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत

दूसरे गुण व्रत का नाम 'उपभोग परिभोग × परिमाण' व्रत है। दिशागमन परिमाण के बाद मर्यादित भूमि में रही हुई उपभोग परिभोग जन्य वस्तुओ का परिमाण करना और परिमाण के बाहर रही हुई वस्तुओ के भोगोपभोग का त्याग, इस व्रत के द्वारा होता है।

+ उववाई सूत्र में अनर्थदण्ड त्याग पहला गुणव्रत है और दिशापरिमाण दूसरा तथा उपभोग परिभोग तीसरा है।

× उपभोग परिभोग के स्थान में कहीं कहीं भोगोपभोग शब्द आता है। इसका अर्थ यह है-भोग-जो वस्तु एक बार भोगने में आवे। उपभोग-जो वस्तु बारबार भोगने में आवे।

उपभाग—भाजन पानी पक्वान्न भादि एकबार भोगने में भावे वह।
परिभोग—घर वस्त्र भाभूषण भासन भादि जो बार बार भोगने में भाते रहें।
भागोपभाग भोग्य वस्तुऐं निम्न २६ प्रकार की बताई गई है।
१ **उल्लखियाविहि**—गीले शरीर को पोंछने के भगोछे भादि का परिमाण।
२ **दन्तणविहि**—दतौन—दाँत साफ करने के साधनों की मर्यादा।
३ **फलविहि**—मस्तक धोने के लिए आँवला भादि फलों की मर्यादा।
४ **भब्भंगणविहि**—शरीर पर मालिश करने के तेल भादि का परिमाण।
५ **उवट्टणविहि**—शरीर पर उबटन करने की पीठी भादि की मर्यादा।
६ **मज्जणविहि**—स्नान का भौर उसके लिए जल का परिमाण करना।
७ **वत्थविहि**—पहनने के वस्त्रों की मर्यादा।
८ **विलेपनविहि**—चदन केसर भादि विलेपन का परिमाण।
६ **पुप्फविहि**—पुष्पों के उपभाग की मर्यादा करना।
१० **भाभरणविहि**—भाभूषणों की मर्यादा करना।
११ **धूवविहि**—सुगन्धि के लिए धूप का उपयोग करने की मर्यादा।
१२ **पेज्जविहि**—पेय पदार्थों की मर्यादा।
१३ **भक्खणविहि**— भोजन में भाने वाले पक्वान्न की मर्यादा।
१४ **भोदणविहि**—पके हुए चावल खिचड़ी भादि का परिमाण।
१५ **सूवविहि**—भरहर मूंग उड़द भादि की दाल का परिमाण।
१६ **विगयविहि**—घृत तेल भादि विगय का परिमाण
१७ **सागविहि**—भींडी तोरई भादि शाक का परिमाण।
१८ **माहुरविहि**—पके हुए रसीले फलों की तथा सूखे फलों की मर्यादा।
१६ **जेमणविहि**—भोजन के पदार्थों की मर्यादा।
२० **पाणीयविहि**—पीने के पानी का परिमाण।
२१ **मुखवासविहि**— * मुख को सुगन्धित करने के लिए एवं मल शुद्धि के लिए खाये जाने वाले

* उपासकदशा में ये २१ प्रकार ही उपभोग परिमाण के लिये हैं। श्रावक के भावश्यक में पूरे २६ हैं।

लोग इलायची आदि का परिमाण ।

२२ वाहणविहि--वाहन, घोडा, गाडी साइकल, मोटर आदि जिनपर सवार होकर भ्रमण अथवा प्रवास किया जाय, उसकी मर्यादा ।

२३ उवाणहविहि--पाँव मे पहनने के जूते, मौजे, चप्पल, खडाऊ, आदि का परिमाण करना ।

२४ सयणविहि--सोने के पलग, बिस्तरे आदि का परिमाण ।

२५ सचित्तविहि -खाने पीने और अन्य उपयोग मे आने वाली सचित्त (सजीव) वस्तुएँ - जैसे फल, बीज, पानी, ताम्बूल, दत्तुन, पुष्प, आदि वस्तुओ का परिमाण करना ।

२६ दव्वविहि--खाने, पीने, के द्रव्यो की मर्यादा करना ।

उपरोक्त २६ बोलो मे उपभोग परिभोग की प्राय सभी वस्तुएँ आ जाती है । जो इस व्रत को धारण करते है, उनका जीवन बहुत ही सात्विक हो जाता है । कुछ ग्रथो मे इन छब्बीस बोलो के बदले चौदह नियम दिये गये ※ है । उपरोक्त २६ बोलो का समावेश इन चौदह नियमो में भी हो जाता है, किंतु चौदह नियम का सम्बन्ध, दूसरे गुणव्रत की अपेक्षा दूसरे शिक्षाव्रत से अधिक सगत लगता है, क्यो कि गुणव्रत जीवन भर के लिए है और चौदह नियम दिन रात भर के लिए । अतएव इसका उल्लेख दशवे व्रत में किया जायगा ।

इस व्रत के अतिचार दो प्रकार के है एक तो भोजन सम्बन्धी और दूसरे कर्म (आजीविका) सबधी ।

भोजन सबधी अतिचार इस प्रकार है ।

१ सचित्ताहार--त्यागी हुई सचित्त वस्तु का भूल से अथवा परिमाण से अधिक आहार करना । यह उपयोग शून्य होकर करे तभी अतिचार है, अन्यथा जानबूझ कर करने मे अनाचार हो जाता है ।

२ सचित्त प्रतिबद्धाहार-- सचित वृक्ष से लगा हुआ गोंद अथवा सचित्त बीजसे सबधित अचित फल आदि खाना ।

३ अपक्व औषधि भक्षण ※—जिन वस्तुओ को पकाकर खाया जाता है, उन्हे कच्चा ही

※ पू० श्री आत्मारामजी म० सा (भू पू उपाध्याय) ने अपनी 'जैनतत्त्वकलिकाविकास' मे [illegible]रे गुणव्रत मे इन चौदह नियमों को दिया है।

※ 'श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र' के वृत्तिकार श्री श्रीचन्द्राचार्य अपक्व धान्यादि का अर्थ इस प्रकार [illegible]ाते हैं, जैसे—"शालिगोधूमादिधान्यरूपाया भक्षणता भोजनमतिचारः । इद मुक्त भवति-पिष्ट- [illegible]ादचेतनमिदमिति सम्भावनया सम्भव त्सचितावयवं' वन्ह्य सस्कृत सद्य' पिष्टकणिक्वादिक भक्ष- [illegible]ोऽतिचार ।

इस भेद मे उन सभी व्यापारो को गर्भित करलेना चाहिए–जिसमे त्रस जीवो की घात होती हो, जैसे गोद, कसुंबा, मनशील, हरिताल, साबुन, सोडा, खार, आदि ।

८ रस वाणिज्य–रसवाली वस्तुओ का व्यापार करना, जैसे–मदिरा, मक्खन, घृत, मधु, गुड, तैल आदि ।

९ विष वाणिज्य–अफीम, सखिया आदि जहरीले पदार्थ, कि जिनसे प्राणान्त हो जाता हो। तलवार, बन्दूक, छुरी आदि शस्त्र और बारुद आदि भी इस भेद मे सम्मिलित है ।

१० केशवाणिज्य–केश वाले जीव–दास, दासी, गाय, बैल, भैस, घोडा, आदि का व्यापार करना ।

११ यन्त्रपीडन कर्म–तिल, गन्ना, कपास आदि पिलवाना, पनचक्की, घानी, मिल आदि के कारखाने से आजीविका करना ।

१२ निर्लाञ्छन कर्म–बैल, घोडा आदि पशुओ को अथवा मनुष्य को खसी (नपुसक) बनाने का कार्य ।

१३ दवाग्नि दापन कर्म--जगलो अथवा खेतो मे आग लगाना ।

१४ सरद्रह तालाब शोषण कर्म--जलाशयो को सुखाने का कार्य करना ।

१५ असतीजन पोषण कर्म--आजीविका के लिए दुराचारिणी स्त्रियो को तथा पशुओ को मारने लिए शिकारी कुत्तो आदि रखकर आजीविका करना।

उपरोक्त पद्रन्ह प्रकार के आजीविका के कार्य श्रावक के लिए करने योग्य नही है । क्यो कि रमे जीव घात अधिक होती है और ये धन्धे जघन्य कोटि के भी है । श्रावक को जहा तक हो, वहा तक ल्प आरभ वाले धन्धे से ही आजीविका करनी चाहिए । इस प्रकार वह ससार मे रहते हुए भारी कर्म बन्धन से आत्मा को बचाता हुआ जीवन यापन करे । उत्तम श्रावक के व्यापार, लेन देन थवा उद्योग मे अहिसादि उत्तम भावना तथा विरति तभी कायम रह सकती है, जब कि वह स्वार्थ वना को कम करे ।

अनर्थदण्ड त्याग व्रत

तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्ड त्याग रूप है। आत्मा दो प्रकार के दण्ड से दण्डित होती है—एक तो अर्थदण्ड से और दूसरा अनर्थदण्ड से।

अर्थदण्ड—अपने अपने कुटम्ब आश्रित अर्थात् उत्तरदायित्व के पालन करने में, गृहस्थ को सावद्य प्रवृत्ति करनी पड़े, वह सप्रयोजन होने से अर्थदण्ड है।

अनर्थदण्ड—बिना कारण निष्प्रयोजन सावद्य प्रवृत्ति करना। जहां कोई उत्तरदायित्व नहीं अधिकार नही अथवा जिन विषयों से उसका सबंध नहीं उन विषयों में रस लेकर सावद्य प्रवृत्ति करना अनर्थदंड है।

निग्रंथ साधु के तो अर्थदण्ड के भी सर्वथा त्याग होते हैं और श्रावकों के अनर्थदण्ड के। यह अनर्थदण्ड निम्न चार प्रकार का होता है।

१ अपध्यानाचरण—अनुकूल संयोगों के प्राप्त होने पर खुशी से फूल जाना अभिमान करना और प्रतिकूल संयोग मिलने तथा अनुकूल के बिछुड़ने पर खिन्न होना रुदन करना इस प्रकार आर्त ध्यान करना और किसी पर क्रुद्ध होकर उसको हानि पहुँचाने— अनिष्ट करने, किसी को मारने आदि दुष्ट विचार करना रौद्र ध्यान है। दोनों प्रकार का ध्यान करना अपध्यानाचरण रूप अनर्थदण्ड है। क्यों कि *अपध्यान के करने से कोई लाभ तो होता ही नहीं। इसलिए यह अनर्थदण्ड है। यह बुरी आदत से होता है।*

२ प्रमादाचरण अनर्थदण्ड—प्रमाद का आचरण करना मद्य विषय कषाय निद्रा विकथा रूप प्रमाद सेवन करना। फुरसत के समय ताश चौपड़ आदि खेलना हँसी मजाक अथवा व्यर्थ की गप्पें लड़ाना नाटक सिनेमा आदि देखने में समय गँवाना किंतु वह समय धर्म ध्यान में नहीं लगाना। यह प्रमादाचरण नाम का अनर्थदण्ड है। आलस्य से भी तैल आदि के बर्तनों को उघाड़े रखना भी अनर्थदंड है।

३ हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड—जिन वस्तुओं के देने से हिंसा की निष्पत्ति होती है जिन साधनों से आरंभ होता है ऐसे—हल मूसल छुरी तलवार आदि भले बसने के लिए देना किसी को अग्नि या अग्नि के साधन आदि देना इत्यादि कार्य—हिंसा प्रदान अनर्थदण्ड है।

४ पापकर्मोपदेश अनर्थदण्ड—दाक्षिण्यता वश होकर दूसरों को पाप मूलक उपदेश देना जैसे कि—तुम्हारी लड़की या लड़के की शादी क्यों नहीं कर देते ? तुम्हारी गाय का बछड़ा बड़ा हो गया है अब इसे गाड़ी में क्यों नहीं जोतते। इस जमीन पर खाली घास ही होती है इसलिए इसपर खेती

करो, तुम्हे वहुत लाभ होगा। वैलो के नाक मे नाथें डालो। इस पुरानें मकान को गिरा कर नया बनालो। अभी सामान और मजदूरी भी सस्ती है। इत्यादि अनेक प्रकार से व्यर्थ ही पापकारी सलाह देकर अनर्थदण्ड करना।

ये सब अनर्थदण्ड के कारण है। अर्थदण्ड से गृहस्थ सर्वथा नही वच सके तो यह विवशता है, किंतु अनर्थदण्ड से तो उपयोग रखने पर बचा जा सकता है। यदि अनर्थदण्ड से वचाव हो सके, तो भी बहुत वचाव हो सकता है।

इस व्रत के नीचे लिखे पाँच अतिचार है।

१ **कन्दर्प**--काम उत्पन्न करने वाली बाते करना, वैसी कथा कहना, मोह को बढाने वाली मजाक आदि करना, मुख नेत्र आदि से विकार वर्धक कुचेष्टा करना।

२ **कौत्कुच्य**--भांडो और नक्कालो की तरह हाथ, मुँह, नेत्र आदि विकृत बना कर दूसरो को हँसाने का प्रयत्न करना।

३ **मौखर्य**--धीठता पूर्वक वाचालता करना, असबद्ध वचन बोलना, काम वर्धक अथवा क्लेशवर्धक वचन बोलना।

४ **संयुक्ताधिकरण**--अधिकरण (शस्त्र) को सयुक्त करना। जैसे—ऊखल और मूसल का सयोग मिलाना, शिला और लोढा, हल और उसका फाल, गाडी और जूआ, धनुष और बाण को साथ रखना, तलवार, छुरी आदि काम लायक नही हो, तो उन्हे सुधरा कर काम लायक करना, कुल्हाडी, फरशी, बरछी आदि मे डडा लगाकर तय्यार करना, आदि।

५ **उपभोगपरिभोगातिरिक्त** -उपभोग परिभोग की सामग्री विशेष रूप से बढाना मोहक चित्र खेल के साधन, गान तान के उपकरण और विकार वर्धक वस्तुएँ बढाना आदि। जिन कारणो से विकार बढकर अपध्यानादि अनर्थदण्ड में प्रवृत्ति हो, उन सब कारणो से बचना—इन अतिचारो का उद्देश्य है। जो अनर्थदण्ड से बचता है, वह आत्मार्थी श्रावक, अपना कल्याण साधने में तत्पर होता है।

श्रावक के चार शिक्षा व्रत

आत्माको विशेष उन्नत बनाने के लिए जिन व्रतो का वार वार पालन किया जाय और जो ध्येय प्राप्ति में विशेष सहायक होते है, तथा जिनसे अनगार धर्म की शिक्षा मिल सके, उन्हे 'शिक्षा व्रत' कहते है। अणूव्रत और गुणव्रत तो जीवन भर सतत पालन किये जाते हैं, किन्तु शिक्षाव्रत यथा—

मैक्षम प्रमुक समय पालन किये जाते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं। यथा—१ सामायिक २ देशावकाशिक ३ पौषधोपवास और ४ अतिथि संविभाग व्रत। इनका क्रमशः वर्णन किया जाता है।

सामायिक व्रत

सम'=रागद्वेष की विषमता रहित—सम भाव का 'आय'=साम अर्थात्—समभाव की प्राप्ति अथवा—समभाव पूर्वक ज्ञानादि की प्राप्ति को सामायिक कहते हैं।

आत्मा में होती हुई विषय कषाय की विषम परिणति को हटाकर सम ध्यान के अवलम्बन से सम भाव जगाना—सामायिक है। जिस आत्मा की सावद्य प्रवृत्ति बंद होकर ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप निरवद्य प्रवृत्ति विद्यमान है वह व्यवहार सामायिक व्रत की पालक है। निश्चय से तो पर लक्ष से हटकर अपने आत्म स्वरूप में रमण करनेवाली आत्मा स्वयं सामायिक रूप है। जहाँ विभाव दशा छूटी और स्वभाव में स्थिरता हुई अर्थात् आत्मानन्द में लीनता आई कि आत्मा स्वयं सामायिक रूप बन जाती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यवहार सामायिक की जाती है।

व्यवहार सामायिक चार प्रकार की होती है।

१ **श्रुत सामायिक**—सम्यग् श्रुत का अभ्यास करना।

२ **सम्यक्त्व समायिक**—मिथ्यात्व की निवृत्ति और यथार्थ श्रद्धान प्राप्ति रूप चौथे गुणस्थान की स्थिति।

३ **देश विरत सामायिक**—श्रावकों के देश व्रत। पंचम गुणस्थान की स्थिति।

४ **सर्व विरत सामायिक**—साधुओं की सब विरति रूप महाव्रतादि छठे गुणस्थान और इससे आगे के गुणस्थान रूप। (विशेषावश्यक भाष्य गा २६७३ से)

तात्पर्य यह है कि जैनत्व प्राप्ति रूप चौथे गुण स्थान से सामायिक का प्रारंभ होकर सिद्धत्व तक उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और अंतमें आत्मा स्वयं सामायिक मय होकर सदाकाल उसी रूप में स्थित रहती है। वास्तव में जैनत्व की प्राप्ति और जिनत्व तथा सिद्धत्व सभी सामायिक मय ही है। यहाँ जिस सामायिक का वर्णन किया जा रहा है वह 'देश विरत सामायिक'—श्रावक का नौवाँ व्रत है।

इसकी साधना नीचे लिखे चार प्रकार की शुद्धि पूर्वक की जाती है।

द्रव्य शुद्धि—सामायिक के उपकरण—आसन प्रमार्जनी मुखवस्त्रिका पुस्तक आदि ऐसे साधन हों जो साधना के अनुकूल हों। सामायिक में ऐसी कोई वस्तु नहीं हो—जो राग द्वेष के उदय में कारण

भूत बने। जैसे—विषयक वर्द्धक पुस्तके कषाय वर्द्धक समाचार पत्र, सावद्य परिणति को जगानेवाले साधन, अहकार वर्धक बहुमूल्य वस्त्राभरण।

क्षेत्र शुद्धि—स्थान एकान्त, शान्त हो, जहा सासारिक कोलाहल और राग द्वेष वर्धक दृश्य तथा शब्द से बचा जा सके। जिस स्थान पर सासारिक कोई क्रिया अथवा विचार आदि नहीं होते हो, जहा त्रस स्थावर जीवो की बहुलता नही हो और जा खाद्य, अलकार, शस्त्र तथा शृंगारादि सामग्री से रहित हो। सामायिक के लिए धर्मस्थान अधिक उपयुक्त होता है।

काल शुद्धि—सामायिक, मल मूत्रादि की बाधा आदि से रहित किसी भी समय की जा सकती है। सामायिक के लिए कोई भी काल अशुद्ध नहीं है। कोई किसी भी समय सामायिक करे और वह शुद्धता पूर्वक की जाय तो हो सकती है। अतएव सामायिक अधिक से अधिक करना चाहिए। विशेषावश्यक भाष्य गा २६९० मे कहा है कि—

"सामाइयम्मि उ कए, समणोइव सावओ हवई जम्हा।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा"।

—सामायिक करने पर श्रावक, साधु के समान हो जाता है। इसलिए श्रावको को अधिक से अधिक सामायिक करना चाहिए।

यदि किसी को दिन रात भर में थोडा सा समय धर्म करणी के लिए निकलता हो, तो उसमें प्रात काल का समय अति अनुकूल रहता है, क्योकि प्रात काल का समय शान्त होता है। उस समय मनुष्य का मानस और मस्तिष्क भी ठण्डा रहता है। इस समय शुभ परिणति के लिए अधिक अनुकूलता होती है। उसके बाद सध्याकाल भी लिया जा सकता है। काल नियत करने पर उसका पालन तत्परता से करना चाहिए।

सामायिक का काल दो घडी ‡ (४८ मिनट) का नियम है। कम से कम एक मुहूर्त की सामा-

---

‡ श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र में लिखा है कि—

"मण-वय-तणुहिं करणे, कारवणम्मि य सपावजोगाणं।
जं खलु पच्चक्खाण, त सामाइयं मुहुत्ताई ॥१०९॥

टीकाकार श्री चन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

"अत्र कश्चिद् ब्रूते-क्रियानिर्दिष्टकाल ? हन्त ! उक्त यावन्नियमं पर्युपासे इति नियमश्च जघन्यतोऽपि द्विघटिकामान काल उत्कृष्ट तोऽहोरात्रमानो नियम । अत सामायिके जघन्योऽपि घटिका द्वय स्यातव्य अन्यथाऽतिचार । जघन्य तो द्विघटिक कुतो लभ्यते ? इतिचेद् उच्यते परिणामवशाद् हि सामायिकमसौ करोति परिणामस्तूत्पन्नो गुणस्थानकमारोहति तच्च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त घटिकाद्वयमान काल पालनीय," इत्यादि।

पालन अमुक समय पालन किये जाते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं। यथा—१ सामायिक २ देसावकाशिक ३ पौषधोपवास और ४ अतिथि संविभाग व्रत। इनका क्रमशः वर्णन किया जाता है।

सामायिक व्रत

सम'=रागद्वेष की विषमता रहित—सम भाव का आय'=लाभ अर्थात्—समभाव की प्राप्ति अथवा—समभाव पूर्वक ज्ञानादि की प्राप्ति को सामायिक कहते हैं।

आत्मा में होती हुई विषय कषाय की विषम परिणति को हटाकर धर्म ध्यान के अवलम्बन से सम भाव जगाना—सामायिक है। जिस आत्मा की सावद्य प्रवृत्ति बंद होकर ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप निरवद्य प्रवृत्ति विद्यमान है वह व्यवहार सामायिक व्रत की पालक है। निश्चय से तो पर लक्ष से हटकर अपने आत्म स्वरूप में रमण करनेवाली आत्मा स्वयं सामायिक रूप है। जहाँ विभाव दशा छूटी और स्वभाव में स्थिरता हुई अर्थात् आत्मानन्द में लीनता आई कि आत्मा स्वयं सामायिक रूप बन जाती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यवहार सामायिक की जाती है।

व्यवहार सामायिक चार प्रकार की होती है।

१ **श्रुत सामायिक**—सम्यग् श्रुत का अभ्यास करना।

२ **सम्यक्त्व समायिक**—मिथ्यात्व की निवृत्ति और यथार्थ श्रद्धान प्राप्ति रूप चौथे गुणस्थान की स्थिति।

३ **देश विरत सामायिक**—श्रावकों के देश व्रत। पंचम गुणस्थान की स्थिति।

४ **सर्व विरत सामायिक**—साधुओं की सर्व विरति रूप महाव्रतादि छठे गुणस्थान और इससे आगे के गुणस्थान रूप। (विशेषावश्यक भाष्य गा २६७३ से)

तात्पर्य यह है कि जैनत्व प्राप्ति रूप चौथे गुण स्थान से सामायिक का प्रारंभ होकर सिद्धत्व तक उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और अंतमें आत्मा स्वयं सामायिक मय होकर सदाकाल उसी रूप में स्थित रहती है। वास्तव में जैनत्व की प्राप्ति और जिनत्व तथा सिद्धत्व सभी सामायिक मय ही हैं। यहां जिस सामायिक का वर्णन किया जा रहा है वह 'देश विरत सामायिक'—श्रावक का नौवाँ व्रत है।

इसकी साधना नीचे लिखे चार प्रकार की शुद्धि पूर्वक की जाती है।

द्रव्य शुद्धि—सामायिक के उपकरण—आसन प्रमार्जनी मुखवस्त्रिका पुस्तक आदि ऐसे साधन हों जो साधना के अनुकूल हों। सामायिक में ऐसी कोई वस्तु नहीं हो—जो राग द्वेष के उदय में कारण

उपरोक्त दस दोषो से बचने पर मनोदुष्प्रणिधान रूप अतिचार टलता है।

२ वचन दुष्प्रणिधान–वाणि का दुरुपयोग करना। कर्कश, कठोर एव सावद्य वचन बोलना। इस अतिचार के भी दस भेद नीचे लिखे अनुसार हैं।

१ कुवचन–सामायिक मे बुरे–विषय कषाय जनक अथवा तुच्छता युक्त वचन बोलना।

२ सहसाकार–बिना विचारे इस प्रकार बोलना कि जिसमे किसी की हानि हो, अप्रतीति कारक हो और सत्य का अपलाप हो।

३ स्वच्छन्द–रागद्वेष वर्धक एव धर्म विरुद्ध–मनमाने वचन बोलना अथवा राग अलापना। अथवा अव्रति से अकारण बोलना।

४ सक्षेप–सामायिक के पाठ को सक्षिप्त–सकुचित करके बोलना।

५ कलह–क्लेशकारी वचन बोलना।

६ विकथा–स्त्रीकथा आदि सासारिक बाते करना।

७ हास्य–हँसी मजाक अथवा व्यग युक्त वचन बोलना।

८ अशुद्ध–गलत बोलना, शीघ्रता पूर्वक शुद्ध अशुद्ध का ध्यान रखे बिना बोलना।

९ निरपेक्ष–असबद्ध, अपेक्षा रहित एव उपयोग शून्य होकर बोलना।

१० मुणमुण–स्पष्टता पूर्वक नही बोलकर गुनगुनाना।

इस प्रकार वचन सबधी दोषो को समझ कर इनका त्याग करने से वचन सबधी अतिचार नही लगता।

३ कायदुष्प्रणिधान--शरीर सम्बन्धी बुरी क्रिया करना, बिना पुंजी जमीन पर बैठना, शरीर से सावद्य क्रिया करना। इस अतिचार के बारह भेद इस प्रकार हैं।

१ कुआसन–पांवपर पांव चढाकर इस प्रकार बैठना, जिससे गुरुजनो का अविनय हो और अभिमान प्रकट हो।

२ चलासन–अस्थिर आसन, बारबार आसन बदलना।

३ चलदृष्टि–दृष्टि को स्थिर नही रखकर इधर उधर देखते रहना।

४ सावद्यक्रिया–पापकारी क्रिया करना, सकेत करना, सासारिक कार्य, अथवा घरकी रखवाली आदि करना।

५ आलम्बन–अकारण दिवाल, खभा आदि का सहारा लेकर बैठना।

६ आकुचनप्रसारण–बिना कारण हाथ पांव फैलाना और समेटना।

७ आलस्य–आलस्य से शरीर को मोडना।

यिक (दो घड़ी की) तो होनी ही चाहिए। यद्यपि सामायिक का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त का आगमों में माना है किन्तु अन्तमुहूर्त एक सेकण्ड से कम का भी होता है और ४८ मिनट से एक दो समय कम का भी। पूर्वाचार्यों ने कम से कम एक मुहूर्त का काल नियत किया है यह उचित ही है। यदि यह नियम नहीं होता तो बड़ी भारी अव्यवस्था होती।

भावशुद्धि–आर्त और रौद्र के अंग रूप किसी भी औदयिक भाव को नहीं लाकर धर्मध्यान के अंग रूप स्मरण स्तुति अनित्यादि भावना शास्त्रस्वाध्याय तथा आलोचनादि शुभ भाव का अवलम्बन करके आत्मा को उज्ज्वल तथा शान्त बनाना–भाव शुद्धि है। स्वार्थ तथा प्रतिष्ठा अथवा प्रदर्शन आदि दूषित भावों को सामायिक में आने ही नहीं देना चाहिए।

भावशुद्धि उपरोक्त तीनों शुद्धि में प्रधान है। कदाचित् प्रथम की तीन शुद्धि नहीं हो और भाव शुद्धि हो तो सफलता मिल सकती है। किन्तु भाव शुद्धि के अभाव में तीनों प्रकार की शुद्धि सफल नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पूर्वोक्त तीनों प्रकार की शुद्धि अनावश्यक है। सरलता एवं श्रेष्ठ मार्ग तो चारों प्रकार की विशुद्धि युक्त ही है। अतएव द्रव्य भाव विशुद्धि पूर्वक तथा निश्चय सामायिक के ध्येय युक्त व्यवहार सामायिक करना चाहिए।

इस सामायिक व्रत को दूषित करनेवाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं।

१ मनोदुष्प्रणिधान–मन को दुश्चिंतन में लगा देना। घर व्यापार कुटुम्ब देश तथा विषय विकार में मन को जोड़ना–मन का दुष्ट प्रयोग है। पूर्वाचार्यों ने मानसिक दोष के दस भेद इस प्रकार बताये हैं।

१ अविवेक–सावद्य निरवद्य का विवेक नहीं रखना।
२ यशोकीर्ति–यश एवं प्रतिष्ठा की इच्छा से सामायिक करना।
३ लाभार्थ–द्रव्यादि लाभ की भावना से सामायिक करना।
४ गर्व–धर्मभिमान का गौरव रखकर सामायिक करना।
५ भय–किसी प्रकार के भय से बचने के लिए सामायिक करना।
६ निदान–सामायिक से भौतिक फल चाहने रूप निदान करना।
७ संशय–सामायिक के फल के विषय में शंकाशील रहना।
८ रोष–रागद्वेषादि के कारण सामायिक करना अथवा सामायिक में रागद्वेष करना।
९ अविनय–देव गुरु और धर्म का विनय नहीं करना अथवा आशातना करना या विनय भाव रहित सामायिक करना।
१० अबहुमान–सामायिक के प्रति आदर भाव नहीं रखते हुए बेगार टालने की तरह काम पूरा करना।

विपय पर स्थिरता बढाने का प्रयत्न किया जाय, तो क्रमश सफलता प्राप्त हो सकती है। उत्तम वस्तु की प्राप्ति विशेप प्रयत्न से होती है। अतएव लम्बे अभ्यास से घबराने की आवश्यकता नही। निरन्तर प्रयास करते रहने से सफलता की शुभ घडी भी प्राप्त की जा सकती है।

स्थिरता का ध्येय रखकर सामायिक करने से यदि एक मुहूर्तकाल मे एक मिनट भी सफल हुआ तो ४८ सामायिक मे एक मुहूर्त जितना काल सफल हो जायगा। यह सफलता भी एकदम नगण्य तो नही है। तात्पर्य यह कि ध्येय शुद्धि के साथ प्रयत्न करते रहने से सफलता की ओर बढा जा सकता है।

२ ईमानदारी, सचाई, आदि शुभ गुणो का होना साधारण मनुष्य के लिए भी आवश्यक है, तब जैनी मे ता ये शुभ गुण होना ही चाहिए। यदि कोई अन्य समय मे ईमानदारी आदि नही रख सके, तो सामायिक में तो रखेगा ही। वह जितनी देर सामायिक मे रहेगा, उतनी देर तो झूठ, ठगाई, वेई-मानी मे बचता रहेगा। गृहस्थ जीवन में यदि वह एक मुहूर्त मात्र भी सामायिक में रहा और अभ्यास करता रहा, तो उसकी आत्मा का हित ही होगा। कम से कम एक मुहूर्त बुराइयो से बचना भी कुछ न कुछ लाभ का कारण तो होगा।

अभ्यास के द्वारा अनधिकारी भी अधिकारी बन सकता है। अनधिकारियो के लिए सामायिक का अभ्यास योग्य अधिकारी बनाने का कारण हो सकता है।

३ अहिंसादि मूल व्रतो की आराधना भी अवश्य होनी ही चाहिए, किन्तु 'कोई मूल व्रतो को ग्रहण नही करे तो वह सामायिक का अधिकारी ही नही हो सकता'—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योकि सामायिक के पूर्व के आठ व्रत जीवन पर्यंत के लिए स्वीकार किये जाते है। इससे हिचकिचाकर कोई एक मुहूर्त के लिए सामायिक करे, तो स्वल्पकालीन नियम होने मे वह सरलता से कर सकता है, तथा जिस समय वह सामायिक व्रत का पालन करता है उस समय उसके पूर्व के आठो व्रत अपने आप पलते ही है, क्यो कि सामायिक के समय पाचो अणुव्रत और तीनो गुणव्रत पूर्ण रूप से ही नही बल्कि अधिक रूप से पलते है। उस समय वह त्रस तो क्या पर स्थावर जीव की भी हिंसा नही करता, छोटा झूठ भी नही बोलता, छोटा अदत्त भी नही लेता, और स्वादारा से भी मैथुन नही करता, इस प्रकार सभी व्रतो का पालन अधिक रूप से होता है। सामायिक में वह इस व्रत के योग्य ही प्रतिज्ञा करता है, किंतु उसमे सभी व्रतो का, विशेष रूप से अपने आप समावेश हो जाता है। अतएव पृथक् से अहिं-सादि अणुव्रतो को स्वीकार नही करने वाला भी सामायिक कर सकता है और उससे उस समय, पूर्वक के सभी व्रत पलते है।

जब बिना श्रावक व्रतो का स्वीकार किए और बिना पालन किए भी साधुता (जीवनभर की सर्व सामायिक) आ सकती है, तो स्वल्पकालीन देश सामायिक प्राप्त हो सके, इसमें शका ही क्या हो सकती है?

८ मोडन—हाथ पाँव की अगुलियाँ चटकाना ।

९ मल—शरीर का मैल उतारना ।

१० विमासन—गाल पर हाथ रखकर अथवा घुटनों में सिर झुकाकर शोक सूचक आसन से बैठना अथवा बिना पूंजे खाज खुजालना ।

११ निद्रा—सामायिक में नींद लेना ऊँघना ।

१२ वैयावृत्य—निष्कारण दूसरों से सेवा करवाना । (अथवा सर्दी लगने से अगों को विशेष रूप से ढकना—ऐसा अर्थ भी कुछ ग्रथकार करते हैं ।)

उपरोक्त बारह दोषों को टालते हुए सामायिक करने से कायदुष्प्रणिधान अतिचार नहीं लगता ।

४ सामायिक का स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति (याद) नहीं रखकर भूल जाना । अन्यत्र उपयोग लगने से सामायिक की ओर उपयोग नहीं रहना । मैं सामायिक में हूँ —इस प्रकार की स्मृति नहीं रखना । सामायिक का समय हो गया'—आदि अनुपयोग जन्य स्थिति होना ।

५ अनवस्थित करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना काल पूर्ण होने के पूर्व सामायिक पार लेना । उतावल से अविधि पूर्वक पारना ।

उपरोक्त अतिचारों से बचकर सामायिक करते रहने से आत्मा हलकी होकर उन्नत होती जाती है । अधिक हो तो अच्छा ही है अन्यथा प्रत्येक श्रावक को नित्य एक मुहूर्त की सामायिक तो अवश्य ही करनी चाहिए ।

बहुत से भाई कहा करते हैं कि हमारा मन स्थिर नहीं रहता अभी हममें ईमानदारी सचाई सेवा आदि के भाव तो आये हो नहीं फिर हम सामायिक के अधिकारी कैसे हो गये ? जब अहिंसा सत्यादि मूल व्रतों का ही पता नहीं तो सामायिक जैसे उच्च व्रत की साधना की योग्यता कैसे आ सकती है ?

समाधान—१ मन स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिए । यदि सामायिक के माध्यम से मन स्थिर करने का प्रयत्न किया जाय तो अभ्यास बढते बढते स्थिरता की स्थिति भी प्राप्त हो सकती है । जिस प्रकार अभ्यास करते करते मनुष्य उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार सामायिक में अभ्यास के द्वारा क्रमशः स्थिरता लाई जा सकती है । इसके लिए अवलम्बन भी कई हैं । स्मरण करते करते मन उचट जाय तो स्तुति स्तोत्र आलोचना भावना और शास्त्र पठन श्रवण के द्वारा मन को अशुभ दिशा में जाने से रोका जा सकता है । सबसे पहले अशुभ दिशाओं में जाते हुए मन(को रोककर शुभ में जोड़ने का ही प्रयत्न करना चाहिए । इसमें केवल दिशा बदलनी होती है । इसके बाद किसी एक

विषय पर स्थिरता बढाने का प्रयत्न किया जाय, तो क्रमश सफलता प्राप्त हो सकती है। उत्तम वस्तु की प्राप्ति विशेष प्रयत्न से होती है। अतएव लम्बे अभ्यास से घबराने की आवश्यकता नही। निरन्तर प्रयास करते रहने से सफलता की शुभ घडी भी प्राप्त की जा सकती है।

स्थिरता का ध्येय रखकर सामायिक करने से यदि एक मुहूर्तकाल में एक मिनट भी सफल हुआ तो ४८ सामायिक मे एक मुहूर्त जितना काल सफल हो जायगा। यह सफलता भी एकदम नगण्य तो नही है। तात्पर्य यह कि ध्येय शुद्धि के साथ प्रयत्न करते रहने से सफलता की ओर बढा जा सकता है।

२ ईमानदारी, सचाई, आदि शुभ गुणो का होना साधारण मनुष्य के लिए भी आवश्यक है, तब जैनी मे तो ये शुभ गुण होना ही चाहिए। यदि कोई अन्य समय मे ईमानदारी आदि नही रख सके, तो सामायिक में तो रखेगा ही। वह जितनी देर सामायिक मे रहेगा, उतनी देर तो झूठ, ठगाई, बेई-मानी मे बचता रहेगा। गृहस्थ जीवन में यदि वह एक मुहूर्त मात्र भी सामायिक में रहा और अभ्यास करता रहा, तो उसकी आत्मा का हित ही होगा। कम से कम एक मुहूर्त बुराइयो से बचना भी कुछ न कुछ लाभ का कारण तो होगा।

अभ्यास के द्वारा अनधिकारी भी अधिकारी बन सकता है। अनधिकारियो के लिए सामायिक का अभ्यास योग्य अधिकारी बनाने का कारण हो सकता है।

३ अहिंसादि मूल व्रतों की आराधना भी अवश्य होनी ही चाहिए, किन्तु 'कोई मूल व्रतो को ग्रहण नही करे तो वह सामायिक का अधिकारी ही नही हो सकता'–ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि सामायिक के पूर्व के आठ व्रत जीवन पर्यंत के लिए स्वीकार किये जाते है। इससे हिचकिचाकर कोई एक मुहूर्त के लिए सामायिक करे, तो स्वल्पकालीन नियम होने से वह सरलता से कर सकता है, तथा जिस समय वह सामायिक व्रत का पालन करता है उस समय उसके पूर्व के आठो व्रत अपने आप पलते ही है, क्यो कि सामायिक के समय पाचो अणुव्रत और तीनो गुणव्रत पूर्ण रूप से ही नही बल्कि अधिक रूप से पलते हैं। उस समय वह त्रस तो क्या पर स्थावर जीव की भी हिंसा नही करता, छोटा झूठ भी नही बोलता, छोटा अदत्त भी नही लेता, और स्वादारा से भी मैथुन नही करता, इस प्रकार सभी व्रतो का पालन अधिक रूप से होता है। सामायिक मे वह इस व्रत के योग्य ही प्रतिज्ञा करता है, किंतु उसमे सभी व्रतो का, विशेष रूप से अपने आप समावेश हो जाता है। अतएव पृथक् से अहिं–सादि अणुव्रतो को स्वीकार नही करने वाला भी सामायिक कर सकता है और उससे उस समय, पूर्वक के सभी व्रत पलते है।

जब बिना श्रावक व्रतो का स्वीकार किए और बिना पालन किए भी साधुता (जीवनभर की सर्व सामायिक) आ सकती है, तो स्वल्पकालीन देश सामायिक प्राप्त हो सके, इसमे शका ही क्या हो सकती है?

शंका—दोषरहित शुद्ध सामायिक होना बहुत कठिन है। सामायिक में कुछ न कुछ दोष लग ही जाते हैं। इसलिए दूषित सामायिक करने से तो नहीं करना ही अच्छा है?

समाधान—निर्दोष सामायिक करने का ध्यान तो रखना ही चाहिए। ध्यान रखते हुए भी यदि असावधानी हो जाय और दोष लग जाय तो उसके लिए शुद्धि का उपाय (आलोचना—एयस्स नवमस्स सामाइयवयस्स पचअइयारा आदि पाठ द्वारा) भी है किंतु दोष के भय से सामायिक ही नहीं करना—यह तो बहुत बड़ी भूल है। दोष लगने से लाभ में कुछ कमी रह सकती है किन्तु सर्वथा नहीं करने से तो थोड़े लाभ से भी सर्वथा वंचित रहना पड़ता है। अतएव सामायिक तो करनी ही चाहिए और सावधानी पूर्वक दोषों से बचते रहने का ध्यान भी रखना चाहिए।

शंका—वह सामायिक ही क्या कि जिसका प्रभाव वहाँ से हटते ही नष्ट हो जाय और कूड़ कपट झूठ लोभ आदि का सेवन चलता रहे? जो ऐसा करता है उसका सामायिक करना दंभ युक्त नहीं है क्या?

समाधान—यदि आप यह सोचते हैं कि 'जो जीवनभर के लिए त्याग नहीं कर सकता वह दो घड़ी के लिए भी त्यागी नहीं हो सकता' तो आपका ऐसा सोचना उचित नहीं है। यदि वह जीवनभर के लिए उस दशा का पालन कर सकता तो साधु ही क्यों नहीं बन जाता?

यह ठीक है कि उसे जीवन में अधिक से अधिक सद्गुणी बनना चाहिए, किंतु यह कहना तो झूठ ही है कि 'जो अन्य समय में झूठ बोलता है हँसी करता है मैथुन व्यापारादि करता है वह उन वृत्तियों का दो घड़ी के लिए भी त्याग नहीं कर सकता और उसका वह दो घड़ी का त्याग केवल दंभ ही है। जिस प्रस प्रकार वर्ष भर खाने वाला साम्वत्सरिक उपवास भाव पूर्वक कर सकता है। उसका वह उपवास दांभिक नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार यह भी समझना चाहिए।

सामायिक करते समय श्रावक का उपयोग धर्म साधना का होता है और शेष समय में संसार साधना का। यह स्वाभाविक ही है कि जो जिस प्रवृत्ति में रहता है वह उसी के अनुसार चलता है। इसलिए बाद में सांसारिक प्रवृत्ति में लगे रहने के कारण उसकी की हुई सामायिक व्यर्थ अथवा दंभ युक्त नहीं हो जाती। हाँ यह ठीक है कि श्रावक को जितना भी बन सके—दुर्गुणों से बचना चाहिए।

देशावकाशिक व्रत

छठे व्रत मे दिशाओ की मर्यादा की गई है, उसे तथा अन्य सभी व्रतो की मर्यादा को प्रतिदिन सकोच करके आस्रव के कारणो को अत्यत सीमित कर देना–देशावकासिक व्रत है। इस व्रत की आराधना प्रतिदिन भी हो सकती है। रोज चौदह नियम की मर्यादा करने वाला अपने सासारिक कार्य करते हुए भी इस व्रत का पालक हो सकता है।

श्री हरिभद्रसूरिजी 'सम्वोधप्रकरण' के श्रावकाधिकार गा० १२० मे लिखते हैं कि–

" एगमुहुत्तं दिवसं, राई पंचाहमेव पक्खं वा।
वयमिह धरेह दढं, जावइअं उच्छहे कालं" ॥ १२० ॥

अर्थात्–एक मुहूर्त, दिवस, रात्रि, पाच रात्रि दिवस, एक पक्ष अथवा जितने काल तक पाला जा सके उतने काल का यह व्रत हो सकता है।

गाथा १२२ मे लिखा है कि–

" देसावगासिअं पुण, दिसिपरिमाणस्स निच्चं संखेवो।
अहवा सव्ववयाणं, संखेवो पइदिणं जो उ" ॥ १२२ ॥

अर्थात्–प्रतिदिन दिशागमन परिमाण का अथवा सभी व्रतो की मर्यादा को सक्षेप करना (कम करना) दिशावकासिक व्रत है।

चौदह नियम

सदैव प्रात काल करने के चौदह नियम इस प्रकार है।

१ सचित्त–पृथ्वी, पानी, वनस्पत्ति, फल, फूल, शाक आदि सचित वस्तुओ के सेवन की मर्यादा करके शेष का त्याग करना।

२ द्रव्य–खाने पीने की वस्तुओ की सख्या नियत करना। जिनका स्वाद, तथा स्वरूप भिन्न भिन्न हो,वह मूल में एक वस्तु की होने पर भी भिन्न द्रव्य है। जैसे गेहू से रोटी भी बनती है और थूली भी, दूध से दही भी बनता है और खीर भी। इस प्रकार भिन्न स्वाद वाली वस्तुओ के खाने पीने की गिनती रखकर शेष का त्याग करना।

३ विगय–शरीर मे विकृति–विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओ को विगय कहते है। दूध, दही, घृत, तैल और गुड शकर आदि मिठाई को सामान्य विगय कहते है। इनमे अमुक विगय का परिमाण करके शेष का त्याग करना। मधु और मक्खन विशेष विगय हैं। इनके निष्कारण उपयोग का त्याग करना चाहिए। (मास और मदिरा महान् विगय हैं। श्रावक इनका सर्वथा त्यागी होता ही है।)

शंका—दोषरहित शुद्ध सामायिक होना बहुत कठिन है। सामायिक में कुछ न कुछ दोष लग ही जाते हैं। इसलिए दूषित सामायिक करने से तो नहीं करना ही अच्छा है?

समाधान—निर्दोष सामायिक करने का ध्यान तो रखना ही चाहिए। ध्यान रखते हुए भी यदि असावधानी हो जाय और दोष लगजाय तो उसके लिए शुद्धि का उपाय (आलोचना—'एयस्स नवमस्स सामाइयवयस्स पचअइयारा' आदि पाठ द्वारा) भी है किन्तु दोष के भय से सामायिक ही नहीं करना—यह तो बहुत बड़ी भूल है। दोष लगने से लाभ में कुछ कमी रह सकती है किन्तु सर्वथा नहीं करने से तो थोड़े लाभ से भी सर्वथा वंचित रहना पड़ता है। अतएव सामायिक तो करनी ही चाहिए और सावधानी पूर्वक दोषों से बचते रहने का ध्यान भी रखना चाहिए।

शंका—वह सामायिक ही क्या कि जिसका प्रभाव वहाँ से हटते ही नष्ट हो जाय और कूड़ कपट झूठ लोभ आदि का सेवन चलता रहे? जो ऐसा करता है उसका सामायिक करना दंभ युक्त नहीं है क्या?

समाधान—यदि आप यह सोचते हैं कि 'जो जीवनभर के लिए त्याग नहीं कर सकता वह दो घड़ी के लिए भी त्यागी नहीं हो सकता' तो आपका ऐसा सोचना उचित नहीं है। यदि वह जीवनभर के लिए उस दशा का पालन कर सकता तो साधु ही क्यों नहीं बन जाता?

यह ठीक है कि उसे जीवन में अधिक से अधिक सद्गुणी बनना चाहिए किन्तु यह कहना तो झूठ ही है कि 'जो अन्य समय में झूठ बोलता है, हँसी करता है, मैथुन व्यापारादि करता है वह उन वृत्तियों का दो घड़ी के लिए भी त्याग नहीं कर सकता और उसका वह दो घड़ी का त्याग केवल दंभ ही है। जिस प्रकार वर्ष भर खाने वाला साम्वत्सरिक उपवास भाव पूर्वक कर सकता है। उसका वह उपवास दांभिक नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार यह भी समझना चाहिए।

सामायिक करते समय श्रावक का उपयोग धर्म साधना का होता है और शेष समय में संसार साधना का। यह स्वाभाविक ही है कि जो जिस प्रवृत्ति में रहता है वह उसी के अनुसार चलता है। इसलिए बाद में सांसारिक प्रवृत्ति में लगे रहने के कारण उसकी की हुई सामायिक व्यर्थ अथवा दंभ युक्त नहीं हो जाती। हाँ यह ठीक है कि श्रावक को जितना भी बन सके—दुर्गुणों से बचना चाहिए।

देशावकाशिक व्रत

छठे व्रत मे दिशाओ की मर्यादा की गई है, उसे तथा अन्य सभी व्रतो की मर्यादा को प्रतिदिन सकोच करके आस्रव के कारणो को अत्यत सीमित कर देना–देशावकासिक व्रत है। इस व्रत की आराधना प्रतिदिन भी हो सकती है। रोज चौदह नियम की मर्यादा करने वाला अपने सासारिक कार्य करते हुए भी इस व्रत का पालक हो सकता है।

श्री हरिभद्रसूरिजी 'सम्बोधप्रकरण' के श्रावकाधिकार गा० १२० मे लिखते हैं कि–

" एगमुहुत्तं दिवसं, राई पंचाहमेव पक्खं वा।
वयमिह धरेह दढं, जावइअं उच्छहे कालं" ॥ १२० ॥

अर्थात्–एक मुहूर्त, दिवस, रात्रि, पाच रात्रि दिवस, एक पक्ष अथवा जितने काल तक पाला जा सके उतने काल का यह व्रत हो सकता है।

गाथा १२२ मे लिखा है कि–

" देसावगासिअं पुण, दिसिपरिमाणस्स निच्चं संखेवो।
अहवा सव्ववयाणं, संखेवो पइदिणं जो उ" ॥ १२२ ॥

अर्थात्–प्रतिदिन दिशागमन परिमाण का अथवा सभी व्रतो की मर्यादा को सक्षेप करना (कम करना) दिशावकासिक व्रत है।

चौदह नियम

सदैव प्रातःकाल करने के चौदह नियम इस प्रकार है।

१ सचित्त–पृथ्वी पानी, वनस्पत्ति, फल, फूल, शाक आदि सचित वस्तुओ के सेवन की मर्यादा करके शेष का त्याग करना।

२ द्रव्य–खाने पीने की वस्तुओ की सख्या नियत करना। जिनका स्वाद, तथा स्वरूप भिन्न भिन्न हो,वह मूल में एक वस्तु को होने पर भी भिन्न द्रव्य है। जैसे गेहू से रोटी भी बनती है और थूली भी, दूध से दही भी बनता है और खीर भी। इस प्रकार भिन्न स्वाद वाली वस्तुओ के खाने पीने की गिनती रखकर शेष का त्याग करना।

३ विगय–शरीर मे विकृति–विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओ को विगय कहते है। दूध, दही, घृत, तैल और गुड शक्कर आदि मिठाई को सामान्य विगय कहते है। इनमे अमुक विगय का परिमाण करके शेष का त्याग करना। मधु और मक्खन विशेष विगय है। इनके निष्कारण उपयोग का त्याग करना चाहिए। (मास और मदिरा महान् विगय है। श्रावक इनका सर्वथा त्यागी होता ही है।)

४ पत्नी–पांवों में पहनने के जूते मोजे चप्पल आदि का मर्यादा करना।

५ ताम्बूल–मुखवास के लिये सुपारी इलायची पान आदि लिये जायें, उनकी मर्यादा करना।

६ वस्त्र–पहनने ओढ़ने के वस्त्रों की मर्यादा करना।

७ कुसुम–सुगन्ध के लिए पुष्प, इत्र आदि की मर्यादा करना।

८ वाहन–सवारी के ऊंट हाथी घोडा साइकल मोटर, तांगा गाडी आदि।

९ शयन–शयन करने के पलंग पाट बिस्तर आदि।

१० विलेपन–केसर चन्दन तेल साबुन अंजन आदि।

११ ब्रह्मचर्य– चौथे अणुव्रत को भी सकुचित करना।

१२ दिग्–छठे व्रत में की हुई दिशाओं के परिमाण को सकुचित करना।

१३ स्नान–देश स्नान अथवा सब स्नान की मर्यादा करना।

१४ भक्त–भोजन पानी की मर्यादा करना। एक बार या दो बार तथा वस्तु का परिमाण करना।

इसके उपरान्त आजीविका सम्बन्धी प्रवृत्ति की भी मर्यादा की जाती है। जैसे–

असि–शस्त्र अथवा हथौडादि औजारो द्वारा आजीविका करना–असि कर्म है। इसकी भी मर्यादा करना।

मसि–स्याही–कलम,दवात और कागज से आजीविका करने में कार्य एवं साधन की मर्यादा करना।

कृषि–खेती सम्बन्धी साधनों कार्यों और व्यवस्था की मर्यादा करना।

इन तीनों में श्रावक का अपने योग्य साधन रख कर उसमें किये जाते हुए आरम्भादि को सकुचित करके पाप का त्याग करना।

यह व्रत प्रवृत्ति की विस्तृत धाराओं को सकोच कर निवृत्ति को अधिक विकसित करने वाला है। इसके सदुपयोग से आत्मा अधिक विकसित होती

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है।

१ आनयन प्रयोग–व्रत के कारण मर्यादित सीमा से आगे स्वयं तो नहीं जाय किन्तु मर्यादा के बाहर की सीमा में रही हुई वस्तु किसी अन्य से मँगवाये।

२ प्रेष्य प्रयोग–मर्यादा बाहर की भूमि में दूसरों के साथ वस्तु भजे।

३ शब्दानुपात–सीमित भूमि के बाहर रहे हुए अन्य पुरुष को खासकर या डकारकर अर्थात् अस्फुट शब्द से आकर्षित करके अपनी उपस्थिति का ज्ञान करवाकर अपने पास बुलाना अथवा सीमा से बाहर ही वस्तु लाने का संकेत करना।

४ **रूपानुपात**–अपने को या अपना अवयव अथवा अपनी वस्तु दिखाकर किसी को आकर्षित करना। अथवा सीमा से बाहर रही हुई वस्तु का आकार बताकर अंगुली आदि के संकेत से मँगाना।

५ **बहिर्पुद्गलप्रक्षेप**–सीमा के बाहर कंकर आदि फेंक कर अपना प्रयोजन बतलाना। अथवा मर्यादित भूमि से बाहर, आश्रव की क्रिया करने के लिए कोई पूछने आवे, तो उसे पुद्गल गिराकर संकेत से अभिप्राय देना।

उपरोक्त अतिचारो का त्यागकर निर्दोष रीति से व्रत का पालन करने से महान् लाभ होता है। जो महानुभाव इसकी भलीभाति आराधना करते है, उनके हजारो मेरु पर्वतो जितना पाप रुक जाता है और एक राई जितना शेष रहता है। वे असंख्य गुण त्यागी और असंख्यातवे भाग के भोगी रहते है। ऐसे श्रावको को **"सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकर"** कहा है (सूय २–७) इस व्रत की पालना करते हुए वे संसार भार से हलके होकर विश्राम का अनुभव करते है।

(ठाणांग ४–३)

पौषधोपवास व्रत

आत्मा के निजगुणो का शोषण करनेवाली सावद्य प्रवृत्तियो का त्याग कर, पोषण करनेवाले गुणो के साथ रहना, समता पूर्वक ज्ञान ध्यान और स्वाध्यायादि में रत रहना, 'पौषधोपवास' व्रत है। इस के चार भेद इस प्रकार है।

१ **आहार पौषध**–चारो प्रकार के आहार का त्याग करना।

२ **शरीर पौषध**–स्नान, मंजन, उबटन, पुष्प, माला तथा आभूषणादि का त्याग करना।

३ **ब्रह्मचर्य पौषध**–वैषयिक सुख का त्यागकर आत्मिक सुखमें रमण करना।

४ **अव्यापार पौषध**–आजीविका अथवा संसार सम्बन्धी सभी सावद्ययोगो का त्याग करना।

इस प्रकार चार प्रकार का पौषध करके मन को शान्त बना लेना चाहिए। सांसारिक सभी सावद्य कार्यो के भारी बोझ को एक दिन रात के लिए उतार कर अपूर्व शांति का अनुभव करना चाहिए। पौषध मे हल्कापन का अनुभव कर विश्राम लेना–संसार मे तीसरा विश्राम है। (ठाणांग ४–३)

निर्दोष रूप से पौषध करनें के लिए, पौषध के पूर्व दिन निम्नलिखित शुद्धता रखनी चाहिए।

१ जहा तक हो सके एकासना करे, यदि एकासना नही हो सके, तो पौषध निमित्त अधिक नही खावे।

२ 'कल पौषध होगा इसलिए आज वाल बनवालूं या स्नान करलूं'—इस प्रकार सोचकर य क्रियाऐं नहीं करे।

३ मथुन सेवन नहीं करें।

४ वस्त्रादि नहीं धुलावे धुलवावे भी नहीं और रगावे भी नहीं।

५ पौषध के निमित्त शरीर की साज सजावट आदि नहीं करे।

६ पौषध के निमित्त आभूषण नहीं पहने।

उपरोक्त छह बातों का पालन करने से पौषध करने वाली आत्मा की क्षेत्र शुद्धि होती है अन्यथा य दोष लगते हैं। इन दोषों से अवश्यही बचना चाहिए।

पौषध व्रत के नीचे लिखे पांच अतिचारों को टालना चाहिए।

१ अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या संस्तारक—बिछौने पाटले तथा आसनादि की प्रतिलेखना नहीं करना अथवा ध्यान पूर्वक प्रतिलेखना नहीं करते हुए बेगारी की तरह करना।

२ अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या सस्तारक—बिछौने आदि तथा भूमि आदि की प्रमार्जना नहीं करना।

(प्रतिलेखना प्रमार्जना के भेद अनगार धर्म विभाग से जान लेना चाहिए)

३ अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल मूत्र आदि परठने के स्थान की प्रतिलेखना नहीं करना अथवा बुरी तरह से करना।

४ अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल मूत्रादि परठने के पूर्व उस स्थान को नहीं पूंजना अथवा बुरी तरह से पूंजना।

५ पौषधोपवास का सम्यक् अपालन—पौषध का विधि पूर्वक पालन नहीं करना।

उपरोक्त अतिचारों को सावधानी पूर्वक टालना चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्न दोषों से भी बचना चाहिए।

१ अव्रती से सेवा कराना।

२ शरीर का मैल उतारना।

३ बिना पूंजे शरीर खुजालना।

४ अकाल में निद्रा लेना अर्थात् दिन में सोना और रात में अधिक नींद लेना।

५ निन्दा विकथा तथा हँसी मजाक करना।

६ सांसारिक विषयों की बातें करना या सुनना अथवा अधार्मिक साहित्य पढ़ना।

७ भय को हृदय में स्थान देना या दूसरों को डराना।

८ क्लेश करना अथवा क्लेश मे कारण भूत बनना ।

९ खुले मुह बोलना—सावद्य वचन बोलना ।

१० स्त्री का रूप निरखना ।

११ सामारिक सबध के अनुमार सबोधन करना । अथवा जिमके पौषध नही हो, व्यक्तियो और सबधियो से बाते करना ।

१२ प्रमार्जना मे प्रमाद करना ।

इन दोषो से भी बचना आवश्यक है । पौषध की पूर्ति पर पालने की चपलता न करना । समय पूर्ण होने के बाद कुछ समय बीतने पर विधि पूर्वक, अतिचारो और अन्य दोपो आलोचना करने के पूर्व पौषध नही पालना चाहिए ।

जिम प्रकार शिथिलगात्र वाला वृद्ध, भारी बोझ के कारण थक कर, किसी ठण्डी छाया अ जलाशय को देखकर अपना भार रखता है, और ठण्डा पानी पीकर तथा छाया मे बैठकर विश्राम लेता है सुख का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार पौषध मे रहा हुआ श्रावक, ससार के आरभ परिग्रह तथ अठारह पाप के महान् बोझ से थका हुआ है । पौषध के समय वह इस भार से हलका होकर आत्मीय सुख व अनुभव करता है । आत्म शान्ति का पोषक होने के कारण इस व्रत का नाम 'पौषध' है । पूर्वाचार्य कह है कि जो श्रद्धालु श्रावक, भाव पूर्वक शुद्ध व्यवहार प्रतिपूर्ण पौषध का पालन करता हुआ, विषय कषा की गर्मी को शात करता है । 'वह सत्तावीस अरब, सतहत्तर करोड, सतहत्तर लाख, सतहत्तर हजा सातसो सतहत्तर पल्योपम और एक पल्योपम का सप्तनवमास (२७७७७७७७७७७-$\frac{७}{९}$) परिमा देवभव के आयुष्य का बन्ध करता है । (सबोधप्रकरण श्रावकाधिकार गा० १३४) यदि इसमें थोड़ भी निश्चय सम्यक्त्व की लीनता हुई, तो उसके लाभ का तो कहना ही क्या ?

देश पौषध

यह विधि 'प्रतिपूर्ण पौषध' की है । देश पौषध की विधि ग्रथकारो ने इस प्रकार बताई है ।

१ आहार आदि का देश से त्याग करना । तिविहार उपवास, आयबिल, एकासन आदि करके देश आहार पौषध करना ।

२ हाथ, पाँव, मुँह आदि धोकर, शरीर सत्कार देश पौषध करना ।

३ मन तथा दृष्टि क्षेप आदि की छूट रखकर, देश ब्रह्मचर्य पौषध करना ।

४ व्यापार, गृहकार्य आदि की सलाह देने रूप सावद्य व्यापार का देश से त्याग करना ।

इस प्रकार देश पौषध होता है ।

द्रव्य पौषध—पौषध में उपयोगी ऐसे आसन प्रमार्जनी पुस्तकादि साधनों का रखकर शष का त्याग करना।

क्षेत्र पौषध—उपाश्रय तथा उच्चार प्रस्रवण भूमि की मर्यादा रखकर शष का त्याग करना।

काल पौषध—देश पौषध कम से कम चार प्रहर का और मध्यम चार प्रहर स अधिक का और उत्कृष्ट उपवास क साथ आठ प्रहर छठ भक्त के साथ सोलह प्रहर तथा अष्टम भक्त क साथ २४ प्रहर का हाता है। इसी तरह आगे भी समझना चाहिए। आठ प्रहर से कम हा—वह काल स देश पौषध है।

भाव पौषध—औत्मिक भाव—राग द्वेष अर्थात आर्त रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्मध्यान में मश गूल रहना।

श्रावकों का दया (छकाया) व्रत भी देश पौषध रूप है। भगवती सूत्र १२–१ में शंख पुष्कली प्रकरण में लिखित भोजन करके पौषध करने के प्रसग से भी देश पौषध की परिपाटी सिद्ध हाती है।

पौषध में सामायिक करना या नहीं ?

पौषध लेने के बाद उसमें सामायिक करना या नहीं यह प्रश्न भी उपस्थित होता है क्योंकि श्वे मूर्ति पूजक समाज में पौषध के साथ सामायिक करन का रिवाज है। इस विषय में 'धर्म सग्रह' की टोका में लिखा ह कि—देश पौषधवाला सामायिक नहीं करे ता भी चल सकता है (क्योंकि उसन कुव्यापार=सावद्य व्यापार का त्याग भी देश से किया है) किन्तु सर्व पौषध वाले को सामायिक अवश्य ही करना चाहिए। यदि नहीं करे तो वह सामायिक के फल से वंचित रहता है। किन्तु 'योगशास्त्र' की टोका में लिखा है कि—

यदि 'कुव्यापार वर्जन' रूप पौषध भी अन्नत्थणा भोगेणं' आदि आगार सहित किया है तब ता सामायिक करने की आवश्यकता रहती है और एसी दशा में सामायिक करना सार्थक भी है (क्योंकि सामायिक के समय वे आगार भी रुक जाते हैं—यह लाभ है) और सर्व पौषध वाले को भी सामायिक करनी चाहिए, नही करने पर उसके लाभ से वंचित रहता है। इसके आगे लिखा कि—

यदि समाचारी की भिन्नता से जिसने पौषध भी सामायिक की तरह 'दुविहं तिविहेणं' आदि भग पूर्वक किया है तो उसके लिए सामायिक का काय पौषध से ही हा जाता है। इसलिए उसकी सामायिक विशेष फल दायक नहीं हाती। हां अपने उल्लास के लिए—कि 'मैंने सामायिक और पौषध दोनों किय' करे ता कर सकता है।

तात्पर्य यह कि देश पौषधवाले के सावद्य व्यापार किसी अश मे खुला हो, तो अथवा सर्व पौषध मे एक करण एक योग आदि से प्रत्याख्यान हो, तो सामायिक करना सार्थक है, किन्तु दो करण तीन योग के सर्व पौषध मे, सामायिक का समावेश अपने आप हो जाता है। जो इस प्रकार का पौषध करे, उसके लिए पृथक् रूप से विना किसी विशेषता के सामायिक करना कोई खास लाभप्रद नही होता।

पौषध मे दोनो समय वस्त्र पुस्तक तथा प्रमार्जनी आदि की प्रतिलेखना करे। बैठते, सोते, शरीर पर खाज खुजालते और ऐसे ही दूसरे कार्यों के पूर्व प्रमार्जन करे। यथा समय दोनो वक्त प्रतिक्रमण करे। करवट बदले तो पूजने के बाद बदले। तथा सयमियो और पौषध करनेवाले श्रावको की अनुमोदना करते हुए अथवा ससार की अनित्यता का चितन करते करते सोवे। प्रहर रात बीतने के बाद रात्रि रहे तब तक जोर से नही बोले। निद्रा त्यागने के बाद इरियापथिकी करके निद्रा–दोष निवृत्ति के लिए "पडिक्कमामि पगामसिज्जाए" का स्मरण करे।

अतिथि संविभाग × व्रत

सर्वस्व त्यागी (मोक्षाभिलाषी) पच महाव्रतधारी निर्ग्रंथो को उनके कल्प के अनुसार निर्दोष, अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल पादप्रोछन (रजोहरण) पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक औषध, भेषज–इन चौदह प्रकार की वस्तुओ मे से आवश्यकतानुसार भक्ति पूर्वक, सयम मे सहायक होने की कल्याण कामना से अर्पण करना–'अतिथि सविभाग' व्रत है।

अतिथि–जिनके आने का कोई नियत समय नही हो, जो पर्व, उत्सव अथवा निर्धारित समय पर पहुँचने की वृत्ति को त्याग चुके हो (अर्थात् जो अचानक आते हो) वे अतिथि कहलाते हैं।

सविभाग–उपरोक्त निर्दोष अतिथि को अपने लिए बनाये हुए आहार मे से निर्दोष विधि से देना। इस व्रत में तीन वस्तुओ का योग होता है, १ सुपात्र २ सुदाता और ३ सुद्रव्य।)

सुपात्र–आगमो में इसे 'पडिगाहग' कहा है–'पडिगाहग सुद्धेण (भग० १५ तथा विपाक २–१) अर्थात् शुद्धपात्र। सुपात्र वह है, जिसने सभी प्रकार के आरभ परिग्रह तथा सासारिक सम्बन्धो और कर्तव्यो का त्यागकर आत्म कल्याण के लिए अग्रसर हुआ है। जो अनगार है, और केवल सयम निर्बाह के लिए, शरीर को सहारा देने रूप, आहार लेता है। जिसकी आहार लेनें की विधि भी निर्दोष है। जो बिना पूर्व सूचना अथवा निमन्त्रण के अचानक आकर निर्दोष आहार लेता हैं, वह सुपात्र है।

× **इस व्रत का नाम 'यथा संविभाग' भी है (उपासक दशा, उववाई, भगवती)**

द्रव्य पौषध—पौषध में उपयोगी ऐसे आसन प्रमार्जनी पुस्तकादि साधनों का रखकर शेष का त्याग करना।

क्षेत्र पौषध—उपाश्रय तथा उच्चार प्रस्रवण भूमि की मर्यादा रखकर शेष का त्याग करना।

काल पौषध—देश पौषध कम से कम चार प्रहर का और मध्यम चार प्रहर से अधिक का और उत्कृष्ट उपवास के साथ आठ प्रहर छठ भक्त के साथ सोलह प्रहर तथा अष्टम भक्त के साथ २४ प्रहर का होता है। इसी तरह आगे भी समझना चाहिए। आठ प्रहर से कम हो—वह काल से देश पौषध है।

भाव पौषध—औदयिक भाव—राग द्वेष अर्थात् आर्त रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्मध्यान में मग्न रहना।

श्रावकों का दया (छकाया) व्रत भी देश पौषध रूप है। भगवती सूत्र १२—१ में शंख पुष्कली प्रकरण में लिखित भोजन करके पौषध करने के प्रसंग से भी देश पौषध की परिपाटी सिद्ध होती है।

पौषध में सामायिक करना या नहीं ?

पौषध लेने के बाद उसमें सामायिक करना या नहीं यह प्रश्न भी उपस्थित होता है क्योंकि श्वे मूर्ति पूजक समाज में पौषध के साथ सामायिक करने का रिवाज है। इस विषय में 'धर्म संग्रह' की टीका में लिखा है कि—देश पौषधवाला सामायिक नहीं करे तो भी चल सकता है (क्योंकि उसने कुव्यापार=सावद्य व्यापार का त्याग भी देश से किया है) किन्तु सर्व पौषध वाले को सामायिक अवश्य ही करना चाहिए। यदि नहीं करे तो वह सामायिक के फल से वंचित रहता है। किन्तु 'योगशास्त्र' की टीका में लिखा है कि—

यदि कुव्यापार वर्जन रूप पौषध भी 'अन्नत्थणा भोगणं' आदि आगार सहित किया है तब तो सामायिक करने की आवश्यकता रहती है और ऐसी दशा में सामायिक करना सार्थक भी है (क्योंकि सामायिक के समय वे आगार भी रुक जाते हैं—यह लाभ है) और सर्व पौषध वाले को भी सामायिक करनी चाहिए नहीं करने पर उसके लाभ से वंचित रहता है। इसके आगे लिखा कि—

यदि समाचारी की भिन्नता से जिसने पौषध भी सामायिक की तरह 'दुविहं तिविहेणं' आदि भंग पूर्वक किया है तो उसके लिए सामायिक का कार्य पौषध से ही हो जाता है। इसलिए उसकी सामायिक विशेष फल दायक नहीं होगी। हाँ अपने उल्लास के लिए—कि 'मैंने सामायिक और पौषध दोनों किये' करे तो कर सकता है।

तात्पर्य यह कि देश पौषधवाले के सावद्य व्यापार किसी अश मे खुला हो, तो अथवा सर्व पौषध मे एक करण एक योग आदि मे प्रत्याख्यान हो, तो सामायिक करना सार्थक है, किन्तु दो करण तीन योग के सर्व पौषध मे, सामायिक का समावेश अपने आप हो जाता है। जो इस प्रकार का पौषध करे, उसके लिए पृथक् रूप से विना किसी विशेषता के सामायिक करना कोई खास लाभप्रद नही होता।

पौषध मे दोनो समय वस्त्र पुस्तक तथा प्रमार्जनी आदि की प्रतिलेखना करे। बैठते, सोते, शरीर पर खाज खुजालते और ऐसे ही दूसरे कार्यो के पूर्व प्रमार्जन करे। यथा समय दोनो वक्त प्रतिक्रमण करे। करवट वदले तो पूजने के वाद वदले। तथा सयमियो और पौषध करनेवाले श्रावको की अनुमोदना करते हुए अथवा ससार की अनित्यता का चितन करते करते सोवे। प्रहर रात बीतने के बाद रात्रि रहे तब तक जोर से नही वोले। निद्रा त्यागने के बाद इरियापथिकी करके निद्रा–दोष निवृत्ति के लिए "पडिक्कमामि पगाममिज्जाए" का स्मरण करे।

अतिथि संविभाग × व्रत

सर्वस्व त्यागी (मोक्षाभिलाषी) पच महाव्रतधारी निर्ग्रथो को उनके कल्प के अनुसार निर्दोष, अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल पादप्रोछन (रजोहरण) पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक औषध, भेषज–इन चौदह प्रकार की वस्तुओ मे से आवश्यकतानुसार भक्ति पूर्वक, सयम मे सहायक होने की कल्याण कामना से अर्पण करना–'अतिथि सविभाग' व्रत है।

अतिथि–जिनके आने का कोई नियत समय नही हो, जो पर्व, उत्सव अथवा निर्धारित समय पर पहुँचने की वृत्ति को त्याग चुके हो (अर्थात् जो अचानक आते हो) वे अतिथि कहलाते हैं।

सविभाग–उपरोक्त निर्दोष अतिथि को अपने लिए बनाये हुए आहार मे से निर्दोष विधि से देना।

इस व्रत में तीन वस्तुओ का योग होता है, १ सुपात्र २ सुदाता और ३ सुद्रव्य।)

सुपात्र–आगमो मे इसे 'पडिगाहग' कहा है–'पडिगाहग सुद्धेण (भग० १५ तथा विपाक २–१) अर्थात् शुद्धपात्र। सुपात्र वह है, जिसने सभी प्रकार के आरभ परिग्रह तथा सासारिक सम्बन्धो और कर्तव्यो का त्यागकर आत्म कल्याण के लिए अग्रसर हुआ है। जो अनगार है, और केवल सयम निर्वाह के लिए, शरीर को सहारा देने रूप, आहार लेता है। जिसकी आहार लेनें की विधि भी निर्दोष है। जो विना पूर्व सूचना अथवा निमन्त्रण के अचानक आकर निर्दोष आहार लेता हैं, वह सुपात्र है।

× इस व्रत का नाम 'यथा सविभाग' भी है (उपासक दशा, उववाई, भगवती)

सुदाता—जिसे शास्त्र में 'दायगसुद्ध' कहा है। सुदाता वही है जो सुपात्रदान का प्रेमी हो सदैव सुपात्रदान की भावना रखने वाला हो। सुपात्र को देखकर जिसके हृदय में आनन्द की सीमा नहीं रहे। सुपात्र को देखकर उसे इतना हर्ष हो जाय कि जिससे आँखों से अश्रु निकल पड़े। वह ऐसा समझे कि जैसे बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ आत्मीय मिला हो। अत्यन्त प्रिय वस्तु की प्राप्ति हो गई हो या उसके घर चक्रवर्ती सम्राट आगए हों। इस प्रकार अत्यन्त उच्च भाव युक्त दाता सुपात्र को दान देकर उन्हें आदर युक्त कुछ दूर पहुँचाने जाता हो और उसके बाद उस दान की तथा दूसरे दाताओं की अनुमोदना करता हो और पुनः ऐसा सुयोग प्राप्त होने की भावना रखता हो। ऐसा दाता सुदाता कहा जाता है।

सुद्रव्य—'दव्वसुद्ध' दान की सामग्री निर्दोष हो। सुपात्र के अनुकूल एवं हितकारी हो। (दोष रहित वस्तु और उद्गम आदि दोषों का स्वरूप'एषणा समिति' के वर्णन से देख लेना चाहिए) ऐसी वस्तु नहीं देना चाहिए जो दूषित हो और संयमी जीवन के लिए अनावश्यक हो।

इस प्रकार साधु साध्वी को प्रसन्न मन से निर्दोष आहारादि का दान करने से इस व्रत का पालन होता है।

इस व्रत को दूषित करनेवाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं।

१ सचित्त निक्षेप—साधु को नहीं देने की बुद्धि से निर्दोष और अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रख देना जिससे वे ले ही नहीं सके।

२ सचित्त पिधान—दुर्बुद्धि पूर्वक अचित्त वस्तु को सचित्त से ढक देना।

३ कालातिक्रम—गोचरी के समय को चुका देना और बाद में शिष्टाचार साधने के लिए दान देने को तय्यार होना।

४ परव्यपदेश—नहीं देने की बुद्धि से अपने आहारादि को दूसरे का बतलाना।

५ मत्सरिता—दूसरे दाताओं से ईर्षा करना।

इन पाँचों अतिचारों को टालकर शुद्ध भावना और बहुमान पूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा दान महान् फलदायक होता है। जहाँ द्रव्य शुद्ध और पात्र शुद्ध हो और उत्कृष्ट रस आजाय तो तीर्थंकर नाम का बंध हो जाता है (ज्ञाता ८) दिव्य वृष्टि एवं देवदुन्दुभि तथा देवों द्वारा जय-घोष होता है। (भगवती १५ उद्दे० १२ आदि)

श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक तथा निर्दोष आहारादि का प्रतिलाभ करने वाला श्रमणोपासक श्रमणों को समाधि उत्पन्न करता है और इससे वह स्वयं समाधि प्राप्त करता है। वह जीवन के लिए आवश्यक उपयोगी एवं दुष्त्याज्य वस्तु का मोह छोड़कर त्याग करता है। इस त्याग से वह दुर्लभ ऐसे [illegible] रत्न को प्राप्त कर लेता है और उससे [illegible] हो जाता है। (भगवती ७-१)

भगवती सूत्र ८ उ ६ में–'श्रमण निर्ग्रंथो को अप्रासुक और अनेषणीय आहारादि देने का फल, अल्प पाप और बहुत निर्जरा' बतलाया है। इस विधान का दुरुपयोग होता दिखाई दे रहा है। इसी विधान की ओट से आधाकर्मी आदि बहु दूषण युक्त आहारादि का प्रचलन हो गया है, किंतु समझने की बात यह है कि अल्प पाप वही होगा, जहा दूषण भी स्वल्प हो। आधाकर्मी आदि विशेष दूषण युक्त दान से तदनुसार पाप होता है।

दोष युक्त आहार देना, साधुओ के सयम रूपी धन को लूटने के समान है। प्रत्येक श्रमणोपासक का कर्त्तव्य है कि वह श्रमण निर्ग्रंथों को आहार पानी वस्त्र आदि ऐसी निर्दोष वस्तु दे कि जिससे उनके सयमी जीवन मे दोष नही लगे, किन्तु सयम का पोषण हो। दूषित वस्तु देकर सयम को दूषित करना और खुद भी पाप कर्मो का बन्ध करना–मूर्खता का कार्य है।

"श्रमण निर्ग्रंथो को अप्रासुक अनेषणीय आहारादि देनेवाला अल्प आयुष्य का (जिससे बचपन मे या शैशव अथवा युवावस्था में ही मरजाने रूप) बन्ध करता है और निर्दोष आहार देनेवाला दीर्घायु का बध करता है। खराब आहार देने से दुःखमय जीवन रूप दीर्घ आयु का बन्ध होता है और पथ्यकर आहार देने से शुभ दीर्घ आयु का बन्ध होता है"। (भगवती श० ५ उ० ६)

"श्रमण निर्ग्रंथो को प्रासुक एषणीय=अचित एव निर्दोष आहारादि प्रतिलाभने वाला श्रमणोपासक अपने कर्मों की निर्जरा करता है" (भग० ८–६)

यह बारहवां व्रत श्रमण जीवन की अनुमोदना रूप है। जो श्रमण को उत्तम और मगल रूप मानता है, वही भाव पूर्वक श्रमण को प्रतिलाभता है, उनकी पर्युपासना करता है। श्रमण निर्ग्रंथ की पर्युपासना से धर्म श्रवण करने को मिलता है। धर्म श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से क्रमश विज्ञान, प्रत्याख्यान, सयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, निष्कर्मता और मुक्ति होती है। अर्थात् श्रमण निर्ग्रंथो की पर्युपासना का परम्परा फल मुक्ति प्राप्त होना है (भग० २–५) इसलिए अतिथि–सविभाग व्रत का पालन भाव पूर्वक करना चाहिए।

सुदाता—जिसे शास्त्र में 'दायगसुद्ध' कहा है। सुदाता वही है जो सुपात्रदान का प्रेमी हो सदव सुपात्रदान की भावना रखने वाला हो। सुपात्र को देखकर जिसके हृदय में आनन्द की सीमा नहीं रहे। सुपात्र को देखकर उसे इतना हर्ष हो जाय कि जिससे आँखों से अश्रु निकल पड़े। वह ऐसा समझे कि जैसे बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ आत्मीय मिला हो। अत्यन्त प्रिय वस्तु की प्राप्ति हो गई हो या उसके घर चक्रवर्ती सम्राट आगए हों। इस प्रकार अत्यन्त उच्च भाव युक्त दाता सुपात्र को दान देकर उन्हें आदर युक्त कुछ दूर पहुँचाने जाता हो और उसके बाद उस दान की तथा दूसरे दाताओं की अनुमोदना करता हो और पुनः ऐसा सुयोग प्राप्त होने की भावना रखता हो। ऐसा दाता सुदाता कहा जाता है।

सुद्रव्य—दव्वसुद्ध' दान की सामग्री निर्दोष हो। सुपात्र के अनुकूल एवं हितकारी हो। (दोष रहित वस्तु और उद्गम आदि दोषों का स्वरूप एषणा समिति के वर्णन से देख लेना चाहिए) ऐसी वस्तु नहीं देनी चाहिए जो दूषित हो और संयमी जीवन के लिए अनावश्यक हो।

इस प्रकार साधु साध्वी को प्रसन्न मन से निर्दोष आहारादि का दान करने से इस व्रत का पालन होता है।

इस व्रत को दूषित करनेवाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं।

१ सचित्त निक्षेप—साधु को नहीं देने की बुद्धि से निर्दोष और अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रख देना जिससे व ले ही नहीं सके।

२ सचित्त पिधान—कुबुद्धि पूर्वक अचित्त वस्तु को सचित्त से ढक देना।

३ कालातिक्रम—गोचरी के समय को चुका देना और बाद में शिष्टाचार साधने के लिए दान देने को तय्यार होना?

४ परव्यपदेश—नहीं देने की बुद्धि से अपने आहारादि को दूसरे का बतलाना।

५ मत्सरिता—दूसरे दाताओं से ईर्षा करना।

इन पाँचों अतिचारों को टालकर शुद्ध भावना और बहुमान पूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा दान महान् फलदायक होता है। जहाँ द्रव्य शुद्ध और भाव शुद्ध हो और उत्कृष्ट रस आजाय तो तीर्थंकर नाम का बंध हो जाता है (ज्ञाता ८) दिव्य वृष्टि एवं देवदुंदुभि तथा देवों द्वारा जय-घोष होता है। (भगवती १५ उत्तरा० १२ आदि)

"श्रमण निर्ग्रंथ को अचित्त तथा निर्दोष आहारादि का प्रतिलाभ करने वाला श्रमणोपासक श्रमण को समाधि उत्पन्न करता है और इससे वह स्वयं समाधि लाभ करता है। वह जीवन के लिए आवश्यक उपादान एवं दुष्त्याज्य वस्तु का मोह छोड़कर त्याग करता है। इस त्याग से वह दुर्लभ ऐसे सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त कर सिद्ध होता है और उसके सारे दुःख नष्ट हो जाते हैं।(भगवती ७-१)

५ दिवा ब्रह्मचारी रात्रि परिमाण प्रतिमा—इसमे पूर्व प्रतिमाओ के सभी नियमो के साथ एक रात्रि की उपासक-प्रतिमा का पालन किया जाता है अर्थात् रात्रि को कायोत्सर्ग किया जाता है। इसके सिवाय निम्न लिखित नियमो का पालन किया जाता है।

१ स्नान करने का त्याग किया जाता है।

२ रात्रि भोजन का त्याग किया जाता है।

३ धोती की लाग खुली रखी जाती है।

४ दिन को ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।

५ रात्रि मे मैथुन का परिमाण किया जाता है।

इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक दो या तीन दिन और उत्कृष्ट पाच महीने तक किया जाता है।

६ ब्रह्मचर्य प्रतिमा—पूर्व प्रतिमाओ के सभी नियम पालने के साथ इस प्रतिमा में दिन और रात में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। इसमे सचित्ताहार का पूर्ण त्याग नही होता। इसका कालमान कम मे कम एक दो या तीन और अधिक से अधिक छ मास है।

७ सचित्त त्याग प्रतिमा—पूर्वोक्त छ प्रतिमाओ के साथ इस प्रतिमा मे सचित्त वस्तु के आहार का त्याग, विशेष रूप से होता है, किन्तु आवश्यक कार्य का आरभ करने का त्याग नही होता। इसका काल जघन्य एक दो और तीन दिन का तथा उत्कृष्ट सात माह का है।

८ आरभ त्याग प्रतिमा—पुर्वोक्त गुणो के अतिरिक्त इस प्रतिमा में स्वत के आरभ—सावद्य व्यापार करने का त्याग होता है, किन्तु दूसरो से आरभ करवाने का त्याग नही होता। इसका काल मान जघन्य एक दो तीन दिन और उत्कृष्ट आठ माह का है।

९ प्रेष्यारभ त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में पूर्व से विशेषता यह है कि वह दूसरो से आरभ करवाने का भी त्याग कर देता है, किन्तु 'उद्दिष्ट भक्त' (उसके लिए बनाये हुए आहारादि) का त्याग नही होता। इस प्रतिमा का काल जघन्य एक दो तीन दिन और उत्कृष्ट नवमास का है।

१० उद्दिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा—पूर्वोक्त सभी प्रतिमाओ के नियमो का पालन करते हुए इसमें विशेष रूप से औद्दशिक आहारादि का भी त्याग होता है। वह अपने बालो का उस्तरे से मुडन करवाता है अथवा शिखा रखता है। यदि उसे कौटुम्बिक जन, द्रव्यादि के विषय में पूछे, तो वह जानता हो तो कहे कि "मै जानता हूँ" और नहीं जानता हो तो कहे कि "मै नही जानता"। इस प्रकार वह कम से कम एक दो और तीन दिन तथा अधिक से अधिक दस माह तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

उपासक प्रतिमा

देश विरत श्रावक के अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहते हैं। देव और गुरु की उपासना करने वाला श्रमणोपासक, जब उपासक की प्रतिमा का आराधन करता है तब वह 'प्रतिमाधारी श्रावक' कहलाता है। ये प्रतिमाएँ ग्यारह हैं। यथा–

१ दर्शन प्रतिमा—पहली प्रतिमा में श्रावक सम्यग्दर्शन की आराधना करता है। यों तो वह इसके पूर्व भी सम्यग्दृष्टि होता है किन्तु उस अवस्था में राजाभियोग आदि छः कारणों से सम्यक्त्व में अतिचार भी लग सकता है किन्तु इस प्रतिमा में वह सम्यग्दर्शन का अतिचार रहित–विशुद्ध पालन करता है। वह क्रियावादी अक्रियावादी आदि मिथ्या दर्शनों की मान्यता को हेय मानकर विशुद्ध सम्यग्दर्शनी होता है। उसकी क्षमा निर्लोभता आदि दस धर्म विरति संवर तथा तप आदि सभी धर्मों में पूर्ण रूप से रुचि होती है किन्तु उनका पालन (निरतिचार रूप से) नहीं होता है। यह प्रतिमा एक मास की होती है।

२ व्रत प्रतिमा—प्रथम प्रतिमा की तरह धर्मरुचि पूर्णरूप से होती है। इसके सिवाय वह बहुत से शीलव्रत–अणुव्रत गुणव्रत तथा अनेक प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान का पालन करता है किंतु 'सामायिक और देशावकासिक' व्रत का यथातथ्य पालन नहीं करता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३ सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा में वह पूर्वोक्त सभी गुणों के अतिरिक्त सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत का पालन करता है किंतु अष्टमी चतुर्दशी पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्ण पौषधोपवास नहीं करता। इस प्रतिमा का काल तीन मास का है।

४ पौषधोपवास प्रतिमा—पूर्वोक्त सभी नियमों के साथ अष्टमी चतुर्दशी पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्णपौषध उपवास सहित करता है किन्तु एक रात्रि की उपासक–प्रतिमा का पालन नहीं करता। यह प्रतिमा चार मास की है।

है। सब प्रतिमाओ का कुल पूर्ण समय साढे पाच वर्ष (६६ माह) का होता है।

जिन धर्मबन्धुओ की रुचि, ससार से हटकर धर्म साधना मे विशेष लगी हो, किंतु साधु बनने जितनी जिनकी शक्ति नही हो, उन्हे प्रतिमा का आराधन अवश्य करना चाहिए। जिनके गृहभार सम्हालने योग्य पुत्रादि हो, उन्हे तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। यह आवश्यक नही है कि उन्ह क्रमश सभी प्रतिमाओं का पालन करना ही पडेगा। वे चाहें तो किसी एक प्रतिमा का ही पुन पुन पालन कर सकते है। जैसा कि कार्तिक सेठ ने किया था।

संलेखणा संथारा

ससारी जीव, आयुष्य कर्म के आधार से ही किसी शरीर में स्थिति करते है। आयुष्य का क्षय, 'मरण' कहलाता है। जो आयुष्यादि कर्म के उदय से जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है। मनुष्य अपने उत्कृष्ट पुरुषार्थ से अगला जन्म रोक सकता है अर्थात् वीतरागता प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, जिससे उसे आगे पर जन्म की प्राप्ति नही होती। किन्तु मृत्यु को नही रोक सकता। प्राप्त जन्म और उदयमान आयुष्यादि कर्म को भुगत करके मरना पडता है। वीतराग भगवतो को भी देह त्याग करना ही पडता है, इसलिए प्राप्त जन्म का अन्तिम परिणाम, मृत्यु तो होती ही है। इस मृत्यु को मिथ्या-दृष्टि और कलुषित परिणामी जीव, अकाम मरण द्वारा बिगाड देता है, किन्तु श्रमणोपासक तथा श्रमणवर्ग, सकाममरण—पडितमरण के द्वारा सुधार लेते हैं। अविरत अवस्था में एव मिथ्यादृष्टि सहित आयु पूर्ण करना 'अकाम मरण' है। फिर वह किसी भी निमित्त मे हो, किन्तु सावधानी पूर्वक आराधना करते हुए देह छोडना 'सकाममरण'—पडितमरण है। पण्डितमरण 'सथारा' पूर्वक होता है। यह अतिम साधना है।

जब यह विश्वास हो जाय कि अब शरीर पडनेवाला है। अधिक दिन नही चल सकेगा। शरीर की हालत बहुत ही जिर्ण हो गई। रोग अथवा उपसर्ग, उग्ररूप से बढ रहा है। शक्ति क्षिण होती जा रही है। उठना बैठना तो दूर रहा, करवट लेना भी कठिन हो रहा है। शरीर के लक्षण भी अन्त समय निकट होने का सकेत दे रहे है, तब सथारा किया जाता है। जिन्हे उपसर्ग से बचने की सभावना होती है, वे तो सागारी सथारा करते है (ज्ञाता ८ अरहन्नक श्रावक, उपासकदशा २, अतकृतदशा आदि) किन्तु जिन्हे बचने की सभावना नही हो, वे बिना किसी आगार के ही—जीवन पर्यन्त के लिए सथारा कर लेते है।

११ श्रमणभूत प्रतिमा—पूर्वोक्त दस प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करने के सिवाय इस प्रतिमा का धारक श्रावक अपने सिर के बालों का या तो मुंडन करवाता है या फिर लोच करता है (यह उसकी शक्ति पर निर्भर है) इसके अतिरिक्त वह साधु के आचार का पालन करता है। उसके उपकरण और वेश साधु के समान ही होते हैं। वह निर्ग्रंथ श्र मणो के धर्म का बराबर पालन करता है। उसके उपकरण और वेश साधु के समान हो होते हैं। वह निर्ग्रंथ श्रमणों के धर्म का बराबर पालन करता है मन और वचन से ही नहीं किन्तु शरीर से भी सभी प्रकार की क्रिया करता है। चलते समय वह युग परिमाण भूमि को देखकर चलता है। यदि मार्ग में त्रस जीव दिखाई दें तो उनकी रक्षा के लिए सोच समझकर इस प्रकार पांव उठाता और रखता है कि जिससे जीव की विराधना नहीं हो जीवों की रक्षा के लिए वह अपने पाँव को सकुचित अथवा टेढा रखकर चलता है किन्तु बिना देखे सीधा नहीं चलता। उसकी सभी क्रियाएँ साधु के समान होती हैं। गोचरी के विषय में वह प्रासुक और एषणीय ही ग्रहण करता है किन्तु उसका अपने सम्बन्धियों से प्रेम सबंध सर्वथा नहीं छूटता इसलिए वह उन्हीं के यहां से निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है।

भिक्षार्थ जाने पर उसे मालूम हो कि 'चावल तो उसके आने के पूर्व ही पक कर आग पर से अलग रखे जा चुके किंतु दाल नहीं पकी—पक रही है तो उसे चावल ही लेने चाहिए किंतु बादमें पकने वाली दाल नहीं लेनी चाहिए। इसी प्रकार यदि दाल पहले बन चुकी हो और चावल पकना शेष हो तो दाल हो लेनी चाहिए—चावल नहीं। जो वस्तु उसके पहुँचने के पूर्व बन चुकी हो और आग पर से अलग रखी जा चुकी हो वही लेनी चाहिए। बाद में बनने वाली नहीं लेनी चाहिए।

गृहस्थ के यहां भिक्षा के लिए जावे तब कहे कि प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो। इस प्रकार की उसकी चर्या देखकर कोई पूछे कि हे आयुष्मन्! तुम कौन हो? तो उसे उत्तर में कहना चाहिए कि मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूं'। इस प्रकार इस प्रतिमा का आराधन कम से कम एक दो या तीन दिनरात और उत्कृष्ट ग्यारह मास तक होता है।

(दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६ समवायांग ११)

पांचवी प्रतिमा और उसके आगे की प्रतिमा का कालमान जघन्य एक दो तीन दिन का बताया है इसका कारण बताते हुए टीकाकार लिखते हैं कि एक दो तीन दिन प्रतिमा पालकर यदि वह वर्धमान परिणाम के कारण दीक्षित हो जाय तो जघन्य काल होता है * अन्यथा पूरा समय लगता

* टीकाकार ने दूसरा कारण आयु पूर्ण होने का भी बताया है किंतु यह कोई कारण नहीं लगता क्यों की प्रतिमा धारण करने के पहले अथवा बाद भी आयुष्य पूर्ण हो सकता है फिर इसका ही विधान क्यों? अतएव दीक्षा का कारण ही उचित लगता है।

है। सव प्रतिमाओ का कुल पूर्ण समय साढे पाच वर्ष (६६ माह) का होता है।

जिन धर्मबन्धुओ को रुचि, ससार से हटकर धर्म साधना मे विशेष लगी हो, किंतु साधु वनने जितनी जिनकी शक्ति नही हो, उन्हे प्रतिमा का आरावन अवश्य करना चाहिए। जिनके गृहभार सम्हालने योग्य पुत्रादि हो, उन्हे तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। यह आवश्यक नही है कि उन्ह क्रमश सभी प्रतिमाओ का पालन करना ही पडेगा। वे चाहें तो किसी एक प्रतिमा का ही पुन पुन पालन कर मकते है। जैसा कि कार्तिक सेठ ने किया था।

संलेखणा संथारा

नसारी जीव, आयुष्य कर्म के आधार से ही किसी शरीर में स्थिति करते हैं। आयुष्य का क्षय, 'मरण' कहलाता है। जो आयुष्यादि कर्म के उदय से जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है। मनुष्य अपने उत्कृष्ट पुरुषार्थ से अगला जन्म रोक सकता है अर्थात् वीतरागता प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, जिससे उसे आगे पर जन्म की प्राप्ति नही होती। किन्तु मृत्यु को नही रोक सकता। प्राप्त जन्म और उदयमान आयुष्यादि कर्म को भुगत करके मरना पडता है। वीतराग भगवतो को भी देह त्याग करना ही पडता है, इसलिए प्राप्त जन्म का अन्तिम परिणाम, मृत्यु तो होती ही है। इस मृत्यु को मिथ्यादृष्टि और कलुषित परिणामी जीव, अकाम मरण द्वारा बिगाड देता है, किन्तु श्रमणोपासक तथा श्रमणवर्ग, सकाममरण—पडितमरण के द्वारा सुधार लेते है। अविरत अवस्था में एव मिथ्यादृष्टि सहित आयु पूर्ण करना 'अकाम मरण' है। फिर वह किसी भी निमित्त से हो, किन्तु सावधानी पूर्वक आराधना करते हुए देह छोडना 'सकाममरण'—पडितमरण है। पण्डितमरण 'सथारा' पूर्वक होता है। यह अतिम साधना है।

जब यह विश्वास हो जाय कि अब शरीर पडनेवाला है। अधिक दिन नही चल सकेगा। शरीर की हालत वहुत ही जिर्ण हो गई। रोग अथवा उपसर्ग, उग्ररूप से बढ रहा है। शक्ति क्षिण होती जा रही है। उठना बैठना तो दूर रहा, करवट लेना भी कठिन हो रहा है। शरीर के लक्षण भी अन्त समय निकट होने का सकेत दे रहे है, तब सथारा किया जाता है। जिन्हे उपसर्ग से बचने की सभावना होती है, वे तो सागारी सथारा करते है (ज्ञाता ८ अरहन्नक श्रावक, उपासकदशा २, अतकृतदशा आदि) किन्तु जिन्हे बचने की सभावना नही हो, वे बिना किसी आगार के ही—जीवन पर्यन्त के लिए सथारा कर लेते है।

११ श्रमणभूत प्रतिमा—पूर्वोक्त दस प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करने के सिवाय इस प्रतिमा का धारक श्रावक अपने सिर के बालों का या तो मुंडन करवाता है या फिर लोच करता है (यह उसकी शक्ति पर निर्भर है) इसके अतिरिक्त वह साधु के आचार का पालन करता है। उसके उपकरण और वेश साधु के समान ही होते हैं। वह निर्ग्रंथ श्रमणों के धर्म का बराबर पालन करता है। उसके उपकरण और वेश साधु के समान ही होते हैं। वह निर्ग्रंथ श्रमणों के धर्म का बराबर पालन करता है मन और वचन से ही नहीं किन्तु शरीर से भी सभी प्रकार की क्रिया करता है। चलते समय वह युग परिमाण भूमि को देखकर चलता है। यदि मार्ग में त्रस जीव दिखाई दें तो उनकी रक्षा के लिए सोच समझकर इस प्रकार पाँव उठाता और रखता है कि जिससे जीव की विराधना नहीं हो जीवों की रक्षा के लिए वह अपने पाँव को संकुचित अथवा टेढ़ा रखकर चलता है किन्तु बिना देखे सीधा नहीं चलता। उसकी सभी क्रियाएँ साधु के समान होती हैं। गोचरी के विषय में वह प्रासुक और एषणीय ही ग्रहण करता है किन्तु उसका अपने सम्बन्धियों से प्रेम सम्बन्ध सर्वथा नहीं छूटता इसलिए वह उन्हीं के यहाँ से निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है।

भिक्षार्थ जाने पर उसे मालूम हो कि चावल तो उसके आने के पूर्व ही पक कर आग पर से अलग रखे जा चुके किंतु दाल नहीं पकी—पक रही है तो उसे चावल ही लेने चाहिए किन्तु बाद में पकने वाली दाल नहीं लेनी चाहिए। इसी प्रकार यदि दाल पहले बन चुकी हो और चावल पकना शेष हो तो दाल ही लेनी चाहिए—चावल नहीं। जो वस्तु उसके पहुँचने के पूर्व बन चुकी हो और आग पर से अलग रखी जा चुकी हो वही लेनी चाहिए। बाद में बनने वाली नहीं लेनी चाहिए।

गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए जावे तब कहे कि प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो। इस प्रकार की उसकी चर्या देखकर कोई पूछे कि 'हे आयुष्मन्! तुम कौन हो ?' तो उसे उत्तर में कहना चाहिए कि मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ। इस प्रकार इस प्रतिमा का आराधन कम से कम एक, दो या तीन दिनरात और उत्कृष्ट ग्यारह मास तक होता है।

(दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६ समवायांग ११)

पाँचवीं प्रतिमा और उसके आगे की प्रतिमा का कालमान जघन्य एक दो तीन दिन का बताया है, इसका कारण बताते हुए टीकाकार लिखते हैं कि 'एक दो तीन दिन प्रतिमा पालकर यदि वह वर्धमान परिणाम के कारण दीक्षित हो जाय तो जघन्य काल होता है * अन्यथा पूरा समय लगता

* टीकाकार ने दूसरा कारण आयु पूर्ण होने का भी बताया है किंतु यह कोई कारण नहीं लगता क्यों कि प्रतिमा धारण करने के पहले या बाद में भी आयुष्य पूर्ण हो सकता है फिर दिन का ही विधान क्यों? अतएव दीक्षा का कारण ही उचित लगता है।

है। सब प्रतिमाओ का कुल पूर्ण समय साढे पाच वर्ष (६६ माह) का होता है।

जिन धर्मबन्धुओ की रुचि, ससार से हटकर धर्म साधना मे विशेष लगी हो, किंतु साधु बनने जितनी जिनकी शक्ति नही हो, उन्हे प्रतिमा का आराधन अवश्य करना चाहिए। जिनके गृहभार सम्हालने योग्य पुत्रादि हो, उन्हे तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। यह आवश्यक नही है कि उन्हे क्रमश सभी प्रतिमाओ का पालन करना ही पडेगा। वे चाहे तो किसी एक प्रतिमा का ही पुन पुन पालन कर सकते है। जैसा कि कार्तिक सेठ ने किया था।

संलेखणा संथारा

ससारी जीव, आयुष्य कर्म के आधार से ही किसी शरीर में स्थिति करते हैं। आयुष्य का क्षय, 'मरण' कहलाता है। जो आयुष्यादि कर्म के उदय से जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है। मनुष्य अपने उत्कृष्ट पुरुषार्थ से अगला जन्म रोक सकता है अर्थात् वीतरागता प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, जिससे उसे आगे पर जन्म की प्राप्ति नही होती। किन्तु मृत्यु को नही रोक सकता। प्राप्त जन्म और उदयमान आयुष्यादि कर्म को भुगत करके मरना पडता है। वीतराग भगवतो को भी देह त्याग करना ही पडता है, इसलिए प्राप्त जन्म का अन्तिम परिणाम, मृत्यु तो होती ही है। इस मृत्यु को मिथ्या-दृष्टि और कलुषित परिणामी जीव, अकाम मरण द्वारा बिगाड देता है, किन्तु श्रमणोपासक तथा श्रमणवर्ग, सकाममरण—पडितमरण के द्वारा सुधार लेते है। अविरत अवस्था में एव मिथ्यादृष्टि सहित आयु पूर्ण करना 'अकाम मरण' है। फिर वह किसी भी निमित्त से हो, किन्तु सावधानी पूर्वक आराधना करते हुए देह छोडना 'सकाममरण'—पडितमरण है। पण्डितमरण 'सथारा' पूर्वक होता है। यह अतिम साधना है।

जब यह विश्वास हो जाय कि अब शरीर पडनेवाला है। अधिक दिन नही चल सकेगा। शरीर की हालत बहुत ही जिर्ण हो गई। रोग अथवा उपसर्ग, उग्ररूप से बढ रहा है। शक्ति क्षिण होती जा रही है। उठना बैठना तो दूर रहा, करवट लेना भी कठिन हो रहा है। शरीर के लक्षण भी अन्त समय निकट होनें का सकेत दे रहे है, तब सथारा किया जाता है। जिन्हे उपसर्ग से बचने की सभावना होती हैं, वे तो सागारी सथारा करते है (ज्ञाता ८ अरहन्नक श्रावक, उपासकदशा २, अतकृतदशा आदि) किन्तु जिन्हे बचने की सभावना नही हो, वे बिना किसी आगार के ही—जीवन पर्यन्त के लिए सथारा कर लेते हैं।

यह संथारा वसति—उपाश्रय में अथवा घर में रहकर भी किया जा सकता है और जंगल में जाकर भी किया जा सकता है। इसके दो भेद हैं—१ पादपोपगमन और २ भक्तप्रत्याख्यान।

संथारा करनेवाला पहले संथारे का स्थान निश्चित करता है। यह स्थान निर्दोष—जीव जन्तु और कोलाहल से रहित तथा शांत हो। फिर उच्चार प्रस्रवण भूमि (=बड़ीनीत लघुनीत परठने की जगह) देखकर निर्धारित करता है। इसके बाद संथारे की भूमि का प्रमार्जन कर और उस पर दर्भ आदि का संथारा बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठ जाय। इसके बाद ईर्यापथिकी-गमनागमन का प्रतिक्रमण करे। फिर दोनों हाथ जोड़कर सिद्ध भगवान् एवं अरिहंत भगवान् की—'नमुत्थुणं' के पाठ से स्तुति करे। इसके बाद गुरुदेव को वन्दना करके अपने पूर्व के व्रतों का स्मरण करे। उनमें लगे हुए दोषों की आलोचना करके हृदय से क्षमावे। इसके बाद अठारह पाप और चारों आहार का जीवनभर के लिए त्याग करदे। इसके बाद उत्साह एवं हर्ष पूर्वक शरीर त्याग की प्रतिज्ञा करता हुआ कहे कि—

मेरा यह शरीर मुझे अत्यन्त प्रिय था। मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी। इसे मैं मूंजी के धन की तरह संभालता रहा था। मेरा इस पर पूर्ण विश्वास था। इस संसार में यह शरीर मुझे अत्यन्त इष्टकारी था। इसके समान दूसरा कोई प्रिय नहीं था। इसलिए मैंने इसे शीत से गर्मी से क्षुधा से प्यास से सर्प चोर, डाँस आदि प्राणियों के उपसर्ग से और रोगों से बचाया। इसकी पूरी लगन के साथ रक्षा की। अब मैं इस शरीर से अपना ममत्व हटाकर इसका त्याग करता हूँ और अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक इस शरीर से अपनेपन का सम्बन्ध त्याग देता हूँ'। (भगवती २—१)

इस प्रकार शरीर का त्याग करके धर्मध्यान—अनित्यादि भावना—शुभ परिणति में समय व्यतीत करे और अधिक जीने या शीघ्र मरजाने की इच्छा नहीं करता हुआ तथा दुःखों से नहीं घबराता हुआ शान्त हृदय से धर्मध्यान करता रहे। और उस समय जो भी परिषह एवं उपसर्ग उत्पन्न हों उन्हें लकड़ी के पटिये की तरह निश्चल रहकर सहन करे। यदि सिंह व्याघ्र सर्प आदि पशु या पक्षी शरीर को काटे भक्षण करे तो उन्हें मारे नहीं किन्तु यह सोचे कि 'ये पशु मेरा शरीर खाते हैं गुण—आत्मा को नहीं खाते'। यह सोचकर मनमें दृढ़ता लावे और श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा को अन्त तक धर्म-ध्यान में लगाये रहे।

भक्तप्रत्याख्यान अथवा इंगितमरण (पादपोपगमन के सिवाय) में निर्धारित भूमि के भीतर स्थंडिल आदि के लिए या हाथ पाँव अकड़ जाय तो सीधा करने के लिए हलन चलन किया जा सकता है। हाथ पाँव लम्बे या संकुचित किये जा सकते हैं। भक्तप्रत्याख्यान तिविहार और चौविहार प्रत्याख्यान से भी हो सकता है। (आचारांग श्रु १ अ ८ उ ५ से ८) संयमी मुनिवर सलेखना का साधना पहले से शुरू कर देते हैं। इसका जघन्य काल छः महीने मध्यम एक वर्ष और उत्कृष्ट बारहवर्ष है।

बारह वर्ष की साधना मे प्रथम के चार वर्ष तक विगयो का त्याग किया जाता है। दूसरे चार वर्षों मे विविध प्रकार का तप किया जाता है। फिर दो वर्ष तक आयम्बिल के पारणे से एकान्तर तप किया जाता है। इसके बाद छ महीने तक अति विकट तप किया जाता है और पारणे मे केवल आयबिल ही किया जाता है। अंतिम वर्ष मे कोटि सहित (एक तप की पूर्ति के साथ ही दूसरा तप प्रारभ कर देने रूप) तप किया जाता है और पारणा आयबिल के साथ किया जाता है। इसके बाद एक मास या अर्ध मास तक आहार का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है। यह जीवनपर्यन्त का अनशन होता है। इस प्रकार बारह वर्ष मे जीवन के अन्त के साथ यह सलेखणा पूरी होती है। (उत्तरा० ३६)

इसमे लगने वाले अतिचार इस प्रकार है।

संलेखणा के पांच अतिचार

१ इहलोकाशंसा प्रयोग–मृत्यु के उपरान्त इसी मनुष्य लोक में सम्राट, राजा अथवा मन्त्री, सेठ आदि होने की इच्छा करना–मनुष्य सबधी उत्तम ऐश्वर्य और काम भोग की प्राप्ति चाहना।

२ परलोकाशंसा प्रयोग–स्वर्ग का महर्द्धिक देव अथवा इन्द्र बनने की अभिलाषा करना।

३ जीविताशसा प्रयोग–मान प्रतिष्ठा प्राप्त होती देख कर लम्बे काल तक जीवित रहने की इच्छा करना।

४ मरणाशंसा प्रयोग–क्षुधादि अथवा परिषहादि से घबडा कर शीघ्र ही मरजाने की भावना करना।

५ कामभोगाशंसा प्रयोग–मनुष्य अथवा देव सबधी कामभोगो के भोगने की इच्छा करना।

(उपासकदशा–१)

उपरोक्त अतिचारो से बचकर सलेखणा का यथातथ्य रूप से पालन करने से निर्दोष आराधना होती है।

मृत्यु का भय तो मनुष्य के लगा ही हुआ है। न जाने कब किस स्थिति में जीवन डोरी टूट जाय। इसलिए मृत्यु सुधारने का अभ्यास पहले से ही प्रारभ कर देना चाहिए। सदैव रात को सोते समय, प्रात काल तक के लिए विरति को अधिक से अधिक विकसित कर सलेखणा का अभ्याम चालू कर देना उचित है इससे अन्तिम साधना सरल हो जाती है।

यह संथारा वसति—उपाश्रय में अथवा घर में रहकर भी किया जा सकता है और जंगल में जाकर भी किया जा सकता है। इसके दो भेद हैं—१ पादपोपगमन और २ भक्तप्रत्याख्यान।

संथारा करनेवाला पहले संथारे का स्थान निश्चित करता है। वह स्थान निर्दोष—जीव जन्तु और कोलाहल से रहित तथा शांत हो। फिर उच्चार प्रस्रवण भूमि (=बड़ीनीत लघुनीत परठने की जगह) देखकर निर्धारित करता है। इसके बाद संथारे की भूमि का प्रमार्जन करे और उस पर दर्भ आदि का संथारा बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठ जाय। इसके बाद इर्यापथिकी-गमनागमन का प्रतिक्रमण करे। फिर दोनों हाथ जोड़कर सिद्ध भगवान् एवं अरिहंत भगवान् की—'नमुत्थुणं' के पाठ से स्तुति करे। इसके बाद गुरुदेव को वन्दना करके अपने पूर्व के व्रतों का स्मरण करे। उनमें लगे हुए दोषों की आलोचना करके हृदय से खमावे। इसके बाद अठारह पाप और चारों आहार का जीवनभर के लिए त्याग करदे। इसके बाद उत्साह एवं हर्ष पूर्वक शरीर त्याग की प्रतिज्ञा करता हुआ कहे कि—

मेरा यह शरीर मुझे अत्यन्त प्रिय था। मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी। इसे मैं मूड़ी के धन की तरह संभालता रहा था। मेरा इस पर पूर्ण विश्वास था। इस संसार में यह शरीर मुझे अत्यन्त इष्टकारी था। इसके समान दूसरा कोई प्रिय नहीं था। इसलिए मैंने इसे शीत से गर्मी से क्षुधा से प्यास से सर्प चोर डाँस आदि प्राणियों के उपसर्ग से और रोगों से बचाया। इसकी पूरी लगन के साथ रक्षा की। अब मैं इस शरीर से अपना ममत्व हटाकर इसका त्याग करता हूँ और अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक इस शरीर से अपनेपन का सम्बन्ध त्याग देता हूँ'। (भगवती २—१)

इस प्रकार शरीर का त्याग करके धर्मध्यान—अनित्यादि भावना—शुभ परिणति में समय व्यतीत करे और अधिक जीने या शीघ्र मरजाने की इच्छा नहीं करता हुआ तथा दुःखों से नहीं घबराता हुआ शान्त हृदय से धर्मध्यान करता रहे। और उस समय जो भी परिषह एवं उपसर्ग उत्पन्न हों उन्हें लकड़ी के पटिये की तरह निश्चल रहकर सहन करे। यदि सिंह व्याघ्र सर्प आदि पशु या पक्षी शरीर का काट भक्षण करे तो उन्हें मारे नहीं किन्तु यह सोचे कि 'ये पशु मेरा शरीर खाते हैं गुण—आत्मा को नहीं खाते'। यह सोचकर मनमें दृढ़ता लावे और श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा को अन्त तक धर्म-ध्यान में लगाये रहे।

भक्तप्रत्याख्यान अथवा इंगितमरण (पादपोपगमन के सिवाय) में निर्धारित भूमि के भीतर स्थंडिल आदि के लिए या हाथ पाँव अकड़ जाय तो सीधे करने के लिए हलन चलन किया जा सकता है। हाथ पाँव लम्बे या संकुचित किये जा सकते हैं। भक्तप्रत्याख्यान तिविहार और चौविहार प्रत्याख्यान से भी हो सकता है। (आचारांग श्रु १ अ ८ उ ५ स ८) श्रमणी मुनिवर संलेखना की साधना पहले से शुरू कर देते हैं। इसका जघन्य काल छ महीने मध्यम एक वर्ष और उत्कृष्ट बारहवर्ष है।

बारह वर्ष की साधना मे प्रथम के चार वर्ष तक विगयो का त्याग किया जाता है। दूसरे चार वर्षों मे विविध प्रकार का तप किया जाता है। फिर दो वर्ष तक आयम्बिल के पारणे से एकान्तर तप किया जाता है। इसके बाद छ महीने तक अति विकट तप किया जाता है और पारणे मे केवल आयबिल ही किया जाता है। अंतिम वर्ष मे कोटि सहित (एक तप की पूर्ति के साथ ही दूसरा तप प्रारभ कर देने रूप) तप किया जाता है और पारणा आयबिल के साथ किया जाता है। इसके बाद एक मास या अर्ध मास तक आहार का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है। यह जीवनपर्यन्त का अनशन होता है। इस प्रकार बारह वर्ष मे जीवन के अन्त के साथ यह सलेखणा पूरी होती है। (उत्तरा० ३६)

इसमे लगने वाले अतिचार इस प्रकार है।

संलेखणा के पांच अतिचार

१ इहलोकाशंसा प्रयोग—मृत्यु के उपरान्त इसी मनुष्य लोक में सम्राट, राजा अथवा मन्त्री, सेठ आदि होने की इच्छा करना—मनुष्य सबधी उत्तम ऐश्वर्य और काम भोग की प्राप्ति चाहना।

२ परलोकाशंसा प्रयोग—स्वर्ग का महर्द्धिक देव अथवा इन्द्र बनने की अभिलाषा करना।

३ जीविताशंसा प्रयोग—मान प्रतिष्ठा प्राप्त होती देख कर लम्बे काल तक जीवित रहने की इच्छा करना।

४ मरणाशंसा प्रयोग—क्षुधादि अथवा परिषहादि से घबडा कर शीघ्र ही मरजाने की भावना करना।

५ कामभोगाशंसा प्रयोग—मनुष्य अथवा देव सबधी कामभोगो के भोगने की इच्छा करना।

(उपासकदशा—१)

उपरोक्त अतिचारो से बचकर सलेखणा का यथातथ्य रूप से पालन करने से निर्दोष आराधना होती है।

मृत्यु का भय तो मनुष्य के लगा ही हुआ है। न जाने कब किस स्थिति में जीवन डोरी टूट जाय! इसलिए मृत्यु सुधारने का अभ्यास पहले से ही प्रारभ कर देना चाहिए। सदैव रात को सोते समय, प्रात काल तक के लिए विरति को अधिक से अधिक विकसित कर सलेखणा का अभ्यास चालू कर देना उचित है इससे अन्तिम साधना सरल हो जाती है।

सम्यक्त्व के छह आगार

सुदेव सुगुरु और सुधर्म का दृढ़ श्रद्धान करने के साथ ही श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि—

'मैं देव गत मिथ्यात्व का त्याग करने के उद्देश्य से जिनेश्वर भगवन्त के अतिरिक्त किसी भी अन्य तीर्थी देव को वन्दना नमस्कार नहीं करूंगा। मैं गुरु गत मिथ्यात्व का त्याग कर रहा हूं इसलिए निग्रंथ गुरु—श्रमण श्रमणी वर्ग के अतिरिक्त अन्य तीर्थ के गुरु वर्ग को वन्दन नमस्कार नहीं करूंगा और न सुगुरु का प्रतिलाभने—सुपात्र दान देने की तरह उन्हें सुपात्र मान कर दान दूंगा। इतना ही नहीं उनके साथ धार्मिक सबंध—अकारण उनसे बोलना बारबार संगति करना—इत्यादि अधिक सम्पर्क नहीं रखूंगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने के साथ ही सामान्य गृहस्थ संसार में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों का विचार कर निम्न लिखित छह आगार रखता है।

राजाभियोग——राजा के दबाव से। कभी साम्प्रदायिक पक्ष के कारण राजा का दबाव हो और राज संकट से बचने के लिए अन्यतीर्थी देव को वन्दना करनी पड़े कुगुरु को वन्दना और आहार दान करना पड़े तो इस कठिन परिस्थिति की छूट रखता हूं।

२गणाभियोग—गण— समूह—संघ—वर्ग। यदि मिथ्यादृष्टि गण के दबाव के कारण कुदेव को नमन और कुगुरु का आदर सत्कार तथा आहारादि दान देना पड़े।

३ बलाभियोग——अधिकशक्तिशाली पुरुष के दबाव से

४देवाभियोग——किसी देव के दबाव से

५ गुरुनिग्रह——माता पितादि गुरु जन के आग्रह से

६ वृत्तिकान्तार——आजीविका की कठिनाई के कारण संसार रूपी अटवी में उलझ कर भटक जाय तो पार पाने के लिए अर्थात् आजीविका की विभीषिका से पार पाने के लिए अन्य तीर्थिक देव गुरु को वन्दना करने और आहारादि देने के आगार हैं।

ये छह आगार विकट परिस्थिति के कारण बाह्य रूप से सेवन किए जाते हैं। अन्तरंग में खेद का अनुभव होता है और कारण टल जाने पर शुद्ध होकर अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर हो जाता है।

यद्यपि उपरोक्त आगार परिस्थिति जन्य विवशताओं के कारण अनिच्छा पूर्वक— अपवाद रूप में अपनाए जाते हैं, फिर भी यह है तो कमजोरी ही। कदाचित् इस प्रकार अनिच्छा पूर्वक सेवन वाले मिथ्यात्व के बाह्य अनुमोदन के कारण ही आगम में लिखा है कि श्रमणोपासक—

"एगच्चाओ मिच्छादंसणसल्लाओपडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया"।

—अर्थात्—श्रावक, मिथ्यादर्शन शल्य से कुछ विरत होता है और कुछ नही भी होता है। टीकाकार भी इसका कारण 'राजाभियोग आदि आगार बतलाते है। (उववाई—४१)

हा,तो यह विवशता है, किंतु जब श्रमणोपासक, उपासकप्रतिमा की आराधना करने को तत्पर होता है, तो सबसे पहले वह इस कमजोरी को हटाकर आगार तथा शकादि अतिचार रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नही कि सभी श्रावक प्रतिमा का आराधन करने के पूर्व इन आगारो को आवश्यकता होने पर काम में लेते ही है। अरहन्नक श्रावक (ज्ञाता ८)ने व्यापारार्थ समुद्र मे सफर करते समय, देवाभियोग उपस्थित होने पर भी धर्म के विपरीत एक शब्द भी नही निकाला।

तात्पर्य यह कि उपरोक्त आगार, सामान्य परिस्थिति मे सेवन करने योग्य नही है।

यदि कोई कहे कि 'अन्य धर्मियों से नहीं मिलना, उन्हे वन्दनादि नही करना, यह तो कट्टरता एव साम्प्रदायिकता है। ऐसे नियम सकुचित हृदय के होते है। यदि दूसरे धर्मवालो का ससर्ग किया जाय,तो आपस में प्रेम भाव की वृद्धि होती है। द्वेष दूर होता है और विचारो का आदान प्रदान होकर दूसरो को भी जैन धर्म की ओर आकर्षित होने के निमित्त मिलते है। इसलिए जैन धर्म के प्रचार की दृष्टि से भी दूसरो से सम्पर्क साधना चाहिए। यह तभी होगा जब कि अन्य तीर्थियों के सम्पर्क मे आया जायगा। इत्यादि।

साम्प्रदायिकता बाधक नहीं

जिस प्रकार कोई सुपुत्र, अपने, माता पिता की ही सेवा भक्ति करता है, वह माता पिता को ससार भर के सभी स्त्री पुरुषो से उच्च स्थान प्रदान करता है, तो इसमे दूसरो को अप्रसन्न होने की क्या बात है ? हाँ, आवश्यकता पड़ने पर, समय हो,तो वह दूसरो की भी आवश्यक सेवा करता है, किन्तु उन्हे माता पिता नही मानता। इसी प्रकार श्रमणोपासक, अपने देव, गुरु और धर्म को ही परमाराध्य-माने, उन्ही की सेवा करे, तो इससे दूसरो को नाराज होने का कोई कारण नही है। हा यदि कोई अन्य तीर्थी कठिनाई मे हो, तो उसे सहायता देना। उसकी अनुकम्पा बुद्धि से यथा शक्ति सेवा करने की मनाई नही है। सम्यग्दृष्टि की प्रतिज्ञा, उस पितृ—भक्त सुपुत्र की तरह की है, जो अपने पिता को ससार के सभी मनुष्यो की अपेक्षा विशेष पूज्य मानता है। इस उत्तम नियम को साम्प्रदायिकता कहना अज्ञान का परिणाम है।

हेय वस्तु, ईर्षा द्वेष और क्लेशादि है। साम्प्रदायिक क्लेश द्वेष और कटुता नहीं होनी चाहिए। यही वस्तु बुरी है। द्वेष रहित कटुता से दूर रहकर अपने धर्म की आराधना करना बुरा नहीं है। यदि इसे साम्प्रदायिकता कहा जाय तो भी ईर्षा द्वेष और क्लेश रहित साम्प्रदायिकता बुरी नहीं हो सकती। यह तो सर्वथा असम्भव है कि सभी मनुष्य एक ही विचार और एक ही आचार के बन जायें। ऐसा कभी नहीं हुआ और होगा भी नहीं। मनुष्यों में आचार विचार भेद रहा है और रहेगा। इस भेद के कारण ही वर्ग—समुदाय बनते हैं और ये समुदाय ही सम्प्रदाय कहलाते हैं। इस प्रकार के वर्ग भेद यदि क्लेशादि रहित हो तो कोई बुराई नहीं है। यदि कहीं ईर्षा द्वेष हो तो उन्हें ही मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए। किंतु जो सम्प्रदायों को ही मिटाना चाहते हैं वे धर्म को मिटाने वाले अज्ञानी हैं। उनके आह्वान से भी सम्प्रदायें तो नहीं मिटेगी बल्कि नई नई लौकिक और राजनैतिक पार्टियें खड़ी हो जायगी—होती जा रही है। हाँ वे धर्म को क्षति अवश्य पहुँचा सकेंगे।

एक पुत्र अपने एक माता पिता की जितनी अच्छी सेवा कर सकता है उतनी संसार के सभी स्त्री पुरुषों की नहीं कर सकता। यदि कोई उसे सभी स्त्री पुरुषों का समान दृष्टि से देखना सिखा दे तो फल यह होगा कि वह अपने माता पिता की सेवा से भी वंचित रह जायगा।

स्त्री तभी सती कहला सकती है—जब कि वह अपने स्वीकृत पति के सिवाय अन्य सब को पिता पुत्र या भाई के समान माने किंतु पति के समान नहीं माने। इसी प्रकार सच्चा उपासक वही हो सकता है जो अपने स्वीकृत एक उपास्य की ही उपासना करे। जिस प्रकार सभी पुरुषों को समान रूप से स्वीकार करने वाली स्त्री वेश्या कहलाती है—उसका कोई पति नहीं होता उसी प्रकार साम्प्रदायिकता को समाप्त करने वाले भी धर्म घातक होते हैं। विशालता एवं उदारता के नाम पर जो सभी के साथ समान आचरण करने की मनहानी बातें करते हैं वे इसे व्यवहार में भी नहीं चला सकते। व्यवहार में वे अपने धन में दूसरों का समान हक अपना कर सबको लिए, तथा दूसरों के पुत्रों को अपने पुत्र के समान मानकर अपनी जायदाद में से बराबर का हिस्सा नहीं देते। अपनी पुत्री को किसी दरिद्र तथा अछूत को नहीं देते। केवल धर्म ही के लिए वे परम उदार बन जाते हैं। इसका कारण यही है कि उनके हृदय में सम्यक्त्व रूपी सम्यक् प्रकाश का अभाव है।

प्रेम बढ़ाने के लिए

द्वेष भाव को दूर करके सबके साथ—प्राणी मात्र के साथ प्रेम भाव रखना और सब को अपनी आत्मा के समान मानना—यह तो जैन धर्म की हित शिक्षा है ही। इसलिए मुमुक्षुओं को अपने सम्पर्क में आने वालों से प्रेम पूर्वक व्यवहार करना चाहिए। फिर वह किसी भी मत—वर्ग अथवा सम्प्रदाय का हो।

किंतु अपनी साधना को गौण करके, प्रेम प्रचार के पीछे पड जाना और सिद्धात का भोग देकर भी प्रेम सम्पादन करना–पैसे के लिए रुपया गँवाने के समान है।

धर्म प्रचार के लिए

सभी धर्म–प्रेमी चाहते है कि "जैन धर्म का प्रचार खूब हो। विश्वभर मे जैनधर्म फैल जाय," किंतु वह तभी हो सकता है कि प्रचारक जैनधर्म को अपने असली रूप मे लेकर ही यथा समय अजैनो के सामने जावे। बहुत से समन्वय प्रेमी और अनेकान्त का दुरुपयोग करने वाले, दूसरो को जैन बनाने के बनिस्बत स्वय अजैन बनकर अपना भी गँवा देते है। ऐसे अनेक प्रसग बन चुके है और बन रहे हैं।

गाधीजी के प्रभाव में आने वाले कई साधु साध्वी और हजारो लाखो जैनी, उनकी ससार लक्षी–आशिक अहिंसा में, जैन धर्म की पूर्ण अहिंसा देखने लगे। कोई विद्वान 'सिद्धसेन दिवाकर' के अपेक्षा पूर्वक कहे गये वचन को आगे करके, सभी मिथ्यामतो के साथ समन्वय करके जैन धर्म को "मिथ्या मतो का समूह" बताने लगे। कोई अपनी साधना को छोड कर 'सर्वधर्म सम्मेलन' करके सब के साथ घुलने मिलने मे ही जैन धर्म का उत्थान बताने लगे। धर्म प्रचार की ओट मे सावद्य तथा ससार-वाद का प्रचार करते हुए अपने धर्म धन को गँवाने के अनेक प्रमाण उपस्थित हो चुके है। इस प्रकार के प्रचारक जैनधर्म का वास्तविक प्रचार नही करके परिणाम मे अजैनत्व को अपना लेते है।

अजैनो में जैनधर्म का प्रचार किया था 'जयघोषऋषि' ने (उतरा० २५) 'केशी श्रमण निर्ग्रंथ' ने (रायपसेणी) 'थावच्चापुत्र अनगार' ने (ज्ञाता ५) और श्री 'आर्द्रकुमार मुनि' ने (सूय २-६)। धर्म का वास्तविक प्रचार किया था सुश्रावक 'पिंगल निर्ग्रंथ' ने (भगवती २-१) 'मद्रुक श्रावक' ने (भगवती १८-७) और 'कुडकोलिक' श्रावक (उपास० ६) आदि ने। इस प्रकार का प्रचार ही वास्तविक प्रचार है। ऐसा प्रचार सर्व साधारण जैनी नही कर सकते, न सभी साधु ही कर सकते है। विशेष योग्यता वाले ही ऐसा कर सकते है। और वह भी द्रव्य क्षेत्रादि की अनुकूलता को ठीक तरह से समझने वाले ही। अन्यथा क्लेश का कारण बन सकता है। इससे तो अच्छा यही है कि अपनी साधना मे ही रुचि रखी जाय और अपनी श्रद्धा को शुद्ध रखते हुए देशविरत होने की योग्यता जगाई जाय।

हेय वस्तु ईर्षा द्वेष और क्लेशादि है। साम्प्रदायिक क्लेश द्वेष और कटुता नहीं होनी चाहिए। यही वस्तु बुरी है। द्वेष रहित कटुता से दूर रहकर, अपने धर्म की आराधना करना बुरा नहीं है। यदि इसे साम्प्रदायिकता कहा जाय तो भी ईर्षा द्वेष और क्लेश रहित साम्प्रदायिकता बुरी नहीं हो सकती। यह तो सर्वथा असम्भव है कि सभी मनुष्य एक ही विचार और एक ही आचार के बन जायें। ऐसा कभी नहीं हुआ और होगा भी नहीं। मनुष्यों में आचार विचार भेद रहा है और रहेगा। इस भेद के कारण ही वर्ग—समुदाय बनते हैं और ये समुदाय ही सम्प्रदाय कहलाते हैं। इस प्रकार के वर्ग भेद यदि क्लेशादि रहित हों तो कोई बुराई नहीं है। यदि कहीं ईर्षा द्वेष हो तो उन्हें ही मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए। किंतु जो सम्प्रदायों को ही मिटाना चाहते हैं वे धर्म को मिटाने वाले अज्ञानी हैं। उनके चाहने से भी सम्प्रदायें तो नहीं मिटेंगी बल्कि नई नई लौकिक और राजनैतिक पार्टियें खड़ी हो जायगी—होती जा रही है। हाँ वे धर्म को क्षति अवश्य पहुँचा सकेंगे।

एक पुत्र अपने एक माता पिता की जितनी अच्छी सेवा कर सकता है उतनी संसार के सभी स्त्री पुरुषों की नहीं कर सकता। यदि कोई उसे सभी स्त्री पुरुषों को समान दृष्टि से देखना सिखा दे तो फल यह होगा कि वह अपने माता पिता की सेवा से भी वंचित रह जायगा।

स्त्री तभी सती कहला सकती है—जब कि वह अपने स्वीकृत पति के सिवाय अन्य सब को पिता पुत्र या भाई के समान माने किंतु पति के समान नहीं माने। इसी प्रकार सच्चा उपासक वही हो सकता है जो अपने स्वीकृत एक उपास्य की ही उपासना करे। जिस प्रकार सभी पुरुषों को समान रूप से स्वीकार करने वाली स्त्री वेश्या कहलाती है—उसका कोई पति नहीं होता उसी प्रकार साम्प्रदायिकता को समाप्त करने वाले भी धर्म घातक होते हैं। विशालता एवं उदारता के नाम पर जो सभी के साथ समान आचरण करने की अमहोनी बातें करते हैं वे इसे व्यवहार में भी नहीं चला सकते। व्यवहार में वे अपने मन में दूसरों का समान हक अपना घर सबके लिए, तथा दूसरों के पुत्रों को अपने पुत्र के समान मानकर अपनी जायदाद में से बराबर का हिस्सा नहीं देते। अपनी पुत्री को किसी दरिद्र तथा मजदूर को नहीं देते। केवल धर्म ही के लिए वे परम उदार बन जाते हैं। इसका कारण यही है कि उनके हृदय में सम्यक्त्व रूपी सम्यक् प्रकाश का अभाव है।

प्रेम बढ़ाने के लिए

द्वेष भाव को दूर करके सबके साथ—प्राणी मात्र के साथ प्रेम भाव रखना और सब को अपनी आत्मा के समान मानना—यह तो जैन धर्म की हित शिक्षा है ही। इसलिए सुश्रावक को अपने सम्पर्क में आने वालों से प्रेम पूर्वक व्यवहार करना चाहिए। फिर वह किसी भी मत—वर्ग अथवा सम्प्रदाय का हो।

किंतु अपनी साधना को गौण करके, प्रेम प्रचार के पीछे पड जाना और सिद्धात का भोग देकर भी प्रेम सम्पादन करना-पैसे के लिए रुपया गँवाने के समान है।

धर्म प्रचार के लिए

अभी धर्म-प्रेमी चाहते है कि "जैन धर्म का प्रचार खूब हो। विश्वभर मे जैनधर्म फैल जाय," किंतु वह तभी हो सकता है कि प्रचारक जैनधर्म को अपने असली रूप में लेकर ही यथा समय अजैनो के सामने जावे। बहुत से समन्वय प्रेमी और अनेकान्त का दुरुपयोग करने वाले, दूसरो को जैन बनाने के बनिस्बत स्वय अजैन बन कर अपना भी गँवा देते है। ऐसे अनेक प्रसग बन चुके है और बन रहे है।

गाधीजी के प्रभाव में आने वाले कई साधु साध्वी और हजारो लाखो जैनी, उनकी ससार लक्षी-आशिक अहिंसा में, जैन धर्म की पूर्ण अहिंसा देखने लगे। कोई विद्वान 'सिद्धसेन दिवाकर' के अपेक्षा पूर्वक कहे गये वचन को आगे करके, सभी मिथ्यामतो के साथ समन्वय करके जैन धर्म को "मिथ्या मतो का समूह" बताने लगे। कोई अपनी साधना को छोड कर 'सर्वधर्म सम्मेलन' करके सब के साथ घुलने मिलने मे ही जैन धर्म का उत्थान बताने लगे। धर्म प्रचार की ओट मे सावद्य तथा ससार-वाद का प्रचार करते हुए अपने धर्म धन को गँवाने के अनेक प्रमाण उपस्थित हो चुके है। इस प्रकार के प्रचारक जैनधर्म का वास्तविक प्रचार नही करके परिणाम मे अजैनत्व को अपना लेते है।

अजैनो मे जैनधर्म का प्रचार किया था 'जयघोषऋषि' ने (उतरा० २५) 'केशी श्रमण निर्ग्रंथ' ने (रायपसेणी) 'थावच्चापुत्र अनगार' ने (ज्ञाना ५) और श्री 'आर्द्रकुमार मुनि' ने (सूय २-६)। धर्म का वास्तविक प्रचार किया था सुश्रावक 'पिंगल निर्ग्रंथ' ने (भगवती २-१) 'मद्रुक श्रावक' ने (भगवती १८-७) और 'कुडकोलिक' श्रावक (उपास० ६) आदि ने। इस प्रकार का प्रचार ही वास्तविक प्रचार है। ऐसा प्रचार सर्व साधारण जैनी नही कर सकते, न सभी साधु ही कर सकते है। विशेष योग्यता वाले ही ऐसा कर सकते है। और वह भी द्रव्य क्षेत्रादि की अनुकूलता को ठीक तरह से समझने वाले ही। अन्यथा क्लेश का कारण बन सकता है। इससे तो अच्छा यही है कि अपनी साधना में ही रुचि रखी जाय और अपनी श्रद्धा को शुद्ध रखते हुए देशविरत होने की योग्यता जगाई जाय।

श्रावक के मनोरथ

संसार में रहते हुए और-संसार के कार्य करते हुए भी जिसका अंतरंग 'धर्म धर्मज्ञ रहे' भिन्न हो जो संसार त्याग कर धर्म मय जीवन व्यतीत करना चाहते हों वे श्रमणोपासक अपने कर्मों की बड़ी भारी निर्जरा कर लेते हैं। उनकी आत्मा हलकी होती जाती है। उन श्रमणोपासकों के अन्त मन में ये मनोरथ उठते ही रहते हैं कि—

१ वह शुभ दिन कब आयगा कि जब मैं अपने पास रहे हुए थोड़े या अधिक परिग्रह का त्याग करके परिग्रह के बोझ से हलका बनूंगा।

२ वह आनन्दकारी घड़ी कब आयगी कि मैं इस संसार से सर्वथा विरक्त होकर निग्रंथ प्रव्रज्या धारण करूँगा अर्थात् अगार धर्म छोड़कर सर्वोत्तम अनगार धर्म को धारण करूँगा।

३ वह कल्याणकारी वेला कब आयगी कि मैं समाधिमरण के लिए तत्पर होकर काल से जूझने के लिए अन्तिम संलेखणा में लग जाऊँगा और आहारादि का सर्वथा त्याग कर के पादपोपगमन संथारे से मृत्यु की इच्छा नहीं करता हुआ धर्मध्यान पूर्वक देह छोड़ूँ गा।

उपरोक्त तीनों प्रकार का चिन्तन तथा हृदयाङ्गार स्थिरता पूर्वक करता हुआ श्रमणोपासक अपने बहुत से कर्मों की निर्जरा कर लेता है और अपनी आत्मा को कर्मों के भार से हलका बना लेता है।

प्रत्येक धर्म बन्धु का कर्त्तव्य है कि सदैव इन उत्तम मनोरथों का चिन्तन करता रहे। कम से कम प्रातःकाल और रात्रि में सोते समय तो अवश्य ही करे। सम्यग्दृष्टि और श्रावकपन तभी स्थिर रह सकता है जबकि संसार त्याग कर साधुता अपनाने की भावना हो। इस प्रकार के मनोरथ जिन सम्यग्दृष्टियों के मन में नहीं होते और मात्र सांसारिक भावना ही दिन रात रमा करती है उनका पतन होना बहुत सरल हो जाता है और फिर धर्म के सम्मुख होना भी दुर्लभ हो जाता है और जिस श्रावक का लक्ष्य साधुता का नहीं वह श्रावक और जिस साधु का लक्ष्य अप्रमत्तता का नहीं वह साधु अवश्य गिरता है और वर्त्तमान स्थान से भी पतित हो जाता है। इसलिए इन उत्तम मनोरथों का बारबार चिन्तन करते रहना चाहिए।　　(स्थानांग ३-४)

श्रावक के विश्राम

जिस प्रकार बहुत दूर जगल मे से लकडी आदि के भारी बोझ को उठा कर शहर मे जाने वाले वृद्ध एव दुर्बल भारवाहक को मार्ग मे विश्राम लेने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ससार के आरम्भ परिग्रहादि पाप कर्मों के भार से थके हुए जीव के लिए भी विश्राम लेने की आवश्यकता होती है। ऐसे विश्राम के स्थान चार प्रकार के है। जैसे–

१ भारवाहक, भार के बोझ से विश्राम पाने के लिए एक कन्धे से हटा कर दूसरे कन्धे पर रख कर, पहले कन्धे को विश्राम देता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक भी सावद्य व्यापार रूप पाप भार से विश्राम पाने के लिए पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और अन्य त्याग प्रत्याख्यान से पाप के भार को कुछ हलका कर के विश्राम लेता है।

२ जिस प्रकार मल मूत्र की बाधा दूर करने के लिए भारवाहक, भार को अलग रख कर उतनी देर विश्राम लेता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक, सामायिक और देशावकाशिक व्रत का पालन करते हुए, उतने समय तक अपने पाप भार को अलग रखकर शाति का अनुभव करता है।

३ जिस प्रकार भारवाहक, अपने बोझ को उतारकर मार्ग मे पडते हुए नागकुमारादि देवालयो में जा कर विश्राम लेता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावश्या को प्रतिपूर्णपौषध कर के, उतने समय अपनी आत्मा को पाप के भार से अलग कर के विश्राम लेता है।

४ जिस प्रकार निर्धारित स्थान पर पहुँच कर भार से सर्वथा मुक्त हुआ जाता है, उसी प्रकार अन्त समय मे सलेखणा अगीकार करके आहारादि का सर्वथा त्याग किया जाता है और पादपोपगमन सथारे से मृत्यु की कामना नही करते हुए–समाधि पूर्वक रह कर, पाप के भार को सर्वथा त्याग कर, शान्ति का अनुभव किया जाता है।

उपरोक्त चार प्रकार की विश्रान्ति मे से उत्तरोत्तर एव अधिकाधिक विश्राम प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाला, श्रमणोपासक अन्तिम साधना से शीघ्र ही सादिअपर्यवसित विश्राम प्राप्त करके परम सुखीहो जाता है। (ठाणाग ४–३)

मनसे करवाना–इसी प्रकार मनोकल्पना द्वारा दूसरो से क्रिया कराई जाती है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने मन से ही सेना से युद्ध करवाया था। मनसे करने कराने और क्रिया की पूर्ति तथा अनुमोदना तक हो सकती है।

मनसे अनुमोदना–मनसे अच्छा मानना।

वचन से करना–कल्पना को भाषा मे उतरना। कई मनुष्य अकेले बैठे हुए, चलते या सोते हुए, अपने आप बडबडाते रहते है। जैसे वे किसी क्रिया को शरीर से कर रहे हो। स्वप्न में किसी से सभाषण करना आदि।

वचन से करवाना–किसी को आज्ञा देकर कराना।

वचन से अनुमोदन करना–वाणी से प्रशसा करना।

काया से करना–शरीर से क्रिया करना।

काया से करवाना–'मै करुगा, तो मुझे देखकर दूसरे भी करेगे"–यह सोचकर शरीर से करना प्रारम करके, दूसरो से करवाना अथवा शरीर से सकेत करके करवाना।

काया से अनुमोदन–कार्य को अगीकार करके काया से समर्थन करना।

इस प्रकार तीनो योग के प्रत्येक के तीन तीन करण होते है।

एकेन्द्रिय के केवल काय योग ही होता है। बेइन्द्रिय से असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो के काय और वचन ये दो योग होते है, और सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच, नारक, मनुष्य और देवो के तीनो योग होते है।

श्रावक के प्रत्याख्यान के ४९ भंग

करण और योग द्वारा सभी सयोगी जीवो को क्रिया लगती है, किन्तु अशुभ क्रिया का त्याग, केवल सज्ञी तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्यो को ही होता है। मनुष्यो मे भी साधुओ का त्याग तो तीन करण तीन योग से होता है, किन्तु तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य देशविरत श्रावको के त्याग ऐच्छिक होते है। उनके त्याग के मूल भग ९ और उत्तर भग ४९ होते है।

मूल नौ भग इस प्रकार है–१ तीन करण, तीन योग, २ तीन करण दो योग ३ तीन करण एक योग, ४ दो करण तीन योग, ५ दो करण दो योग, ६ दो करण एक योग, ७ एक करण तीन योग ८ एक करण दो योग, और ९ एक करण एक योग।

२८ दो करण एक जोग से कराऊँ नही अनुमोदू नही—काया से ।
२९ एक करण, तीन योग से—करुँ नही—मन से, वचन से, काया से ।
३० ,, ,, —कराऊँ नही ,, ,, ,,
३१ ,, ,, —अनुमोदू नही ,, ,, ,,
३२ एक करण दो योग से—करुँ नही—मन से, वचन से ।
३३ ,, ,, ,, —मन से, काया से ।
३४ ,, ,, ,, —वचन से, काया से ।
३५ ,, ,, —कराऊँ नही—मन से, वचन से ।
३६ ,, ,, ,, —मन से, काया से ।
३७ ,, ,, ,, —वचन से, काया से ।
३८ ,, ,, —अनुमोदू नही—मन से, वचन से ।
३९ ,, ,, ,, —मन से, काया से ।
४० ,, ,, ,, वचन से काया से ।
४१ एक करण एक योग से—करुँ नही—मन से ।
४२ ,, ,, ,, —वचन से ।
४३ ,, ,, ,, —काया से ।
४४ ,, ,, —कराऊँ नही—मन से ।
४५ ,, ,, ,, —वचन से ।
४६ ,, ,, ,, —काया से ।
४७ ,, ,, अनुमोदू नही —मन से ।
४८ ,, ,, ,, —वचन से ।
४९ ,, ,, ,, —काया से ।

(भगवती ८—५)

प्रत्याख्यान करके वह भूतकाल का प्रतिक्रमण करता है । वर्त्तमान काल का संवरण करता है और अनागत काल आश्रित त्याग करता है । इस प्रकार तीन काल की गणना से कुल १४७ भग हुए । इन १४७ भगो में से स्थूल मृषावाद आदि का त्याग भी समझलेना चाहिए ।

प्रथम भग से साधु साध्वियो के सर्व सावद्य के त्याग होते है। श्रावको के लिए सभी भग यथा शक्ति उपयोग में आ सकते है । श्रावक तीन करण तीन योग से सर्व सावद्य योग का त्याग, अल्पकाल

के लिए नहीं कर सकता । जिन सावद्य विषयों को वह सदा के लिए त्याग देता है उन्हीं विषयों में वह तीन करण तीन योग से त्याग कर सकता है । सामायिक के समय वह अनुमोदना का त्याग नहीं कर सकता । इस विषय में विशेषावश्यक भाष्य' गाथा २६८४ से २६८९ तक विचार किया गया है । उसका भाव यह है कि—

जिस गृहस्थ के गृहकार्य—व्यापारादि सावद्यक्रिया चल रही है और जो सर्व विरत होने का तय्यार नहीं है—एसा श्रावक (सामायिक के समय) 'मैं सर्व सावद्य का तीन करण तीन योग से त्याग करु'—ऐसा कह कर त्याग करे तो वह सर्व विरति और देश—विरति इन दोनों का पालक नहीं हो सकता । (यह निर्युक्ति का गाथा का भाव है । आगे भाष्यकार कहते हैं कि—)

यहां प्रश्न हो सकता है कि— जिस प्रकार वह सावद्य योग करने और कराने त्याग करता है उसी प्रकार अनुमोदन का त्याग क्यों नहीं कर सकता ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि गृहस्थ सामायिक के पूर्व जिस गृहारंभ आदि कार्य में सावद्य कर्म कर रहा था और सामायिक पारने के बाद भी करेगा—ऐसे सावद्य कर्म की अनुमोदना का त्याग करने में वह शक्तिमान् नहीं है ।

श्रावक स्थूल प्राणातिपातादि का त्रिविध त्रिविध त्याग कर सकता है किन्तु सब सावद्य योग का नहीं । स्वयंभूरमण आदि समुद्र के मत्स्य सबंधी तथा मांसादि निष्प्रयोजन अथवा मनुष्य क्षेत्र के बाहर की अप्राप्य वस्तु विषय का त्रिकरण त्रियोग से त्याग करे तो दोष नहीं लगता अथवा चारित्र के परिणाम से परिवारादि की बाधा के कारण ग्यारह प्रतिमा धारण करे तो (अथवा अंतिम सलेखना संथारा में) सब सावद्य का त्याग कर सकता है किन्तु जिस वास्तु आरंभ में वह आगे भी प्रवृत्ति करेगा—ऐसे सावद्य कर्म की अनुमति का वह कुछ समय के लिए त्याग नहीं कर सकता । उसकी अनुमति खुली ही रहती है ।

यह विशेषावश्यक भाष्य का अभिप्राय है । भगवती श० ८ उ० ५ में भी सामायिक में रहे हुए श्रावक के ममत्व का अस्तित्व माना है और उस ममत्व के कारण ही वह चोरी गई हुई वस्तु की खोज करता है ।

यहां यह विचारणीय है कि ग्यारहवीं प्रतिमा का धारायक श्रावक ग्यारह महीनों के लिए तीनकरण तीनयोग से त्याग करता है । यद्यपि वह समय पूर्ण होने के बाद पुनः गृहस्थ नहीं होता किंतु उसके त्याग जीवन पर्यन्त के नहीं होते । प्रतिमाकाल पूर्ण होने पर वह या तो पुनः उसी का पालन प्रारंभ कर देता है या सर्व विरत हो जाता है अथवा आयु निकट आनकर अंतिम साधना में तत्पर हो जाता है ।

विशुद्ध प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान दो प्रकार के होते हैं। एक तो दुष्प्रत्याख्यान और दूसरा सुप्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान और उसका स्वरूप जाने बिना और समझे बिना किया जानेवाला प्रत्याख्यान–दुष्प्रत्याख्यान होता है और प्रत्याख्यान का स्वरूप तथा जिसका प्रत्याख्यान किया जा रहा है उन जीवादि पदार्थों का स्वरूप जानकर, प्रत्याख्यान करना सुप्रत्याख्यान है। (भगवती ७–२)

सुप्रत्याख्यान, पाच प्रकार की विशुद्धि पूर्वक होते हैं। जैसे–

१ श्रद्धान शुद्ध–जो प्रत्याख्यान किये जायँ, उनको उनके विषय को समझकर श्रद्धा पूर्वक किये जाय। उनपर पूर्ण श्रद्धा रखी जाय। वह श्रद्धान शुद्ध प्रत्याख्यान है।

२ विनय शुद्ध–प्रत्याख्यान लेते समय वन्दन नमस्कार करना, मन वचन और काया के योगो का गोपन करके विनय सहित स्वीकार करना और आदर सहित पालन करना– विनयशुद्ध प्रत्याख्यान है।

३ अनुभाषण शुद्ध–गुरु से विनय पूर्वक प्रत्याख्यान करते समय, गुरु वचनो को धीमे शब्दो से अक्षर पद व्यजन की अपेक्षा शुद्ध उच्चारण करते हुए दुहराना–अनुभाषण शुद्ध है।

४ अनुपालन शुद्ध–रोग, अटवी आदि विषम परिस्थिति में भी प्रत्याख्यान को दूषित नही होने देना–अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान है।

५ भाव शुद्ध–राग, द्वेष, प्रशसा तथा क्रोधादि बुरे भावो से प्रत्याख्यान को दूषित नही होने देना–भाव शुद्ध प्रत्याख्यान है। (ठाणाग ५–३)

आवश्यक हारिभद्रीय में छठा कारण 'ज्ञान शुद्ध' का भी है, किंतु इसका समावेश 'श्रद्धान शुद्ध' में हो जाता है। उपरोक्त प्रकारकी शुद्धि के साथ किये जाने वाले प्रत्याख्यान, सुप्रत्याख्यान होते हैं और उन का फल भी अच्छा होता है।

व्रत में लगने वाले दोषों का क्रम

श्रावक अथवा साधुव्रत में दूषण लगने का भी एक क्रम है। सब से पहले दोष की उत्पत्ति मन मे होती है–विचार रूप से होती है। इस के बाद वह कार्य रूप में आती है। पूर्वाचार्यों ने इसका क्रम इस प्रकार बताया है।

१ अतिक्रम–व्रत को भग करने का विचार करना अथवा व्रत भग करने वालो का अनुमोदन करना।

२ व्यतिक्रम–व्रत भग करने के लिए तत्पर होना। सकल्प–विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रवृत्त होना।

३ अतिचार–व्रत भग की सामग्री मिलाना। व्रत के सम्पूण भग से पूव की अवस्था जिस में व्रत भग से सबधित सामग्री सग्रहित की जाती है।

अनाचार–व्रत को नष्ट कर देना। अर्थात् व्रत के विरुद्ध–त्याग की हुई वस्तु का भोग करना। यह ह दोष का क्रम। (ठाणांग ३–४ तथा आवश्यक सूत्र) किसी भी विषय में प्रवृत्त होन क पहले मन में सकल्प होता है। उस के बाद प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति कर के सामग्री प्राप्त की जाती है और उसके बाद उसका सेवन किया जाता ह। सेवन करने के पूव की अवस्था में व्रत का देश भग (आंशिक खण्डन) होता ह और सेवन कर लेना सवथा भग ह।

कभी एसा भी होता है कि मात्र अतिक्रम क बाद ही साधक सावधान हो जाय और दोष को वहीं झटका कर शुद्धि कर ल। कोई व्यतिक्रम और अतिचार तक दोष लगाकर भी शुद्धि कर के पुन दोष रहित हो जाते हैं और कोई कोई उदय की प्रबलता से व्रत का सवथा भग कर देते हैं।

पिंडनियुक्ति' गा १७२ में इन दोषों की व्यवस्था इस प्रकार बताई है।

साधु के आधाकर्मी आहार लेने का त्याग होता है। यदि कोई अनुरागी श्रावक साधु के लिए आहार तय्यार कर के साधु का निमन्त्रण देता है और साधु उस निमन्त्रण को स्वीकार कर क आहार लेने के लिए उठे पात्र ग्रहण कर क गुरु से आज्ञा प्राप्त करे तो इतनी क्रिया– इस स्थिति तक अतिक्रम दोष माना है। उपाश्रय स चलकर गृहस्थ के घर में प्रवेश करने और वह आहार लने के लिए पात्र आग करने तक की क्रिया व्यतिक्रम है। आहार ग्रहण करके वापिस उपाश्रय में आन गुरु का बता कर खाने को तत्पर होन तक की क्रिया अतिचार है और खा लेना अनाचार ह।

अतिक्रमादि दोषों का प्रायश्चित्त भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होता है।

धर्मसग्रह' के तीसरे अधिकार में लिखा है कि–मूलगुणों में अनाचार से व्रत का सर्वथा भग हो जाता है। फिर पुन व्रत ग्रहण करने पर ही विरत माना जाता है। उत्तरगुणों में अनाचार तक दोष लगन पर भी चारित्रका सर्वथा भग नहीं माना जाता किंतु मलीनता आती है।

दोष का आंशिक सेवन करन क बाद परिणति पलटने से पुन सावधान होना एक बात है। किंतु सामग्री की पूण अनुकूलता नहीं होन से या कोई बाधा उत्पन्न होजाने से शरीर द्वारा पूण भग नहीं हो तो भी उसके व्रत को सुरक्षित नहीं माना जा सकता क्यों कि वह असयमी आत्म परिणति के कारण अनाचार से नहीं बचा ह। किंतु बाधा उत्पन्न होने स अन्तराय लग गई है।

अतिक्रम का उपरोक्त रूप, अपेक्षा पूर्वक है। इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि मन से केवल अतिक्रम ही होता है, व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार नही होता। मन से अनाचार तक हो सकता है। लज्जा जनक निन्दनीय एव दण्डनीय कई ऐसे दुराचार होते है कि जिनका वचन और काया के द्वारा सेवन होना वडा कठिन होता है, किन्तु मन से सेवन होने मे कठिनाई नही होती। प्राय ऐसा भी होता है कि अनेक वार मन से अनाचार का सेवन करने के बाद, कभी शरीर से अनाचार सेवन का योग मिलता है। मन मे भी करना कराना और अनुमोदना मानी ही है,उसी प्रकार मन से भी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार भी होता है। मन से अतिक्रम उसी हद तक हो सकता है, जहा तक केवल अनाचार सेवन का विचार हुआ हो। उन विचारो की पूर्ति का निश्चय करना व्यतिक्रम है। अनाचार के साधनो सम्बन्धी विचारणा अतिचार है, और मन द्वारा अनाचार का सेवन कर लेना—व्रत को मन के करण से भग कर देना है। इसी प्रकार वचन और काया से भी अतिक्रमादि हो सकता है। जिस प्रकार गृहस्थावस्था मे रहते हुए भी परिणामो की धारा चढने से अप्रमत्त दशा=भाव सयम की प्राप्ति हो सकती है, उसी प्रकार केवल मन द्वारा अनाचार का सेवन भी हो सकता है।

लिये हुए व्रतो को निर्दोष रूप से पालन करना और यदि जानते अनजानते अचानक दोष लग-जाय, तो उसकी शुद्धि कर लेने से ही व्रत निर्मल रहते है। आत्मार्थी, दोषो को चलाते नही रहते। ऐसे आत्मार्थी—भाव विरतो के चरणो मे त्रिकाल वन्दना।

श्रावक के २१ गुण

नीचे लिखे गुणो को धारण करनेवाले मे विरति का गुण सरलता से प्रकट होता है। वे गुण ये है।

जिन गुणो के धारण करने से दर्शन—श्रावक, देश—विरत श्रावक होता है, वे गुण इकवीस इस प्रकार है।

१ अक्षुद्र—जो तुच्छ स्वभाव का नही होकर गभीर हो।

२ रूपवान्—मनोहर आकृति वाला हो, सम्पूर्ण अगोपाग वाला हो, अर्थात् जिसके चेहरे पर वीभत्सता नही झलकती हो।

३ सौम्य प्रकृति—जो शान्त स्वभाव वाला हो—उग्र नही हो अर्थात् विश्वास पात्र हो।

४ लोक प्रिय—लोक के विरुद्ध आचरण नही करने वाला और जनता का विश्वास पात्र हो। सदाचार युक्त हो, और यह इस लोक और परलोक बिगाडने जैसा आचरण नही करता हो।

५ अक्रूर—क्लेश रहित कोमल स्वभाव वाला हो।

६ भीरु—पाप और दुराचार स डरने वाला हो।

७ अशठ—कपटाई छल प्रपञ्च से रहित हो अथवा—समझदार हो।

८ दाक्षिण्य युक्त—परोपकार करने में तत्पर हो। अपना काम छोडकर भी जो दूसरे के काय में तत्पर रहता हो।

९ लज्जालु—जो दुराचार करन से शरमाता हो। सदाचार के विपरीत व्यवहार करते समय जिस लज्जा का अनुभव होता हो।

१० दयालु—दुखियों का देखकर जिसका हृदय कोमल हो जाता हो। जो दुखियों की सेवा करने में तत्पर हो।

११ मध्यस्थ—पक्षपात रहित मध्यस्थ वृत्तिवाला हो।

१२ सौम्य दृष्टि—प्रेम पूर्ण दृष्टिवाला हो। क्रूर दृष्टि कुपित चेहरा जिसका नहीं हो। जिसक नैत्रों से सौहार्द टपकता हो।

१३ गुणानुरागी— गुणवानों से प्रेम करनेवाला। गुणवानों के प्रति आदर रखनेवाला—गुण पूजक।

१४ सत्कथक—धर्म और सदाचार की बातें करनेवाला अथवा धर्म कथा सुनने की रुचि वाला। अथवा—

सुपक्ष युक्त—सदा सत्यपक्ष—न्याय युक्त पक्ष का ग्रहण करनेवाला।

१५ सुदीर्घदर्शी—परिणाम का पहले से भली प्रकार से विचार करके कार्य करनेवाला।

२१ विशेषज्ञ—हित और अहित को भली प्रकार से समझनेवाला अथवा तत्त्व ज्ञान को अच्छी तरह से समझनेवाला।

१७ वृद्धानुगत—ज्ञान—वृद्ध एवं अनुभव—वृद्धजनों का अनुसरण करनेवाला।

१८ विनीत—बडों का अथवा गुणीजनों का विनय करनेवाला।

१९ कृतज्ञ—अपने पर दूसरों के द्वारा किये हुए उपकार का नहीं भूलनेवाला।

२० पर हितार्थ—दूसरों का हित करने में तत्पर रहनेवाला।

२१ लब्ध लक्ष्य—जिसने अपने लक्ष्य को अच्छी तरह समझ लिया हो।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार २१८ से)

उपरोक्त गुणों वाले श्रावकों में विरति का गुण सरलता से प्रकट होता है। अतएव उपरोक्त गुणों को जगाकर अविरति से देश विरत होने का प्रयत्न करना चाहिए।

• •• ••• × × ☆☆•••☆☆ × × ••• •• •

श्रावक विशेषताएँ

सामान्य मनुष्यो की अपेक्षा श्रमणोपासको मे कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है कि जिनसे उनके जीवन और आचरण से ही जैनत्व का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। गणधर भगवतो ने उन श्रावको की विशेषताओ का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है।

१ श्रावक, जीव अजीव आदि नौ तत्वो के ज्ञाता होते है। हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक रखते हुए भेद विज्ञान मे कुशल होते हैं, और वहुश्रुतो से पूछ कर रहस्य ज्ञान को प्राप्त कर, तत्त्वज्ञ होते है।

२ दृढ धर्मी श्रावक, अपने किसी कार्य मे देवता की सहायता नही चाहते। यदि कोई प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाय, तो वे अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मानकर शान्ति से सहन करते है, किन्तु किसी देव की सहायता के लिए नही ललचाते। यह उनके दृढ धर्मी होने का प्रमाण है।

६ उन श्रावको के हृदय मे निर्ग्रंथ प्रवचन इतना दृढीभूत हो जाता है कि उससे विचलित करना, बडे बडे देवो के लिए भी अशक्य हो जाता है। वे प्राण त्यागना स्वीकार कर लेते है, किंतु धर्म त्यागना स्वीकार नही करते। यह उनकी धार्मिक दृढता की पराकाष्ठा है।

४ श्रावक, निर्ग्रंथ प्रवचन मे दृढ विश्वास रखते है। उनके हृदय मे जिनेश्वर के वचनो में शका काक्षादि दोष प्रवेश नही कर सकते।

५ श्रावक, तत्त्वज्ञान एव सिद्धातो का रहस्य जानने को उत्सुक रहते है। गूढ तत्त्वो एव समझने योग्य विषयो को वहुश्रुतो से पूछकर समझते है और निर्णय करके उस पर विशेष दृढ श्रद्धावान् होते है। उनके शरीर की हड्डी और नसो मे और शरीर मे व्याप्त समस्त आत्म प्रदेशोमे जिन धर्म का प्रेम, पूर्ण रूप से व्याप्त रहता है।

६ जहा उन्हे धर्म के विषय मे कुछ कहना होता है, वहा वे निर्ग्रंथ धर्म को ही सर्वोत्तम वतलाते है। जहा अपने धर्म वन्धुओ से मिलना होता है वहा उनका धर्म प्रेम हृदय की सीमा को लाघकर बाहर आ जाता है और वे बोल उठते है कि—

"निर्ग्रंथ प्रवचन ही इस विश्व मे एक मात्र अर्थ है। यही परमार्थ है। इसके सिवा ससार के सारे पदार्थ तथा समस्त वाद अनर्थ रूप है"।

७ श्रावक के घर के दरवाजे दान के लिए सदैव खुले रहते है। वह इतना उदार होता है कि गरीबो और भिखारियो आदि को भी अनुकम्पा बुद्धि से आहारादि का दान करता है।

वह धर्म में इतना दृढ़ होता है कि किसी भी वादी से नहीं डरता। यदि कोई पर-वादी उसे धर्म से डिगाने के लिए आवे तो वह उससे डरता नहीं किन्तु शान्ति पूर्वक उसे असफल करके लौटा देता है।

८ वह जन जीवन में बड़ा प्रामाणिक एवं विश्वास पात्र होता है। उसका गृहस्थ जीवन भी उज्ज्वल होता है यदि वह किसी के रत्नों के ढेर अथवा अन्तःपुर में पहुँच जाय तो भी उसकी प्रामाणिकता में किसी को सन्देह नहीं होता।। अर्थात वह हाथ तथा लंगोट का सच्चा एवं विश्वास पात्र होता है।

९ श्रावक अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत और अनेक प्रकार के प्रत्याख्यानों का पालन करता है। अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णिमा को पौषधोपवास करके धर्म की आराधना करता रहता है।

१० श्रावक निग्रंथ श्रमणों को निर्दोष आहार, पानी खादिम स्वादिम वस्त्र पात्र रजोहरण पीठ फलक शय्या संस्तारक और औषध भेषज का यथा योग्य प्रतिलाभ करता रहता है।

(भगवती २–५ सूयग० २–२)

इन विशेषताओं से भी श्रावकों द्वारा निग्रंथ प्रवचन की प्रभावना होती है। उनके सम्पर्क में आने वालों के हृदय में जन धर्म के प्रति आदर भाव उत्पन्न होकर अनायास ही प्रचार और प्रसार होता है। यह तभी होता है जब कि स्वार्थ को गौण रखकर धर्म को मुख्यता दी जाय। आज भी उपरोक्त विशेषताओं को यथा शक्ति जीवन में उतारा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त आत्मा की विशेष उज्ज्वलता बताने वाले विशेषण इस प्रकार हैं।

११ अल्प इच्छा वाले– जिन्होंने अपनी इच्छा को घटा कर बहुत कम करदी है।

१२ अल्पारम्भी–जिन्होंने विरति के द्वारा आरम्भ के कार्यों को कम कर दिया है।

१३ अल्प परिग्रही–परिग्रह की ममता घटा कर धन सम्पत्ति की सीमा कम करदी है।

१४ धार्मिक—श्रुत और चारित्र धर्म की आचरणा में तत्पर।

१५ धर्मानुज्ञा–धर्म आचरण की अनुज्ञा देने वाले अथवा धर्मानुसार आचरण करने वाले।

१६ धर्मिष्ठ–जिन्हें धर्म बहुत प्रिय है अथवा जो धर्म में स्थिर है।

१७ धर्म कथक– धर्म का प्रचार करने वाले।

१८ धर्म प्रलोकी–धर्म की गवेषणा करने वाले विवेक बुद्धि से धर्म और अधर्म का स्वरूप समझाने में कुशल।

१९ धर्म प्ररंजन–धर्म का प्रचार करने वाले।

• धर्म समुदाचार–प्रसन्नता पूर्वक धर्म के आचार का पालन करने वाले।

२१ धर्म पूर्वक आजीविका-जिनके व्यापारादि आजीविका के साधन मे झूठ, कपट, हिसा, क्रूरता आदि पाप नही होते । जो न्याय नीति एव सच्चाई के साथ अल्पारभी
आजीविका से जीवन व्यतीत करते है ।

२२ सुशील-सदाचारी ।

२३ सुव्रती-जिन की चित्तवृत्ति बडी शुभ है अथवा जो बुरे कार्यों से विरत है ।

२४ सुप्रत्यानन्द-सदाचार-धर्माचार मे आनन्द मानने वाले ।

२५ क्षेमकर-सभी प्राणियो के रक्षक होने के कारण वे प्राणियो को आनन्द देने वाले है ।
(सूय० २-७)

(सूय० २-२ उववाई ४१)

उपरोक्त विशेषणो में सभी प्रकार के श्रावक-गुणो का समावेश हो गया है । ऐसे सद्गुणो के धारक श्रमणोपासक,आदर्श होते है । वे यहां भी उत्तम जीवन व्यतीत करते है और अतिम समय सुधार कर शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त कर लेते है । इस प्रकार के श्रमणोपासक गृहस्थ दशा मे रहते हुए भी भगवान् की आज्ञा के आराधक होते है ।

धर्म--दान महोपकार

जिनके उपकार का बदला चुकाना अत्यन्त कठिन होता है, ऐसे तीन प्रकार के उपकारी होते है । १ मातापिता २ पोषक और ३ धर्माचार्य । इन तीनो का महान् उपकार होता है । इनके उपकार रूपी ऋण मे पूर्णतया मुक्त होने का उपाय केवल धर्मदान ही है ।

१ कोई सुपुत्र, अपने माता पिता के शरीर का, नित्य उत्तम प्रकार के तैल से मालीश करे, चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य का विलेपन करे, सुगन्धित जल से स्नान करावे, उत्तम वस्त्र तथा आभूषणो मे सुशोभित करे, और उत्तम प्रकार के स्वादिष्ट सुखकारी तथा सुरुचि पूर्ण भोजन करावे तथा उन्हे उनकी इच्छानुसार भ्रमण करावे, तो भी वह पुत्र, अपने माता पिता के महान् उपकारो के ऋण से मुक्त नही हो सकता । किन्तु वह पुत्र यदि कपने माता पिता को केवली प्ररूपित धर्म समझावे और भेदानुभेद से धर्म का बोध देकर उन्हे धर्म में स्थापित करे, तो वह पुत्र, अपने माता पिता के उपकार रूपी ऋण से मुक्त हो सकता है ।

२ कोई महानुभाव, किसी दीन-दरिद्री-दुखी पर कृपा कर उसे आजीविका से लगावे, उसे धन देकर सुखी करे, उसकी दरिद्रता मिटादे । फिर वह दरिद्र वैभवशाली होकर उत्तम प्रकार के भोग भोगता

हुआ समय बितावे। कालान्तर में वह कृपालु महानुभाव अशुभ कर्म के उदय से दरिद्रावस्था को प्राप्त होकर अपने बनाये हुए उस धनवान के पास आवे और वह अपने उपकारी के उपकार का स्मरण कर अपनी समस्त सम्पत्ति उस पूर्व के कृपालु को समर्पित कर दे और स्वयं उसका सेवक बन कर रहे तो भी उसके महान् उपकार का बदला पूर्ण रूप से नहीं चुका सकता। किंतु उसे जिनवर भगवान् का धर्म समझाकर उसे धर्मी बनावे तो वह अपने पर किये हुए उपकार के ऋण से मुक्त हो सकता है।

३ किसी शुद्धाचारी संत के मुंह से धर्म का एक पद मात्र सुनकर और उसकी रुचिकर के कोई मनुष्य देवलोक में उत्पन्न हुआ। उधर वे धर्माचार्य दुष्काल प्रभावित क्षेत्र में आहारादि की अप्राप्ति से कठिनाई में पड़जाय अथवा किसी रोगादि उपद्रव में फँस जाय तो उनकी कठिनाई का जानकर कर वह देव उन्हें अच्छे क्षेत्र में लेजाकर रखे साताकारी स्थान पर पहुँचा दे अटवी से निकाल कर बस्ती में पहुँचा दे और रोगादि उपद्रव को मिटाकर शान्ति कर दे। इतना सब करने पर भी वह देव धर्माचार्य के ऋण से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता परन्तु वे धर्माचार्य कदाचित् धर्म से चलित हो जाय-पतित हो जाय तो उन्हें पुनः जिनोपदेशित धर्म में स्थापित तथा स्थिर करने से वह देव धर्माचार्य के ऋण से मुक्त हो सकता है। (ठाणांग ३—१)

सारांश यह कि भोजन दान धन दान और दूसरे प्रकार की पौद्गलिक सहायता सदा के लिए उपकारी नहीं होती। अधिक से अधिक इस भव तक ही रह सकती है किन्तु धर्मदान ऐसा है कि भवान्तर में भी साथ रहकर सुखी कर देता है। दुःख के मूल कारणों को नष्ट कर देता है। दुःख के मूल कारणों को नष्ट कर परम्परा से शाश्वत सुख दे सकता है। इसलिए धर्मदान ही महान् उपकार है। पौद्गलिक दान की अपेक्षा धर्मदान परम उत्कृष्ट दान है। श्रमणोपासकों का अपने परिचय में आने वाले सभी मनुष्यों को यथावसर धर्म के सम्मुख करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए और उपबृंहणा स्थिरीकरण वत्सलता तथा प्रभावना—इन दर्शनाचार के चार आचारों से धर्म प्राप्ति स्थिरता तथा वृद्धि में निमित्त रूप बनना चाहिए। (उत्तरा २८ प्रज्ञापना १)

श्रमणोपासक की उपमाऐं

प्रत्येक शुभ और अशुभ वस्तु का विशद रूप से समझने के लिए उपमा दी जाती है। यों तो असत् उपमा भी दी जाती है किंतु श्रमणोपासकों को जो उपमा दी गई वे गुणनिष्पन्न हैं। गुणानुसार श्रमणोपासकों को नीचे लिखी आठ उपमाऐं दी गई हैं।

१ माता पिता समान—जिस प्रकार माता पिता अपने पुत्र का वत्सलता पूर्वक पालन करते हैं उसी प्रकार कई श्रमणोपासक साधु साध्वियों के हितैषी हित चिन्तक और उनके अभ्युदय के इच्छुक होते हैं वे माता पिता के समान हैं।

२ भाई समान—श्रमणोपासक, साधुओ के भाई के समान भी होते है। तत्त्व चिन्तन आदि में अथवा उपदेश में साधुओ से कभी मत भेद होने पर भी वे भाई के समान साधुओ के हितैषी होते है।

३ मित्र समान—साधु और श्रावक मे आपस मे प्रीति होती है। कदाचित् मतभेद से अप्रीति हो जाय तो भी आपत्ति काल में एक मित्र की तरह सहायक होते है—वे मित्र समान है।

४ सौत समान—साधुओं का सदा अहित चिंतन करने वाले और उनके दोषो तथा छिद्रो को ही देखने वाले सौत के समान है। जिस प्रकार दो सौते आपस में डाह करती है, उसी प्रकार साधुओ से द्वेष रखने वाले श्रावक, सौत के समान है।

५ आदर्श समान—जिस प्रकार आदर्श (दर्पण) सामने आये हुए पदार्थों का प्रतिबिब ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधुओ के उपदेश में आये हुए सैद्धातिक भावो को, यथार्थ रूप से ग्रहण करने वाला श्रमणोपासक, आदर्श के समान है।

६ पताका समान—जिस प्रकार वायु के दिशा बदलने से पताका का रुख भी बदलता रहता है, उसी प्रकार साधु की देशना अथवा प्ररूपणा के अनुसार बदल कर उसी भाव में बहते रहने वाला श्रावक, अस्थिर परिणामी—पताका के समान होता है।

७ स्थाणु समान—जो श्रावक, गीतार्थ से सिद्धात के रहस्यो को सुन कर भी जो अपने ही आग्रह पर दृढ रहता है, वह स्तभ के समान—नही झुकने वाला ॐ है।

८ खरकंटक समान—जिस प्रकार बबूल आदि के काटे मे उलझा हुआ वस्त्र फटता है और छुडाने वाले के हाथो में भी चूभ जाता है, उसी प्रकार कुछ दुराग्रही श्रावक, साधुओ को कठोर वचन रूपी बाणो से विंध कर कष्ट पहुँचाते है। (स्थानाग ४-६)

माता पिता और आदर्श के समान श्रावक, सर्वोत्तम होते है और सौत तथा खरकण्टक के समान श्रावक अधम कोटि के होते है।

उपरोक्त उपमाएँ साधुओ की अपेक्षा से है, कुसाधु अथवा दुराचारियों की अपेक्षा से नही। कुसाधुओ से असहयोग करने वाला तथा सघ रक्षार्थ कुसाधुओ से समाज को सावधान करने वाला, सघ का हित चिंतक है।

ॐ जो गोबर के खीले के समान डिगमिगाता नहीं, किंतु धर्म में दृढ़ रहकर चतुर्विध संघ के लिए स्तंभ के समान आधारभूत हो, वह भी स्तभ के समान हो सकता है। इस प्रकार स्तम की शुभ उपमा भी हो सकती है।

आगम स्वाध्याय

अनगार भगवंत तो स्वाध्याय करते ही हैं किन्तु श्रमणोपासकों को भी आगमों का स्वाध्याय करना चाहिए। जब शास्त्र पुस्तकारूढ़ नहीं हुए थे + तब श्रमणोपासक, अनगार भगवंतों से श्रवण कर के यथा शक्ति आगमों और उनके अर्थों को धारण करते थे। अनगार जीवन में क्रमानुसार और विधि पूर्वक आगम ज्ञान प्राप्त करना जितना सरल होता है उतना गृहस्थ के लिए नहीं। सिलसिले से आगम ज्ञान ग्रहण करने में उसके सामने अनेक प्रकार की बाधाएँ होती थी। खास बात तो यह कि अनगार भगवंत सिवाय चातुर्मास के एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते थे और उसमें भी उनकी चारित्र सम्बन्धी क्रिया-प्रतिलेखना प्रमार्जना प्रतिक्रमण ध्यानादि क्रियाओं में अधिक समय जाता था। इसके सिवाय उनका ठहरना भी, विशेषकर ग्राम के बाहर होता था इसलिए वे गृहस्थ को क्रमानुसार आगम मुखपाठ करवावें और गृहस्थ सदैव उनके साथ रहकर सीखें यह बहुत कठिन था। इतनी कठिनाइयाँ होते हुए भी कुशाग्र बुद्धि वाले अनेक श्रावक श्रुतज्ञान से युक्त थे। वे सूत्र अर्थ और दोनों को जानने वाले-तत्त्वज्ञ थे। नीचे लिखे प्रमाणों से श्रावकों का आगमज्ञ होना सिद्ध होता है।

१ आनन्द कामदेवादि श्रावक आगमज्ञ थे। उनके विषय में समवायांगसूत्र और नन्दीसूत्र में लिखा है कि—

"सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं"—वे सूत्र को ग्रहण किये हुए और उपधान आदि तप सहित थे।

२ पालित श्रावक के विषय में उत्तराध्ययन २१ में लिखा है कि—

"निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए"—अर्थात्—वह निर्ग्रंथ प्रवचन में पंडित था।

३ राजमतीजी दीक्षा लेने के समय 'बहुश्रुता' थी। उसके विषय में उत्तराध्ययन अ. २२ में लिखा कि "सीलवंता बहुस्सुया"।

४ ज्ञाता सूत्र के १२ वें अध्ययन में 'सुबुद्धि प्रधान' के विषय में जिन शब्दों का उल्लेख है उससे मालूम होता है कि उसने जितशत्रु राजा को उसी प्रकार निर्ग्रंथ प्रवचनों का उपदेश दिया जिस प्रकार निर्ग्रंथ देते थे। तात्पर्य यह कि वह निर्ग्रंथ प्रवचन (आगम) का ज्ञाता था। उसने जितशत्रु राजा को धर्मोपदेश भी दिया और विरति भी प्रदान की।

५ उववाई सूत्र में श्रावकों को "धम्मक्खाई"—धर्म का प्रतिपादन करनेवाले कहा है। धर्म का प्रतिपादन वही कर सकता है जो धर्मज्ञ हो।

+ यद्यपि लेखन सामग्री और लेखन कार्य इस समय भी होता था किंतु आगमों को उस समय पुस्तक पर नहीं लिखकर मुखाग्र ही किया जाता था।

६ सूयगडाग २-२ तथा भगवती २-५ मे लिखा है कि श्रावक–

"लद्धट्ठा गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा"

अर्थात्–वे सूत्रार्थ को प्राप्त किये हुए, ग्रहण किये हुए, पुन पूछ कर स्थिर किये हुए, निश्चित किये हुए और समझे हुए है।

इस प्रकार आगम ज्ञान के धारक–श्रावक हो सकते है, तो वे स्वाध्याय क्यो नही कर सकते ? यदि कहा जाय कि उपरोक्त वाक्य 'अर्थ ग्रहण' से सम्बन्ध रखते है–सूत्र से नही, तो कहना होगा कि 'जो अर्थ ग्रहण कर सकते है, वे सूत्र ग्रहण क्यो नही कर सकते ? अर्थ से जिसने सूत्र का रहस्य समझ-लिया, उसके लिये सूत्र ग्रहण मे कौनसी रुकावट आती है ? भाषा सम्बन्धी रुकावट के सिवाय और कोई बाधा नही हो सकती। अपनी भाषा मे अर्थ और विवेचन समझ लेने वाले के सूत्र ग्रहण करने मे कोई रुकावट जैसी बात नही लगती। पूर्वाचार्य तो लिख गये कि "सामान्य जनता के हित के लिए ही सूत्र की रचना अर्धमागधी भाषा मे की गई"। अतएव यह बाधा भी नही रहनी चाहिए। फिर समवायाग और नन्दी में स्पष्ट रूप से **"सुयपरिग्गहा"** लिखा ही है। इसलिए सूत्र पढने मे कोई रुकावट नहीं है।

७ श्रावको के ९९ अतिचारो मे ज्ञान के १४ अतिचार भी शरीक है और सर्व मान्य है। जिसमे "सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे" भेद स्पष्ट है। ये सभी अतिचार स्वाध्याय करने की स्पष्ट घोषणा कर रहे है।

८ श्रावको के सूत्र पढने का निषेध कही भी नही किया गया है।

९ व्यवहार सूत्र में मुनियो के आगम पठन मे जो दीक्षा पर्याय बताई गई, वह साधारण बुद्धि वाले शिष्यो के लिए है–सभी के लिए नहीं। क्योकि उसी जगह तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले को उपाध्याय और पाच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले को आचार्य पद पर स्थापन करने का भी विधान है। अब सोचना चाहिए कि एक ओर तो तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला ही आचाराग पढ सकता है और दूसरी ओर तीन वर्ष की दीक्षा वाला बहुश्रुत उपाध्याय होकर दूसरो को ज्ञान दे सकता है। इन दोनो विधानो मे यह स्पष्ट होता है कि जो वय–मर्यादा नियत है, वह साधारण साधुओ के लिए है। उन्हे तो ज्ञान पढना ही चाहिए। किंतु श्रावको के लिए कोई नियम नही है। वे यथेच्छ–योग्यतानुसार श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकते है। उनके लिए कोई अनिवार्यता नही है।

श्रावको को आगम स्वाध्याय करना चाहिये। यह मानते और प्रेरणा करते हुए भी इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि यह अधिकार योग्यतानुसार हो तो ही ठीक है, अन्यथा लाभ के बदले हानि हो सकती है। मैने देखा है कि बहुत से इस अधिकार का दुरुपयोग करते है। जिनमें समझने की शक्ति

नहीं जो अपेक्षा को नहीं समझते वे यदि भगवती प्रज्ञापना को लेकर पढ़ जाय तो लाभ के बदले हानि ही होने की सम्भावना है। मैंने ऐसे साधुओं को भी देखा है, जो व्याख्यान फरमाते हैं किन्तु जिस सूत्र पर बाँच रहे हैं उसका आशय खुद भी नहीं समझ सके हैं। इस प्रकार की स्थिति जहाँ हो वहाँ यह अधिकार हानिप्रद हो सकता है। चाहे साधु हो या श्रावक योग्यता के अनुसार ही श्रुत का अभ्यास करना चाहिए। प्राथमिक कक्षा का विद्यार्थी उच्च कक्षा की पुस्तकें पढ़े तो उससे उसका क्या लाभ हो सकता है?

तात्पर्य यह कि श्रावकों को भी अपनी योग्यता के अनुसार शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए। योग्यता के विषय में विज्ञ ज्ञानवालों से परामर्श लेकर उनकी राय के अनुसार स्वाध्याय सामग्री का चयन करना चाहिए और शंका होने पर पूछकर निश्चय करलेना चाहिए। यदि फिर भी समझमें नहीं आवे तो अपनी बुद्धि की कमजोरी मान कर आगम वचनों पर विश्वास रखना चाहिए।

स्वाध्याय एक आभ्यन्तर तप है। श्रुतज्ञान की आराधना महान् फल दायक होती है। अतएव श्रावकों को भी सदैव स्वाध्याय करना चाहिए।

श्रावकों की धर्म दृढ़ता

सच्चे श्रावक निग्रंथप्रवचन अथवा जिनधर्म में दृढ़ होते हैं। उनका हृदय ही नहीं हड्डी और मर्मों में धर्म प्रेम समाया हुआ रहता है। उनका धर्म प्रेम इतना गहरा और पक्का होता है कि किसी भी प्रकार कम नहीं हो सकता। संसार की कोई भी शक्ति उन्हें धर्म से विचलित नहीं कर सकती। श्रावक की दृढ़ता के विषय में आगमों में लिखा कि—

"असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा"।

अर्थात्—वे अपने शुभाशुभ कर्म विपाक पर विश्वास करने वाले थे। इसलिए वे देव असुर नागकुमार आदि देवों की सहायता की इच्छा नहीं करते हैं। कोई भी देव अथवा असुर उन श्रमणो पासकों को जिनधर्म से चलित करने में शक्तिमान् नहीं हो सकता है।

वे सारे श्रमणोपासक निग्रंथप्रवचन में पूर्ण श्रद्धावान् होते हैं। उन्हें जिन धर्म में किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं होता। उनके हृदय में धर्म के विषय में यही उद्‌गार निकलते हैं कि—

"निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे"

अर्थात्—निर्ग्रंथ प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है। इसके सिवाय सभी वचन अनर्थ के कारण है।
(सूयग० २-२ उववाई ४१)

इस प्रकार उनकी दृढ श्रद्धा होती है। यदि अशुभ कर्म के उदय से कोई क्रूर व्यक्ति अथवा दानवादि उन्हे धर्म से चलित करने को तत्पर हो जायँ, तो वे मरना स्वीकार कर लेते है, किंतु अपने मुह से एक अक्षर भी धर्म के विपरीत नही निकालते। इतना ही नही वे मन मे धर्म को छोडने का विचार मात्र भी नही करते। धर्म को वे अपनी आत्मा के समान ही मानते है। इसलिए प्राण त्याग करना उन्हे मन्जूर हो सकता है, किंतु धर्म त्याग स्वीकार नही होता। ऐसे दृढ धर्मी, आदर्श श्रमणोपासक होते है।

पूर्वकाल के श्रावको में से 'कामदेव' श्रावक को देव ने कितने भयकर कष्ट दिये! भयानक पिशाच रूप में आकर तलवार से अग प्रत्यग काटने लगा। जब इसमे भी वह सफल नही हुआ तो मदोन्मत्त हाथी का रूप बनाकर, कामदेव को अपनी सूड मे पकड कर आकाश मे उछाल दिया और दातो पर झेल कर पैरो तले रोदने लगा। जब इसमे भी देव असफल रहा, तो एक प्रचण्ड विषधर बनकर श्रावकजी के गले में लिपट गया और हृदय मे तिक्षण दात गडा दिए।

कितना भयकर परिषह था। कितनी असह्य वेदना हुई होगी—उन्हे, किंतु जबान से 'उफ' तक नही किया। ज्यो ज्यो उपसर्ग की उग्रता बढती गई, त्यो त्यो धर्म की दृढता भी अधिकतम गाढी बनती गई। आखिर अशक्त मानव के सामने, सशक्त देव को हार माननी पडी और चरणो में झुक कर क्षमा याचनी पडी। (उपासकदशा २)

श्री कामदेवजी तो घरबार छोड कर उपाश्रय मे चले गये थे और केवल धर्म मय जीवन व्यतीत कर रहे थे, किंतु अरहन्नकजी तो व्यापार करने के लिए समुद्र यात्रा कर रहे थे। समुद्रमें ही उन्हे मिथ्यात्वी देव ने आकर असह्य कष्ट दिये, किंतु वे भी कामदेवजी की तरह ही दृढ रहे।

यदि कहा जाय कि "ये बाते चौथे आरे की है। उस समय शरीर सघयण आदि अच्छे थे। आज सभी साधन हीन कोटि के है, इसलिए दृढता नही रह सकती", तो यह बचाव भी उचित नही है। क्योकि उस समय के समान आज देव के उपसर्ग भी तो नही है, फिर सुयगडाग और उववाई सूत्र के पाठ, किसी समय विशेष से सम्बन्धित नही, किंतु श्रमणोपासक की धार्मिक दृढता से सम्बन्धित है, भले ही वह पचमकाल का भी क्यो न हो। क्या पचमकाल में शील की रक्षा के लिए आग में कूद कर जल मरने वाली सेंकडो वीरागनाएँ नही हुई। सिक्ख गुरु गोविन्दसिंह के दो लडके अपने धर्म के लिए जीते ही दिवाल मे नही चुन दिये गये। देश के लिए अग्रेजो की गोलियाँ खाने और फाँसीपर चढनेवाले हमारे ही युगमे तो हुए है। इनके लिए पचमकाल बाधक नही हुआ, तो हमारे लिए क्यो हो रहा है?

श्रावकों के धर्मवाद की भगवान् द्वारा प्रशंसा

पहले के श्रमणोपासक, आगमज्ञ होते थे। वे धर्म तत्त्व के पण्डित (कोविद) होते थे। उन्होने तत्त्वज्ञान का इतना गहरा अभ्यास किया था कि कोई भी अजैन विद्वान उन्हे डिगा नही सकता था। उल्टे बडे बडे धुरन्धर विद्वान्, उन जैन विद्वानो के विशुद्ध तत्वज्ञान के आगे निरुत्तर होते थे। एक बार कुडकोलिक श्रावक, बगीचे मे सामायिक कर रहा था। वहा गोशालक मति देव आया और कुण्डकोलिक को जिनधर्म से डिगाने के लिए गोशालक के मत की प्रशसा तथा भगवान के मत की निन्दा करने लगा। कुडकोलिक श्रावक ने युक्ति युक्त वचनो से उस देव को निरुत्तर किया।

देव के नियत्तिवाद का खडन करने के लिए कुडकोलिक ने उसे यही पूछा-'तुम्हारे मत मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम नही है, अर्थात्-बिना प्रयत्न के ही सब काम अपने आप नियति से ही बन जाते है, तो यह तो बताओ कि तुम्हे यह देव भव, देव ऋद्धि और दिव्य सुखो की प्राप्ति कैसे हुई ?

देव ने अपने मत पक्ष के अनुसार कह दिया कि-'यह सब नियति से ही प्राप्त हुआ है-मेरे किसी प्रयत्न के फल स्वरूप नही'। तब चतुर श्रावक ने पूछा-

"देव! जिस प्रकार तुम्हे बिना किसी प्रयत्न के अपने आप यह देव ऋद्धि प्राप्त हुई, उसी प्रकार पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि को देवत्व की प्राप्ति क्यो नही हुई ? इन मे तो प्रयत्न का अभाव प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। जब बिना प्रयत्न के ही देवता की प्राप्ति हो सकती है, तो इन स्थावर जीवो को क्यो नही हुई ? ये पशु आदि जीव, देव क्यो नही हुए ? इस प्रकार प्रत्यक्ष सिद्ध है कि तुम्हारा सिद्धात मिथ्या है और भगवान् महावीर का सिद्धान पूर्ण सत्य है"।

देव निरुत्तर हो गया और वापिस लौट गया। उस समय भगवान् महावीर कपिलपुर में पधारे। कुडकोलिक की देव से हुई चर्चा का वर्णन करने के बाद, भगवान् ने श्रीमुख से फरमाया—

"तं धन्नेसि णं तुमं कुंडकोलिया"-अर्थात्-हे कुडकोलिक! तुम धन्यवाद के पात्र हो।

भगवान् द्वारा दिया हुआ धन्यवाद, कुण्डकोलिक श्रमणोपासक की धर्म दृढता-अडिगता एव धर्मवाद द्वारा निर्ग्रंथ प्रवचन की महत्ता प्रदर्शित करता है। भगवाम् धन्यवाद देकर ही नही रह गये, किन्तु साधु साध्वियो का सम्बोधित कर के कहा,-

"ससार की अनेक झझटो में रहा हुआ गृहस्थ श्रमणोपासक, तत्त्वार्थ को अनेक प्रकार के हेतु से प्रश्नो से एव सुयुक्तियो से सिद्ध करके, अन्यमत वालो को निरुत्तर करके, निर्ग्रंथ प्रवचन की प्रतिष्ठा बढाता है, तब तुम तो निर्ग्रंथ हो, और द्वादशागी के धारक हो। तुम्हे तो प्रसग उपस्थित होने पर

तत्त्वार्थ का हेतु और युक्ति के साथ प्रतिपादन कर अन्य मतवादों का निरुत्तर करके निर्ग्रन्थ प्रवचन का महत्त्व बढ़ाना चाहिए' । (उपासक–६)

इसी प्रकार मद्रुक श्रावक का प्रसग इस प्रकार है ।

'मद्रुक श्रावक' राजगृह का निवासी था । राजगृह के बाहर कालोदायी आदि अन्य तीर्थिक विद्वान रहते थे । वे आपस में भगवान् महावीर के सिद्धांत के विषय में चर्चा कर रहे थे । इतने में उधर से मद्रुक श्रावक निकला । वह भगवान् को वन्दन करने जा रहा था । उन अजैन विद्वानों ने मद्रुक को अपने पास बुलाकर पूछा–

तुम्हारे धर्माचार्य धर्मास्तिकाय आदि पांच अस्तिकाय मानते हैं । इनमें से चार तो अरूपी और एक रूपी है किन्तु यह किस आधार से माना जाता है ?

मद्रुक ने कहा–इन अस्तिकायों को इनके कार्य से जाना जा सकता है । यदि कोई वस्तु अपना कार्य नहीं करे तो हम उसे नहीं जान सकते ।

मद्रुक का यह उत्तर सुन कर कालोदायी आदि ने कहा–

अरे तुम कैसे श्रमणोपासक हो और तुम्हारी मान्यता ही कैसी है ? जिस वस्तु को तुम जान नहीं सकते देख नहीं सकते उसकी मान्यता किस आधार पर रखते हो ?

मद्रुक ने कहा–बन्धुओं ! छद्मस्थ जीव विश्व के समस्त भावों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता । अच्छा तुम्हीं बताओ इस वृक्ष के पत्ते क्यों हिल रहे हैं ?

–"वायु से ।

– क्या तुम वायु को देख रहे हो ? यदि देख रहे हो तो बताओ उसका रंग रूप कैसा है" ?

– नहीं वायु दिखाई तो नहीं देता । उसके चलन स्वभाव और स्पर्श से जानते हैं –अन्य तीर्थियों ने कहा ।

– अच्छा आपकी नाक में कभी सुगन्ध या दुर्गन्ध आती है ? –मद्रुक ने पूछा ।

– 'हां हां आती है ।

– 'तो जरा बताइए कि क्या आपने गन्ध की आकृति और रूप देखा है ?

– नहीं वह दिखाई नहीं देता ।

– अरणी की लकड़ी में अग्नि है ?

– हां है ।

– 'क्या उसे आप अरणी में देख सकते हैं ?

– नहीं ।"

—"अच्छा, समुद्रपार रही हुई वस्तुएँ और देवलोक (जिसे आप भी मानते हैं) दिखाई देते है" ?

—"नही।"

जब आप स्वय उपरोक्त वस्तुओ को प्रत्यक्ष नही देख सकते, किंतु कार्य के आधार से इन्हे मानते हैं, तो अग्निकाय के मानने में कौनसी बाधा खडी होती है ?"

बन्धुओ! छद्मस्थ मनुष्य की दृष्टि के बाहर बहुतसी वस्तुएँ रहती है। यदि बिना देखी हुई वस्तु का अभाव ही हो जाय तो फिर सद्भाव क्या रहेगा ?"

मद्रुक के युक्ति सगत उत्तर से वे अन्यतीर्थी विद्वान् निरुत्तर होगये। उनके निरुत्तर हो जाने पर मद्रुक, भगवान् के समवसरण में गया। धर्मोपदेश के अनन्तर भगवान् ने भरी सभा में मद्रुक के धर्मवाद का वर्णन किया और उसकी प्रशसा करते हुए कहा कि—

"तं सुट्ठुणं तुमं मद्दुया! ते अन्नउत्थिए एवं वयासी। साहणं तुमं मद्दुया! जाव एवं वयासी"।

—हे मद्रुक! तुमने उन अन्य तीर्थियो को अच्छा उत्तर दिया। तुम्हारा उत्तर बहुत ठीक था।

वे अन्यतीर्थिक मद्रुक के निमित्त से धर्म के समुख होगए और आत्म कल्याण कर लिया।

(भगवती १८-७)

इस प्रकार अनेक प्रभावशाली श्रमणोपासक होगए है, जिनको प्रभु ने श्रीमुख से धन्यवाद दिया। उनके धर्मवाद की प्रशसा की और उनका आदर्श उपस्थित करके श्रमण निर्ग्रंथो को उत्साहित किया। हमारे पूर्व के श्रावक इस प्रकार के दृढ धर्मी और धर्म प्रभावक थे, किंतु आज उल्टी गगा बह रही है। यदि कोई अनेकान्त का दुरुपयोग करने वाला कुण्डकोलिक के स्थान पर होता, तो यही कहता कि—

"हा, पाच समवाय में 'नियति' भी तो है, इसलिए नियतिवादी गोशालक मत से निर्ग्रंथ प्रवचन का समन्वय हो सकता है"। इस प्रकार की वृत्ति उस समय नही थी। न 'सर्वधर्म समभाव' की घातक और श्रद्धा हीन बनाने की दुर्वृत्ति ही उस समय थी।

हमारी वर्तमान दशा

श्रमणोपासक, जिनधर्म में दृढ श्रद्धालु होता है। वह कर्मफल को मानता है। कभी, पूर्व के अशुभ कर्म के उदय से विषम परिस्थिति आजाय और किसी प्रकार के दुःख से पीडित हो जाय, तो भी वह मानता है "यह मेरे पूर्व के अशुभ कर्म का फल है। अपने कर्म का फल मुझे भुगतना ही पडेगा। किसी देव दानव की यह शक्ति नही कि वह मेरे अशुभ कर्मों को बदल कर शुभ बना दे। मेरे कर्मों की निर्जरा, मै स्वय तप के द्वारा कर सकता हू'। इस प्रकार सोच कर सतोष धारण करता है और धर्म में अधिक दृढ हो कर यथाशक्ति अधिक धर्म का आचरण करता है। किंतु हमारी वर्त्तमान दशा इस

स्थिति से बहुत विपरीत हो गई है। हम वस्त्र मय स्तम नहीं रह कर गागर के खोले बन गये हैं। ससार में हम अपने का जैनी श्रावक और श्रमणोपासक' इतना ही नहीं भारी श्रावक बतलाते हैं किंतु हमारा आचरण बिलकुल गया बीता हो गया है। हम में कुछ ऐसी कुरूढ़ियाँ आगई है कि जिन के कारण तथा दृढ़ता के अभाव में हम मिथ्यात्व का जानकर सेवन करते हुए भी लज्जित नहीं होते।

हमारे त्योंहार

जिस प्रकार अजैन लोग नवरात्रि और दशहरा मनाते हैं उसी प्रकार हमारे अनेक जैनी नाम धराने वाले बन्धु नवरात्रि का व्रत रखते हैं और दुर्गा तथा काली माता की पूजा पाठ करते हैं और उससे अपनी समृद्धि की कामना रखते हैं।

होली के दिनों में हमारे अनेक जैनी भाई होलिका पूजन दहन आदि कर के अनेक प्रकार का मिथ्यात्व तथा पाप का उपार्जन करते हैं। सीतला पूजन गनगोर व्रत और नजाने कौन कौनसे कल्पित देव देवियों को हमारे भाई बहिन पूजते हैं।

दिवाली हमारा धार्मिक त्योंहार है किंतु उस दिन धन की कामना से कल्पित लक्ष्मी देवी गजा- नन बहियें दावात कलम आदिकी पूजा किया करते हैं। उस समय यदि उनके चेहरों से भावों का पता लगाया जाय तो मालूम होगा कि उनका हृदय इन बहियों दवातों कलमों लक्ष्मी के कल्पित चित्र और गजानन आदि (जो मनुष्य द्वारा निर्मित है) के प्रति पूर्ण रूप से प्रणिपात कर रहा है। वे इतना भी नहीं सोचते कि इस मिथ्या प्रवृत्ति में क्या धरा है ? क्या बही कलम दवात सोना चाँदी रुपया नोट आदि भी कोई देव है ? प्रत्यक्ष रूप में ये जड़ वस्तुएँ हैं। इनके पीछे किसी देव की कल्पना भी नहीं है। लक्ष्मी का चित्र और गजानन की पूजा करने से ही किसी का धन लाभ होता तो प्रतिवर्ष भक्ति पूर्वक पूजा करने वाले सभी व्यापारी धनवान ही होते। किसी को भी धन हीन तथा कर्जदार होने का प्रसग ही नहीं आता। इनकी पूजा करते रहने वाली अनेक व्यापारी पेढ़ियाँ अत्यधिक हानि के कारण बंद हो गई। बहुत से व्यापारी आज भी आर्थिक कठिनाई उठा रहे हैं और दूसरी ओर इन क्रियाओं से सर्वथा वंचित ऐसी जातियाँ तथा राष्ट्र मालामाल तथा आर्थिक दृष्टि से उच्च स्थान प्राप्त किये हुए हैं।

यदि कहा जाय कि देवी देवताओं का अस्तित्व तो जैन सिद्धांत भी मानता है और उनके अनु- ग्रह के प्रमाण भी शास्त्रों में है फिर इन्कार क्या किया जाता है ? समाधान है कि—देवीदेवताओं के अस्तित्व और अनुग्रह से इन्कार नहीं किया जा रहा है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि आप जिन्हें

देव मान कर पूज रहे है, वह आपकी गलत धारणा है। न तो बहियो, दावातो और लेखनी मे देव का निवास है और न लक्ष्मी आदि चित्रो मे। क्या प्रत्येक मूर्ति और तेल सिन्दूर लगे अनघड पत्थर मे देव रहता है? यदि रहता हो, तो उसकी आशातना और अपमान कोई नही कर सकता। जब कि इन सब का अपमान एक बच्चा भी कर सकता है। यदि इनके सानिध्य मे देव होता, तो पूजक पर कृपा अवश्य करता, कम से कम उसे खतरे की आगाही तो दे ही देता।

जिसप्रकार मुर्दे में प्राण नही होते, उसी प्रकार इन कल्पित गणेशो और लक्ष्मियो मे देवत्व नही है। मुर्दे की कितनी ही सेवा करो, वह स्वय हिलडुल नही सकता, इसी प्रकार मनमाने कल्पित देव, मनोरथ पूर्ण नही कर सकते।

वास्तविक देव भी शुभाशुभ कर्म और उसके परिणाम को बदल नही सकते, तो ये कल्पित जड वस्तुओ के झूठे देव, क्या भला कर सकेंगे ?

मनुष्य को जो जो अनुकूलताएँ मिलती है और इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति होती है, वह पुरुषार्थ। और शुभ कर्म के उदय से अर्थात्—पाचो समवाय की अनुकूलता से मिलती है। इसलिए व्यर्थ के मिथ्याचार को छोड कर, जैनत्व के प्रति ही दृढ रह कर यथा शक्ति धर्म का आचरण करना चाहिए और बिना इधर उधर भटके, समझ सोच कर अपना कर्त्तव्य करते रहना चाहिए। इससे मन की अशाति मिटे गी, नये अशुभ कर्म का गाढ बध नही होगा और पूर्व के कर्म की निर्जरा होकर शुभ कर्म का उदय होगा, तभी इच्छित वस्तु की प्राप्ति होगी। धर्म पर और अपने आप पर श्रद्धा रखकर, यथा शक्ति धर्म का आचरण करते रहने वाले का भौतिक दृष्टि से भी भविष्य उज्ज्वल होता है।

इस प्रकार लौकिक त्योहारो के निमित्त से अनेक प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन किया जाता है। इसे बन्द करके दृढ सम्यक्त्वी बनना चाहिए

रोग के निमित्त से मिथ्यात्व सेवन

हमारे बहुत से भाई और बहिने अपने या बच्चो के रोग का निवारण करने के लिए और देवी देवताओ—भैरु भवानी—की सेवा में भटकते रहते है। तावीज और डोरा धागा करवाते फिरते है।

जैन सिद्धात स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है कि 'रोगोत्पत्ति का मूल कारण अशुभ कर्म—असातावेदनीय कर्म का उदय है, और निमित्त कारण आहारादि की प्रतिकूलता से शरीर मे बीमारी के योग्य पुद्गलो का (कब्जियत, अजीर्ण आदि से) जमा होना तथा छोत आदि अनेक कारण है। माता और मातीझरा आदि रोगो को देवी देवता रूप मानने की मूढता तो अब भी बहुत फैली हुई है। प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है, कि इन रोगो को टीका लगाकर रोकने के प्रयास हो रहे है और इसमें सफलता

भी होती है। जो लोग इन रोगों को देव कृपा मान कर भाव पूर्वक मानते पूजते हैं, उनके यहाँ भी इन रोगों के अनिष्ट परिणाम होते हैं और जो जातियाँ और राष्ट्र इन रोगों को देव रूप नहीं मानकर उचित उपचार करते हैं उनका ये मिथ्यादेव कुछ भी नहीं बिगाड़ते बल्कि उनके यहाँ अनिष्ट परिणाम भी उतने नहीं होते।

इस प्रकार जैनधर्म के उपासक और सम्यग्दृष्टि कहे जानेवाले लोगों में कितना अज्ञान भरा है। वे बात बात में मिथ्यात्व की उपासना करने लग जाते हैं। यह उनके जीवन से स्पष्ट हो रहा है।

विवाह और मिथ्यात्व

वैवाहिक कार्य का प्रारंभ भी प्रायः मिथ्यात्व सेवन कर के किया जाता है। सब प्रथम गणपति पूजन किया जाता है। महिलाएँ विवाह के गीत में पहले गणपति की ही स्तुति करती हैं और आमन्त्रण पत्रिका भी सबसे पहले गणपति को ही लिखी जाती है। इसके सिवाय देव भेद से छोटे मोटे अनेक प्रकार से मिथ्यात्व का सेवन किया जाता है।

विवाह विधि भी मिथ्यात्व से ओतप्रोत है। कई मिथ्यात्वी देवों की साक्षी से ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत भाषा में कुछ मन्त्र और श्लोकों के उच्चारण के साथ हवन पूजन आदि होता है। अग्नि की साक्षी भी मानी जाती है और लग्न के बाद भी भैरव भवानी माता सातला हनुमान आदि कितने ही देवों का, वर वधू से पूजा कराई जाता है।

वर्तमान में जैन विधि से विवाह करने कराने का प्रश्न भी उठ रहा है और कहीं कहीं होने भी लगे हैं। विवाह संस्कार की विधि भी 'आचारदिनकर' आदि ग्रंथों में जैनाचार्य द्वारा लिखी हुई है और अन्य पुस्तकें भी छपी हैं किंतु इन सब पर अजैन विधि का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। विचार पूर्वक देखा जाय तो यह विधि बिलकुल सरल और सादी हो सकती है।

लग्न का उद्देश्य केवल वर कन्या का सम्बन्ध मिलाना है। योग्य वर को योग्य कन्या से—जिनका आचार विचार स्वभाव और वय समान हो—सम्बन्ध जोड़ना है। यह उद्देश्य सभी जातियों और देशों में समान रूप से है। भेद केवल विधि विधान और रीति रिवाज का है। यह भेद प्रत्येक जाति वर्ग और देश में रहा हुआ है और परिवर्तनीय है। हमें वही विधि अपनानी चाहिये कि जिसमें धर्म के भ्रमण नहीं हो। यथा सगवा समर्थ सभा की साक्षी से वर कन्या का परस्पर बन्धनबद्ध करना और वर का स्वदार-सन्तोष तथा कन्या का स्वपति-संतोष व्रत धारण करवाना है। व्रत की प्रतिज्ञा गुरु के समक्ष अथवा मान्य पुरुष श्रावक के समक्ष होकर लग्न विधि पूर्ण हो सकती है।

एक बात ध्यान रखने की है। यदि वरकन्या ने पहले सम्यक्त्व ग्रहण नही किया हो, तो इस विधि के पूर्व उन्हे सम्यक्त्व ग्रहण करवा कर—नियमानुसार वास्तविक जैनी बनाने के बाद 'सदार सतोष व्रत' देना चाहिये। जहा तक हो, 'पाच अणु व्रतो' का ग्रहण कराना चाहिए, अन्यथा चतुर्थ व्रत तो अवश्य ही कराना चाहिये, क्योकि विवाह सम्बन्ध को जैन धर्म मे स्थान नही है, विरति को ही स्थान है। इस व्रत के द्वारा लग्न सम्बन्ध,से मर्यादा बाहर की अविरति के त्याग हो जाते है और इस अपेक्षा से जैन विधि कही जा सकती है।

'मगल—पाठ' के बाद यह विधि पूर्ण की जा सकती है। इसमे किसी देव, देवी, हवन, पूजन की आवश्यकता नही रहती। महिलाओ के द्वारा मगलगान भी तदनुरूप ही हो। लग्नोत्सव के समय वादिन्त्र का उपयोग तथा प्रीति—भोज, अपनी स्थिति का अतिक्रमण कर के नही किया जाय। आगन सम्बन्धियो का सत्कार यथा शक्ति हो सकता है। तात्पर्य यह कि मूल उद्देश्य 'वरवधू को लग्न सम्बन्ध मे जोडने' का और मुख्य नियम 'व्रत प्रतिज्ञा से युक्त' करने का है। शेष सब बाते गौण है।

इस प्रकार यदि सुधार किया जाय, तो लग्न प्रसग पर होते हुए अनेक प्रकार के मिथ्या विधि विधानो से बचा जा सकता है।

मृत्यु प्रसंग और मिथ्यात्व

जिस प्रकार लग्न प्रसग के साथ अनेक प्रकार का मिथ्यात्व जुड गया है, उसी प्रकार मृत्यु प्रसग को लेकर भी अनेक प्रकार का मिथ्यात्व सेवन किया जा रहा है।

जब मनुष्य, मरणासन्न होकर अतिम साँसे ले रहा हो, तब उसे महान् वेदना होती है। उस महान् वेदना के समय ही उसे पलग अथवा बिस्तर पर से हटा कर पृथ्वी पर (गोमय से लीप कर) सुलाया जाता है और माना जाता है- 'पृथ्वी की गोद में मृत्यु होने से जीव की सद्गति होती है", यह भूल है। जैन सिद्धात इस मान्यता को स्वीकार नही करता। जैन सिद्धात के अनुसार जीव की सद्गति और दुर्गति उसकी खुद की परिणति और उपार्जित शुभाशुभ कर्म के अनुसार होती है। पृथ्वी अथवा गोबर उसमें कारण नही बनता। जो लोग उस मरणासन्न व्यक्ति को धर्म सुना कर परिणामो को उज्ज्वल नही कर के, उसे पृथ्वी पर लेने की क्रिया करते है, वे उसे अधिक दुखी करते है। वे उसके दु ख के कारण बन कर हिंसा के पाप से बँधते है और उस व्यक्ति के अशुभ परिणाम के निमित्त भी बनते है।

मृत्यु के बाद स्वजनादि का फर्जियात रुदन भी त्याज्य है। यदि कोई फर्जियात रुदन नही करता है, तो कहा जाता है कि इसने 'धर्म दाढ' (दहाड मार कर रोना) नही दी। पता नही इस रोने में धर्म कहा से घुस गया ? किंतु दूसरो का यह सिद्धात जैनियो ने भी अपना लिया और इसमें

बहुतों का तो आत्मीयता बताने के लिए, ऊँचे आवाज से, सम्बन्ध बताकर रोना पड़ता है। यह फजियात रदम भी त्यागनीय है।

मृत्यु के बाद शव के अग्नि संस्कार के सिवाय और कोई क्रिया शेष नहीं रहती। इसके बाद उस दिन नहीं तो दूसरे या अधिक से अधिक तीसरे दिन शोक हटा कर साधारण स्थिति में आ ही जाना चाहिए। 'उठावने' का अर्थ भी शोक निवृत्ति ही होना चाहिए। किंतु अजैन संस्कारों के प्रभाव से जैन समाज भी कई प्रसंगों का शिकार बन गया। कई प्रान्तों में जैनी लोग भी दूसरों की तरह मृतक व्यक्ति के लिए घर के बाहर—आम रास्ते पर खीर और बाटी या चपाती बना कर स्मशान भूमि में ले जाते हैं उसे दाह स्थान पर रखते हैं और ऊपर से पानी भी ढोलते हैं। वे समझते हैं कि ये चीजें मृतक आत्मा को पहुँचती हैं। फिर लगभग बारह दिन तक मृतक के शोक को चालें घर के बाहर कहीं रखते हैं। जाति भोज—मोसर आदि करते हैं और मानते हैं कि मृत्यु के उपरान्त बारह दिन तक मृत आत्मा घर के आस पास चक्कर काटती रहती है और उनका दिया हुआ भोजनादि ग्रहण करती है। ये सब मिथ्या बातें हैं। जैन सिद्धांत कहता है कि मरने के बाद तत्काल आत्मा अपनी गति के अनुसार जहां उत्पन्न होना होता है वहां चली जाती है। पीछे से जो क्रियाएँ की जाती हैं उनका लाभ उसको कुछ भी नहीं मिलता।

साधुओं के शव को रोक रखना

साधु साध्वी के देहान्त के बाद शव को बाहर के गांवों के दर्शनार्थ बहुत लम्बे समय तक रखा जाता है और बड़े ठाठबाट से समारोह पूर्वक अन्तिम क्रिया होती है। देह दहन के लिए शव को लम्बे समय तक रोक रखना भी हिंसा है क्योंकि शव में अन्तर्मुहूर्त में ही सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होने लगती है और दुर्गन्ध पैदा होकर फैलती है। ठाठबाट से शव संस्कार करना मृतात्मा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने को साक रूढ़ि है। परन्तु इसमें भी विवेक होना चाहिए। अनावश्यक और व्यय के आडम्बर में शक्ति का अपव्यय करने के बदले शुभ कार्य किए जावें तो विकार हटकर वास्तविक प्रभावना हो सकती है।

अनुचित प्रत्याख्यान

जैनधर्म मे पापत्याग के प्रत्याख्यान होते है, किन्तु किसी दुखी की सेवा अथवा प्रसूति की परिचर्या के प्रत्याख्यान नही होते । जिस प्रकार दुखी को अनुकम्पा दान और रोगी की दवाई देने के त्याग नही होते, उसी प्रकार प्रसूति की परिचर्या के त्याग भी नही होते । किन्तु वैदिको के प्रभाव के कारण, जैनधर्म की मूर्तिपूजक परम्परा में ऐसे त्याग होने लगे । कई वहिने अपनी वधुओ और पुत्रियोके प्रसव काल के समय तथा कुछ दिन वाद भी उनकी सेवा करने के त्याग कर लेती है । उनकी मान्यता है कि यदि वे उनकी सेवा करेगी, तो उन्हे सूतक लग जायगा और इससे वे दर्शन पूजनादि से वचित रह जायेंगी । हमारी साधुमार्गी समाज मे तो ऐसी बाधा है ही नही । प्रसूति सेवा के बाद वे सामायिकादि कर सकती है । मृतक का अग्नि सस्कार होने के बाद भी सामायिकादि हो सकती है, और ऋतु धर्म के समय भी सामायिक हो सकती है । किंतु ससर्ग दोष के कारण हमारे समाज मे भी कही कही वैसे प्रत्याख्यान होने लगे है । यह भी विकार का ही परिणाम है ।

दूषित तप

साधु और श्रावक की जितनी भी धर्म क्रियाएँ है, वे सब आत्म कल्याण के लिए है-निर्जरा के लिए है, किन्तु 'चुदडी का उपवास' सकट्या तेला, मदनासुन्दरी का आदर्श सामने रखकर 'व्याधिहरण और सुख सम्पत्ति करण=ओली आदि तप, भौतिक स्वार्थ साधना के उद्देश्य से होते है और इस विकार में त्यागी वर्ग भी सहायक होता है । तपस्याएँ हो, किन्तु उसके साथ रही हुई स्वार्थ भावना मिट कर आत्म कल्याण का हेतु ही रहे । इसका ध्यान रखने की आवश्यकता है । ऐसा होने पर ही विकार हट-कर सस्कार शुद्ध हो सकेगे ।

श्रीभरतेश्वर और श्रीकृष्ण तथा अभयकुमार ने भौतिक इच्छा से तप किये थे, किन्तु वे विरति में स्वीकार नही किये । उनके वे पौषध आत्म पोषक नही, किन्तु स्वार्थ पोषक थे । स्वार्थ पोषक तप में त्यागियो अनुमति नही होनी चाहिए और जो विकार घुसे हैं, उन्हें दूर करना चाहिए ।

इस प्रकार हमारे जीवन मे मिथ्यात्व ने गहरा घर कर लिया है । हम जैनी कहलाते हुए भी अपने जीवन में अजैनत्व को खूब अपनाये हुए है । हमें अपनी इस अधम दशा पर शान्ति से विचार करना चाहिए और मिथ्यात्व को सर्वथा निकाल फेंकना चाहिए ।

उपसंहार

हम श्रावक धर्म का भी नियमानुसार पालन करें तो संसार में जिनधर्म की अच्छी प्रभावना हो सकती है। अन्य जीवों को जिन धर्म के प्रति आकर्षित कर सकते हैं। अपना जीवन भी शान्ति से बीतता है। और भावान्तर भी सुधरता है।

इस प्रकार की स्थिति तब बनती है जब कि हम जिनधर्म पर पूर्ण विश्वास रखें। जैनत्व में दूषण लगानेवाली प्रवृत्ति से बचें। अपनी कषायों पर अंकुश लगावें। तृष्णा को बढ़ने नहीं दें। गुणा वादियों की यथा शक्ति सेवा करें और सहिष्णु बनें।

यदि हमारी मनोवृत्ति और कार्य श्रमणोपासक की मर्यादा के अनुसार बन जावेंगे तो हम धर्म प्रभावना भी कर सकेंगे अपनी आत्मा का उत्थान भी कर सकेंगे और अन्य जीवों के लिए मार्गदर्शक एवं हितकारी भी हो सकेंगे।

॥ समणोवासगा सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु खेमङ्करा भवइ ॥

मोक्ष मार्ग

चतुर्थ खण्ड

अनगार धर्म
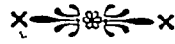
उद्देश्य

अखण्ड शान्ति और शाश्वत सुख की प्राप्ति का ससार में कोई मुख्य मार्ग है, तो एक मात्र अनगार धर्म ही है। अनगार धर्म के द्वारा सरलता पूर्वक मसार वृद्धि के कारणो को रोका जाकर शाश्वत सुख के मार्ग को अपनाया जा सकता है। यद्यपि अगार धर्म भी परमसुख की प्राप्ति का एक साधन है, परन्तु वह परम्पर साधन है—अनन्तर साधन नही है, क्योकि बिना अनगार धर्म के इतनी विशुद्ध साधना नही हो सकती। यदि अगार धर्म ही मोक्ष प्राप्ति का राज मार्ग होता, तो अनगार धर्म की आवश्यकता ही नही रहती। अगारधर्मी—श्रावक यदि जोरदार साधना करे, तो भी वह अधिक से अधिक "अच्युतकल्प=बारहवें देवलोक तक ही जा सकता है। (उववाई सूत्र) अनगार धर्मी के ससार परिभ्रमण के बाह्य कारण नो छूट ही जाते हैं और अभ्यन्तर कारण भी बहुत-कुछ छूट जाते है, जो रहते है, वे भी क्रमश नष्ट होते जाते है। साधुता के धारक को बाह्य प्रवृत्तियों के साथ अन्तर प्रवृत्तियें भी बदलनी पडती है। चतुर्गति रूप ससार में भटकाने वाली जितनी भी प्रवृत्तियां है, उन सब से अपने को हटा कर स्थिर और शान्त बनाने वाली प्रवृत्ति अपनानी पडती है।

जिसे रोग मुक्त होकर नीराग एवं बलवान होना हो उसे सबसे पहले रोग के कारणों से बचना पड़ता है और फिर आरोग्यता के साधनों का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार भव-भ्रमण रूपी महारोग से मुक्त होने के लिए सर्व प्रथम उन कारणों का त्यागना पड़ता है—जो भवभ्रमण के निमित्त हैं। इनके त्याग के बाद उन साधनों का अपनाना पड़ता है—जो पूर्व के लगे हुए कर्म रूप रोग को क्षय करके अखण्ड शान्ति पूर्ण स्थिरता और स्वाधीनता में सहायक होते हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है। त्रिकाल अबाधित और शाश्वत सिद्धांत है।

ससार त्याग

सबसे पहले साधक को अपना साध्य स्थिर करना पड़ता है। उसके बाद साधना निश्चित करनी होती है। वही साधना उत्तम कही जा सकती है जो साधक को साध्य के निकट पहुँचानेवाली हो। यदि साधना करते करते साधक साध्य से दूर होता जाय तो वह साधना नहीं किन्तु बाधना (बाधा) है विराधना है।

निग्रंथों की साधना केवल आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए ही होती है। उनका एक मात्र ध्येय समस्त बन्धनों (पराधीनताओं) से मुक्त होकर—पर भाव से हटकर स्वभाव में स्थिर होना है। वह जन्म जरा और मृत्यु के दुःख रूप ससार से मुक्त होना चाहता है। वह समझता है कि—

यह संसार रूपी समुद्र महान् भयंकर है। इसमें जन्म जरा और मृत्यु रूप महान् दुःखों से भरा हुआ क्षुब्ध और अथाह पानी है। विविध प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल सयोग और वियोग की चिन्ता से इसका विस्तार बहुत ही फैला हुआ है। इस महार्णव में वध बन्धनादि अनेक प्रकार की हिलोरें उठ रही हैं और करुणा जनक शब्द होते हैं। परस्पर की टक्कर अपमान और निन्दा आदि तरंगे हैं। कठिन कर्म रूप बड़ी बड़ी चट्टाने इस महासागर में रही हुई हैं जिनकी टक्कर से जिन्दगी रूपी नावें नष्ट हो जाती हैं। चार कषाय रूपी चार गंभीर पाताल-कलशों से यह समुद्र अति गहन हो गया है। तृष्णा रूपी महान् अन्धकार इसमें छाया हुआ है। माया और तृष्णा रूपी फेन उठते ही रहते हैं। मोहनीय कर्म भोग रूपी भयानक भँवर इस समुद्र में पड़ता है जिसमें पड़कर प्राणी डूब जाता है। प्रमाद और अज्ञान रूपी मगर मच्छ इसमें घूम रहे हैं। अनादिकाल के सताप से कर्मों का गाढ़ और चिकना कीचड़ ऐसा भरा हुआ है कि जिसमें फँसे हुओं का निकलना असभव हो जाता है। इस प्रकार सर्वत्र फैले हुए संसार रूपी महा समुद्र को महा भयानक मानकर भव्य प्राणी निर्ग्रंथ-धर्म रूपी सुदृढ़ जहाज का आश्रय लेकर पार होते हैं। (उववाई सूत्र)

कोई कोई आत्मार्थी सोचते है कि-

"यह शरीर अनित्य है। कितना ही जतन करो-इसका नाश तो होगा ही। अनित्य होने के साथ यह अपवित्र भी है-अशुचिमय है। दुःख और क्लेश का भाजन है। जलमे उत्पन्न हुए बुलबुले की तरह नष्ट होने वाला है। व्याधि और रोगो का घर है और मृत्यु से सदा घिरा हुआ रहता है। जन्म दुःख पूर्वक होना है, रोग और बुढापा भी दुःखमय है और मृत्यु की वेदना तो इनसे भी अधिक दुःखदायक है। इस प्रकार यह ससार दुःख रूपी ही है। सभी प्राणी ससार मे दुःख भुगत रहे है-

"अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो" (उत्तराध्ययन १९)

किसी भव्यात्मा ने ससार को अग्निरूप मानकर सोचा,-

"यह ससार जल रहा है, उसकी ज्वालाएँ फैल रही है। जिस प्रकार जलते हुए घरमें से असार वस्तु छोडकर सार वस्तु निकालने वाला बुद्धिमान है, उसी प्रकार अपनी आत्मा को बचाने वाला समझदार है (भगवती २-१)

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से ससार को दुःख रूप मान कर, निर्वेद की प्रबलता से भव्यात्माएँ ससार का त्याग करती है। उनका लक्ष एक मात्र मोक्ष का ही रहता है। वे ससार रूपी महा भयानक समुद्र पार को करने के लिए धर्म रूपी जहाज में बैठते है। उनके पास ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी महा मूल्यवान् धन होता है। वे जिनेश्वर भगवान् के बताये हुए सम्यक् मार्ग से सीधे सिद्धपुरपाटन (मोक्ष) की ओर वढते ही जाते है (उववाई २१) उनकी प्रवर्जा का एकमात्र कारण आत्म कल्याण ही होता है-**"अत्तत्ताए परिव्वए"** (सूयगडाग अ ३-३ तथा ११) वे आत्मा का उद्धार करने के लिए ही सयम धारण करते है-**"अत्तत्ताए संवुडस्स"** (सूय० २-२) सयमी होने के बाद उनकी प्रवृत्ति सयम के अनुकूल ही होती है। चारित्र पालने में ही उनकी दृष्टि होती है-**"अहीव एगंतदिट्ठी"** (ज्ञाता १) उनका प्रयत्न कर्म बन्धनो को नष्ट करने का ही होता है **"कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिआ"** (उववाई १७) वे निर्दोष आहार पानी लेते है और शरीर को पोषते है, वह भी मोक्ष साधना के लिए ही है। भगवान् ने उनके लिए यही निर्देश किया है, जैसे कि-

"अहो ! जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा (दशवै० ५-१-९२)

इस प्रकार साधु की सारी जिन्दगी, सारे प्रयत्न, सभी क्रियाएँ मोक्ष के लिए ही होती है। उनका उपदेश प्रदान भी मुक्ति की साधना का एक अग होता है (सूय० २-१)

निर्ग्रंथ श्रमण, मोक्ष के लिए ही प्रर्वजित होता है। चक्रवर्ती सम्राटो राजा, महाराजाओ कोटया-

धिपति सेठों सामतों और मामूली व्यक्तियों ने संसार की आधि व्याधि और उपाधि से मुक्त होने के लिए ही दीक्षा ग्रहण की। स्वयं तीर्थंकर भगवान् भी अपने कर्म बन्धनों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रव्रजित होते हैं। भगवान् महावीर के विषय में श्री आचारांग सूत्र श्रु०२ अ १५ में लिखा कि—

"तओणं समणे भगवं महावीरे सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरई।

और भगवान् ऋषभदेवजी के लिए जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में लिखा है कि—

"कम्म संघविग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए विहरई।

यह है अनगार धर्म ग्रहण करने का मुख्य कारण। यदि आत्महित के बिना किसी दूसरे उद्देश्य से दीक्षा ग्रहण की जाय तो वह उद्देश्य ठीक नहीं होता। भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए तो मिथ्या दृष्टि भी उच्च कोटि की क्रिया पाल सकता है किन्तु उद्देश्य ठीक नहीं होने से वह सैद्धान्तिक दृष्टि से अव्रती ही माना जाता है। तात्पर्य यह कि कर्म बन्धनों को काट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही अनगार धर्म की व्यवस्था है।

अनगार की प्रतिज्ञा

जब व्यक्ति अपने कर्म बन्धनों को काट कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही अनगार बनता है तो उसका प्रयत्न भी प्रारम्भ से ही ऐसा हो कि जिससे बन्ध के कारणों से वह बच सके। एक ऋण मुक्त होने वाला कर्जदार सबसे पहले तो यही सावधानी रखता है कि जिससे नया ऋण नहीं हो फिर पुराने कर्ज को उतारने का प्रयत्न करता है। वैद्य भी सबसे पहले रोग बढ़ने के कुपथ्यादि साधनों से रोगी को बचाता है। फिर रोग मुक्त करने का प्रयत्न करता है इसी प्रकार भव रोग से मुक्त होने के लिए—दुःखों से छुटकारा पाने के लिए, अनगार धर्म भी सबसे पहले दुःख के कारणों को रोकता है। अनगार धर्म को दीक्षा लेते समय वह उत्तम आत्मा हृदय के सच्चे और दृढ़ निश्चय के साथ प्रतिज्ञा करती है कि—

"करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं नकरेमि नकारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

उपरोक्त प्रतिज्ञा के द्वारा वह उन सभी पाप क्रियाओ को, जीवन भर के लिए त्याग देता है कि जिनके द्वारा दु ख से भुगता जाय—ऐसा फल निर्माण हो अर्थात् वह दु ख के कारणो को ही रोक देता है। सावद्य—पापमय प्रवृत्ति ही मे दु ख का कारण है। इसका त्याग करके साधक अपनी आत्मा का वर्त्तमान और भविष्य—ये दोनो सुधार लेता है। इसके बाद वह अपने पूर्व के बन्धनो को काटने मे प्रयत्नशील बनता है।

चारित्र की आवश्यकता

मोक्ष मार्ग के चार भेदो में से दो भेदो का वर्णन किया गया। पूर्वोक्त ज्ञान और दर्शन, श्रुतधर्म है। श्रुतधर्म से मात्र ज्ञान और श्रद्धान=विश्वास ही होता है। यद्यपि जीव को नि श्रेयस के लिए सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है, और इनकी तो सर्व प्रथम आवश्यकता है, किन्तु ये ही सब कुछ नही है। केवल जानने और समझने से ही कार्य सिद्ध नही होता। इसके लिए तो आचरण की आव-श्यकता होती है। रोग, रोगोत्पत्ति के कारण और रोग नाश के उपाय जानने के बाद आचरण में लाना पडता है, तभी रोग हट कर आरोग्य लाभ होता है। इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन धर्म के बाद चारित्र धर्म की आवश्यकता है ही। ज्ञान दर्शन मोक्ष प्राप्ति के परम्पर कारण है, तब चारित्र अनन्तर=साक्षात् कारण है। ज्ञान दर्शन के बाद चारित्र की प्राप्ति होगी तभी आत्मा उन्नत होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

जब तक जीव मे चारित्र गुण नही हो, तबतक वह सम्यक्त्वी हो, तो भी "बाल"=समभता हुआ मूर्ख ही है। वह ज्ञानी होते हुए भी आचरण की अपेक्षा बाल है (भगवती ८—२) जब उसमें चारित्र परिणति होती है,तभी वह 'देश पडित' या सर्वपडित (बाल पडित=पचम गुण स्थानी श्रावक और सर्व पण्डित =साधु) होता है। तात्पर्य यह है कि चारित्र परिणति के अभाव में जीव ज्ञानी होते हुए भी बाल ही है, क्योकि ऐसे ज्ञानी और अज्ञानी के चारित्र में कोई अन्तर नही होता। कितने ही ऐसे भी अज्ञानी और मिथ्यात्वी होते है, जिनकी कषाये शान्त रहकर लोक में प्रशसनीय होते है। वे लोक हितैषी होकर नीतिमय जीवन बिताते हुए स्वर्गगामी होते है, और कई ज्ञानी—सम्यग्दृष्टि ऐसे भी होते है, जिनका मनुष्य जीवन उतना उज्ज्वल नही होता और वे चारो गतियो मे जाते है। इसलिए सम्यग्चारित्र की परम आव-श्यकता है। चारित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। यह स्मरण रहे कि जिस प्रकार विना चारित्र के सम्यक्त्व, मुक्तिदाता नही होती, उसी प्रकार विना सम्यक्त्व के चारित्र भी मोक्ष की ओर नही ले जाता। यहाँ उसी चारित्र का वर्णन है जो सम्यक्त्व पूर्वक होता है।

तीन गुप्ति

सयम गुप्ति प्रधान होता है। बिना गुप्ति के सयम हो नहीं सकता। सयमी आत्माओं के लिए गुप्ति की उतनी ही आवश्यकता है जितनी शरीर के लिए जीव की। बिना जीव के शरीर निःसार होता है उसी प्रकार बिना गुप्ति के सयम निःसार होता है। वास्तव में गुप्ति ही सयम है। श्रमण के महाव्रत और ससार त्याग की प्रतिज्ञा भी गुप्ति रूप ही है। बिना प्रवृत्ति के एकान्त निवृत्ति तो चौदहवें गुणस्थान में होती है—जहां मन वचन और काया की सभी प्रवृत्तियें बन्द हो जाती है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ २४ गा २० में मनोगुप्ति का वर्णन करते हुए लिखा कि— सत्या मृषा सत्यामृषा (मिश्र) और असत्यामृषा (व्यवहार) ये चार भेद—मनो गुप्ति के है और गा २२ मे ये ही चार भेद वचन गुप्ति के हैं।

शरीर धारियों के लिए मन वचन और शरीर ये तीन मार्ग ही तो प्रवृत्ति के साधन हैं। चाहे अच्छी हो या बुरी—शुभ हो या अशुभ कोई भी प्रवृत्ति बिना मन वचन अथवा शरीर के हो ही नहीं सकती। बिना त्याग के अविरत प्राणियों के विश्व भर की तमाम प्रवृत्तियें खुली होती हैं। इस प्रकार की असीम प्रवृत्ति के कारण ही जीव विश्वभर में परिभ्रमण करता आ रहा है। जब तक अपनी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं रखा जाता तब तक उसका परिभ्रमण नहीं रुकता जन्ममरण चलता ही रहता है और दुःख परम्परा बढ़ती ही रहती है। विश्व हितंकर जिनेश्वर भगवन्तों ने इस दुःख परम्परा से मुक्त होने का उपाय बताते हुए विरति का उपदेश दिया है और विरति है वह गुप्तिमय ही है। जिस आत्मा ने गुप्ति के द्वारा अपनी रक्षा करली फिर वह चार गति के कारणों से ही बच जाता है अर्थात गुप्ति से रक्षित आत्मा के किसी भी गति के आयुष्य का बध नहीं होता। यदि गुप्ति की उत्कृष्ट साधना नहीं हो सके और जघन्य या मध्यम साधना के चलते आयुष्य का बध हो तो केवल वैमानिक देव का—शुभ ही भोगने योग्य—बंध ही होता है।

गुप्ति एक प्रकार का ऐसा सुदृढ़ किला है—जो भयंकर शत्रुओं से भी अपने आत्म रूपी सम्राट की रक्षा करता है।

यद्यपि महाव्रतों के पूर्ण पालक के ये तीनों गुप्तियां होती हैं (क्योंकि जो महाव्रती है वह गुप्ति वत भी होता है) तथापि महाव्रतों की अपेक्षा गुप्ति में कुछ विशेषता है। महाव्रत तो मुख्यत पांच प्रकार के ही पापों की प्रतिज्ञा करवाते है किन्तु गुप्ति में तो सभी—अठारह पापों से रक्षा हो जाती है। इतना ही नहीं अनावश्यक उठने बैठने बोलने चलने फिरने और खाने की भी रोक होती है। इस प्रकार ससार रूपी समुद्र में गोते खाते हुए जीव की रक्षा करने में गुप्ति पूर्ण रूप से समर्थ है। इसी

लिए इसे (समिति के साथ) माता के समान रक्षिका का पद मिला है। यह प्रवचन की आदि माता है। मोक्ष के महान सुखो की देने वाली महामाया यही है। जो इस महामाया की रक्षा में रहता है वह महान् बलशाली मोहराज को परास्त करके विजयी होता है और मोक्ष के महान् सुखो का स्वामी होता है (उत्तरा २४–२७)

गुप्ति की साधना मे पहले अशुभ प्रवृत्ति की रोक होती है। जिन कार्यों से, जिन वचनो से और जिन विचारो से आत्मा कलुषित हो, हिंसा मृषादि बुरे और सावद्य योगवाला बने, उन सभी प्रवृत्तियो की रोक–गुप्ति की साधना करते समय हो जाती है। यद्यपि आंशिक रूप में गुप्ति की साधना गृहस्थ श्रमणोपासक के भी होती है। वह अमुक अंश में अशुभ प्रवृत्ति से विरत होता है, किन्तु छठे गुणस्थान वर्ती श्रमण को तो सभी प्रकार की पापमय तथा सावद्य प्रवृत्ति से (जिनमें पाप का किंचित् भी अंश हो,) सर्वथा विरत होना ही पडता है। इसीलिए श्री उत्तराध्ययन अ २४ की २६ वी गाथा में यह विधान किया है कि "सभी प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति से मन, वचन और काया से निवृत्त होने के लिए गुप्ति का विधान किया गया है"।

गुप्ति के धारक की क्रोधादि कषाये भी नियन्त्रण मे रहती है। उस पवित्रात्मा की वाणी नपी तुली और गुण वर्धक ही होती है। वह सावद्य वचन नही बोलता और अनावश्यक तथा बिना यतना के एक पाँव भी नही उठाता। गुप्ति के धारक महात्मा, विश्वभर में दौडते हुए अपने मन रूपी महान् वेगवान अल्हड अश्व को, गुप्ति रूपी लगाम लगाकर वश में रखते है (उत्तरा २३) और अपनी आत्मा में ज्ञान ध्यान की ज्योति जगाने मे ही लगे रहते है, जिसे आगमो में "अप्पाण भावेमाणे विहरई" शब्दो से अनेक स्थानो पर लिखा है। ऐसे आत्मभावी पुरुष की आत्म स्थिरता बढती जाती है। वह अपने मन को अनन्त पर वस्तुओ से खीचकर मर्यादा में बाँध लेता है। जितनी पर वस्तुओ से उसकी विरति हुई, उतने प्रमाण में उसकी स्थिरता एवं शान्ति बढी। बढते बढते वह इतनी बढती है और ऐसी सबल हो जाती है कि जिससे कर्मों के बन्धन के समय समय में थर, के थर टूटते जाते है और वह पवित्रात्मा, श्रेणी पर आरूढ होकर, साधक से साध्य बन जाती है (उत्तरा २९) यह है गुप्ति का महत्व।

गृहवास को त्यागकर अनगार बनने वाले श्रमण भगवतो को उसी समय से गुप्ति की साधना करनी पडती है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ २४ मे गुप्ति की साधना इस प्रकार बतलाई है।

१ **मनोगुप्ति**–संरभ, समारभ और आरभ में जाते हुए मन को नियन्त्रण में रक्खे।

संरंभ मन–दूसरो को कष्ट पहुँचाने का विचार करना, दूसरे का अहित हो–इस प्रकार का परिणाम होना–मन संरभ है।

समारंभ–दूसरे को हानि पहुँचाने की तरकीब सोचना, उसके साधनो संबंधी विचार करना अथवा पीडा पहुँचाने के लिए उच्चाटनादि करनेवाला ध्यान करना।

आरम-अन्य को दुःख पहुँचाने या नष्ट कर देने जैसी अधमाधम कोटि की मन की परिणति हो जाना।

इस प्रकार मनकी अशुभ अशुभतर और अशुभतम परिणति की ओर मन को नहीं जाने देना ही मनोगुप्ति है। दूसरे शब्दों में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करना मनोगुप्ति है।

२ वचन गुप्ति-सरंभ समारंभ और आरंभकारी वचन नहीं बोलना।

सरंभ वचन-किसी को कष्ट पहुँचाने का विचार वचन द्वारा प्रकट करना अथवा ऐसी बात कहना जिससे दूसरे को कष्ट देने का आभास होता हो या अपने संकल्प की अभिव्यक्ति होती हो।

समारंभक वचन-किसी को पीड़ा उत्पन्न करने वाला कठोर वचन कहना जैसे मन्त्रों का उच्चारण करना अथवा गाली देना।

आरंभक वचन-ऐसे वचन बोलना कि जिसके कारण किसी का प्राणघात करना पड़े या किसी को मारने आदि की आज्ञा देना। इस प्रकार वचन की अशुभ अशुभतर और अशुभतम प्रवृत्ति का रोकना-वचन गुप्ति है। मिथ्या विकथा का त्याग करना-वचन गुप्ति है।

३ काय गुप्ति-खड़ा होने बैठने उठने सोने लांघने चलने और श्रोत्रादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति में शरीर का सरंभ समारंभ और आरंभ से रोकना-कायगुप्ति है।

संरंभ-किसी को मारने पीटने के लिए तत्पर होना।

समारंभ-मार पीट करना।

आरंभ-प्राण रहित करने का प्रयत्न करना।

शरीर द्वारा किसी भी प्रकार की अयतना नहीं होने देना काय गुप्ति है।

उपरोक्त व्याख्या में हिंसा को मुख्यता दी है किंतु मृषा अदत्त आदि अठारह पापों के विषय में भी इसी तरह समझ लेना चाहिए। मन वचन और शरीर का किसी भी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति का पालन है। यदि हिंसा नहीं करे और झूठ बोले या अदत्त ग्रहण करे तो यह भी गुप्ति का पालन नाम ही होगा। और अपने आत्मा की भाव हिंसा तो होगी ही। अतएव सबका में यही सिद्धांत है कि "मन वचन और शरीर को समस्त प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है।

गुप्ति' का अर्थ करते हुए श्री अभयदेवसूरिने ठाणांग ठा ३ की टीका में लिखा है कि-

"गोपन गुप्ति-मन प्रभृतिनां कुशलानां प्रवर्तन-मकुशलानां च निवर्तन इति।

अर्थात्-गुप्ति का अर्थ गोपन करना-रोकना है। इसमें मन आदि की कुशल-निर्वद्य प्रवृत्ति चालू रहना है और अकुशल-सावद्य प्रवृत्ति को रोक होना है।

जो सम्यग् गुप्त रहेंगे वे संसार समुद्र से अवश्य ही पार होंगे।

पाँच समिति

यद्यपि गुप्ति का महत्व अत्यधिक है, इसका फल भी महान् है, किन्तु बिना समिति के गुप्ति की साधना नहीं हो सकती। गुप्ति निवृत्ति मय है, तो समिति प्रवृत्तिमय है। महान् बलशाली और तीर्थंकर जैसे त्रिलोक पूज्य महर्षि को भी साधक दशा में समिति का सहारा लेना पडा। जबतक शरीर है, मन, वचन और काया के योग है, तबतक सर्वथा गुप्त-एकान्त निवृत्त रहना असभव है। खान-पान हलन-चलन, मन और वाणी का व्यापार तथा आवश्यक वस्तु को लेना देना, और याचनी तथा त्याज्य वस्तु का परठना होना ही है। स्वाध्याय वैयावृत्यादि मे भी योगों की प्रवृत्ति होती ही है। इसलिए शरीरधारी के लिए एकान्त गुप्ति का पालन नही हो सकता। गुप्ति का आत्यतिक पालन चौदहवे गुणस्थान मे होता है जहाँ योगो का सर्वथा निरोध हो जाता है। हमारा भी ध्येय तो उसी अवस्था को प्राप्त कर, अशरीरी, अयोगी, अनाहारी, अक्रिय और अकर्मी होने का है, किंतु वर्तमान में उस ध्येय को रखते हुए भी पूज्य श्रमण वर्ग को समिति का आश्रय लेना ही पडता है। समिति के आश्रय से अशुभ प्रवृत्ति से बचा जा सकता है।

समिति का उपयोग पूर्वक अनुपालन करता हुआ श्रमण, गुप्तिवत माना जाता है। पुरातन आचार्य ने कहा है कि-

"समिओ णियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।
कुसलवइमुईरंतो जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि॥"

(स्थानाग ३ टीका मे उद्धरित गाथा)

भाव यह है कि जहा समिति है वहा गुप्ति तो अवश्य है ही, किंतु जहा गुप्ति है वहा समिति हो भी सकती है और नही भी हो सकती। जिनवाणी का उपदेश अथवा स्वाध्याय करने में निरवद्य वाणी की प्रवृत्ति करता हुआ साधक, वचनगुप्ति का पालक भी है और भाषा समिति का भी। वचन गुप्त इसलिए है कि वह सावद्य वचन प्रवृत्ति से निवृत्त है।

गुप्ति पूर्वक समिति का पालन करता हुआ श्रमण, पवित्रता के साथ सयम का पालन कर सकता है और अपनी आत्मा को हल्की करता हुआ उन्नति साध सकता है।

समिति का अर्थ करते हुए आचार्य अभयदेवसूरिजी ने स्थानाग ५-३ की टीका में लिखा है-

"सम्-एकीभावेनेतिः-प्रवृत्तिः समितिः शोभनैकाग्रपरिणामस्य चेष्टेत्यर्थः"

अर्थात्-शुभ और एकाग्र परिणाम पूर्वक की जाने वाली आगमोक्त प्रवृत्ति को समिति कहते है। समिति पांच है।

१ ईर्या समिति २ भाषा समिति ३ एषणा समिति ४ आदान भाण्ड मात्र निक्षपणा समिति और ५ उच्चार प्रस्रवण सिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति ।

ईर्या समिति

ईर्या का अर्थ— गमन' होता है । समिति पूर्वक गमन करना—ईर्या समिति है । श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानांग ५–३ की टीका में ईर्या समिति के विशेष अर्थ का उद्धरण इस प्रकार दिया है ।

"ईर्यासमितिर्नाम रथशकटयानवाहनाक्रान्तेषु मार्गेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमन कर्त्तव्य इति।

अर्थात्—जो मार्ग रथ गाड़े घाड़े आदि के चलने से प्रासुक–निर्दोष होगया हो उसमें सूर्य किरणों के प्रकाश में युग प्रमाण भूमिको देखते हुए एकाग्रता पूर्वक चलना—ईर्या समिति कहलाती है ।

समिति पूर्वक गमन करना—ईर्या समिति है—किन्तु प्रश्न यह होता है कि 'गमन किस उद्देश से करना । क्या बिना उद्देश्य के यों ही फिरते रहना चाहिए ? नहीं बिना उद्देश के अथवा अप्रशस्त उद्देश से चलना धर्म नहीं है । आगमों में गमन करने के कारण बताये हैं । उत्तराध्ययन अ २४ में लिखा है कि—ज्ञान दर्शन और चारित्र के लिए ईर्या समिति का पालन करे ।

ज्ञान के लिए—वाचना लेने या देने के लिए आना स्वाध्याय करने के लिए एकान्त स्थान में जाना और अन्यत्र रहे हुए बहुश्रुत के पास नूतन ज्ञान प्राप्ति के लिए गमनागमन करना ।

दर्शन के लिए—दर्शन विशुद्धि–वृद्धि अथवा शंका निवारण करने के लिए (परमार्थ संस्तव तथा परमार्थ सेवन के लिए) और श्रद्धा भ्रष्ट तथा कुदर्शनी के संसर्ग से बचने के लिए गमनागमन करना ।

चारित्र के लिए—एक स्थान पर रहने से लोग के साथ बंधन हो जाता है—मोह बढ़ता है और उससे चारित्र की घात होती है इसलिए विहार करना आवश्यक है । शरीर नौका के समान है और जीव है नौका विहारी—नाविक । संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए जीव का शरीर रूपी नौका की अपेक्षा रखनी पड़ती है—भोजन पानी लेना पड़ता है (उत्तरा अ २ –७३) संयमी मुनिराज जो आहार पानी लेते हैं वह चारित्र पालने के लिए लेते हैं (उत्तरा० २६–३३ तथा ज्ञाता २) और आहार के लिए गमनागमन करना हो पड़ता है । आहार करने वाले को उच्चार प्रस्रवण भी होता है अतएव मल त्यागादि के लिए भी गमनागमन करना पड़ता है । संयमी जीवन के ये शारीरिक कार्य भी संयम पूर्वक होते हैं । इनके सिवाय वैयावृत्य के लिए भी गमनागमन होता है । इस प्रकार गमनागमन भी ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना के उद्देश से होता है ।

श्री उत्तराध्ययन अ २५ मे ईर्यासमिति की विधि इस प्रकार बताई है।

जो मार्ग निर्दोष हो–जीवादि से रहित हो, ऐसे सुमार्ग पर सूर्य के प्रकाश में चले। आगे चार * हाथ प्रमाण भूमि, उपयोग पूर्वक देखता हुआ चले, जिससे न तो जीवो की विराधना हो, न खुद की– स्वात्म विराधना हो। चलते समय न तो इन्द्रियो के विषयो की ओर आकर्षित हो, न पाँच प्रकार की स्वाध्याय ही करता जाय। अर्थात् मार्ग चलते हुए कही इधर उधर नही देखता जाय। आकर्षक दृश्यो मे नही उलझे, मनोहर शब्दो मे लुब्ध नही होवे, न सुगन्धादि की अनुकूलता से रुके या अति धीरे और उपयोग शून्य होकर चले, और न प्रतिकूल–अनिष्ट विषयो–दुर्गन्धादि से बचने के लिए जल्दी जल्दी चलने लगे। यद्यपि वाचना, पृच्छादि धर्म के ही कार्य है, तथापि ईर्यासमिति के समय इन्हे भी नही करना चाहिए, क्योकि इससे उपयोग बराबर नही रहने से इस समिति का पालन भली प्रकार से नही हो सकता।

भगवान फरमाते है कि–'हे पुरुष ! तू समिति गुप्तिवत होकर विचर, क्योकि सूक्ष्म जीवो से मार्ग भरे हुए है। (सूय १–२–१–११)

"वर्षा होकर अपकाय हरितकाय और त्रसकाय के जीवो की उत्पत्ति हो जाय, तो गमनागमन बद करके एक ही ग्राम मे रह जाय। यदि वर्षा के चार महीने पूर्ण हो जाने पर और बाद के पन्द्रह दिन बीतने पर भी जीवजन्तु से युक्त मार्ग हो, तो मुनि को विहार नही करना चाहिए और जन्तु रहित सामान्य मार्ग होने पर ही विहार करना चाहिए। (आचाराग २–३–१)

गमनागमन करने के बाद मार्ग दोष निवृत्ति के लिए कायुत्सर्ग किया जाता है। कायुत्सर्ग मे रास्ते चलने लगे हुए दोषो का स्मरण करके मिथ्यादुष्कृत का प्रायश्चित लिया जाता है। मुनि ध्यान में चिन्तन करते है कि 'रास्ते चलते मैंने प्राण, बीज और हरितकाय, को कुचला हो, ओस की बूंदो, कीडी नगरे को, सेवाल=फूलन को, सचित्त जल को मिट्टी को, और मकडी के जाले को कुचला हो, इन जीवो की विराधना की हो, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय वाले जीवो को, सामने आते हुए को रोका हो, धूल आदि से ढक दिया हो, मसल डाला हो, इकट्ठे किये हो, टक्कर लगाकर पीडित किये हों, परितापित किये हो, उन्हे किलामना पहुँचाई हो, त्रास दिया हो, एक स्थान से दूसरे स्थान हटाया हो, और जीव रहित किये हो–मारडाले हो, तो मेरा यह पाप मिथ्या हो जाय"। (आवश्यक सूत्र)

इस प्रकार उपयोग पूर्वक और यतना सहित चलनेवाले मुनिराज को पाप कर्म का बन्ध नही होता (दशवै० अ० ४) ईर्या समिति का सम्यक् रूप से पालन करने वाला श्रमण, काय गुप्ति से युक्त है और जिनाज्ञा का आराधक है।

---

* युगमात्र–चार हाथ प्रमाण आगे भूमि देखते हुए चलना–ऐसा आचाराग २–३–१ में भी लिखा है।

भाषा समिति

आवश्यकता होने पर निर्दोष वचन बोलना 'भाषा समिति' है। श्री अभयदेवसूरिजी ने स्थानांग टीका में इसका पुराना अर्थ इस प्रकार उद्धृत किया है 'भाषासमितिर्नाम हितमितासन्दिग्धार्थ भाषणं' अर्थात्—आवश्यकता होने पर स्व और पर के लिए हितकारी असंदिग्ध (स्पष्ट) अर्थ को बताने वाला उचित भाषण करना—भाषा समिति है।

भाषा समिति युक्त वाणी वचन सुप्रणिधान है। (ठाणांग —२) इसका अर्थ भी वचन—भाषा का एकाग्रता पूर्वक सद्व्यापार है। वाणी का दुरुपयोग—बुरे शब्दों का उच्चारण—वचन दुष्प्रणिधान है। इसका तो त्याग ही होता है। भाषासमिति के पालक को वचन प्रयोग करते समय बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। बिना विचारे बिना समझे बोलने वाले की भाषा समिति सुरक्षित नहीं रहती। वह भगवान् की आज्ञा का विराधक होता है (भगवती १८—७)

साधु का ध्येय तो अभाषक बनने का है फिर वह बोले क्यों? इस शंका का समाधान यह है कि साधु शरीरधारी है इसलिए सर्वथा मौन रहना उसके लिए संभव नहीं है। उसे ज्ञान की आराधना के लिए वाचना देना, रटना, पृच्छा करना, पुनरावृत्ति करना और धर्म सुनाना पड़ता है। उसे दूसरों से वैयावृत्य के लिए, वन्दन के लिए, तथा आहारादि के लिए और मार्ग पृच्छादि कारणों से बोलना पड़ता है। इस प्रकार सकारण उचित मात्रा में स्वपर हितकारी वचन बोलने वाला श्रमण जिनेश्वरों की आज्ञा का आराधक है।

भाषा समिति का पालन करने वाले मुनि को इन आठ दोषों से बचना चाहिए।

१ क्रोध के आवेश में बोलना २ गर्विष्ट होकर बोलना ३ कपट पूर्वक बोलना ४ लोभ से बोलना ५ हँसी करते हुए बोलना ६ भयभीत होकर बोलना अथवा दूसरों को भयभीत करने के लिए बोलना ७ वाचालता—व्यर्थका बकवाद करना—अनावश्यक बोलना और ८ विकथा करना—इन आठ दोषों को टालता हुआ निरवद्य वचन बोले वही भाषा समिति का पालक है। (उत्तरा० २४)

भाषा समिति के पालक को विकथा कभी नहीं करनी चाहिए। वह विकथा सात प्रकार की होती है। यथा—

१ स्त्री कथा—स्त्रियों की पद्मिनी आदि जाति अथवा ब्राह्मण आदि जाति और कुल की विशेषता बताना, रूप यौवन और सुन्दरता की कथा करना और उनके हाव भाव तथा वस्त्राभरणादि का वर्णन करना।

२ भोजन कथा—मिष्टान्न शाक आदि के सुस्वादु बनाने की विधि, रुचिकर भोजन की प्रशंसा और अरुचिकर की निन्दा आदि।

देशकथा-भिन्न भिन्न देशो के रहन सहन, खान पान, बोलचाल, रीति रिवाज और जलवायु का वर्णन करना, उनके भवन, मन्दिर, तालाव, कूएँ आदि की बाते कहना।

४ राज कथा-राजा के ऋद्धि, सेना, भण्डार और उसके वाहनादि तथा उसकी सवारी आदि का वर्णन करना।

५मृदुकारुणिकी कथा-पुत्रादि के वियोग से दुखी मातादि के करुणाजनक विलाप से भरी हुई कथा कहना। इसमे सभी प्रकार के इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग से उत्पन्न, शोक से होने वाले विलाप की कथा सम्मिलित है।

६ दर्शन भेदिनी कथा-इस प्रकार की बाते कहना कि जिससे सम्यग्दर्शन का भेद होता हो -सम्यक्त्व में दोष लगता हो अथवा पतन होता हो। जैसे--किसी प्रकार की अतिशय सम्पन्नता के कारण कुतीर्थी की प्रशसा करना। इस प्रकार की कथा से श्रोताओ की श्रद्धा पलट सकती है।

७ चारित्र भेदिनी कथा-जिस कथा से चारित्र के प्रति उपेक्षा हो-चारित्र की परिणति कम हो, वैसी चारित्र की निन्दा करने वाली कथा कहना। जैसे कि "इस पचम काल मे सयय का पालन नही हो सकता। महाव्रतो का पालन इस जमाने मे कोई कर ही नही सकता, क्योकि अभी सभी साधु प्रमादी हो गए है। इस जमाने में ज्ञान और दर्शन के बल पर ही यह तीर्थ चल रहा है।" इस प्रकार की बातो के प्रभाव से, जो साधु चारित्र परिणति वाले है-उनमें भी शिथिलता आ सकती है। इस प्रकार की विकथाएँ नही करनी चाहिए (ठाणाग ७)

भाषा समिति के पालक को नीचे लिखे नियमो का पालन करते रहना चाहिए।

"यदि कोई बात सत्य होते हुए भी कठोर हो, दूसरो के लिए पीडाकारी हो, आघात करने वाली हो, तो ऐसी भाषा नही बोले" (दशवैका० ७-११)

अपने या दूसरो के हित के लिए (परोपकार के लिए भी) सावद्य भाषा (जिसमें पाप का अश भी रहा हुआ हो) नही बोले।" (दशवै० ७-११ तथा उत्तरा० १-२५)

जो असयमी (गृहस्थ अथवा अन्य तीर्थी) है, उसे "आओ, जाओ, बैठो, अमुक काम करो"-ऐसा नही कहे। असाधु को साधु नही कहे, किन्तु साधु को ही साधु कहे। (दशवै० ७-४७, ४८)

"शीत, ताप आदि से पीडित होकर वायु, वर्षा, ठड और गर्मी तथा रोगादि की उपशान्ति कब होगी? धान्य की अच्छी फसल कब होगी? कब सुख शान्ति वर्तेगी? इस प्रकार की भाषा भी नही बोले (दशवै० ७-५१)

"सावद्य कार्यों का अनुमोदन करने वाली भाषा नही बोले। जिन वचनो से दूसरो का उप-घात होता हो, वैसे वचन भी नही बोले। और क्रोधादि कषायो को उभाडने वाली तथा हसी मजाक की बाते नही कहे।" (दश० ७-५४)

आँखों देखी परिमित शब्दों वाली सन्देह रहित अर्थ को स्पष्ट बताने वाली प्रकरण के अनुकूल उद्वेग नहीं करने वाली और मधुर लगन वाली भाषा बोले। (दशवै० ८–४९)

नक्षत्र फल स्वप्न फल योग निमित्त मन्त्र और औषधि आदि गृहस्थों को नहीं बताये।
(दशवै ८–५१)

'निश्चय कारिणि भाषा नहीं बोले' (उत्तरा० १–२४)

जो बातें निश्चित ह जैसे कि पाप के फल दु ख दायक हैं त्याग सुख दायक होता है मिथ्यात्व अविरति प्रमाद आदि त्यागने योग्य है। सयम पालने योग्य है। सम्यक तप से कर्मों की निर्जरा होती ह। सवर निर्जरा और मोक्ष एकान्त उपादेय है। मोक्ष में शाश्वत सुख है। मुक्त हो जान पर फिर जन्म मरण नहीं होता' –ऐसी बातें तो निश्चित रूप से कही जा सकती है किन्तु जिन विषयों में वक्ता का निश्चय नहीं हो पाया हो उन विषयों में निश्चयात्मक भाषा बोलना निषिद्ध है क्योंकि उसमें असत्य की सभावना है। (आचारांग २–४–१ तथा सूयग० २–५)

साधु वसी भाषा भी नहीं बोले–जो पाप प्रवृत्तिवाली–सावद्य हो नि दाजनक कर्कश धमकी से भरी हुई और किसी के गुप्त मर्म को खोलने वाली हो–भले ही वह सत्य हो (आचारांग २–४–१ तथा बृहत्कल्प उ ६)

'वचन का बाण लोह के शूल से भी अधिक दु ख दायक होता है। वह बहुत समय तक दुख देता रहता है और वैर को बढ़ाने वाला तथा कुगति में डालने वाला ह .. जो साधु किसी की निन्दा नहीं करता दु खदायक भाषा नहीं बोलता और निश्चयकारी वाणी नहीं बोलता वही पूज्य है।
(दशवै० ९–३)

'साधु, बहुत देखता है और बहुत सुनता है किन्तु वे देखी और सुनी हुई सभी बात कहने की नही होती। (दशवै० ८–२० २१)

यदि कोई पूछे कि 'दान शाला खोलने में पुण्य होता है या नहीं' तो साधु 'पुण्य है या पुण्य नहीं है –ऐसा नही कहे क्योंकि पुण्य है–ऐसा कहने से दान सामग्री के उत्पादन में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसलिए पुण्य है–ऐसा नहीं कहे और पुण्य नहीं है –एसा कहने से पाने वाले का अन्तराय लगती है। जो एसे दान की प्रशंसा करते है वे जीवों की घात के इच्छुक है और जो निषेध करते हैं–वे पाने वाले की वृत्ति का छेदन करने वाले है। इसलिए दोनों प्रकार की भाषा नहीं बोले। (सूयग० १–११)

चोर पारदारिक और हिंसक जीव 'वध्य है या नहीं'–ऐसी भाषा भी साधु नहीं बोले।
(सूय० २–५–३०)

"साधु एसे ही वचन बोले कि जिनसे मोक्ष मार्ग में वृद्धि हो–"संति मग्गं च वूहए"
(सूय०२–५–३२)

एषणा समिति

सयमी जीवन चलाने के लिए आहारादि साधन भी निर्दोषता पूर्वक ही प्राप्त करने होते हैं। क्योंकि साधु "परदत्त भोई हैं" (आचाराग २-७-१) उन्हे आवश्यक वस्तु याचना कर के ही लेनी पडती है। (उत्तरा० २-२८) जिनागमो में वे सारे नियम और विधिविधान उपस्थित है, जिनकी सयमी जीवन मे आवश्यकता होती है। ये विधिविधान इतने निर्दोष है कि जिससे किञ्चित् भी दूषण नही हो। एषणा समिति, वस्तु की याचना और उपभोग मे लाने की निर्दोष रीति बतलाती है। शरीर के साथ तेजस् की ऐसी भट्टी (जठर) लगी हुई है कि जिसकी पूर्ति के लिए आहार पानी लेना ही पडता है। इस भट्टी का 'क्षुधा वेदनीय कर्म' से गठबन्धन है। यदि भोजन पानी में किञ्चित् विलम्ब हुआ तो व्याकुलता बढजाती है। समता, शान्ति और ज्ञान ध्यान में बाधा पडने लगती है। इस-लिए भोजन पानी आदि की आवश्यकता होती है। कर्म निर्जरा के लिए तप किया जाता है और करना आवश्यक है, किन्तु वह भी वहा तक ही कि जहा तक ज्ञान ध्यानादि में अन्तरायभूत नही हो, आत्मा मे शान्ति बनी रहे।

यो तो भूख की भट्टी सभी ससारी प्राणियो के साथ लगी हुई है, और सभी जीव आहार प्राप्ति में प्रयत्नशील रहते है, किन्तु जैन श्रमण की उन्नत आत्मा, धर्म को भूख की भट्टी मे नही झोकती। वह अपने नियमो के अनुसार ही क्षुधा शान्त करने का प्रयत्न करती है। निर्ग्रंथ मुनि, मरना मन्जूर करलेगा, किन्तु भूख के लिए अपने धर्म को दाव पर नही लगाय गा।

आहार क्यों करते हैं?

आहार करने के निम्न छ कारण श्री ठाणाग ६ में तथा उत्तराध्ययन अ २६ गा० ३३ में इस प्रकार बताये है।

(१) क्षुधा वेदनीय = भूख को मिटाने के लिए, जिससे कि आकुलता नही होकर शान्ति बनी रहे।

(२) गुरुजन, तपस्वी और रोगी आदि साधुओ की वैयावृत्य = सेवा के लिए।

(३) ईर्या समिति का पालन करने के लिए। शरीर में शक्ति और मनमें शान्ति होगी तो ईर्यासमिति का पालन भली प्रकार हो सकेगा। प्रतिलेखना प्रमार्जना ठीक हो सकेगी।

(४) सयम पालने के लिए—पृथ्वी कायादि सतरह प्रकार का सयम अथवा प्रेक्षा = देखभाल-कर वस्तु लेने रखने में यतना पूर्वक वर्तने या सयमी जीवन पालन के लिए।

(५) अपने प्राणों की रक्षा के लिए।

(६) धर्म चिन्तन के लिए—आर्त ध्यान को टाल कर धर्म ध्यान में शान्ति पूर्वक लग रहने के लिए।

उपरोक्त छः कारणों से निग्रन्थ मुनि आहार करते है। आचारांग १—३—३ में लिखा है कि 'संयम निर्वाह के उपयुक्त आहार करे—"आया मायाइ आसए, तथा सूयगडांग सूत्र अ ७ गा० २९ में लिखा है कि मुनि संयम की रक्षा के लिए आहार करे "भारस्स जाता मुणि भुजएज्जा' दशवैकालिक ५—१—९२ में लिखा कि 'संयम पाल कर मोक्ष जाने के लिए ही आहारादि से शरीर टिकाने का भगवान् महावीर प्रभु ने निर्देश किया है। साधु आहार तो करते हैं किन्तु आहार करना ही चाहिए'—ऐसा उनका नियम नहीं है। वे आहार करते हैं उसी प्रकार आहार छोड़ना भी जानते हैं। उनके आहार त्याग के निम्न छः कारण उत्तराध्ययन में इसके बाद ही बतलाए हैं।

(१) रोगोत्पत्ति हो जाने पर।

(२) उपसर्ग—संकट उपस्थित होने पर।

(३) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए। मानसिक अथवा इन्द्रिय संबंधी विकार उत्पन्न होने पर आहार छोड़कर तप करना जिससे तप की अग्नि में विकार भस्म हो जाय।

(४) जीवों की रक्षा के लिए। मार्ग आदि में जीव की उत्पत्ति हो मार्ग जीवाच्छादित हो वर्षा हो रही हो इत्यादि कारणों से जीवों की रक्षा के हेतु—महाव्रत एवं संयम की रक्षा के लिए आहार छोड़ना पड़ता।

(५) तप करने के लिए। यों तो हमारे पूज्य मुनिराज हमेशा तप करते रहते हैं। (दशवै० ६—२३) नमुक्कारसी आदि तथा उणोदरी आदि तप करते रहते हैं किन्तु जब वे कर्मों की विशेष निर्जरा के लिए तत्पर हो जाते हैं तो उनकी हिम्मत अथाह हो जाती है। वे महीनों तक भोजन का त्याग कर देते हैं।

(६) शरीर त्यागने के लिए—जब शरीर त्याग करना हो तो अन्त समय की संलेखना करने के लिए आहार का त्याग किया जाता है। शरीर का त्याग या तो धर्म रक्षा = महाव्रतादि की रक्षा के लिए होता है या फिर शरीर की शक्ति अत्यंत क्षीण हो जाने से और मृत्यु समय निकट आ जाने से किया जाता है। इस प्रकार आहारादि त्याग कर किया हुआ तप ही धर्म—मय तप होता है।

निर्दोष आहार विधि

जैन श्रमणो की आहार विधि इतनी निर्दोष होती है कि जिसमे हजारो की सख्या मे होते हुए भी वे श्रमण किसी पर भर रूप नही होते और उनके खाने पीने का खर्चा किसी के लिए खटकने जैसा नही होता। इस पवित्र श्रमण सस्था के नियम कितने पवित्र है, जरा देखिये तो–

'जिस प्रकार भ्रमर पुष्पो से थोडा थोडा रस लेकर अपनी तृप्ति करता है और उससे पुष्प को किसी प्रकार का कष्ट नही होता, उसी प्रकार साधु भी गृहस्थो से थोडा थोडा आहार लेवे, जिससे गृहस्थ को किसी प्रकार का कष्ट नही हो और उसकी भी पूर्ति हो जाय।" (दशवै० १)

निर्दोष भिक्षाचरी को 'माधुकरी' भी कहते है, माधुकरी का अर्थ है 'भ्रमर के समान निर्दोष वृत्ति।' इसका प्रख्यात नाम 'गोचरी' भी है, गाय चरती है तो वह घास को जड से नही उखाड लेती, वह इतना ही तोडती है कि जिससे घास नष्ट नही होता और उसकी वृद्धि मे भी रुकावट नही होती। 'गधा' तो उसे जड से ही उखाड कर नष्ट कर देता है। गधे की अपेक्षा गाय का चरना सुन्दर है, फिर भी गाय के खाने से घास को किलामना अवश्य होती है, उसकी हिंसा होती ही है, किंतु श्रमण की गोचरी में किंचित् भी हिंसा नही होती। किसी का भी दुःख नही होता। दाता बडे आदर और भक्ति भाव से–प्रशस्त भावो से, शुद्ध आहार देता है और श्रमण भी तभी लेते है जब कि वह आहार शुद्ध हो और दाता देने का अधिकारी हो तथा बिना किसी दबाव के खुशी से देता हो। ऐसे दान की तुलना पूर्ण रूप से किसी भी वृत्ति से नही की जाती।

एषणा समिति के तीन भेद

१ गवेषणैषणा–शुद्ध आहारादि की खोज करना।

२ ग्रहणैषणा–निर्दोष आहारादि ग्रहण करना।

३ परिभोगैषणा–उपभोग करते समय के दोषो को टालना, इसका दूसरा नाम 'ग्रासैषणा" भी है।

उपरोक्त तीनो प्रकार की एषणा का पालन तभी होता है जब की इसमें लगने वाले दोषो को टाला जाय। आहारादि के उद्गम आदि ४७ दोष प्रसिद्ध है और पूर्वाचार्यो ने पिण्डनिर्युक्ति आदि अनेक ग्रथो मे एक ही स्थान पर वर्णन किये है। ये दोष आगमो के मूल पाठ मे भी वर्णित है, किन्तु एक स्थान पर सभी नही मिलते। यहा हम उन दोषो को आगमो के आधार से उपस्थित करते है। आहारादि की प्राप्ति मे टालने योग्य दोष कौन कौन से है, इस पर विचार करने पर निर्ग्रंथो की जीवन चर्या की पवित्रता समझ मे आसकेगी।

उद्‌गम के १६ दोष

१ आधाकर्म०—किसी साधु के निमित्त से आहार आदि बना कर देना (आचारांग २–१–२ तथा दशा० ७)

२ उद्देशिक×—जिस साधु के लिए आहारादि बना है उसके लिए तो वह आधाकर्मी है किन्तु दूसरे के लिए वह उद्देशिक है। ऐसे आहार को दूसरे साधु से अथवा अन्य याचकों के लिए बनाये हुए आहार में से या फिर अपने लिए बनते हुए आहार में साधर्मों के लिए भी सामग्री मिलाकर बनाया हो ऐसे आहार में से देना। (दशव० ५–१–५५ तथा आचा० २–१–१)

३ पूतिकर्म—शुद्ध आहार में आधाकर्मी आदि दूषित आहार का कुछ अंश मिलाना—पूतिकर्म —पूतिकर्म है (दशव० ५–१–५५ तथा सूत्रकृतांग १–१–३ –१)

४ मिश्रजात—अपने और साधुओं —याचकों के लिए एक साथ बनाया हुआ आहार। इसके तीन भेद है—१ यावदर्थिक—अपने और याचकों के लिए बनाया हुआ। २ पाखण्डमिश्र—अपने और अन्य साधु सन्यासियों के लिए बनाया हुआ तथा ३ साधु मिश्र—अपने और साधर्मों के लिए बनाया हुआ (प्रश्नव्या० २–५ भगव० ६–३३)

५ स्थापना—साधु को देने के लिए अलग रख छोड़ना (प्रश्नव्या २–५)

६ पाहुडिया—साधु को अच्छा आहार देने के लिए मेहमान अथवा मेहमानदारी के समय को आगे पीछे करे (प्रश्नव्या० २–५)

७ प्रादुष्करण—अंधेरे में रक्खी हुई वस्तु को प्रकाश में लाकर देना अथवा अंधेरे स्थान को खिड़की आदि खोलकर प्रकाशित करके देना (प्रश्नव्या० २–५)

८ क्रीत—साधु के लिए खरीद कर देना (दशव० ५–१–५५ आचा० २–१–१)

९ प्रामीत्य—उधार लेकर साधु को देना (   )

१० परिवर्तित—साधु के लिए अदला—बदल बदल करके ली हुई वस्तु देना।

(निशीथ उ० १४–१८–१६)

---

० यह दोष चार प्रकार से लगता है—१ आधाकर्मी आहारादि सेवन करने से २ आधाकर्मी के लिए निमन्त्रण स्वीकार करने से ३ आधाकर्मी आहारादि करने वालों के साथ रहने और ४ आधाकर्मी आहारादि करने वालों की प्रशंसा करने से।

× इसके भी उद्दिष्ट कृत और कर्म यों तीन भेद हैं तथा प्रत्येक के उद्देश समुद्देश और आदेश यों तीन तीन भेद हैं।

११ अभिहृत—साधु के लिए वस्तु को अन्यत्र लेजा कर अथवा साधु के सामने लेजा कर देना।
(दशवै० ३—२ आचा० २—१—१)

१२ उद्भिन्न--वर्तन में रख कर लेप आदि लगा कर बद की हुई वस्तु को साधु के लिए खोल कर देवे (दशवै ५—१—४५ आचा २—१—७)

१३ मालापहृत--ऊँचे माल पर, नीचे भूमिगृह मे तथा तिरछे ऐसी जगह वस्तु रखी हो कि जहा से सरलता से नहीं ली जा सके, और उसे लेने के लिए निसरणी आदि पर चढना पडे, तो ऐसी वस्तु प्राप्त करना मालापहृत दोष है (दशवै० ५--१--६७ आचा० २--१--७)

१४ अच्छेद्य--निर्बल अथवा अधीनस्थ से छीन कर देना (आचाराग २--१--१ दशा० २)

१५ अनिसृष्ठ--भागीदारी की वस्तु किसी भागीदार की बिना इच्छा के दी जाय।
(दशवै० ५--१--३७)

१६ अध्यवपूरक--साधुओ का ग्राम मे आगमन सुनकर बनते हुए भोजन मे कुछ सामग्री बढाना।
(दशवै० ५--१--५५)

उद्गम के ये सोलह दोष, गृहस्थ—दाता से लगते है। श्रमण का कर्त्तव्य है कि वह गवेषणा करते समय उपरोक्त दोषो को नही लगने देने का ध्यान रखे।

उत्पादन के १६ दोष

निम्न लिखित सोलह दोष, साधु के द्वारा लगाये जाते है। ये दोष निशीथसूत्र के १३ वे उद्देशे में लिखे है और कुछ दोष अन्यत्र भी कही कही मिलते है।

१ धात्रीकर्म--बच्चे की साल मभाल करके आहार प्राप्त करना अथवा किसी के यहा धाय की नियुक्ति करवा कर आहार लेना।

२ दूती कर्म—एक का सन्देश दूसरे को पहुँचा कर आहार लेना।

३ निमित्त—भूत भविष्य और वर्तमान के शुभाशुभ निमित्त वता कर लेना।

४ अजीव—अपनी जाति अथवा कुल आदि बता कर लेना।

५ वनीपक—दीनता प्रकट कर के लेना।

६ चिकित्सा--औपधी कर के या वता कर लेना।

७ क्रोध--क्रोध करके अथवा शाप देने का भय वता कर लेना।

८ मान—अभिमान पूर्वक--अपना प्रभाव वता कर लेना।

९ माया—कपट का सेवन—वंचना करके लेना ।

१० लाभ—लोलुपता से अच्छी वस्तु अधिक लेना उसके लिए इधर उधर गवेषणा करना ।

११ पूर्वपश्चात् संस्तव—आहारादि लेने के पूर्व या बाद में दाता की प्रशंसा करना ।

१२ विद्या—चमत्कारिक विद्या का प्रयोग करके अथवा विद्या—देवी की साधना करके उसके प्रयोग से वस्तु प्राप्त करना ।

१ मन्त्र—मन्त्र प्रयोग से आश्चर्य उत्पन्न करके लेना ।

१४ चूर्ण—चमत्कारिक चूर्ण का प्रयोग करके लेना ।

१५ योग—योग के चमत्कार अथवा सिद्धियाँ बता कर लेना ।

१६ मूल कर्म—गर्भ स्तंभन गर्भाधान अथवा गर्भपात जैसे पापकारी औषधादि बताकर प्राप्त करना ।(प्रश्नव्या० १—२ तथा २—१)

ये सोलह दोष साधु से लगते हैं। ऐसे दोषों के सेवन करने वाले का संयम सुरक्षित नहीं रहता। सुसाधु इन दोषों से दूर ही रहते हैं। उद्गम और उत्पादन के कुल ३२ दोषों का समावेश 'गवेषणषणा' में है।

एषणा के १० दोष

नीचे लिखे दस दोष साधु और गृहस्थ दोनों से लगते हैं। ये ग्रहणैषणा के दोष हैं।

१ शंकित—दोष की शंका होने पर लेना (दशवै० ५—१—४४ आचा० २—१ —२)

२ म्रक्षित—देते समय हाथ आहार या भाजन का सचित्त पानी आदि से युक्त होना अथवा संघट्टा होना (दशवै ५—१— ३)

३ निक्षिप्त—सचित्त वस्तु पर रखी हुई अचित्त वस्तु देना (दशवै ५—१—३)

४ पिहित—सचित्त वस्तु से ढकी हुई अचित्त वस्तु देना (उपाश—१)

५ साहरिय—जिस पात्र में दूषित वस्तु पड़ी हो उसमें से दूषित वस्तु को अलग करके उसी बरतन से देना(दशवै ५—१— ०)

६ दायग—जो दान देने के लिए अयोग्य है ऐसे बालक अंध गर्भवती आदि के हाथ से बिना अशुद्ध दायक से लेना कल्पनीय नहीं है। दशवै ५—१—४ से)

७ उन्मिश्र—मिश्र—कुछ कच्चा और कुछ पका अथवा सचित्त अचित्त मिश्रित अथवा सचित्त या मिश्र के साथ मिला हुआ अचित्त आहार लेना (दशवै ३—६)

८ अपरिणत—जिसमें शस्त्र पूर्ण रूप से परिणत न हुआ हो—जो पूर्ण रूप से पका नही हो, उसे लेना (दशवै ५—२—२३)

९ लिप्त—जिस वस्तु के लेने से हाथ या पात्र मे लेप लगे, जैसे दही आदि अथवा तुरत की लीपी हुई गीली भूमि को लाघते हुए देवे तो (दशवै ५—१—२१)

१० छर्दित—जिसके छीटे नीचे गिरते हो, ऐसी दाल आदि को टपकाते हुए देवे तो।
(प्रश्नव्या० २—५)

उपरोक्त दस दोष साधु और गृहस्थ दोनो से लगते है।

परिभोगैषणा के ५ दोष

१ सयोजना—स्वाद बढाने के लिए एक वस्तु मे दूसरी वस्तु मिलाना, जैसे—दूध में शकर।
(भगवती ७—१)

२ अप्रमाण—प्रमाण से अधिक आहार करना। ,, ,,

३ अगार—निर्दोष आहार को भी लोलुपता सहित खाना, रस गृद्ध होना। लोलुपता सयम मे आग लगाने वाली होती है। ,, ,,

४ धूम दोष—स्वाद रहित—अरुचि कर आहार की या दाता की निन्दा करते हुए खाना। इसमे सयम धूमित हो जाता है। ,, ,,

५ अकारण—आहार करने के छ कारण उत्तराध्ययन अ २६ गा ३३ मे बताये है, उनमे से कोई भी कारण नही होने पर भी स्वाद अथवा पुष्टि आदि के लिए आहार करना। ज्ञानादि की आराधना के लिए आहार करना विहित है, लोलुपता या शारीरिक बल बढाने के लिए नही (ज्ञाता २)

उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १० और परिभोगैषणा (मांडले) के ५, यों ४७ दोष हुए। इन सेतालीस दोषो को हटा कर जो शुद्ध आहार करते है, वे जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा के आराधक है।

उपरोक्त ४७ दोषो के सिवाय भी आगमो मे अन्य कई दोषो का वर्णन है। यहा वे भी यथा मति दिये जा रहे है।

४८ दानार्थ—दान के लिए निकाले हुए आहार को लेवे, तो दोष लगे (दशवै ५—१—४७)

४९ पुण्यार्थ—मृत के नाम पर अथवा और किसी निमित्त, से पुण्य के लिए निकाले हुए मे से लेवे तो दोष लगे (दशवै० ५—१—४९)

५० वनीपक—गरीब भिखारियों को देने की वस्तु में से लेवे तो (५—१—५१)

५१—श्रमणार्थ—सन्यासी जोगी, बौद्ध—भिक्षु आदि के लिए बने हुए में से ले तो (दश० ५—१—५१)

५२ नियाग—आमन्त्रण पा कर वहाँ का आहार लेना तथा नित्य एक घर से आहार लेवे तो

(दशवै० ३—२ आचा०२—१—)

५३ शय्यातर पिण्ड—स्थान देने वाले के यहां से आहारादि लेवे तो (दशव ३—५ तथा वृह २)

५४ राजपिण्ड—राजा या ठाकुर के भोजनादि में से लेवे तो (दशव ३—३)

५५ किमिच्छक—दानशाला—जहाँ याचक को उसकी जरूरत पूछ कर उसकी इच्छानुसार दिया जाय

(दशवै ३—३)

५६ संघट्ट—सचित्त का संघट्टा करते हुए दे तो (दशवै० ५—१—६१)

५७ बहुउज्झिए—जिसमें खाने का थोड़ा और फेंकने का बहुत हो—एसी वस्तु (दशवै ५—१—७४)

५८ नीच कुल—दुगञ्छनीय कुल—जिनके आचार विचार अत्यन्त हीन और लोक में निन्दित हो उनके यहाँ से लेवे तो। (निशीथ उ १६)

५९ वर्जित घर—जिसने मना कर दिया हो उसके घर से लेवे तो।

६० अविश्वसनीय घर—जिसका विश्वास नहीं हो उसके घर से लेवे तो।

६१ पूर्व कर्म—देने के पूर्व सचित्त जल से हाथ या पात्रादि धोकर दे तो। (दशवै ५—१—३२)

६२ पश्चात् कर्म—देने के बाद हाथ आदि धोवे या अन्य प्रकार से दोष लगाने की संभावना हो तो वह पश्चात् कर्म दोष है (दश ५—१—३५)

६३ मद्यीसी वस्तु—मदिरा आदि (दशवै ५—२—३६)

६४ एलग—बैठे हुए बकरे को लांघ कर या हटा कर आहार लेना (दश० ५—१—२२)

६५ स्वान—कुत्ते को लांघकर या हटा कर आना।

६६ दारग—बच्चे को लांघकर या हटा कर आना।

६७ वच्छक—गाय के बछड़े को लांघकर या हटाकर आवे।

६८ अवगाहक—सचित्त पानी में चलकर आ कर दे (दश ५—१—३१)

६९ चलकर—सचित्त पानी आदि को हटाते हुए लाकर देवे। (दश ५—१—३१)

७० गुर्विणी—जिसका गर्भकाल छः महिने से अधिक का है वह स्त्री आहार देने के लिए उठे या बैठे तो वह आहार दूषित है। (दश ५—१—४०)

७१ स्तनपायी—बालक को स्तन पान कराती हुई स्त्री से लेना (दश ५—१—४२)

७२ नीचा द्वार—जिसका आने और निकलने का द्वार नीचा हो जिसमें आने जाने से दाता या

साधु को लगने की सभावना हो, वहा से लेना (दशवै ५–१–२०)

७३ अन्धकार–अन्धेरे स्थान मे लाकर दे तो ,, ,,

७४ क्षेत्रातिक्रात–सूर्योदय से पूर्व लेकर बाद मे उपभोग करे तो। (भग ७–१)

७५ कालातिक्रान्त–पहले प्रहर का आहार चौथे पहर मे खावे तो काल उल्लघन का दोष लगे। (भग ७–१)

७६ मार्गातिक्रान्त–दो कोस मे आगे ले जाकर आहार पानी करे, तो। ,, ,,

७७ प्रमाणातिक्रान्त–प्रमाण से अधिक आहार करे। ,, ,,

७८ कन्तार भक्त–अटवी मे भिक्षुको के निर्वाह के लिए बना हुआ भोजन भाता (भगवती ५–६)

७९ दुर्भिक्ष भक्त–दुष्काल पीडितो को दिए जाने वाले आहार में से। ,, ,,

८० बद्दली भक्त–वर्षा की झडी लगजाने पर भिक्षुओ के लिए बनाये हुए आहार में से ,, ,,

८१ ग्लान भक्त–रोगी के लिए बने हुए आहार मे से ले तो। ,, ,,

८२ सखडी–जीमनवार में से लेवे (आचाराग २–१–२)

८३ अन्तरायक–गृहस्थ के घर पहले से याचक खडे होते हुए भी भिक्षार्थ जाना और आहारादि लेना (आचा २–१–५)

८४ फुमेज्ज, वीएज्ज–गर्म आहार को फूक या पखे आदि से ठडा करके दे तो ऐसा आहार दूषित है (आचा २–१–७)

८५ रइयग–मोदक के चुरे से पुन मोदक–लड्डु बना कर देवे तो (प्रश्नव्या २–५ भग ५–६)

८६ पर्यवजात–रूपान्तर करके देवे, दही का मट्ठा या रायता या उसी प्रकार अन्य परिवर्त्तन करके देवे। (प्रश्न २–५)

८७ मौखर्य–दाता की प्रशसा करके प्राप्त किया जाने वाला आहार। ,, ,,

८८ स्वय ग्रहण–अपने आप दाता की इच्छा बिना ग्रहण किया हुआ। ,, ,,

८९ पुकारना–हे कोई दाता'! इस प्रकार पुकार पुकार कर याचना करना। (निशीथ ३)

९० पासत्थ भक्त–ढीले पासत्थे कुशीलिए का आहार लेना (निशीथ १५)

९१ अटवी भक्त–वन मे भोजन लेकर गये हुए कठियारे अथवा विहार मे साथ रहे हुए व्यक्ति से भोजन ले तो। (निशीथ १६)

९२ घृणित कुल–जिन लोगो का घृणा जनक आचार विचार है, जिनसे लोग घृणा करते है, वैसे कुलो से आहार ले (, ,, तथा दशवै ५–१)

९३ अग्रपिण्ड–सदैव पहले बनी हुई रोटी लेने या सब के भोजन करने के पूर्व आहार लेने की वृत्ति। (निशीथ २)

९४ सागारिक निश्राय—शय्यान्तर का दिखाया हुआ ले। (निशीथ २)
९५ अन्य तीर्थिक भक्त—अन्य तीर्थी साधु की लाई हुई भिक्षा में स लेना।
९६ रक्खणा—दाता के यहां रखवाली कर के प्राप्त किया हुआ। (प्रश्न २-१)
९७ सासणा—विद्या पढ़ाकर प्राप्त किया हुआ।
९८ निन्दना—दाता की निन्दा करके
९९ तर्जना—दाता की ताड़ना करके
१०० गारव—अपनी जाति आदि का गर्व करके
१०१ मित्रता—अपनी मित्रता बतलाकर
१०२ प्रार्थना—प्रार्थना कर के प्राप्त किया हुआ।
१०३ सेवा—सेवा कर के दाता से
१०४ करुणा—अपनी करुणा जनक स्थिति बता कर लेना।
१०५ ज्ञाति पिण्ड—अपनी जाति और सम्बन्धियों से ही लिया हुआ (उत्तरा १७-१९)
१०६ पाहुण भक्त—मेहमानों के लिए बनाया हुआ। (ठाणांग ९)
१०७ अखण्ड—बिना तोड़ी या पीसी हुई वस्तु का आहार करे। (निशीथ ४)
१ ८ परिसाडीय—बिखरते हुए देवे सो लेना। (दशवै ५-१)
१०९ बरसते हुए पानी धुंअर या पतंग मच्छर आदि अधिक उड़ रहे हों आंधी चल रही हो ऐसे समय भिक्षा के लिए जाय (दशवै ५-१-८)
११० वेश्या के निवास वाले स्थान के निकट (मुहल्ले में) भिक्षार्थ जाय तो (दशवै५-१-९९)

इस प्रकार और भी कई प्रकार के निषेधक नियम आगमों में हैं। उपरोक्त नियमों का भाव पूर्वक उपयोग सहित पालने वालों का जीवन उच्चकोटि का पवित्र होता है। वे हजारों लाखों हों तो भी गृहस्थ पर भार रूप नहीं हो सकते। जो गृहस्थों पर भार रूप हो उसे वास्तविक साधु ही नहीं माना है। सूयगडांग सूत्र १-७-२४ में लिखा कि जो पेट भर स्वाद के वश होकर सरस आहार के लिए बड़े घरों में जाते हैं वे आचारहीन साधुओं के समान (सोवं हिम्म म) भी नहीं हैं। पुन: सूयग १-१०-११ में लिखा है कि जो आधाकर्मी आहार करने की इच्छा करते हैं—ऐसे (कुशीलिन—पासत्थ) का परिचय भी नहीं करे। प्रथम अध्ययन के तीसरे उद्देशे गा १ में तो यहां तक लिखा है कि—आहार में एक कण भी आधाकर्मी हो और वह हजार घर के अन्तर से भी लिया जाय तो ऐसा साधु न तो साधु ही है न गृहस्थ ही (वह रूप से साधु और आचार से गृहस्थ है) निशीथ सूत्र में तो दूषित आहार करने वालों के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। समवायांग २१ तथा दशाश्रुतस्कन्ध २ में सबल (बड़ा भारी) दोष बताया है कि जिससे चारित्र का नाश हो जाता है। भी क्या

नाग सूत्र ३–४ मे लिखा है कि 'जो साधु, विगयो (घृत, तेल, दूध, दही, गुड, शक्कर आदि खाने) मे लोलुप हो, उसे आगम नही पढाना चाहिए–वह सूत्रज्ञान के लिए अयोग्य है"।

परम हितैषी भगवान् फरमाते है कि हे सुश्रमणो ! **"अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए,"**–अर्थात्–थोडा खाओ, थोडा पीओ और थोडा बोलो (सूयग १–८–२५) भोजन करते समय आसक्ति को नष्ट करने–लुब्धता मे बचने के लिए जिस जबडे मे ग्रास चबाया जा रहा है, उसी मे चबाकर गले उतार ले, परन्तु बायें जबडे से दाहिने जबडे मे, या दाहिने से बाये मे–इधर उधर अधिक फिराकर स्वाद लेता हुआ नही खाय" (आचाराग १–८–६) जिस प्रकार सर्प, बिल में बिलकुल सीधा ही प्रवेश करता है उसी प्रकार आत्मार्थी मुनि, रसो में गृद्ध नही होकर आहार को (वह रुचिकर हो या अरुचिकर) निगलले–**"बिलमिव पन्नगभूए"** (सूय २–१ भगवती ७–१)

प्रभु ने निर्ग्रंथो को पाच प्रकार का आहार लेकर साधना को उन्नत बनाने की प्रेरणा दी है। यथा–

१ **अरसाहार**–जिसमे हिंग आदि का सस्कार नही हो, वह स्वाद रहित आहार ।

२ **विरसाहार**–जो रस रहित हो गया हो–पुराने धान्य चावल आदि का ।

३ **अन्ताहार**–तुच्छ हल्का, वाल चने आदि का अथवा खाने के बाद बचा हुआ ।

४ **प्रान्ताहार**–खराब तुच्छ बर्तन मे जमी हुई खुरचन आदि ।

५ **रुक्षाहार**–घृतादि की स्निग्धता से रहित–रूखा आहार (ठाणाग ५–१, प्रश्नव्या २–१, उववाई)

गृहस्थ से आहार प्राप्त करने के बाद भोजन करने की विधि, प्रश्नव्याकरण सूत्र के सवर द्वार के प्रथम अध्ययन मे इस प्रकार बताई है ।

"आहार के लिए गया हुआ साधु, थोडे थोडे आहार की गवेषणा करे । गृद्धता रहित, दीनता रहित, विषाद रहित और खिन्नता रहित होकर सामुदानिक–अनेक घरो से भिक्षा प्राप्त करे । स्थान पर आकर गुरुजनो के समीप, जाने आने सबधी प्रतिक्रमण करे । आहार दिखलावे, फिर गुरु महाराज के निकट या उनके आदेशानुसार अन्य मुनिवर के पास, प्रमाद रहित होकर गोचरी मे लगे हुए दोषो की आलोचना करे । उसके बाद प्रतिक्रमण–कायोत्सर्ग करे, फिर शान्ति पूर्वक बैठकर मुहूर्त मात्र ध्यान करे तथा शुभयोग पूर्वक स्वाध्याय अथवा अनुप्रेक्षा करे (चचलता को नष्ट करने की यह युक्ति है । इससे बहुत निर्जरा होती है) मन में आर्त्तता नही आने देवे और धर्म में स्थिर रखे, समाधि भाव रखे, निर्जरा की भावना से आत्मा को पवित्र रखे । प्रवचन की वत्सलता लिए हुए, वह रत्नाधिक मुनिवरो के पास जाकर उन्हे आहार के लिए निमन्त्रण दे और उन्हे उनकी इच्छानुसार आहार देवे । फिर गुरुजनो की आज्ञा प्राप्त कर उचित स्थान पर बैठ जाय । इसके बाद मस्तक, मुह और हाथ आदि शरीर को अच्छी तरह पूजकर आहार करे । लोलुपता और मूर्च्छा को बिलकुल स्थान नही दे । नीरस

आहार हो तो उस पर अरुचि नहीं लावे। सरस आहार पर प्रीति नहीं करे। आहार करते समय 'चप चप' तथा 'सुसु (चाटने या स्वाद व्यक्त करने की मनस्तर ध्वनि) शब्द नहीं करे। भोजन में न तो शीघ्रता करे न बहुत विलम्ब ही करे। झूठन नहीं गिरावे। भोजन पात्र इतना सकड़ा भी नहीं हो जो भीतर से देखा भी नहीं जा सके। भोजन करने का स्थान भी अन्धकार युक्त नहीं हो। आहार को स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें कोई वस्तु नहीं मिलावे और अच्छे की सराहना तथा बुरे आहार की निन्दा नहीं करे। जिस प्रकार गाड़ी को ठीक तरह से चलाने के लिए उसकी धुरो में तैलादि स्निग्ध वस्तु लगाई जाती है और घाव को आराम करने के लिए उस पर लेप किया जाता है उसी प्रकार साधु भी संयम यात्रा के निर्वाह की भावना से ही आहार करे अर्थात् संयम में सहायभूत हो सके उस प्रकार आहार करे (जो भोजन स्वाद करते हुए—मुग्धता पूर्वक अथवा शरीर वृद्धि आदि पौद्गलिक दृष्टि से किया जाय वह संयम वृद्धि का कारण नहीं होता किन्तु संयम हानि का निमित्त होता है) संयम के भार को वहन करने के लिए और संयमी जीवन चलाने (प्राण धारण करने) के लिए आहार करे। पाठक इस स्थल के मूल पाठ के शब्दों को पढ़ें। वे शब्द ये हैं—

"अक्खोवञ्जणाणु लेवणभूयं, संजमजायामायावत्तियं, संजमभारवहणट्ठयाए भुञ्जेज्जा, पाणधारणट्ठयाए"

इस प्रकार समिति पूर्वक आहार करने वाले श्रमण की धर्मात्मा पवित्र होता है।

निग्रंथ श्रमण जब आहार लेने के लिए निकलते हैं तो दाता की इच्छा अथवा नियम के आधीन नहीं होते किन्तु अपने नियम के अनुसार होने पर ही आहार लेते हैं। सर्वकालिक नियमों के अतिरिक्त उनके अभिग्रह (विशेष नियम) भी होते हैं। आचारांग २-१-११ तथा ठाणांग ७ में पिंडषणा के सात प्रकार बताये हैं। वे इस प्रकार हैं।

१ दाता के हाथ और पात्र किसी वस्तु से लिप्त—भरे हुए नहीं हों तो लेना। इसमें भी साधक मुनि को विश्वास हो जाय कि मुझे आहार देने के बाद दाता हाथ या पात्र को सचित्त जल से धोएगा नहीं तभी लेते हैं।

२ दाता के हाथ और पात्र निर्दोष वस्तु से लिप्त हों तो लेना। इसका मतलब यह नहीं कि हाथ व पात्र झूठे हों। बनाने या परोसने वाले के हाथ तथा बरतन खाद्य वस्तु से लिप्त हुए होते हैं।

३ पकाये हुए बरतन में से बाहर निकाला हुआ आहार लेना। अथवा हाथ लिप्त और पात्र साफ हो तो लेना।

४ निर्लेपना रहित—भूने हुए चने मक्का चावल की भूमि तुष परवल आदि लेना।

५ थाली में परोसा हुआ किन्तु भोजन प्रारंभ नहीं किया उसमें से यदि कोई दाता देने लगे तो लेना।

६ भाजन मे से थाली मे लेने के लिए चम्मच आदि से निकालते हुए देने लगे, तो लेना ।

७ जो आहार फेंकने योग्य हो, जिसे कोई भी भिक्षुक, दरीद्री या पशु आदि लेना नहीं चाहे वैसी बरतन मे जमी हुई खुरचण आदि अथवा अधिक सिक कर कडक बनी हुई रोटी आदि लेना ।

उपरोक्त सात प्रकार के अभिग्रह मे से किसी एक प्रकार का अभिग्रह लेकर गोचरी के लिए निकलते है । इसके सिवा उत्तराध्ययन सूत्र के ३० वे अध्ययन की २२-२३ गाथा मे भी अभिग्रह के कुछ नियम बनाये है । जैसे कि-

"साधु पहले से सोचले कि दाता पुरुष होगा तो लूगा या स्त्री होगा तो लूंगा । अलकार रहित या अलकार सहित होगा तो उससे लूगा । अमुक वर्ण, अमुक वय, अमुक प्रकार के वस्त्र और अमुक प्रकार के भाव प्रदर्शित होगा वही से आहार लूगा । इस प्रकार के अभिग्रह पूर्वक आहार की गवेषणा करने वाले आत्मार्थी निर्ग्रथ भी तपस्वी है ।

उनकी निर्दोष और प्रशस्त आहार विधि के कारण, आगमो मे उन्हे कितने उच्च विशेषणो से सम्बोधित किया है । पाठक, उन विशेषणो को 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र २-१ के मूल पाठ से देखें ।

"उक्खित्तचरएहिं णिक्खित्तचरएहिं, अन्तचरएहिं, पन्तचरएहिं, लूहचरएहिं, समुयाणचरएहिं, अण्णइलाएहिं, मोणचरएहिं, संसट्ठकप्पिएहिं, तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं, उवणिएहिं, सुद्धेसणिएहिं, संखादत्तिएहिं, दिट्ठलाभिएहिं, अदिट्ठलाभिएहिं, पुट्ठलाभिएहिं, आयंबिलिएहिं, पुरिमड्ढिएहिं, एक्कासणिएहिं, णिव्विएहिं, भिण्णपिण्डवाइएहिं, परिमियपिण्डवाइएहिं, अन्ताहारेहिं, पन्ताहारेहिं, अरसाहारेहिं, विरसाहारेहिं, लूहाहारेहिं, तुच्छाहारेहिं, अन्तजीविहिं, पन्तजीविहिं, लूहजीविहिं, तुच्छ-जीविहिं, उवसंतजीविहिं, पसंतजीविहिं, विवित्तजीविहिं, अखिरमहुसप्पिएहिं, अमज्जमंसासिएहिं" । आदि

अर्थात्-वे पवित्र निर्ग्रंथ, पकाने के भाजन से बाहर निकाले हुए आहार को लेने वाले, बरतन में रहे हुए आहार को लेने वाले, खाने के बाद बचे हुए आहार के लेने वाले, हलका आहार करने वाले निसार ऐसे छिलके या खुरचण का आहार करने वाले, रूक्ष आहार करने वाले, सामुदानिक-सभी घरो से आहार लेने वाले, अज्ञात-जिनसे परिचय नही हो ऐसे घरो मे आहार लेने वाले, मौन पूर्वक आहार लेने वाले, जिसके हाथ अथवा पात्र मे अन्न लगा हो उससे आहार लेने वाले, जो आहार लेना है, वही हाथ या पात्र के लगा हो तभी लेने वाले, निकट के घरो से आहार लेने का अभिग्रह करने वाले, शुद्ध आहार लेने वाले, दतियो की सख्या निर्धारित कर तदनुसार आहार लेने वाले, दिखाई देते हुए स्थान से आहार मिले तो लेने वाले, या पहले देखे हुए व्यक्ति से आहार लेने वाले, पहले नही देखे ऐसे व्यक्ति से आहार लेने वाले, पूछने पर ही लेने वाले आयम्बिल तप युक्त आहार लेने वाले, पुरि-मड्ढ, एकासन, निवि, तप युक्त आहार करने वाले, टूटे हुए पिण्ड-रोटी के टुकडे आदि लेने वाले,

परिमित आहार लेने वाले तुच्छ, हल्का रस रहित (बिना बघार का) स्वाद रहित पुराने अन्न का बना हुआ रूखा और सार रहित आहार करने वाले एसे तुच्छ और सार रहित आहार से जीवन यापन वाले जिनकी कषायें उपशांत हैं जिनका जीवन शांति मय है जो एकांत साधना मय जीवन बिताते हैं। क्षीर दूध मधु घृत के त्यागी— एसे मुनिवर पवित्र होते हैं।

गोचरी का समय

साधुओं के लिए साधारणतया दिन के दो प्रहर बीत जाने के बाद गोचरी के लिए निकलने का नियम है। पूर्व काल के साधु सूर्योदय के पश्चात्–प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करने के बाद गोचरी के लिए निकलते थे। समाचारी की विधि बताते हुए उत्तराध्ययन अ २६ गा ३२ में भी लिखा है कि–

"तइयाए पोरिसिए भत्तपाणं गवेसए —अर्थात् दो पहर दिन बीत जाने के बाद तीसरे प्रहर में आहार पानी की गवेषणा करे। वैसे ग्लान वृद्ध और तपस्वी के लिए प्रथम प्रहर में भी गवेषणा की जा सकती है (बृह० उ ४–५) और देश विदेश की रीति के अनुसार काल मर्यादा आममानसार आगे पीछे भी की जा सकती है (दशव ५–२ गा० ४ से ६)

'साधु उतना ही आहार लेवे कि जितने में उसका निर्वाह हो सके और दूसरे को नहीं देना पड़े। (सूयग१०–६–२१)

'गृहस्थ से यदि स्थविर ग्लान आदि के लिए आहार लिया हो तो वह उन्हें ही दे। यदि उनके काम में नहीं आवे तो पुनः गृहस्थ को जाकर कहे। यदि वह आज्ञा दे तो स्वयं काम में लेवे। यदि गृहस्थ नहीं मिले तो उस आहार को परठ दे किन्तु न तो स्वयं खावे और न किसी अन्य साधु आदि को देवे।

(भगवती ८–६)

प्रथम प्रहर में लाया हुआ आहार चौथे प्रहर में नहीं भोगे।
दो कोस उपरान्त आहार नहीं ले जावे। (बृहद्कल्प उ ४)
'अपने गण गच्छवासियों के यहां आहारार्थ जाना हो तो स्थविर की आज्ञा से जावे।

(व्यवहारसूत्र उ १)

"अलोले न रसगिद्धे, जिब्भादन्ते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी॥

(उत्तराध्ययन ३५–१७)

"जो खा पीकर स्वाध्याय मे लीन रहता है, वही भिक्षु है।" (दशवै १०—९)

"जिधर जीमनवार होता हो, उधर गोचरी के लिए नही जाना"। (आचा २—१—२,३,४ तथा बृहद्कल्प १)

"रात को या सध्या को असनादि नही लेना, किन्तु आवश्यक हो, तो दिन को देखे हुए शय्या सथारा ले सकते है। वस्त्र पात्रादि भी रात को नही लेवे, किन्तु वस्त्र पात्रादि चोरी में चले जायँ तो ले सकते है। (बृहद् १)

पानैषणा

आहार में जिन दोषो से बचने के नियम बताये गये है, वे पानी के लिए भी लागू होते है। पानी भी अचित्त और निर्दोष ही होना चाहिए। वह निर्दोष पानी आचाराग २—१—७, ८ के अनुसार निम्न २१ प्रकार का होता है।

१ आटा मसलने के बर्तन आदि का धोया हुआ पानी। २ उबाली हुई भाजी को धोया हुआ पानी ३ चावलो का धोया हुआ पानी ४ तिलो का धोवन ५ तुसो का धोया हुआ ६ जो का धोवन ७ ओसामन ८ छाछ पर से उतारी हुई आछ + ९ गरम पानी (उद्देशा ७) १० आम का पानी ११ अम्बाडे का पानी १२ कवीठ का पानी १३ बिजोरे का १४ दाखो का धोवन १५ अनारो का धोया हुआ पानी १६ खजुरो का १७ नारियलो का धोया हुआ १८ (केर—जो मारवाड में होते है और शाक बनता है ?) १९ बेर का धोया हुआ २० आंवलो का धोवन और २१ इमली का पानी (उद्देश्य ८) इस प्रकार का और भी कोई धोवन हो, तो। २२ गुड के घडे आदि का धोया हुआ पानी (दशवै ५-१-७५) २३ भुस्से का धोवन (निशीथ १७)।

धोवन के विषय में विधान है कि जो धोवन तुरत का तय्यार हुआ हो, जिसका स्वाद और वर्ण नही पलटा हो, उसकी योनी नष्ट नही हो गई हो, तो ऐमा पानी सदोष होता है। इसलिए वह लेने योग्य नही है, किन्तु जिसे बने हुए लम्बा काल हो गया हो, जिसका स्वाद पलट गया हो और योनि नष्ट हो गई हो, तो ऐसा धोवन लेने योग्य होता है (आचाराग २—१—७) जिस पानी में बीज, छाल आदि सचित्त हो तो वह भी नही लेना (आचाराग २—१—८) धोवन अधिक काल का हो और पीने योग्य हो। इस विषय मे अच्छीत रह देख कर, पूछ कर और आवश्यकता हो, तो हथली में थोडासा

+ 'सोवीर' के दूसरे अर्थ में वह पानी भी लिया है, जिसमें लुहार ठठेरे आदि, गर्म लोह या तांबा पीतल आदि बुझाते हैं।

लिए धारन करते है और मूर्च्छा रहित उपयोग करते है। इस प्रकार साधु के उपकरण और वस्त्रादि धारण करना परिग्रह नही है। परम तारक भगवान् महावीर ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है—ऐसा गणधर महर्षियो का कहना है।

जैन श्रमण, वस्त्र धारण करते हुए भी निष्परिग्रही माने जाते है। इसका कारण यही है कि उनका उद्देश्य 'सयम पालने' का है। वे शीत तथा लज्जा की बाधा को दूर करने के लिए वस्त्र धारण करते है। और वस्त्र धारण करते हुए भी अचेलक कहे जाते है। अचेलक का अर्थ होता है—वस्त्र रहित तथा अल्प वस्त्र वाले। जिस प्रकार पाच पच्चीस रुपये की पूजी वाले को धनाढ्य नही कहते, निर्धन ही कहते है, उसी प्रकार अल्प मूल्य वाले और अल्प प्रमाण में वस्त्र रखने वाले भी अचेलक कहे जाते है। किन्तु जो बहुमूल्य तथा मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते है, वे तो अवश्य परिग्रही है। श्री आचाराग (२–५–१) में लिखा कि 'जो मुनि युवक है, बलिष्ठ और नीरोग है, उन्हे तो एक ही वस्त्र लेना चाहिए (टीकाकार इसका सबध जिनकल्प से जोडते हैं) किन्तु अधिक से अधिक तीन वस्त्र तक रख सकते है * (प्रश्न० २–५ आचा० १--८--४) इससे अधिक नही। अल्प वस्त्र रखने से अथवा वस्त्र नही रखने से पाँच गुणो की प्राप्ति होती है। यथा--

१ प्रतिलेखना अल्प करनी पडे, २ लघुभूत--हल्कापन रहे, ३ ममत्व रहित होने से लोगो के विश्वास पात्र रहे, ४ तपवृद्धि--कष्ट सहिष्णुता से, और ५ इन्द्रिय निग्रह--स्पर्शेन्द्रियादि परिषह सहन रूप। (ठाणाग ५--३)

वस्त्रधारी स्थविरकल्पी मुनिराज, अल्प मूल्य, प्रमाण युक्त अल्प, जीर्ण तथा मलिन वस्त्र धारण करते हुए भी अचेलक कहलाते है। उक्त सूत्र की टीका में लिखा है कि "**स्थविरकल्पिकाश्चान्पाल्प मूल्यसप्रमाणजीर्णमलिनवसनत्वादिति।**"

साधुओ और साध्वियो को गृहस्थ के यहा से नियमानुसार वस्त्र माँग कर ही लाना पडता है। वे ऐसे ही वस्त्र लावे कि जो जीव जतु रहित हो, उपयोगी हो, लम्बे काल तक चलने वाले हो। दाता ने साधुओ के लिए नही बनाया हो, न खरीदा हो, न उधार लिया हो, न सुधारा हो, न धोया, धुलाया, रगा, रगाया तथा सुगन्धित किया हो। आहार विधि में बताये हुए दोषो से रहित निर्दोष वस्त्र ही लेना चाहिए। अधिक मूल्य वाला, कोमल, महीन, शोभित (फेन्सी) बढिया रेशमी, ऊनी व मलमल, तथा चर्म आदि के वस्त्र नही लेना। साधु साध्वी निम्न प्रकार के वस्त्र ले सकते हैं।

१ ऊन के २ रेशम ३ सन ४ पत्र से बने हुए ५ कपास के और ६ अर्कतूल (आक की रुई) के।

---

* बृहद्कल्प उ० ३ में साधु को अखड तीन वस्त्र (२४ हाथ वाले) और साध्वी को चार वस्त्र लेने का विधान है।

वस्त्र को (विभूषा के लिए) धोना नहीं रंगना नहीं धोए और रंगे हुए वस्त्र को पहिनना नहीं। चोरों के भय से छिपाना नहीं। साधु साध्वी को आपस में वस्त्र उधार देना नहीं बदला करना नहीं अमनोज्ञ जान कर परठना नहीं या फाड़ना नहीं। चोरी से बचने के लिए मार्ग छोड़कर उन्मार्ग में जाना नहीं। वस्त्र याचना के लिए दो कोस से अधिक दूर नहीं जाना।

भींगे हुए वस्त्र को सूखी हुई जन्तु रहित भूमि पर सुखाना चाहिए। लकड़ी पर, दरवाजे पर भींत माल गुम्म या ऐसे कोई साधन पर जो जमीन से ऊँचा हो नहीं सुखाना चाहिए।

वस्त्र याचन की चार प्रतिज्ञा होती है।

१ ऊन कपास आदि में से किसी एक प्रकार का वस्त्र याचने की प्रतिज्ञा करना।

२ गृहस्थ के यहाँ देख लेने पर वह देवे उसमें से अमुक प्रकार का वस्त्र लेना।

३ गृहस्थ का पहना हुआ लेने का निश्चय करके लेना।

४ जिस वस्त्र को कोई रंक भिखारी भी लेना नहीं चाहे जो फेंकने योग्य हो वैसा लेने की प्रतिज्ञा करना। (आचारांग २-५)

साधुओं को चोलपट्टक के भीतर लंगोट अथवा जाँघिया नहीं पहनना चाहिए और न चोलपट्टक की लांग लगाना चाहिए। साध्वी को जाँघिया पहनना चाहिये। (बृहत्कल्प ३)

साध्वी को चार चादरें (संघाटिका) रखनी चाहिए। एक दो हाथ की उपाश्रय में पहनने के लिए। तीन हाथ की दो जिनमें से एक तो स्थंडिल जाते समय और दूसरी गोचरी जाते समय पहनने की और एक चार हाथ वाली समवसरण में जाते समय पहनने की। (ठाणांग ४-१)

पात्रैषणा

आहार पानी लाने के लिए पात्र की आवश्यकता भी होती है। कई जिनकल्पी और करपात्रीय महर्षि तो बिना पात्र के काम चलाते हैं। क्योंकि वे उग्र आचारी हैं। उनके शरीर की दृढ़ता भी सर्वोत्कृष्ट प्रकार की होती है। उनके करतल-छिद्र रहित हाथ ऐसे होते हैं कि जिनमें पानी लिया जाय तो भी वह अंगुलियों के छिद्रों से नहीं निकलता। उन्हें किसी दूसरे साधु की सेवा करने का प्रसंग ही नहीं आता क्योंकि वे एकाकी रहते हैं। वे आहार पानी गृहस्थ के यहाँ अपने हाथ में लेकर वहीं खाते पीते हैं। किन्तु जो स्थविरकल्पी और अन्य अधिकारी के साथ रहते आए हैं जिनका शरीर कमजोर है वे बिना पात्र के नहीं रह सकते। यदि उनके पास पात्र नहीं हो तो रोगी ग्लान और वृद्ध साधु की आहार पानी द्वारा वैयावृत्य कैसे करें? फिर दाता को गृहस्थ के पात्र [illegible] के [illegible] रख [illegible]। और अथवा

के लिए "वैयावृत्य" नाम के आभ्यन्तर तप का एक बहुत बडा कारण ही नही रह सके। अतएव स्थविरकल्पी साधु साध्वी को पात्र रखना आवश्यक है। यदि आज का साधु, करपात्री बने, तो उसे दूध, दाल आदि प्रवाही वस्तु ही नही खानी पीनी चाहिए। क्योकि उनके हाथो की अगुलियो मे छिद्र होने से, हाथो मे ली हुई प्रवाही वस्तु नीचे टपकती है। उसके रेले उतर कर हाथो की कोनियो पर होते हुए छाती पर उतरते है। उससे शरीर के अग लिप्त हो जाते है और फिर गृहस्थो द्वारा उसे धोकर साफ करना पडता है। इस प्रकार की विडम्बना और अयतना का कारण होने से आवश्यकतानुसार कम से कम पात्र रखना उचित है। शौच के लिए तो पात्र रखना ही पडता है, फिर आहारादि के लिए एक या दो पात्र अधिक रख ले, तो उसमे साधुता नष्ट नही होती। सभी प्रकार के त्यागियो से सयम की साधना हो सके इसी उद्देश्य से आगमो मे वस्त्र पात्र का विधान हुआ है। बृहद्कल्प उ० ३ में लिखा कि "प्रव्रजित होते समय रजोहरण पात्र और वस्त्र लेना चाहिए।"

पात्र तीन प्रकार के होते है–१ काष्ठ के २ तुबी के ३ मिट्टी के। बलवान, युवक और निरोग साधु को एक ही पात्र लेना चाहिए। ऐसे पात्र नही लेने चाहिए जो धातु के हो, बहुमूल्य हो। पात्र ग्रहण सम्बन्धी चार प्रतिज्ञाएँ वस्त्रैषणा की तरह है। और आहार के दोषो की तरह पात्र के दोषो से भी बचना चाहिए (आचाराग २–६)

अधिक से अधिक तीन पात्र तक रख सकते है। इसके सिवाय एक मात्रक (लघुनीत परठने का पात्र) रखने का भी विधान है। (व्यवहार उ० २ में 'पलासग' और दशवै० ४ में 'उडग' शब्द इसी अर्थ मे आया है)

शय्या

अनगार भगवत, ग्रामानुग्राम विहार करते रहते है। बिना जंघाबल क्षीण हुए अथवा बिना रोग ग्रसित हुए, या रुग्ण वृद्ध मुनियो की सेवादि कारण के बिना वे एक स्थान पर स्थायी निवास नही करते। वर्षा ऋतु बिताने के लिए चातुर्मास काल–जो अधिक मास हो तो पाच महिने का और बाद में भी वर्षा हो तो पन्द्रह दिन अधिक भी रह सकते है (आचाराग २–३–१) और १५ दिन पूर्व आये हो, तो यो छ मास भी हो सकते है। क्योकि वर्षा होने के बाद जीवोत्पत्ति हो जाने से विहार करना बद किया जाता है (आचाराग २–३–१) चातुर्मास के अतिरिक्त शेष काल में मुनिराज एक गाँव में एक मास और साध्वीजी दो मास से अधिक नही रह सकते (बृहदकल्प १)। वे विहार करते रहते है। फिर भी जहा जाते है, वहा ठहरने के लिए स्थान तो चाहिए ही। अतएव उनके ठहरने के स्थानो का वर्णन किया जाता है।

१ मुसाफिरखान २ आहार के कारखाने ३ देवालय क कमरे ४ देवालय ५ सभागृह ६ पानी की प्याऊ ७ दुकाने ८ माल भरने के वखार (गोदाम) ९ रथ आदि वाहन रखने की यानशाला १० वाहन बनान के कारखाने ११ चूना बनाने का स्थान (सुधागृह ?) १२ दभ (घास) के कारखाने (जहाँ घास क गंठ रस्सी अथवा और काई चीज बनती ह) १३ चमड़े स मढ़ी हुई रस्सियाँ बनाने का स्थान १४ वल्कल=छाल स बनाई जानेवाली चीजों का स्थान १५ वनस्पति के कारखान १६ कोयला बनाने क कारखाने १७ लकड़ा क कारखाने १८ श्मशान गृह १९ शान्ति कर्म करन के लिए (मन्त्रादि के) बने हुए गृह २० शून्य घर २१ पवत पर बन हुए घर २२ गुफाएँ २३ पाषाण का बना हुआ मण्डप २४ भवन गृह २५ आरामागार (बगीचे म बन हुए घर)। इनमें स निर्दोष और याची हुई वसति (स्थान) में अनगार ठहर सकते हैं (आचारांग २—२—२) इसके सिवाय उद्यान और वृक्ष के मूल में भी ठहरन का विधान है। (प्रश्नव्या २—३)

साधु बिना किवाड़ वाले स्थान में ठहर सकते है किन्तु साध्वियाँ नहीं ठहर सकती। जिस मकान में पुरुष रहता हो उसमें साध्वी नहीं रह सकती और जिसमें स्त्री रहती हा उसमें साधु नही रह सकत। वे सचित्त मकान में नहीं ठहर सकते। साध्वी धमशाला राजपथ और जहाँ तीन चार रास्ते मिलते हों ऐसे स्थान पर नहीं रह सकती (बृहद्कल्प उ १) साधु खुली जगह में ठहर सकते ह किन्तु साध्वी नहीं ठहर सकती। जिस स्थान में साध्वी रहती हो वहाँ साधु को जाना आना खड़ा रहना और बैठना नहीं कल्पता है (बृहद्कल्प उ ३) यदि किसी मकान की दिवाल पर स्त्री का चित्र हो ता साधु उस नहीं देखे (दशव ८)।

साधुओं क लिए बनाया हुआ खरीदा हुआ सुधराया हुआ और लिपाया या साफ किया हुआ स्थान उनके लिए ग्रहण करन योग्य नहीं ह। जिस मकान में कन्द मूल फल बीज अथवा पाट पाटले रखे हों और साधु क लिए उन्हें वहाँ से हटाकर अन्यत्र रखा गया हा ता ऐसा मकान भी दूषित होने से स्वीकार करने योग्य नहीं है।

जिस मकान में गृहस्थ स्त्री बच्चे रहते हों जिसमें खाने पीने का सामान रखता हो जिसमें अग्नि प्रज्वलित होती हो तथा जानवर रहते हों तो ऐसे मकान में साधु साध्वी नहीं ठहरे। पिया स भरपूर मकान में भी नहीं ठहरे। (आचारांग २—२—१ तथा २—७—१)

जिस मकान में सुन्दर चित्रों का आलेखन किया गया हो उसमें भी साधु साध्वी का नहीं ठहरना चाहिए (क्योंकि यह मोह वृद्धि का कारण है) (आचारांग २—२—३ दशव ८—५५ ५६ तथा बृहद्कल्प १)

एषणीय अन्य वस्तुएं

श्रमण जीवन मे आहार पानी और स्थान के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी उपयोगी होती है। जैसे—

१ रजोहरण—ऊन की फलियो का बना हुआ। इसका उपयोग स्थान, शय्या, पाट और भूमि आदि पूजने मे होना है।

२ मुखवस्त्रिका—वीस अगुल लम्बे और सोलह अगुल चौडे वस्त्र के, आठ परत करके, धागे से दोनो कानो मे अटका कर मुँहपर बाँधी जाती है। इससे बोलते समय मुह के श्वास के साथ निकली हुई भाषा से वायुकायादि जीवोकी यतना होती है और वायुमें उड कर आते हुए वायुकाया तथा त्रसकाया के जीव (मच्छरादि) और रज, मुहमें प्रवेश नही कर सकते।

कम से कम उपरोक्त दो वस्तुएँ तो तीर्थकर के सिवाय सभी साधु साध्वी को रखनी ही पडती है। जो जिनकल्पी होते है, वे भी कम से कम ये दो उपकरण तो रखते ही है (आचाराग १-६-३ टीका तथा बृहद्कल्प भाष्य गा ३९६२) इसका कारण यह है कि इन दोनो उपकरणो से साधुता की पहिचान तो होती ही है परन्तु स्थावर और त्रसकाय जीवो का सयम (१७ प्रकार के सयम मे से) भी पलता है। इन के उपयोग से मुख्यत प्रथम महाव्रत निर्दोष रूप से पलता है। और समितियो का पालन भी भलि प्रकार से होना है। इस प्रकार धर्म पालने मे ये उपकरण सहायक होते है। (उत्तरा २३-३२)

३ चोलपट्टक—अधोवस्त्र, कमर से नीचे गुप्ताग को ढकने का वस्त्र।
४ पात्र—आहार पानी लाने और खाने पीने के लिए।
५ वस्त्र—ओढने के लिए—तन ढकने के लिए।
६ कम्बल—शीत से बचने के लिए।
७ आसन—बैठने की जगह बिछाने का वस्त्र।
८ पादपोछन—पाँव पोछने का वस्त्र या रजोहरण।
९ शय्या—ठहरने के लिए मकान।
१० सथारा—बिछाने के लिए पराल (घास) आदि।
११ पीठ—बैठने के लिए छोटे पाट—बाजोट।
१२ फलक—सोने के काम मे आने वाला बडा पाट।
१३ पात्र बन्ध—पात्र बाँधने का वस्त्र।
१४ पात्र स्थापन—पात्र के नीचे बिछाने का वस्त्र।

१५ पात्रकेसरिका—प्रमार्जनी।

१६ पटल—पात्र ढकने का वस्त्र।

१७ रजस्त्राण—पात्र पर लपेटने का वस्त्र।

१८ गोच्छक—पात्र आदि साफ करने का कपड़ा। (यह पात्रकेसरिका का दूसरा नाम तो नहीं है?)

१९ दण्ड—अशक्त अथवा वृद्धावस्था में सहारे के लिए। +

उपरोक्त १९ प्रकार के उपकरणों का विधान प्रश्नव्याकरण सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध अ ३ व ५ में आया है।

२० मात्रक—लघुनीति करके परठने का पात्र। इसे व्यवहार सूत्र उ २ में 'पसासग' नाम से बताया है। दशवैकालिक अ ४ में 'उडग' नाम का उपकरण उच्चार प्रश्रवण पठाने के काम में आना लिखा है।

उपर्युक्त उपकरणों में आवश्यक हो उतने ही लिये जाते हैं। जिनकी आवश्यकता नहीं हो उन उपकरणों को रखना अपने को परिग्रही बनाना है। संयम पालन में उपयोगी उपकरण के सिवाय जो विशेष उपकरण हों उसे अधिकरण माना है। (ओघनिर्युक्ति गा ७४१) अधिकरण 'शस्त्र' को कहते हैं। जहाँ तक हो कम से कम उपकरण रखनेवाले 'लघुभूत' होते हैं। उन्हें प्रतिलेखना भी अल्प ही करनी पड़ती है। उनका चारित्र निर्मल होता है। जितनी कम उपधि होगी उतनी स्वाध्याय की अधिकता होगी और इच्छा की कमी होगी। (उत्तराध्ययन २९-३४ ४२)

उपकरणों का ग्रहण करते समय उनकी सुन्दरता कामनता और आकर्षकता की ओर ध्यान नहीं देकर अपने लिए उपयोगी हो ऊँचे मोल का नहीं हो और सादा हो इसी का ध्यान रखना हितकर है। अधिक मूल्य के और शानशौकत तथा मुलायम वस्त्रादि नहीं लेना चाहिए। काम में लिए हुए पुराने भी ले लेना चाहिए (आचारांग २-५)

+ दण्ड नाम का उपकरण सभी के लिए नहीं है और न रजोहरण की तरह सदैव रखने का है। यह कारण से ही रखा जाता है। व्यवहार सूत्र उ ८ में लिखा है कि 'जो स्थविर स्थविर भूमि (स्थविर अवस्था) को प्राप्त हो गये हैं उन्हें दण्ड लकड़ी चर्म आदि रखना कल्पता है। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि दण्ड सकारण ही रखना चाहिए—निष्कारण नहीं। निष्कारण सशक्त अवस्था में व्यर्थ ही उपकरण बढ़ाना अनुचित और ममता का कारण है। 'दण्ड से दुष्ट पशु कुत्ता सर्पादि तथा कीचड़ और विषम पथ में शरीर और संयमादि की रक्षा होती है' (ओघनियुक्ति गा ७३९) अर्थात् कुत्ता और गाय आदि के लिए भय का कारण है। यह विषम स्थिति में तो उपयोगी है किन्तु रजोहरण की तरह बिना दण्ड के दो कदम भी नहीं चलना—ऐसी पद्धति के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता।

एषणीय वस्तुएँ और भी है। भगवान महावीर के समय के मुनि सतत उपयोगशील और अप्रमत्त के समान थे। वे सारा ज्ञान कठाग्र ही रखते थे। लिखने पढने के साधन उपस्थित होते हुए भी वे इनका उपयोग नही करते थे, और ज्ञान को पोथी पन्ने मे नही रख कर आत्मसात् करते थे। किन्तु बाद में लेखन सामग्री का उपयोग होने लगा, तब से उपकरणो मे पुस्तको (सूत्रादि) की भी वृद्धि हुई। गत शताब्दी के तीसरे चरण तक हमारे वदनीय मुनिराज, उतनी ही पुस्तके रखते थे—जिनकी प्रतिलेखना वे कर सकते थे और जिन्हे वे उठा सकते थे।

आवश्यकता पडने पर औषधि, कैची, सूई, धागा, चाकू, आदि भी लेने पडते है। कई उपकरण काम हो जाने पर वापिस लौटाने के उद्देश से भी लिए जाते है, जैसे—मकान, पाट, बाजोट, पुस्तक, सूई, कैंची, चाकू, पराल आदि।

आवश्यकता को सीमित रखकर कम लेना, सयम वृद्धि का कारण है, और अधिक लेना सयम मे दूषण है।

आदान भण्ड मात्र निक्षेपणा समिति

आसन, पाट पाटले, पात्र वस्त्र और पुस्तक आदि को लेने अथवा लिये हुए को रखने मे उपयोग पूर्वक देख कर और प्रमार्जन करके लेने रखने का नाम "आदान भडमात्र निक्षेपणा समिति है" (उत्तराध्ययन २४-१३-१४) जो उपयोग पूर्वक देखकर और जीव जतु को प्रमार्जनी द्वारा यतना करके किसी वस्तु को लेते और रखते है, उनका 'प्रेक्षा उपेक्षा और प्रमार्जना सयम' (सतरह प्रकार के सयम में से—समवायाग १७) निर्मल रहता है। यदि इस समिति का पालन बराबर नही हुआ, तो सयम साधना में त्रुटि होती है।

परिस्थापनिका समिति

निर्ग्रंथ जीवन की, पवित्रता की ओर बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि रही है। उनके चलने, बोलने, खाने, पीने आदि सभी आवश्यक कार्यो की निर्दोष विधि बताई गई। किसी वस्तु को लेना या रखना पडे, तो उसकी भी विधि और शरीर के मलमूत्रादि त्यागना पडे, तो इसकी भी निर्दोष रीति का विधान किया गया है। जैन धर्म की अनेक विशेषताओ मे यह भी एक विशेषता है। निर्दोष जीवन की ऐसी विशुद्ध चर्या का विधान, अन्यत्र कही भी नही है।

यदि और किसी वस्तु के परठन=त्यागन की आवश्यकता नहीं हो तो कम से कम मल मूत्र श्लेष्म नाक का मल शरीर का मल परिष्ठापन करने की आवश्यकता तो सभी को होती है।

परठना उसी स्थान पर चाहिए कि जहां कोई आता नहीं हो और देखता भी नहीं हो जहां परठने से जीवों की घात होने की संभावना नहीं हो। जो स्थान सम हो ढका हुआ नहीं हो और अचित हो—नीचे दूर तक अचित हो लम्बा चौड़ा हो ग्राम या बस्ती के निकट नहीं हो चूहे आदि (कीड़ा आदि) के बिल से रहित हो प्राणी बीज और हरितकाय आदि से रहित हो—ऐसे स्थान पर परठना चाहिए (उत्तरा० २४)

मल मूत्र पात्र में करने के बाद अचित और ताप रहित भूमि में परठे। जो जमीन फटी हुई हो गड्ढे वाली हो जिसमें गाय भैंस आदि रखे जाते हों जिस जगह बाग बगीचा देवालय सभा प्याऊ हो पसन फिरने का मार्ग हो श्मशान भूमि चिता पर बनाया हुआ स्तूप अथवा चैत्य हो ऐसे स्थानों पर नदी के किनारे, ईंट चूना पकाने के स्थान—भट्टा पर गोचर भूमि पूजनीय स्थल आम्रवन अशोकवन आदि वनों में और बीज पत्र पुष्प फल तथा हरी वनस्पति के स्थानों में मल मूत्र नहीं परठना। किन्तु पात्र लेकर एकान्त में जाना और जहां कोई नहीं देखता हो उस स्थान में जाकर मल मूत्र का त्याग करना तथा पात्र लेकर निर्दोष जगह—जहां जली हुई अर्थात् अचित और जंतु रहित भूमि हो वहां परठना चाहिए। (आचारांग २–१०)

पांच समिति और तीन गुप्ति—ये आठों माता के समान साधक की रक्षा करती है। इसमें द्वादशांग—समस्त श्रुत ज्ञान का सार समाया हुआ है। (उत्तरा० २४–३)

साधु साध्वी या अन्य भिक्षुओं आदि के लिए बनाए हुए स्थंडिल (पाखाना आदि) में उच्चारादि नहीं करे। किन्तु अन्य भिक्षुओं के लिए बना हो तो उनके काम में लेने के बाद करे। (पाखाना तो साधुओं के स्थंडिल के योग्य नहीं है क्योंकि वहां समूर्छिम जीवोत्पत्ति—हिंसा का कारण है) (आचा० २–१०) 'रात या सन्ध्या को अपने या अन्य साधु के पात्र में लघु या बड़ी नीत की हो, तो सूर्योदय होते ही बिना देखी जगह परठे तो प्रायश्चित्त आता है। (निशीथ ३)

इस प्रकार निग्रंथ निग्रंथियों की समिति (आवश्यक प्रवृत्ति) का विधान है। निग्रंथ अगार त्यागी और गा[illegible] का पथिक है। उस अशरीरी और अनाहारी बनकर एकान्त निवृत्त होना है। किन्तु जब तक शरीर है तब तक इसके साथ लगा हुआ आहार करना वस्तु को लेना रखना और मल मूत्रादि का त्याग करना ही पड़ता है। शरीरधारियों के लिए ये क्रियाएँ अनिवार्य हैं। इनके बिना किसी प्रकार साधना अग्रसर होती है। जब आवश्यक क्रियाएं करनी होती हैं तो वे क्रियाएं निर्दोष हों किसी भी प्राणी के लिए बाधक नहीं हों किसी के लिए अशान्ति जनक नहीं हो तभी संयमी जीवन की शुद्धता रहती है। उपरोक्त समितियों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने वाला मुझ निग्रंथों की पवित्र जीवन

चर्या को सरलता से समझ सकता हूं। उपरोक्त नियमो का सावधानी पूर्वक पालन करने वाले श्रमण, किसी के लिए भी वाधक नही हो मकते। एमे सयमी हजारो की सख्या में हो, तो भी उनसे किसी भी गृहस्थ अथवा किसी भी मनुष्यादि को कोई कठिनाई नही हो सकती। जब उनके लिए भोजन, वस्त्र, मकान आदि बनाने या खरीदने की आवश्यकता ही नही, उनके अस्तित्व से किसी को किसी भी प्रकार की शिकायत का अवसर ही नही, तो उनके अस्तित्व तथा विशाल सख्या से, किस समझदार को आपत्ति होगी ?

"जिसका इन पाच समितियो मे उपयोग नही है, वह वीर मार्ग का अनुगामी नही है"।

(उत्तरा० २०—४०)

इस प्रकार का पवित्र त्यागी जीवन और ऐसा निर्दोष विधान, समार की किस अजैन विचार-धारा में है ?

अनगार के २७ गुण

अनगार भगवतो के २७ गुण होते है। जिनमे ये गुण हो, वे ही खरे अनगार होते है। समवायाग सूत्र मे इन गुणो के नाम इस प्रकार है।

५ पाच महाव्रतो का पालन, १० पाच इन्द्रियो का निग्रह, १४ चार कषायो का विवेक, १५ भाव-सत्य, १६ करण सत्य, १७ योग सत्य, १८ क्षमा १९ वैराग्य २० मन समाहरण २१ वचन समाहरण २२ काय समाहरण २३ ज्ञान सम्पन्न २४ दर्शन सम्पन्न २५ चारित्र सम्पन्न २६ वेदना सहन और २७ मृत्यु सहन।

प्रथम महाव्रत

सर्वथा प्रकार से प्राणातिपात का त्याग—एकेन्द्रिय से लगार पचेन्द्रिय तक के सूक्ष्म और वादर त्रस और स्थावर काय के जीवो की हिंसा स्वय नही करना, दूसरो से नही करवाना और कोई करता हो, तो उसका अनुमोदन भी नही करना। इस प्रकार हिंसा का त्याग, मनोयोग पूर्वक, वचन योग पूर्वक और काय योग पूर्वक करना—पहला महाव्रत है। इस महाव्रत मे अहिंसा का पूर्ण रूप से, जीवन पर्यन्त पालन किया जाता है। हिंसा का नाम यहाँ 'प्राणातिपात=प्राणो का नाश करना किया गया है। प्राण दस प्रकार के होते है। पाच इन्द्रिय—१ श्रोत २ चक्षु ३ घ्राण ४ रस और ५ स्पर्श वल प्राण,

६ मन ७ वचन और ८ काय बल प्राण ९ श्वासोच्छ्वास बल प्राण और १० आयु बल प्राण।

एकेन्द्रिय जीवों में चार प्राण होते हैं—१ स्पर्शेन्द्रिय २ काया ३ श्वासोच्छ्वास और ४ आयु बलप्राण। दो इन्द्रिय में इन चार के अतिरिक्त ५ रसेन्द्रिय और ६ वचन बल प्राण यों छः प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय वाले जीवों में पूर्वोक्त छः के अतिरिक्त ७वां घ्राणेन्द्रिय बलप्राण होता है। चौरेन्द्रिय में सात के सिवाय चक्षुइन्द्रिय बलप्राण—यों आठ होते हैं। असन्नी मनुष्य में मन और वचन बल के अतिरिक्त आठ प्राण होते हैं और असंज्ञी तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय में एक मन बलप्राण को छोड़कर शेष ९ प्राण होते हैं और सन्नीपचेन्द्रिय में दसों प्राण पूर्ण रूप से होते हैं। इन प्राणधारी जीवों में से किसी भी प्राणी की हिंसा करना—प्राणातिपात है।

यों तो जीवों के कुल भेद ५६३ हैं किंतु संक्षेप में जीवों के दस भेद हैं। जैसे—१ पृथ्वीकाय २ अपकाय ३ तेउकाय ४ वायुकाय ५ वनस्पतिकाय (ये एकेन्द्रिय जीव हुए) ६ बेन्द्रिय ७ तेइन्द्रिय ८ चउरेन्द्रिय ९ पञ्चेन्द्रिय और १० अनिन्द्रिय (सिद्ध जीव) (स्थानांग १०) प्रथम के पांच प्रकार के जीव स्थावर होते हैं। इनमें सूक्ष्म भी होते हैं और बादर भी। वनस्पतिकाय के दो भेद अधिक हैं साधारण और प्रत्येक। सूक्ष्म वनस्पति काय तो साधारण (अनन्तकाय) ही है और बादर वनस्पति काय में साधारण भी है जिनमें एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं और जो प्रत्येक हैं उनमें एक शरीर में एक जीव ही होता है।

यों तो पांचों स्थावर काय के सूक्ष्म जीव इस सारे लोक में ठसोठस भरे हैं। इनसे कोई जगह खाली नहीं है किन्तु इन सबसे अधिक और अनन्त गुण जीव वनस्पति काय के हैं। सभी प्रकार के जीव एक तरफ किये जायें और वनस्पति काय के जीव दूसरी तरफ हों तो उन सब से वनस्पति काय के जीव अनन्त गुण होंगे।

बेइन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय के जीवों के और पूर्व के पांच स्थावर काय वालों के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो भेद होते हैं।

पर्याप्ति—वह शक्ति कि जिससे जीव पुद्गलों का ग्रहण कर के उन्हें आहार शरीर आदि में परिणत करे। इसके छः भेद हैं— १ आहार पर्याप्ति २ शरीर प ३ इन्द्रिय ४ श्वासोच्छ्वास, ५ भाषा और ६ मन पर्याप्ति। एक भव को छोड़ कर जीव दूसरे भव में जाता है तब अपने योग्य जितनी पर्याप्तियाँ बाँधनी होती हैं उनका प्रारंभ तो युगपत करता है किन्तु समाप्ति क्रमशः करता है। जब तक वह अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण नहीं करले तब तक अपर्याप्त कहलाता है। एकेन्द्रिय जीवों के भाषा और मन पर्याप्ति को छोड़कर शेष चार पर्याप्ति होती है। असन्नी मनुष्य भी चौथी पर्याप्ति पूर्ण करने के पूर्व ही मर जाता है। विकलेन्द्रिय और असन्नी पंचेन्द्रिय जीवों के मन छोड़कर पांच और संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्ति होते हैं।

अनिन्द्रिय=सिद्ध जीव, उपरोक्त भेदो मे से किसी भी भेद मे नही आते। क्योकि वे ता मुक्त हैं। उनके न तो शरीर हैं, न इन्द्रिय। वे न सूक्ष्म है न वादर। ये जितने भी भेद है, वे ससारी जीवो के है। वैसे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् भी अनिन्द्रिय कहलाते है। वर्तमान मे वे शरीर सहित है। उनके इन्द्रिया भी शरीर के साथ होती है, किन्तु वे अनुपयोगी होती हैं। प्राणातिपात-विरमण रूप महाव्रत का सम्बन्ध, चरिम शरीरी १३ वे गुणस्थानी भगवतो से लगाकर नीचे के सभी ससारी जीवों के साथ है, क्योकि हम इन्हे दुःख दे सकते है, इन की हिंसा कर सकते है। सिद्ध-अनिन्द्रिय की हिंसा नही होती- उनकी आसातना हो सकती है। इसलिए प्रथम महाव्रत से सबधित, अनिन्द्रिय जीव को छोडकर, सभी जीव है। इन जीवो की मन, वचन और काया से हिंसा नही करना, दूसरे से नहीं करवाना और हिंसा करते हुए या करने वाले का अनुमोदन नही करना-प्रथम 'प्राणातिपात विरमण' नामक महाव्रत है।

हिंसा का त्याग क्यो करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हिंसा दुःख दायिनी है। शान्ति और सुख की नाशक है। पाप प्रकृतियो का वन्ध कराने वाली है। चण्ड, रौद्र, और नृशस होकर जीवो को भयभीत करने वाली है। आर्यत्व से गिराकर अनार्य वनाने वाली है। धर्म की नाशक, स्नेह घातक, करुणा रहित और महान् भय की जननी है। हिंसक जीवो को नरक निगोद के महान् असह्य दुःख सहन करने पडते है। यह स्व पर दुःख दायनी है। इसलिए इसका त्याग करना ही चाहिए (प्रश्न १-१)

अहिंसा की आराधना लोक के लिए हितकारी, कर्म रज का नाश कर के मोक्ष के महाफल को देने वाली है। सैकडो भवो और उनके दुखो का नाश करनेवाली है।

अहिंसा, पाप से वचाने वाली, कल्याण कारिणि, शरण दात्रि, शक्ति की श्रोत, आनन्द की भण्डार और ससार से पार पहुँचाने वाली है। इसकी महामहिमा का वर्णन, प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम सवर द्वारा में किया गया है।

अहिंसा महाव्रत के पालने में त्रिगुप्ति की खास आवश्यकता हैं। जिस महापुरुष के मन, वचन और काया स्थिर हो, ता हिंसा भी नही हो, किंतु जीवन पर्यन्त-लम्बे समय तक एक स्थान पर रहना अशक्य है। शरीर निर्वाह, सयम पालन और वैयावृत्यादि के लिए जाना आना पडता है-प्रवृत्ति करनी पडती है। यह प्रवृत्ति अनियन्त्रित एव असर्यादित नही हो जाय और उससे चारित्र-अहिंसा महाव्रत का भग नही हो जाय, इसलिए परमोपकारी त्रिलोक पूज्य भगवान् महावीर प्रभु ने, प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ वताई है। जिनसे भावित आत्मा, प्रवृत्ति करते हुए भी अपने महाव्रत में सावधान और भाव चारित्र बनाये रखते है। वे पाच भावनाएँ ये है,-

१ चलते, फिरते और ठहरते, इर्या समिति का पूर्ण ध्यान रखे। चलते समय एक युग प्रमाण भूमि को देखता हुआ चले और सावधानी रखे, जिससे किसी त्रस या स्थावर प्राणी की हिंसा नही हो जाय-यह पहली भावना है।

२ मन में पापकारी—सावद्य—विचार नहीं लावे अधार्मिक=जिनका धर्म से कोई संबंध नहीं—ऐसे सांसारिक विचार नहीं लावे। इस प्रकार वध बन्धनादि के विचार से मन को बचाये रखे। इस मन समिति द्वारा अपनी अन्तरात्मा को अहिंसा से भावित करता रहे। इससे साधु भाव संयमी और अखंड चारित्री होता है। यह 'मन समिति' नामक दूसरी भावना हुई।

पापकारी वचन नहीं बोले। सावद्य वचन से विरत रहनेवाले निर्ग्रंथ के वचन समिति रूप यह तीसरी भावना है।

४ प्राण धारण और संयम पालन के लिए आहार की गवेषणा करनी पड़ती है। साधु दीनता रहित करुणा भाव रहित (अपनी करुणा जनक हालत नहीं बताता हुआ) विषाद रहित खिन्नता रहित और समता सहित तथा एषणा संबंधी दोषों से बचता हुआ थोड़ा थोड़ा निर्दोष आहार की गवेषणा करे जिससे हिंसा की संभावना नहीं रहे और महाव्रत का भाव पूर्वक पालन हो सके यह आहारैषणा नामक चौथी भावना है।

५ निक्षेपण समिति—पात्रादि भंडोपकरण को उठाने और रखने में सावधानी रखे। देख कर प्रमार्जन करने के बाद उठाने रखने से हिंसा नहीं होती और महाव्रत का भली प्रकार से पालन होता है। यह निक्षेपणा समिति रूप पांचवीं भावना हुई। (प्रश्नव्याकरण ७-१)

इस प्रकार पांच भावनाओं करके सहित प्राणातिपात विरमण महाव्रत का तीन करण तीन योग से शुद्धता पूर्वक पालनवाला निर्ग्रंथ सच्चा साधु होता है। उसकी अहिंसा स्व—पर कल्याण कारिणी होती है। वह द्रव्य और भाव से अहिंसा का पालन करता हुआ अपनी आत्मा का कल्याण करता है और अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य प्राणियों का भी कल्याण करने में तत्पर रहता है। उसकी अहिंसा दूसरे हलुकर्मी और योग्य जीवों को प्रेरणा देने वाली होती है। वह अपने संयमी जीवन से समस्त प्राणियों की रक्षा करता है और उसके उपदेश से भी अनन्त प्राणियों की रक्षा होती है। उसकी अहिंसक वृत्ति इतनी विशुद्ध होती है कि वह अपने या दूसरे किसी के लिए भी हिंसा नहीं करता। सभी जीवों के प्रति उसका समभाव होता है। किसी का भी प्रिय अथवा अप्रिय नहीं करता "सव्वं जगं तु समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा (सूयग० १-१०-७) कितना समभाव है—उस महा अहिंसक का। वह अपनी आत्म साधना में तत्पर रहता है। इस प्रकार अहिंसा महाव्रत की आराधना करनेवाला अनगार निर्ग्रंथ समस्त जीवों का शरण्य एवं प्रशंसनीय प्रशस्त होता है।

सभी धर्मों में अहिंसा तत्त्व मान्य है। जैनधर्म की अहिंसा न तो मनुष्यों तक सीमित रही है और न पशु पक्षियों तक ही। किन्तु सभी जीव पृथ्वी पानी आदि सूक्ष्म स्थावर काय के जीव भी निर्ग्रंथों की अहिंसा में सम्मिलित हैं। प्राणी मात्र की अहिंसा पालना जैन धर्म का महान् सिद्धांत है। किसी

भी प्राणी को साधारण कष्ट भी नही हो—इसकी निर्ग्रंथ साधुओ को सतत सावधानी रखनी पडती है। ससार के सभी जीव सुखी रहे, कोई किसी को नही सतावे। सभी प्राणियो को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। कोई जीव किसी की आत्मा को क्लेश नही पहुँचावे—यह जैन धर्म का मुख्य उपदेश है। निर्ग्रंथ-नाथ भगवान् महावीर फरमाते है कि—

"से बेमि जेय अतीता जेय पडुप्पन्ना जेय आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति, एवं पण्णवंति, एवं परूवेंति, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एसधम्मे, सुद्धे, निइए, सासए, समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए।"

—भगवान फरमाते है कि भूत काल में जो अनन्त अरिहत भगवान् होगए है, वर्तमान मे है, और भविष्य मे होगे, वे सभी यही कहेगे, ऐसा ही उपदेश देंगे और इसी प्रकार प्रचार करेगे कि समस्त प्राणी (विकलेन्द्रिय) सभी भूत (वनस्पति) सभी जीव (पञ्चेन्द्रिय) और सभी सत्व (चारो स्थावर काय) की हिंसा नही करना—मारना नही, उन पर हुकुमत नही करना, उन पर अधिकार नही करना, उन्हे सतापित नही करना और उन्हे उद्वेग नही पहुँचाना, यही धर्म शुद्ध, नित्य, एव शाश्वत है। समस्त लोक को—उसके दुःख को जानने वाले खेदज्ञ भगवतो ने कहा है। (आचाराग १—४—१)

भगवान् ने यह भी कहा है कि **"अत्तसमं मन्निज्ज छप्पिकाए"** छहो काया के जीवो को—समस्त जीवो को, अपनी "आत्मा के समान समझना चाहिए" (दशवै० १०—५) इस प्रकार अहिंसा का महत्व सर्वाधिक बताया गया है। अहिंसा **"सव्वभूय खेमंकरी"** (प्रश्नव्या० २—१) बताई गई है। यह अहिंसा महाव्रत, निर्ग्रंथ प्रवचन मे अग्र स्थान रखता है। विश्व शान्ति में यही एक आधार भूत है और आत्मोत्थान मे भी यह अग्रसर है। इसलिए अहिंसा महाव्रत सभी व्रतो में प्रथम स्थान रखता है।

पूर्वाचार्य कहते है कि—

"एक्कं चिय एत्थ वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा"।

अर्थात्—सभी जिनेश्वरो ने (सक्षेप मे) एक प्राणातिपात विरमण महाव्रत का निर्देश किया है। शेष व्रत इस व्रत की रक्षा के लिए है। (ठाणाग ४—१—२३५ टीका मे उद्धरित गाथा)

यो तो अहिंसा महामाता की महिमा अपार है। इसका विशेष वर्णन प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम सवर द्वार में वर्णित है। उसमें ३२ उपमाओ के द्वारा महत्व प्रदर्शित किया है, किन्तु सक्षेप में दशवैकालिक के छठे अध्ययन गाथा ८ में सब कुछ आ गया है। जैसे—

"तत्थिमं पढम ठाणं, महावीरेण देसियं। अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।"

उपरोक्त गाथा मे अठारह व्रतो से भी अहिंसा को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। किसने ? स्वय तीर्थाधिपति भगवान् महावीर ने।

३ लोभ नही करना चाहिए, क्योकि लोभ के वश होकर झूठ बोला जाता है। जिसे धन, मकान, प्रशसा, ऋद्धि, सुख, आहार, वस्त्रादि और शिष्य शिष्यणी का लोभ होता है, वह झूठ बोलता है। इसलिए दूसरे महाव्रत के पालक का लोभ का त्याग कर देना चाहिए।

४ भय का त्याग कर देना चाहिए। भयभीत मनुष्य, सत्य का पालन नही कर सकता। वह सयम और तप को छोड देता है। इसलिए सत्य के साधक को भय का त्याग कर देना चाहिए।

५ हास्य का त्याग करना चाहिए। हसी के कारण जीव झूठ बोलता है। दूसरो की निन्दा करता है, अपमान करता है। हास्य, साधु के चारित्र का नाशक बन जाता है। इससे गुप्त बाते प्रकट हो जाती है। हँसी, अधम गति मे लेजाने वाली है। इसलिए मौन का सेवन कर हँसी का त्याग कर देना चाहिए। यह पाँचवी भावना हुई (प्रश्न० २–२)

ये दूसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ है। इन भावनाओ से युक्त बोली हुई भाषा निरवद्य एव गुणकारी होती है। इस विषय मे भाषा समिति के प्रकरण का देखना चाहिए। यहा इतना और स्पष्ट किया जाता है कि 'जो भाषा, मोक्ष साधना मे बाधक हो वह नही बोलनी चाहिए'

(दशवै० ७–४)

तीसरा महाव्रत

अदत्तादान का सर्वथा त्याग–दूसरे की वस्तु को बिना दिये ही लेलेना–अदत्तादान कहलाता है। सचित्त (शिष्य) हो वा अचित्त, थोडा हो या बहुत, ग्रामादि मे हो या बन मे, कभी भी, कही भी, कैसा भी अदत्तादान नही लेना चाहिए, दूसरो से भी नही लिवाना चाहिये, तथा लेते हुए का अनुमोदन नही करना चाहिए। मन, वचन और काया से जीवन पर्यंत इस त्याग का पालन करना चाहिए।

(दशवै० ४)

अदत्तादान का ग्रहण, लोभ से होता है अर्थात् लोभ से ही अदत्तादान की प्रवृत्ति होती है (प्रश्न० १–३) इस महाव्रत को 'दत्तअनुज्ञात सवर' भी कहते है। इस महाव्रत के पालक का मन अदत्त ग्रहण की इच्छा वाला नही होने से अदत्तग्रहण मे हाथ पाँवादि शारीरिक प्रवृत्ति भी नही होती। इस महाव्रती निर्ग्रंथ के बाह्य और आभ्यतर ग्रथी नही रहती। तीसरे महाव्रत का पालक निर्भीक होता है। यदि कोई गृहस्थ अपनी वस्तु कही भूल गया हो और वह साधु को दिखाई दे, तो उसे वे लेते नही और किसी को कहते भी नही है, क्योकि स्वय लेने या दूसरो को बताने का उनका आचार नही है। इस महाव्रत के पालक को सोना और मिट्टी को बराबर समझना चाहिए और परिग्रह रहित एव सवृत्त होकर विचरना चाहिए।

निग्रंथ श्रमण का कर्त्तव्य है कि वह कहीं भी काष्ट कंकर व तृण जैसी तुच्छ वस्तुभी बिना दी हुई (गृहस्थ की आज्ञा बिना) नहीं ले और प्रति दिन—जब आवश्यकता हो आज्ञा लेकर ही ग्रहण करे। अपने उपाश्रय में भी बिना आज्ञा के कोई वस्तु ग्रहण नहीं करे। जिस घर की प्रतीति नहीं हो वहाँ आहार पानी आदि लेने को भी नहीं जाय। जो आहारादि दूसरों के=आचार्य या रोगी आदि के निमित्त आया हो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। दूसरे के गुणों या उपकारों को नहीं छुपाना चाहिए। किसी को मिलते हुए दान में अन्तराय देना या दान का अपलाप करना किसी की चुगली करना और किसी के लाभ को देख कर मत्सर भाव लाना दूषण है। इस प्रकार के सब दूषणों का त्याग कर देना चाहिए।

वह साधु इस महाव्रत की आराधना नहीं कर सकता—जो प्राप्त वस्त्र पात्र आदि उपकरण का अन्य साधुओं के साथ समविभाग नहीं करता—दूसरे साधुओं को नहीं देता और आवश्यक उपकरणों का विधिवत् प्राप्त नहीं करता।

नीचे लिखे हुए पाँच प्रकार के चोर (ऊपर से साधु किन्तु अन्तर से चोर) इस महाव्रत का पालन नहीं कर सकते।

१ तप का चोर—तप के उद्देश्य के विपरीत मान प्रतिष्ठादि के लिए तप करे या तप नहीं करते हुए भी तपस्वी कहलावे।

२ वचन का चोर—वचनादि दाव या माया पूर्वक वचन बालने वाला।

३ रूप का चोर—साधु के रूप में रहकर दूसरों को ठगने वाला—असाधुता के काम करने वाला।

४ आचार का चोर—साधु आचार के विपरीत आचरण करते हुए भी अपने को शुद्धाचारी बताने वाला।

५ भाव का चोर—भाव रहित क्रिया करने वाला अथवा अपने बुरे भावों को छुपा कर उत्तम भाव वाला होने का ढोंग करने वाला

ये पाँच प्रकार के चोर इस महाव्रत का पालन नहीं कर सकते। रात्रि का और जोर से बोलने वाले दूसरों की शान्ति या सुख का हरण करने वाले होते हैं। झगड़ा करवाने कलह जगाने बैर भाव उत्पन्न करने विकथा करने किसी के असमाधि उत्पन्न करने प्रमाण से अधिक भोजन करने और सदा कुपित रहने वाले साधु धर्म के चोर हैं। उनसे इस महाव्रत का पालन नहीं हो सकता।

जो साधु निर्दोष आहार पानी और उपकरण प्राप्त करने और अन्य साधुओं का दान में कुशल हैं वे ही इसके पालक हो सकते हैं। जो अत्यन्त दुर्बल बाल रोगी और वृद्ध साधु की वैयावृत्य करने में चतुर हैं प्रवर्तक आचार्य उपाध्याय नवदीक्षित शिष्य साधर्मिक तपस्वी कुल (एक आचार्य का परिवार अथवा गच्छों का समूह) गण (एक साथ पढ़ने वाले साधु अथवा कुलों का समुदाय) और संघ की

ज्ञानोपार्जन अथवा निर्जरा के लिए वैयावृत्य करने वाला, इस महाव्रत का पालन करता है। जो दूसरो के दोषो को ग्रहण नही करता, निन्दा नही करता, आचार्य अथवा रोगी का नाम लेकर कोई वस्तु अपने लिए नही लेता, तथा किसी को भी दान से विमुख नही करता, किसी के दान और चारित्र के गुण को छुपाता नही है और किसी की वैयावृत्य करके पछताता नही है, वह इस तीसरे महाव्रत का पालन कर सकता है (प्रश्नव्या० २—३)

शास्त्रकारो ने अदत्तादान के चार भेद इस प्रकार बताये है।

१ **स्वामी-अदत्त**—वस्तु के स्वामी के दिये विना ही, कोई वस्तु ग्रहण करना-स्वामी अदत्त है—फिर भले ही वह तृण, काष्ट जैसी साधारण से साधारण वस्तु ही क्यो न हो।

२ **जीव-अदत्त**—यदि वस्तु का स्वामी, कोई सजीव वस्तु देना चाहे, तो भी उस जीव की आज्ञा के बिना ग्रहण करना 'जीव अदत्त है'। जैसे—माता पिता या सरक्षक, साधु को पुत्र पुत्री या किसी मनुष्य को शिष्य रूप मे देना चाहे, किन्तु शिष्य बनने वाले की खुद की आज्ञा नही हो, वह अपने को साधु के हवाले करना नही चाहे, तो भी उसे लेना—जीव अदत्त है। अथवा प्राणी के प्राणो का हरण करना जीव अदत्त है।

३ **तीर्थंकर अदत्त**—तीर्थंकर भगवान् ने आगमो मे जो आज्ञाएँ प्रदान की है, उनका उल्लघन करके निषिद्ध वस्तु लेना—तीर्थंकर अदत्त है।

४ **गुरु अदत्त**—गुरु आदि रत्नाधिक की आज्ञा का उल्लघन करना, स्वामी द्वारा दिये हुए निर्दोष आहारादि को गुरु की आज्ञा प्राप्त किये विना ही उपभोग मे लेना-गुरु अदत्त है।

साधु को उपरोक्त चारो प्रकार के अदत्तादान से बचना चाहिए, तभी उसकी आराधना निर्दोष होती है।

इस महाव्रत की पाच भावनाएँ इस प्रकार है।

१ अवग्रहानुज्ञापना—साधु साध्वी को सोच विचार करके आवश्यतानुसार निर्दोष अवग्रह (ठहरने के स्थान) की याचना करनी चाहिए। अपरिमित और सदोष स्थान लेने से अदत्त ग्रहण का दोष लगता है।

२ आज्ञा लेने के बाद ही आहारादि और शय्या सस्तारक आदि का सेवन करना चाहिए। यदि तृण जैसी तुच्छ वस्तु की भी आवश्यकता हो, तो वह भी आज्ञा लेने के बाद ही उपयोग में लेनी चाहिए।

३ अवग्रह की आज्ञा लेते समय, उपाश्रयादि के क्षेत्र की मर्यादा पूर्वक आज्ञा लेनी चाहिए और जितने क्षेत्र को काम मे लेने की आज्ञा प्राप्त हुई हो, उतने ही क्षेत्र को काम मे लेना चाहिए—अधिक नही।

४ गुरु अथवा रत्नाधिक की आज्ञा प्राप्त करके ही आहारादि का उपभोग करना चाहिए। यद्यपि आहारादि की प्राप्ति विधि पूर्वक हो चुकी है तथापि गुरु आदि को दिखा कर और आलोचना करके ही आहारादि करना चाहिए अन्यथा अदत्तादान का दोष लगता है।

५ उपाश्रय में रहे हुए समानी साधुओं से नियत क्षेत्र और काल मर्यादा पूर्वक आज्ञा लेकर ही वहां रहना और भोजनादि करना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त पांच भावनाओं करके सहित इस महाव्रत का पालन करने वाला श्रमण स्व-पर कल्याण साधक होता है। जिसने अदत्तादान का त्याग कर दिया उसने भय शोक और चिन्ता के अनेक कारणों को नष्ट कर दिया। ऐसे अदत्त परिहारी महात्मा इस संसार के लिए उत्तम आलंबन रूप होते हैं।

चौथा महाव्रत

मैथुन का सर्वथा त्याग—पुरुष के लिए स्त्री संयोग और स्त्री के लिए पुरुष संयोग तथा नपुंसक के लिए स्त्री पुरुष दोनों के संयोग की प्रवृत्ति को मैथुन कहते हैं। पुरुष स्त्री और नपुंसक वेद के उदय से मैथुन में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार देव मनुष्य और पशु संबंधी मैथुन सेवन करने दूसरों से करवाने और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन करने का मन वचन और शरीर से सर्वथा जीवन पर्यन्त त्याग कर देने वाले महात्मा और महासती इस महाव्रत के पालक होते हैं।

यों तो पांचों इन्द्रियों के काम भोग को विषय सेवन माना गया है किन्तु इस महाव्रत में मुख्यतः वेदोदय के कारण होती हुई स्पर्श सम्बन्धी मैथुन प्रवृत्ति ग्रहण की गई है। इस मैथुन प्रवृत्ति में मनुष्य पशु और देव तक उलझे हुए हैं। मैथुन प्रवृत्ति इन सब को प्रिय है। मैथुन सेवन से द्रव्य—जीवन और भाव जीवन का नाश होता है। प्रमाद बढ़ता है। रोग शोक जरा और मृत्यु रूप दुःख परम्परा में वृद्धि होती है। कभी कभी वध बन्धन और मृत्यु का कारण भी बन जाता है। यह अब्रह्मचर्य एक ऐसा बन्धन है जो आत्मा के विकास को रोक कर मोहनीय कर्म के सुदृढ़ फन्दे में फंसाये ही रखता है। यह फन्दा अनादि काल से जीव के साथ लगा ही रहता है। यद्यपि असंज्ञी जीवों में और एक-न्द्रियों में मैथुन प्रवृत्ति नहीं होती फिर भी उन आत्माओं में इसके संस्कार तो रहते ही हैं और अनुकूल सामग्री (स्त्री पश और मनुष्यादि भव) पाकर क्रियान्वित हो जाते हैं। जिस प्रकार निद्रा में

सोया हुआ, या क्रय विक्रय, सभा सोसाइटी, अथवा युद्धादि प्रवृत्ति में लगा हुआ अथवा कारागृह में बन्द पुरुष, मैथुन क्रिया नही करता है, फिर भी वह त्यागी नही है। उसमें रहते हुए मैथुन के सस्कार अनुकूलता पाकर प्रवृत्ति मे आ जाते है। इन सस्कारो को नष्ट करना अत्यन्त कठिन है। कायर और नीच जन, इसके सेवन में आनन्द मानते है और सज्जन तथा उच्च आत्माएँ इसे त्यागनीय समझ कर विरत होते है। इस चतुर्थ महाव्रत की धारक महान् आत्माएँ, अपनी आत्मा में से मैथुन के सस्कारो को नष्ट करने में सदा प्रयत्नशील रहते है।

ब्रह्मचर्य, सभी उत्तम गुणो और तपस्याओ का मूल है। मोक्ष को निकट लाने वाला है। पुनर्जन्म का निवारण करने वाला है। आत्म शाति का देने वाला है। तप और सयम का आधार है। अपवाद रहित है। समिति और गुप्ति तथा नववाड द्वारा रक्षणीय है। उत्तम भावनाओ और ध्यान रूपी कपाट से ब्रह्मचर्य व्रत सुरक्षित रहता है। ब्रह्मचर्य व्रत, सभी व्रतो के लिए आधारभूत है। ब्रह्मचर्य व्रत के नष्ट होने पर सभी व्रत नष्ट हो जाते है।

ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह इन्द्रियो के विषयो में प्रीति नही करे, किसी के साथ राग और द्वेष नही करे। जिस कार्य के करने से कोई लाभ नही है, उस कार्य को नही करे, प्रमाद का त्याग करे। आचार विचार में ढिलाई को त्याग कर दृढता धारण करे। शरीर पर मर्दन, उबटन, स्नान, शोभा, तथा शृंगारादि नही करे। नाखुन और केश को सँवारे नही। हँसी, मजाक, वाचालतादि का त्याग करे। गाना, बजाना और नृत्य करना छोड दे। नाटक—नटो के खेल, विदूषक के कौतुक तथा सभी प्रकार के खेल नही देखे, क्योकि जितने भी गीत, वादिन्त्र और खेल तमाशे है, वे सब शृंगारिक होकर तप सयम और ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। अतएव इनका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

ब्रह्मचारी को इन गुणो का पालन करना चाहिए।

स्नान नही करना, दातो को नही धोना, पसीना और मैल, का निवारण नही करना, अधिक नही बोलना, केशो का लोच करना, क्रोध का निग्रह करना, इन्द्रियो का दमन करना, स्वल्प वस्त्र रखना, भूख प्यास को सहन करना, उपधि अधिक नही रखना, सर्दी और गर्मी के परिषह को सहन करना,, लकडी के पटिये पर या भूमि पर शयन करना (पलग पर नही सोना) आहारादि के लाभालाभ मे सतोष रखना, निन्दा को सहन करना, डास मच्छर के परिषह को सहन करना। गुरुजनो का विनय करना। इन गुणो का पालन करने से आत्मा पवित्र होती है (प्रश्नव्याकरण २-४)

ब्रह्मचर्य की रक्षक बाड़

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उत्तराध्ययन अ १६ में नव बाड़ बताई गई हैं। जो ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य की इन बाड़ों से रक्षा करता रहेगा उसका ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहेगा और उसकी साधना सफल होगी।

१ ब्रह्मचारी पुरुष एसे स्थान में रहे सोए बैठे कि जहाँ स्त्री पशु और नपुंसक नहीं रहते हों। यदि वह इस नियम का पालन नहीं करेगा तो उसके ब्रह्मचर्य में लोगों को शंका होगी। वह खुद भी ब्रह्मचर्य व्रत के प्रति शंकाशील होकर डगमगाने लगगा और शंका में वृद्धि होते होते पतित * हो जायगा। उत्तराध्ययन के ३२ वें अध्ययन गा १३ में परम तारक प्रभु ने फरमाया कि—

जिस प्रकार बिल्लियों के स्थान के समीप चूहों का रहना अच्छा नहीं है उसी प्रकार स्त्रियों के स्थान के समीप ब्रह्मचारियों का रहना हितकर नहीं है'।

दशवैकालिक सूत्र अ ५-१-६ में तो यहाँ तक लिखा है कि– 'साधु वेश्या के घर के निकट भी नहीं जावे'।

अतएव स्त्री पशु पंडग रहित स्थान में रहना ही ब्रह्मचारी के लिए हितकर है। रहनेमी जैसा योगी भी कुछ क्षणों तक स्त्री युक्त स्थान में रहने से चलित हो गया (उत्तरा २२) तो दूसरों का कहना ही क्या? अतएव इस बाड़ को सुरक्षित तथा दृढ़ रखनी चाहिए।

२ स्त्रियों की अथवा स्त्रियों सम्बन्धी कथा नहीं कहनी चाहिए। स्त्रियों के रूप हास्य विलास आदि का वर्णन करने से मन में विकार उत्पन्न होता है काम की वृद्धि होती है जो बढ़ते बढ़ते ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देती है।

---

* ब्रह्मचर्य के इन स्थानों में असावधानी से सात दूषण उत्पन्न होते हैं।

(१) शंका–पूर्ण ब्रह्मचर्य की शक्यता में संशय।
(२) कांक्षा–भोगोपभोग की इच्छा।
(३) विचिकित्सा–ब्रह्मचर्य के प्रति अरुचि। फल में सन्देह।
(४) भेद–ब्रह्मचर्य का भंग।
(५) उन्माद–मस्तिष्क विकार-पागलपन।
(६) रोग–दीर्घकालीन रोग।
(७) भ्रष्टता–साधुता से पतन।

३ स्त्रियो से परिचय तथा साथ बैठ कर बातचीत नही करनी चाहिए। क्योकि स्त्रियो के परिचय तथा सगति से अनुराग बढता है—जो ब्रह्मचर्य का नाशक है।

४ स्त्रियो के शरीर, अगोपाग और इन्द्रियो की सुन्दरता को निरखे नही, उनका चिन्तन भी करे नही। उनके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मृदु भाषण, सकेत और कटाक्ष पूर्वक अवलोकन, (तिरछी दृष्टि) को अपने मन मे बिलकुल स्थान नही देवे। इसीमे उनका हित है (उत्तरा ३२)

५ भीत, टट्टी अथवा पर्दे की ओट से स्त्रियो के मधुर शब्द, विरह, विलाप, गीत, हँसी, सिसकारी और प्रेमालाप आदि नही सुने। कानो से ऐसे शब्द सुनने से विकार की उत्पत्ति होती है, जो ब्रह्मचर्य के लिए घातक होती है।

६ स्त्रियो के साथ गृहस्थावस्था मे भोगे हुए भोग और की हुई क्रीडा का स्मरण नही करना चाहिए। पूर्व के भोगो की स्मृति, कामना को पुन जागृत कर देती है और वह ब्रह्मचर्य के लिए खतरा बन जाती है।

७ स्निग्ध एव सरस भोजन नही करना चाहिए, क्योकि ऐसे भोजन से इन्द्रिये सतेज होती है और भोग में रुचि उत्पन्न होती है।

"जिस प्रकार स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष पर पक्षी झपटते है और उसके फलो को शीघ्र ही बरबाद कर देते है, उसी प्रकार दुग्ध घृतादि काम—वर्धक रसो के अधिक सेवन से मनुष्य में भोग वृत्ति उत्पन्न होती है, इससे उसका ब्रह्मचर्य रूपी उत्तम फल नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार घास और लकडी की अधिकता वाले वन में यदि आग लग जाय और उस समय वायु भी प्रचण्ड रूप से चलने लगे, तो वह वन, राख का ढेर हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियो की विषय रूपी आग को भडकाने वाला सरस भोजन रूप महावायु मिल जाय, तो वह कामाग्नि को बढाकर ब्रह्मचर्य को भस्म ही कर देती है। इसलिए प्रकाम रस से वचित ही रहना चाहिए"।

८ प्रमाण (भूख की पूर्ति) से अधिक भोजन नही करना चाहिए। अधिक आहार करने से आलस्य बढता है, सुखशीलियापन आता है और सयम निर्वाह का लक्ष छूट कर स्वाद लोलुपता बढती है। अधिक भोजन भी विषयो को जागृत करता है। अतएव तिमात्रा में भोजन नही करके पेट को कुछ खाली अवश्य रखे।

९ शरीर की विभूषा नही करे, शोभा एव सुन्दरता नही बढावे। जिस क्रिया से शरीर की शोभा बढे, वह प्रारम्भ से ही त्याग दे। स्नान करना और वस्त्र को स्वच्छ और उज्ज्वल रखना भी विभूषा है। इसीलिए आगमो मे अचित जल से स्नान करने तथा वस्त्र धोने की मनाई की गई है (सूय १—७)

१० नव वाडो के अतिरिक्त दसवाँ सुदृढ 'कोट' भी निर्माण कर दिया है, जिससे कि ब्रह्मचर्य की सुरक्षा मे किंचित् भी सन्देह नही रहे। वह कोट यह है,—

मन को प्रनुकूल लगने वाले ईष्ट शब्द नहीं सुने सुन्दर रूप नहीं देखे सुस्वाद रस नहीं चखे मनोहर सुगन्ध नहीं सूंघे और कोमल मुलायम तथा रमणीय स्पर्श नहीं करे। इन पांचों काम गुणों से सदव दूर रहे। जिसने यह सुदृढ़ एव वज्रमय प्रकोट बनालिया है उसका ब्रह्मचर्य महाव्रत सुरक्षित है। वह ब्रह्मचारी महान् आत्मा, विश्व पूज्य हो जाती है। देव दानव और इन्द्र भी उसके चरणों में नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावनाऐं—

यों तो उपरोक्त बाड़ों में ही पांच भावनाऐं मागई है किन्तु प्रश्नव्याकरण सूत्र में इनका कुछ विस्तार से वर्णन है। अतएव पुन: पृथक रूप से बताई जा रही है।

१ ब्रह्मचारी उन स्थानों पर सोना बैठना और खड़े रहना त्याग दे जहां स्त्रियों का ससर्ग आना जाना बठनादि हो। उन आंगन छज्जे खिड़की पीछे का द्वार तथा छत का भी त्याग करदे जहां से स्त्रियें दिखाई देती हो शृगार करती हो स्नान करती हो और जहां वेश्याऐं बैठती हों। जहां बैठकर स्त्रियें मोह द्वेष रति एव काम को बढ़ाने वाली कथाऐं कहती हों। ऐसे दूसरे स्थानों को भी त्याग दे कि जहां रहने से मन में विकारी भाव उत्पन्न होकर ब्रह्मचय के लिए बाधक बनते हों तथा आर्त्त और रौद्र ध्यान की सभावना हो। इस नियम के पालन करने से आत्मा पवित्र होती है।

२ ब्रह्मचारी का स्त्रियों के बीच में बठ कर विविध प्रकार की कथाऐं नही कहनी चाहिए। स्त्रियों के हास्य विलास सौन्दर्य तथा शृगार की कथाऐं नहो कहनी चाहिए, क्योंकि एसी कथाऐं मोह को उत्पन्न करने वाली होती है। नवविवाहित अथवा विवाह करने वाले वर वधू की कथा भी नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों के सुभग दुभग स्त्रियों के ६४ गुणों उनके वर्ण जाती देश कुल रूप पहिनाव आदि विषयक कथा नही करनी चाहिए। उनके शृगार—रस—वर्धक तथा पति वियोग की करुण कथाऐं भी नहीं कहनी चाहिए। जिन कथाओं के करने से तप सयम और ब्रह्मचय को बाधा पहुँचती हो एसी कोई भी बात नहीं कहनी चाहिए। यदि कोई दूसरा ऐसी बात कहता हो तो उसे सुननी भी नहीं चाहिए और मनमें इन विषयों पर चिन्तन भी नहीं करना चाहिए। इन नियम का पालन करने से आत्मा पवित्र होती है।

३ ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्त्रियों का रूप नही देखे। स्त्रियों के साथ हँसी नहीं करे सभाषण भी नहीं करे। स्त्रियों की विकारी चेष्टा तिरछी दृष्टि विलासिता क्रीड़ा शृगार नाच गायन बजाना शरीर की बनावट सुन्दरता हाथ पाँव आँख स्तन ओष्ठ जघादि गुप्तांग यौवन लावण्य और वस्त्रा-लंकार को नहीं देखे। क्योंकि स्त्रियों की सुन्दरता और उनके अंगोपांग का देखना पाप का कारण है। इससे ब्रह्मचर्य का नाश होता है। इसलिए ब्रह्मचारी को स्त्रियों के रूप आदि देखने का विचार भी नहीं करना

चाहिए, वचन से रूप की प्रशसा भी नही करनी चाहिए। जो ब्रह्मचारी स्त्रियो के रूप दर्शन से निवृत्त होकर इस समिति का पालन करेगा, उसकी आत्मा पवित्र होगी।

दशवैकालिक सूत्र (अ ८) में कहा है कि 'साधु स्त्रियो के चित्र भी नही देखे। यदि अचानक दृष्टि पडजाय, तो तत्काल दृष्टि हटाले, जिस प्रकार सूर्य पर पडी हुई दृष्टि तत्काल हटाई जाती है। जो स्त्री सौवर्ष की पूर्ण वृद्धा हो, जिसके हाथ पाव कटे हुए हो, जो कान नाक से भी रहित हो, ऐसी विकृत अगोवाली स्त्री को भी ब्रह्मचारी नही देखे, तो युवती स्त्री का देखना तो सर्वथा त्याग ही देना चाहिए।' इस प्रकार दृढता पूर्वक नियम पालन करने वाला ही इस महाव्रत का पालक होता है।

४ गृहस्थाश्रम में रहकर पहले जो भोग भोगे है और क्रीडाएँ की है, उनका स्मरण नही करना चाहिए। पूर्व के साला साली व उनके सम्बन्ध को याद नही करे। गृहस्थाश्रम में की हुई और देखी हुई उन घटनाओ का स्मरण नही करे, जैसे–विवाह, वधु, का मुकलावा, मदनत्रयोदशी तथा तीज आदि त्योंहार और उत्सवो को याद नही करे। सुन्दर वस्त्र और अलकार द्वारा सुसज्जित होकर हाव, भाव, दृष्टि क्षेप, और अग चालनादि विलासी चेष्टाओ से सुशोभित, सुन्दरी प्रेमिकाओ के साथ किये हुए शयनादि का स्मरण नही करे।

"दुष्कृत्य करने की अपेक्षा तो समाधि पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होना श्रेयष्कर है, मोक्ष का कारण है।" (आचाराग १–८–४)

गृहस्थाश्रम मे ऋतुओ के अनुकूल सुगन्धित पुष्पो तथा इत्रादि और चन्दनादि का सेवन किया, उत्तम धूपो से वातावरण को सुगन्ध मय बनाया, मुलायम वस्त्र तथा बहुमूल्य आभूषणो का उपभोग किया। कर्ण प्रिय तथा मनोहर वादिन्त्र आदि गायन सुने। नृत्य देखे। नाटक,कुश्ती आदि का अवलोकन किया। विदूषको का हास्य तथा उनकी वाचालता देखी और चित्रो द्वारा दिखाये जाने वाले खेल देखे, इन सब बातो का ब्रह्मचारी को स्मरण नही करना चाहिए। उसे ऐसी किसी भी बात का स्मरण नही करना चाहिए कि जिससे तप, सयम और ब्रह्मचर्य मे खामी लगे।

५ साधु ऐसा आहार नहीं करे कि जिसमें घृतादि विकार वर्धक सामग्री अधिक हो। दूध, दही, घृत, मक्खन, तेल, गुड, शक्कर, मिश्री आदि तथा इनसे बने हुए पक्वान मिष्टान्न आदि का सेवन नही करे। ऐसे सभी प्रकार के आहार को त्याग दे–जिससे विकार बढ कर ब्रह्मचर्य की घात होती है।

साधु अधिक आहार भी नही करे। नित्य सरस आहार नही करे। दाल शाक आदि अधिक नही खावे। इतना ही आहार करे, कि जिससे सयम यात्रा का निर्वाह हो सके तथा चित्त में चचलता न होकर धर्म से पतित नही बनना पडे।

यह ब्रह्मचर्य महाव्रत महाघोर है। इसका पालन सयमी व तपस्वी ही कर सकते है। सभी तपो में ब्रह्मचर्य व्रत उत्तम तप है (सूयग० १–६) किन्तु इसकी साधना भी बाह्य और आभ्यन्तर तप

करने वाले ही सरलता से कर सकते हैं । प्रकाम भोजी—सरस आहार करने वाले भरपेट तथा अतिमात्रा में खाने वाले और तपस्या से रहित व्यक्ति से ब्रह्मचर्य का पालन होना कठिन है—असम्भव है । भगवान् ने बताया है कि 'यदि विकार जागृत हो जाय तो आहार कम करदे खड़ा होकर कायुत्सर्ग करे विहार *कर जाय अन्त में आहार का सर्वथा त्याग करदे (आचा० १-५-४) और स्त्रियों से संभाषण भी* नहीं करें' (आचा० १-५-४) । विकार हटाने के ये उत्तम उपाय हैं ।

उपरोक्त नियमों का भली प्रकार से पालन करने वाले और ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न करने वाले सभी स्थानों को दूर से ही त्यागने वाले महात्मा ही इसका पूर्ण रूप से पालन कर सकते हैं (उत्त०१६)

ब्रह्मचर्य व्रत पाँचों अणुव्रतों और महाव्रतों का मूल है । सुसाधुओं द्वारा सेवन किया हुआ है । संसार समुद्र से पार करने वाला है । वर विरोध का उपघात करने वाला है । तीर्थंकर भगवंतों ने इस उत्तम धर्म का उपदेश दिया है । इसके पालन करने वाले नरक तिर्यंच गति में नहीं जाते । उनके लिए स्वर्ग और मोक्ष के द्वार खुले रहते हैं । ब्रह्मचारी देव और नरेन्द्र के लिए भी पूजनीय एवं वंदनीय है । वह काम विजेता संसार में उत्तम मंगल रूप है । इसका शुद्धता पूर्वक पालन करने वाला ही सच्चा ब्राह्मण सुश्रमण सुसाधु और ऋषि कहलाता है । वही मुनि है वही संयत है और वही भिक्षु है ।

पाँचवाँ महाव्रत

परिग्रह का सर्वथा त्याग— परिग्रह दो प्रकार का है-१ बाह्य और २ आभ्यन्तर । घर खेत बाग बगीचे सोना चाँदी हीरे मोती धन धान्य तथा घृत शक्कर गुड़ आदि गाय भैंसादि पशु दास दासी वाहन वस्त्र आभूषण शय्या आसन बर्तन आदि बाह्य परिग्रह हैं । और किसी भी वस्तु पर ममता (मूर्च्छा) रखना आभ्यन्तर परिग्रह है । हास्य रति अरति भय शोक घृणा क्रोध मान माया लोभ स्त्री सम्बन्धी भोगेच्छा पुरुष सम्बन्धी भोगेच्छा नपुंसक की भोगेच्छा और मिथ्यात्व ग्रहण-ये सब आभ्यन्तर परिग्रह हैं । वैसे अपनी आत्मा के सिवाय जितनी भी पर वस्तुऐं हैं और उन्हें ममत्व पूर्वक अपनाया जाता है वह सब परिग्रह है । पर वस्तु में अपनेपन की भावना परिग्रह कहलाती है । इसलिए यदि शरीर पर ममत्व हो तो शरीर भी परिग्रह है ।

धर्म साधना के लिए निर्ममत्व बुद्धि से ग्रहण किये जाने वाले रजोहरणादि उपकरण तथा लज्जा और शीतादि निवारणार्थ वस्त्र परिग्रह में नहीं माने जाते । क्योंकि ये साधन ममत्व बुद्धि से नहीं रखकर संयम पालन में सहायक होने से रखे जाते हैं (दशवै ६)

परिग्रह लोभ कषाय के कारण होता है और उसकी प्राप्ति वृद्धि तथा रक्षण में क्रोध मान

तथा माया का सेवन होता है। ज्यो ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो त्यो लोभ बढता जाता है और विश्वभर की सम्पत्ति तथा साम्राज्य प्राप्त करने की तृष्णा जगती है। यह तृष्णा, आत्मा के लिए महान् भयानक होकर नरक निगोद के भयकर दु खो मे फँसा देती है।इस प्रकार के परिग्रह रूपी पाप का मन, वचन और काया से करण करावन और अनुमोदन के सर्वथा त्याग करने वाला ही इन महाव्रत का सच्चा पालक होता है।

कोई भी वस्तु,चाहे वह छोटी हो या बडी,अल्प मूल्य वाली हो या बहुमूल्य की, साधु, उसे ग्रहण करके रखने की इच्छा भी नही करे। क्योकि इससे साधु की लोभ वृत्ति जागेगी और उसके पास परि-ग्रह देखकर दूसरे की भी लोभ वृत्ति बढेगी। वस्तुएँ तो दूर रही, परन्तु खाने पीने की-जीवन निर्वाह की चीजो का भी सग्रह नही करे। साधु, जीवन निर्वाह के लिए सदोष आहार का भी सेवन नही करे।

परिग्रह त्यागी मुनि को,सयमी जीवन का निर्वाह करने के लिए, कुछ उपकरणो की आवश्यकता होती है। उन उपकरणो का ममत्व रहित होकर निर्दोष रीति से उपयोग करता है, तो वह अपरिग्रही ही रहता है। वे उपकरण ये है,—

१ काष्ठ, मिट्टी या तुम्बी के पात्र (जो तीन से अधिक नही हो) २ पात्र बाँधने का वस्त्र, ३ पात्र पोछने का कपडा, ४ पात्र के नीचे बिछाने का कपडा, ५ पात्र ढकने का कपडा। ६ पात्र लपेटने का कपडा। ७ पात्रादि साफ करने का कपडा। ये सब पात्र से सम्बन्धित है, इनमे से जघन्य ३ मध्यम ५ और उत्कृष्ट ७ रख सकते है। इनके अतिरिक्त मात्रक (मूत्रादि परठने का पात्र) भी रखने की रीति है) ८-१० ओढने के लिए अधिक से अधिक तीन चद्दरे ११ रजोहरण १२ चोल पट्टक और १३ मुखवस्त्रिका। उपरोक्त उपकरणो का राग द्वेष रहित होकर सावधानी पूर्वक उपयोग करे। इनकी प्रतिलेखना और प्रमार्जना बराबर करे (प्रश्नव्याकरण २-५)

साधुओ के लिए वस्त्र रखने के तीन कारण है-१ लज्जा निवारण करने के लिए २ निन्दा से बचने के लिए, और ३ शीतादि परिषह से बचने के लिए (ठा॰ ३-३) इनमें भी ममत्व नही होना चाहिए।

"साधु रात्रि को तेल, नमक, गुड, घृत आदि पदार्थ सग्रह करके नही रखे। सग्रह वृत्ति लोभ से होती है और जो सचय करता है, वह भाव से तो गृहस्थ ही है (दशवै ६-१८, १९)

"साधु अणु मात्र का भी सचय नही करे"। (दशवै ८-२४ तथा उत्तरा ६-१६)

"जो सचित्त या अचित्त किंचित् भी परिग्रह रखता है, वह मुक्त नही हो सकता।

(सूय० १-१-१-२)

इस प्रकार बाह्य परिग्रह के त्याग की शिक्षा देने के बाद आभ्यन्तर परिग्रह को त्यागने का उपदेश करते हुए प्रश्नव्याकरण २-५ में लिखा है कि—

बाह्य परिग्रह का त्यागी साधु अन्तर परिग्रह का भी त्याग करे। उन्हें सत्कार और तिरस्कार में सम्मान और अपमान में पूजन वाले और मारने वाले के प्रति राग द्वेष नहीं करके समभाव से रहना चाहिए। यदि सम्मान पूजा और प्रतिष्ठा के प्रति राग भाव होगा और अपमान तिरस्कार तथा निन्दा के प्रति द्वेष भाव होगा तो वह आभ्यन्तर परिग्रही हो जायगा। शरीर रूपी परिग्रह के त्याग के लिए मुनि को बावीस प्रकार के परिषहों का समभाव से सहन करना चाहिए। भय भी आभ्यन्तर परिग्रह है। अतएव उस भय को जीत कर निर्भय हो जाना चाहिए। परिग्रह का त्याग ही मुक्ति है जब तक परिग्रह है तब तक मुक्ति नहीं है। इसलिए बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का तीन करण और तीन योग से सर्वथा त्याग करना चाहिए।

जिसके पास अल्प परिग्रह भी है तो वह गृहस्थ जैसा है। (आचारांग १–५–२)

परिग्रह त्याग महाव्रत की पांच भावनाएँ —

१ श्रोतेन्द्रिय के विषय में राग द्वेष नहीं करे।

अनेक प्रकार के वादिन्त्र गीत तथा अपनी प्रशंसा के वचनों को सुनकर उन पर प्रीति नहीं करे। लीला पूर्वक गमन करती हुई युवती के मंजुल स्वर तथा कर्ण प्रिय वचन उनके नूपुर आदि की आकर्षक आवाज आदि पर आसक्त नहीं होवे और ऐसे पूर्व सुने हुए आकर्षक वचनों का चिंतन भी नहीं करे।

आक्रोशकारी निन्दाजनक अपमानकारक तर्जनारूप निर्भत्सना रूप भयोत्पादक दीनतायुक्त रुदन के शब्द और पापकारी शब्द के प्रति द्वेष नहीं करे। ऐसे शब्दों की हिंसना तथा निन्दा भी नहीं करे। इस भावना से महाव्रत को भावित करने वाले साधु की आत्मा पवित्र होती है।

२ दृष्टि संवर—सचित्त अचित्त और मिश्र सुन्दर वस्तु सुरूपवान् स्त्री और पुरुष के रूप मनोहर चित्र और प्रतिमाएँ पुष्प गुच्छे गजरे और पुष्पमालाएँ वन बगीचे पर्वत नदी तालाब कुंड नहर और कमल पुष्पों से सुशोभित सरोवर नगर भवन तोरण देवालय चैत्य मठ सभा प्याऊ शय्या आसन और पालकी आदि वाहन सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित स्त्री पुरुषों के समूह नाटक कथक और आख्यान आदि खेल और दूसरे सुन्दर दृश्यों को देखकर उनमें आसक्त नहीं होवे उनका मनमें चिंतन भी नहीं करे।

कुरूपों-बुरे दृश्यों—गडमाला आदि रोग के रोगी कोढ़ी जिसके अंग उपांग कटे या हीनाधिक हो जलोदर का रोगी लगड़ा लूला ठिगना जन्मान्ध काना विकृत मुर्दा तथा सड़ी हुई वस्तुएँ और विष्ठा आदि वस्तुओं को देखकर घृणा नहीं करे। उनकी निन्दा नहीं करे। इस प्रकार दृष्टि संवर रखने वाले की आत्मा पवित्र होती है।

३ घ्राणेन्द्रिय संवर—सुगन्धित पुष्पों फलों पानी (गलाबजल केवड़ाजल आदि) पुष्पों के पराग तगर तमाल इलायची चन्दन कपूर लौंग अगर केसर जग आदि सुगन्धित तेल इत्र धूप

आदि तथा भोजन आदि की सुगन्ध पाकर उसमे प्रीति नही करे अनुराग नही लावे।

दुर्गन्धो के प्रति द्वेष नही करे। सडे हुए पशुओ के शव, और विष्ठादि की दुर्गन्ध आने पर, उन पर द्वेष नही करे-निन्दा नही करे।

४ रसनेन्द्रिय सवर-मोनहर और उत्तम भोजन पदार्थ, सुस्वादु पेय, चरपरे चाट, आचार, मुरब्बे, दुग्ध, दही, घृत, तथा शाके, फल, मिष्टान्न आदि पर लुब्ध नही होवे, और अरस, विरस, ठडे, रूखे, नि सार, तथा स्वाद हीन, बदबूदार कडवे, तीखे, कषायले, खट्टे पदार्थों के प्रति द्वेष नही करे। उनकी निन्दा नही करे।

५ स्पर्शेन्द्रिय विजय-मुलायम और कोमल वस्त्र, ठडी हवा, जलमडप चदनादि का शीतलविलेपन' कोमल शय्या, पुष्पो से सजी हुई शय्या, सुख दायक आसन, मुक्ताहार, पुष्पमालाएँ, सुखदायक चाँदनी रात, गर्मी में ताड, खस आदि के पखे से निकली हुई शीतल हवा, शीतकाल मे शाल, दुशाले, अग्नि ताप और सूर्य की सुहाति हुई धूप तथा सभी ऋतुओ के अनुकूल सुखदायक स्पर्श-जिनसे सुखानुभव हो, इच्छा नही करे, आसक्ति नही लावे। इतना ही नही इस प्रकार के अनुकूल स्पर्श का चिन्तन भी नही करना चाहिए। इसके विपरीत जो प्रतिकूल स्पर्श है, जैसे-वध, बन्धन, चर्म छेद, अग भग, शूल चुभाना, जलाना, बिच्छु आदि का डक मारना, डाँस मच्छर का परिषह, प्रतिकूल वायु, कष्ट दायक धूप, दु खदायक शय्या आसन तथा इसी प्रकार के अन्य अप्रीति कारक, अरुचिकर एव दु खदायक स्पर्श के प्रति द्वेष नही करे, निन्दा नही करे और समभाव से सयम का पालन करे। (प्रश्नव्या० २-५)

परिग्रह त्याग रूप पाँचवे महाव्रत के पालक निर्ग्रंथ श्रमण, जीवन निर्वाह के लिए शुद्ध एव निर्दोष आहारादि लेते है। इसकी विधि 'एषणा समिति' के प्रसग में बताई गई है। उनके ठहरने के स्थान भी निर्दोष ही होते है।

उपसंहार

ऐसे महाव्रतधारी निर्ग्रंथ के धर्म रूपी वृक्ष का सम्यक्त्व रूपी मूल विशुद्ध होता है। धैर्य रूपी कन्द है। इस वृक्ष के विनय रूपी वेदिका है। इस धर्म के पालन से, विश्व मे (तीन लोक में) फैला हुआ सुयश, इस वृक्ष का स्कन्ध है। पाच महाव्रत रूपी विशाल शाखाएँ है। अनित्य भावना इस विशाल वृक्ष की त्वचा है। धर्म ध्यान शुभ योग और विकसित ज्ञान, इस वृक्ष के अकुरित पल्लव है। अनेक प्रकार के गुण रूपी पुष्पों से यह धर्म रूपी वृक्ष सुशोभित है। शील=शुद्धाचार रूपी सुगन्ध से यह वृक्षराज, सुगन्धि फैला रहा है। आत्मा की स्वतन्त्र दशा को विकसित करना=बन्धन नही होने देना, इस वृक्ष राज के फल है और पूर्णानन्द दशा=मोक्ष की प्राप्ति ही इस धर्म रूपी वृक्ष के बीज का सार तत्त्व है। जिन महान् आत्माओ मे, महाव्रत रूपी धर्म वृक्ष वृद्धि पाता है और जो धर्म रूपी सुन्दर तथा सुगन्धित उपवन मे सदा विहार करते है, वे मोक्ष के शाश्वत सुख को प्राप्त करेंगे। (प्रश्नव्या० २-५ तथा उत्त० १६)

६–१० इन्द्रिय निग्रह

कान आँख नाक जिह्वा और सारा शरीर ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पांच इन्द्रियों के २३ विषय हैं। यथा–

१ कान इन्द्रिय का विषय शब्द सुनना है। इसके तीन भेद हैं–१ जीव शब्द २ अजीव शब्द (लोहा लकड़ा सोना पीतल आदि के गिरने से या परस्पर की टक्कर से निकली हुई आवाज तथा ताल मृदंग झांझ आदि की आवाज) और ३ मिश्र शब्द–बिगुल आदि मुंह से बजाने से वादित्र से निकली हुई आवाज। इन तीन विषयों के शुभ शब्द और अशुभ शब्द यों ६ भेद हुए। शुभ पर राग और अशुभ पर द्वेष होना यों बारह विकार हुए।

२ चक्षु इन्द्रिय के पाँच विषय हैं। ये पाँचों वर्ण हैं–काला नीला लाल पीला और श्वेत।

इन पाँच विषयों के ६० विकार हैं। जैसे–पाँच विषयों का सचित्त अचित्त और मिश्र से तीन गुणा करने पर १५ हुए। ये पन्द्रह शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। अतएव ३० भेद हुए। इन पर राग द्वेष होना विकार है। तीसों भेदों पर राग और तीसों पर द्वेष यों कुल ६० विकार हुए।

३ घ्राण (नासिका) से सूंघने के दो विषय हैं–१ सुगन्ध और २ दुर्गंध ये भी सचित्त अचित्त और मिश्र भेद से ६ हुए और राग द्वेष रूप विकार से सूंघने पर १२ विकार हुए।

४ रसनेन्द्रिय के ५ विषय–१ तीखा २ कडुआ ३ कषैला ४ खट्टा और ५ मीठा। ये पाँचों सचित्त भी होते हैं अचित्त भी और मिश्र भी। अतएव १५ भेद हुए। प्रत्येक के शुभ अशुभ भेद से ३० हुए। इन तीस पर राग और द्वेष होना ६० विकार हुए।

स्पर्शेन्द्रिय के आठ विषय–१ कर्कश (पत्थर जैसा कठोर) २ मृदु (कोमल–मुलायम) ३ हल्का ४ भारी ५ शीत (ठंडा) ६ उष्ण ७ स्निग्ध (चिकना) और ८ रूक्ष।

ये आठ स्पर्श सचित्त भी होते हैं अचित्त भी और मिश्र भी। अतएव २४ हुए। ये २४ शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। अतएव ४८ हुए। इन ४८ पर राग करना और द्वेष करना। इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय के ९६ विकार हुए।

इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के २३ विषय और २४० विकार होते हैं। इन सभी विषयों और विकारों को रोकने से आत्मा पवित्र होता है। अनुकूल पर राग नहीं करने और प्रतिकूल पर द्वेष नहीं करने वाले महात्मा की विषय वासना नष्ट हो जाती है। जब विषय वासना नष्ट हो जाती है तो कषाय भी नष्ट होती है और वीतरागता प्रकट होती है। अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावना में इसका कुछ समावेश किया है।

श्रोतेन्द्रिय का स्वभाव है—शब्द को सुनना। आँख रूप को देखती है। नासिका में गन्ध प्रवेश करती है। जिह्वा स्वाद लेती है। शरीर को स्पर्श होता है। यदि इच्छा नही करे, तो भी शब्दादि विषय, इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण हो ही जाते है, किंतु ग्रहण हो जाना ही कोई दोष नही है। दोष है उन पर राग और द्वेष करने में। राग और द्वेष ही से ये विकार बनकर आत्मा को सताते है। इसलिए परम कृपालु भगवन्त फरमाते है कि हे भव्यात्माओ! इन्द्रियो का दमन करो, जिससे उनके विषय तुम्हारी आत्मा में विकार उत्पन्न नही कर सके'। परम तारक प्रभु ने श्री उत्तराध्ययन के ३२ वे अध्ययन मे फरमाया कि—

"रूपो मे आसक्त होने वाले जीव, पतगे की तरह अकाल मे मृत्यु को प्राप्त कर लेते है। वीणा की मधुर आवाज पर मोहित मृग की तरह, शब्द लोलुप प्राणी भी मोत के मुह में चला जाता है। गन्धाकर्षित सर्प की तरह गध मे अत्यन्त लोलुप जीव भी अपना प्राणान्त करवा लेता है। रस लोलुप मच्छ की तरह अत्यन्त चटोरा व्यक्ति भी काल के गाल मे चला जाता है और ठडे पानी मे पडा हुआ भैसा जिस प्रकार मगर का ग्रास बन जाता है उसी प्रकार स्पर्श के सुखो मे अत्यन्त मूर्च्छित हुए जीव, अपना विनाश कर बैठते है"।

"जो भव्यात्माएँ इन्द्रियो के विषयो से विरक्त रहती है—राग द्वेष नही करते है और शुभ तथा अशुभ विषयो मे समभाव रखते है— वे वीतराग होते है'। अनुकूल विषयो में राग और प्रतिकूल विषयो मे द्वेष करने वाले अपनी आत्मा मे विकार बढाते है। इस विकार के कारण वे दुखी होते है। वास्तव मे विषयो मे कोई दोष नही है—दोष है राग द्वेष रूपी विकार का ही। राग द्वेष के वश होकर प्राणी दुख समूह को बढा लेता है"।

विषयो के वश होकर जीव, प्राणियो की हिंसा करता है और अनेक प्रकार के पाप करता है। वह विषय पूर्ति के साधन जुटाने, प्राप्त साधनो की रक्षा करने और अधिकाधिक प्राप्त करने रूप अपरिमित इच्छा में ही लगा रहता है। उसकी तृष्णा बढती ही जाती है और साथ ही उसे चिन्ताएँ भी घेरे रहती है कि 'कही ये सुख—साधन नष्ट नही हो जाय, कोई चुरा नही ले'। इस प्रकार वह प्राप्त करने में भी दुखी है और प्राप्त कर के भी दुखी रहता है। उन विषयो का भोग करके भी वह तृप्त नही होता। उसकी तृष्णा बढती ही जाती है। विषयो के वश पडा हुआ जीव, चोरी जैसे निन्द्य कर्म भी करता है, तथा कूड कपट और दभादि अनेक प्रपञ्च करता है। इस प्रकार वह अशुभ कर्मों का उपार्जन करके दुखो की परम्परा बढा लेता है।

"जो भव्य आत्माएँ विषयो से विरक्त है, उन्हे तृष्णा, चिन्ता, शोक और दुख नही होता। वे ससार में रहते हुए भी जल मे रहे हुए कमल के पत्ते की तरह निर्लेप रहते है। क्योकि इन्द्रियों के विषय, रागी मनुष्यो के लिए ही दुख के कारण होते है। जिन्होने राग द्वेष को जीत लिया, जिनका

ममाज्ञ के प्रति राग नहीं है और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष नहीं है, उन विरक्त महात्माओं के लिए वे दुःख दायक नहीं होते ।

जो त्यागी मुनि इन पाँचों इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखकर इनके साथ लगी हुई रति-अरति=राग द्वेष की वृद्धि को त्याग देते हैं वे ही सच्चे अनगार हैं।

११-१४ कषाय विवेक

क्रोध मान माया और लोभ-इन चारों को 'कषाय' विशेषण दिया गया है। जिसके द्वारा कष=संसार का आय=वृद्धि हो, उसे कषाय कहते हैं। अथवा जिसके योग से आत्मा में विभाव दशा उत्पन्न होकर स्वाभाविक स्थिति दब जाय वह कषाय है। जीव का संसार में भटकना और नरक निगोदादि भयंकर दुःखों को सहन करने का मूल कारण ही कषाय है और कषायों की उत्पत्ति का कारण है मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म के कारण ही जीव अनादिकाल से भटक रहा है।

११ क्रोध-आत्मा की वह आवेश मय स्थिति है कि जिससे वह अशान्त तप्त और ज्वलनशील होकर उचितानुचित तथा हिताहित का विवेक भूल जाता है। उग्र क्रोध स्व-पर नाश का कारण बन जाता है। क्रोध के उदय से शान्त दिखाई देने वाला व्यक्ति भी अशान्त होकर रौद्र रूप धारण कर लेता है। यह सब क्रोध मोहनीय कर्म के उदय का परिणाम है।

१२ मान-आत्मा में अहंकार की उत्पत्ति को मान कहते हैं। इसीसे जाति कुल आदि का घमंड होता है। अपने को सर्वोच्च और दूसरों को तुच्छ बतलाने की वृत्ति के पीछे मान कषाय रहती है। मान कषाय के दक्षरूपम ठगमी आदि कई लक्षण हैं।

१३ माया-कपटाई का परिणाम माया कषाय से होता है। धोकाबाजी ठगी और छल के द्वारा दूसरों को ठगना अपनी हीनता को दबाकर श्रेष्ठता प्रदर्शन करने का दंभ करना ये सब माया कषाय के अन्तर्गत हैं।

१४ लोभ-धन धान्य वस्त्राभूषण घर हाट हवेली बाग बगीचे वाहन आसन शय्या गाय भैंस आदि पशु स्त्री पुत्रादि और इन्द्रिय भोगादि सामग्री प्राप्त करने की इच्छा तृष्णा और प्राप्त वस्तु में मूर्च्छा ममता आदि लोभ कषाय के कारण होती है।

उपरोक्त चारों कषायों के प्रत्येक के चार चार भेद हैं। जैसे कि-१ अनन्तानुबंधी २ अप्रत्याख्यानी ३ प्रत्याख्यानी और ४ संज्वलन।

अनन्तानुबंधी-जिस कषाय के कारण जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करने योग्य कर्मों का संचय करे और जिसके कारण मिथ्यात्व के दलिक दृढ़ बनें उसे अनन्तानुबंधी कषाय

कहते हैं। इम कपाय के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण की घात होती है। इस कषाय की स्थिति जीवन पर्यन्त रहती है। (यह व्यवहार स्थिति है, ऐसा प्रथम कर्मग्रथ गा० १८ की टीका में लिखा है) इसके कारण नरक गति के योग्य कर्मों का बध होता है।

अप्रत्याख्यानावरण–जिसके उदय से जीव के दर्शन गुण का तो घात नही होता, परन्तु वह अविरत ही रहता है। उसमे किंचित् भी विरति नही होती। वह देशविरत श्रावक भी नही हो मकता। इसकी स्थिति एक वर्ष की है। और तिर्यच गति के योग्य कर्म बन्ध होता है।

प्रत्याख्यानावरण–जिसके उदय से सर्व विरति–अनगार धर्म की प्राप्ति नही हो सकती। यह कषाय आत्मा के सर्व–निवृत्ति रूप धर्म को रोकता है। इसकी स्थिति चार मास की है। इस स्थिति में मनुष्य गति के योग्य बन्ध होता है।

सज्वलन– प्रतिकूल परिस्थिति=परिषहो–कष्टो के उपस्थित होने पर जो किंचित् सताप उत्पन्न करे, थोडी जलन पैदा करे, उसे सज्वलन कषाय कहते है। यहा कषाय का उदय उग्र नही होकर मन्द होता है, इतना मन्द कि जिससे सर्व विरति गुण तो सुरक्षित रहता है, परन्तु यथाख्यात= सर्वोच्च चारित्र में रुकावट होती है।

इस कषाय की स्थिति एक पक्ष की है। इसमें देव गति के योग्य बध होता है।

क्रोध कषाय की उपमाएँ

अनन्तानुबन्धी क्रोध–जिस प्रकार पर्वत के फटने से पडी हुई दरार वापिस नही मिलती, उसी प्रकार जो क्रोध किसी भी उपाय से शान्त नही होता, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

अप्रत्याख्यानी क्रोध–तालाब के सूख जाने पर उसमे पडी हुई दरार वर्षा होने पर पुन मिल जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध उपदेशादि विशेष परिश्रम से शान्त हो जाता है

प्रत्याख्यानी क्रोध–रेत में खीची हुई लकीर, हवा चलने से मिट जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध साधारण उपाय से शान्त हो जाता है

सज्वलन क्रोध–पानी मे खीची हुई लकीर के समान तत्काल ही शान्त हो जाने वाला क्रोध।

मान कषाय की उपमाएँ

अनन्तानुबन्धी मान–पत्थर के खभे की तरह कभी नही झुकनेवाला घमण्ड।

अप्रत्याख्यानी मान–हड्डी के खभे की तरह–जो अटूट परिश्रम और प्रबल उपायो मे छुटनेवाला अभिमान।

प्रत्याख्यानी मान–काष्ठ का स्तभ तेल आदि के प्रयोग से झुकता है, उसी प्रकार जो किञ्चित् उपाय से छूटे।

सज्वलन मान–बेंत की लकड़ी की तरह सहज ही नमने=झुकने वाला मान।

माया कषाय की उपमाएँ

अनन्तानुबन्धी माया–बांस की सुदृढ़ जड़ का टेढ़ापन किसी भी प्रकार से दूर नहीं होता। वह सीधी नहीं हो सकता। उसी प्रकार जो माया कभी छूटती ही नहीं।

अप्रत्याख्यानी माया– मेंढे का सींग अनेक उपाय करने पर बड़ी कठिनता से झुकता है। उसी प्रकार जो माया बड़ी कठिनता से दूर हो।

प्रत्याख्यानी माया–जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर सूख जाने पर मिट जाती है। उसी प्रकार जो माया साधारण से प्रयत्न से ही दूर हो जाती हो।

सज्वलनी माया–जिस प्रकार बांस की छाल बिना प्रयत्न के ही सीधी हो जाती है उसी प्रकार जो माया शीघ्र ही बिना प्रयत्न के छूट जाय।

लोभ कषाय की उपमाएँ

अनन्तानुबन्धी लोभ–किरमची रंग अमिट होता है। उसी प्रकार जो लोभ कभी नहीं छूटे।

अप्रत्याख्यानी लोभ–कर्दम (कीचड़) के समान जो बड़े परिश्रम से–अनेक प्रयत्न करने पर छूटे।

प्रत्याख्यानी लोभ–खञ्जन (काजल) की तरह सरलता से छूटनेवाला।

सज्वलन का लोभ–हल्दी के रंग की तरह सहज ही छूटनेवाला लोभ।

ये चारों कषायें बड़ी भयानक हैं। इन्हीं से समस्त जन्म मरण रूपी संसार की वृद्धि होती है। 'संसार रूपी वृक्ष के मूल का कषाय रूपी पानी से ही सिंचन होता है।

क्रोध से प्रीति का नाश होता है। मान विनय गुण को नष्ट करता है। माया मैत्री भाव को मिटाती है और लोभ तो समस्त गुणों का नाशक है। दुःख के मूल कारण इन कषायों को नष्ट करने के लिए अचूक उपाय बताते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि–

उपशम=शान्ति=क्षमा से क्रोध को नष्ट करो। मृदुता = कोमलता = नम्रता से मान को जीतो। सरलता से माया को जीतो और सन्तोष से लोभ को जीतना। (दशवै० ८)

कषाय जीव के लिए बड़ी भयानक शत्रु है। इसीसे तो राग द्वेष होकर मोह रूपी कर्मराज आत्मा को दबाव रखता है। इसी से कर्म को कुछ न्यूनाधिक मन्द से लेकर तीव्रतम रस बन्ध होता है और बहुत लम्बे काल की स्थिति भी इसी के कारण बंधती है। जो संसार त्यागी श्रमण हैं वे तो प्रथम की तीन प्रकार की कषायें त्याग चुके हैं। अब उनके केवल सज्वलन की ही कषाय शेष रहा है जिसका उदय सामग्री होता है। वे सदैव सावधान रहकर प्रथम की अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायों का उदय में नहीं आने देते। उन्हें फिर उगने का अवसर ही नहीं आने देते और अप्रमत्तता का सदा रंग

कर सज्वलन कषाय को भी समाप्त करने में उद्यमवन्त रहते है। इस प्रकार जो कषाय विवेक रखते है, वे ही सच्चे अनगार हैं।

१५ भाव सत्य

अनगार भगवत का पन्द्रहवाँ गुण 'भावसत्य' है। निष्ठा पूर्वक सयम की आराधना करनेवाले श्रमण का जीवन, मूर्तिमान सत्य होता है। भाव सत्य का अर्थ है–अन्तरात्मा को शुद्ध रखना। उसमे कूड, कपट तथा दुर्भावना नही होने देना।

पाँच इन्द्रियो के विषयो और विकारो का मूल, भाव ही तो है। आत्मा के विकारी भाव से मन विकारी बनता है और उसी से इन्द्रियों के विषयों में राग द्वेष होता है। वास्तव में जीव के लिए दुःख दायक अपने खुद के विकारी भाव ही है। जितने अप्रशस्त भाव है, वे सब आत्मा को अशुद्ध बनाकर दुःखो की परम्परा खडी करने वाले है। यदि आत्मा, शुद्ध रहे तो उदय अपना फल देकर नष्ट हो जाता है–कर्मों की निर्जरा हो जाती है और आत्मा, परमात्मा बन जाता है।

गुणवान अनगार, आत्मा में क्रोधादि कषाय और इन्द्रियो के विषयों के प्रति राग द्वेष उत्पन्न नही होने देते। वे राग द्वेष की परिणति से विमुख होकर विनय, वैयावृत्य और स्वाध्याय मे रत रहते है। अनित्यादि भावना द्वारा धर्मध्यान में वृद्धि करते है और शुक्ल ध्यान की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहते है। उपशम क्षयोपशम और क्षायिक भाव वालो आत्मा के भाव–सत्य होता है। ऐसे शुद्ध अन्त करण वाले मुनिराज ही वास्तविक अनगार होते है।

१६ करण सत्य

अनगार का सोलहवा गुण "करण-सत्य" है। करण सत्य का अर्थ है–सच्ची करणी करना अथवा सयम की साधना यथार्थ रीति से करना। श्रमण समाचारी का भली प्रकार से पालन करना करण सत्य है।

समाचारी के दस भेद

समाचारी का स्वरूप उत्तराध्ययन अ० २६ मे सक्षिप्त रूप से इस प्रकार है। १ उपाश्रय से बाहर जाते समय तीन बार 'आवश्यकी' कहे और २ कार्यकर के वापिस आने पर तीन बार 'नैषेधिकी' कहे, ३ गुरु आदि से पूछकर कार्य करे, ४ दूसरों का कार्य करने का पूछना, ५ आहारादि के लिए दूसरे मुनियों को पूछना–"छदना" समाचारी है, ६ दूसरो की इच्छानुसार कार्य करना 'इच्छाकार' समा-

चारी है ७ दोष लगने पर आत्म निन्दा करना मिच्छाकार है ८ गुरुजनों के वचनों को स्वीकार करना तथाकार' है ९ गुरु जनों की विनय-भक्ति करना और बाल वृद्ध तथा रोगी साधुओं की आहारादि से सेवा करने में तत्पर रहना 'अभ्युत्थान समाचारी है और १० विशेष ज्ञानादि के लिए दूसरे गच्छ में विशेष ज्ञानी के समीप रहना उपसम्पदा' नाम की दसवीं समाचारी है।

दिन चर्या

सूर्योदय होने पर भण्डोपकरण की प्रतिलेखना करे फिर गुरु को वन्दना करे और हाथ जोड़कर पूछे कि 'भगवन्! मैं क्या करूं? वैयावृत्य करूं या स्वाध्याय करूं? गुरु महाराज की आज्ञा हो तद-नुसार वैयावृत्य या स्वाध्याय करे।

दिन के पहले प्रहर में स्वाध्याय करे। दूसरे में ध्यान करे। तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी करे और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे। रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करे। तीसरे प्रहर में निद्रा का त्याग करके चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे।

दिन के पहले प्रहर के चार भाग में से प्रथम भाग में भण्डोपकरण की प्रतिलेखना करे फिर गुरुजनों को वन्दना करके मोक्ष प्रदायक स्वाध्याय करे। और अंतिम (चौथे) भाग में गुरुवन्दन करके पात्रों की प्रतिलेखना करे। फिर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके रजोहरण की प्रतिलेखना करे। उसके बाद वस्त्रों की प्रतिलेखना करे। प्रतिलेखना की विधि इस प्रकार है।

वस्त्र को ऊँचा रख दृढ़ता से पकड़े प्रतिलेखना में शीघ्रता नहीं करे और शुरू से अन्त तक देखे। फिर उसे यतना पूर्वक धीरे से झटके। इसके बाद प्रमार्जना करे। प्रतिलेखना करते हुए शरीर अथवा वस्त्र को नचावे नहीं वस्त्र को मुड़ा हुआ नहीं रखे। जोर से नहीं झटके। किसी दूसरी वस्तु से नहीं फटके। अपुरिम = वस्त्र के दोनों ओर तीन तीन बार खंखेरना। 'नवखोटक' = तीन तीन बार पूंजकर तीन तीन बार शोधन करना। यदि कोई जीव दिखाई दे तो उसे हथेली पर लेकर यतना से रखे।

प्रमाद पूर्वक की जाने वाली प्रतिलेखना दोष पूर्ण होती है। इसके छ भेद हैं—१ उतावल के साथ और विपरीत रीति से प्रतिलेखना करे या एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करने लग २ वस्त्र के पट अथवा कोने दबे हुए हो रहे पूरे खुले नहीं अथवा उपकरण को दबाते हुए प्रतिलेखना करे ३ प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र को ऊपर नीचे अथवा दिवाल आदि पर पटकना ४ जोर से झटकना ५ प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों को बिना प्रतिलेखन किये हुए वस्त्रों में मिलाना या विक्षिप्त की तरह इधर उधर फेंकना और ६ दोनों हाथों के बीच में घुटने करके

प्रतिलेखना करना अथवा घुटने के ऊपर नीचे हाथ रखना। इन दोषो को त्यागना चाहिए। वस्त्र को ढीला पकडना, दूर रखना, भूमि पर रोलना, बीच से पकड कर झाडना, शरीर और वस्त्र को हिलाना, प्रमाद पूर्वक प्रतिलेखना करना और शकित होकर गिनना—ये सात दोष भी नही लगाना चाहिए और न्यूनाधिकता तथा विपरीतता से रहित प्रशस्त प्रतिलेखना करना चाहिए। प्रतिलेखना करते समय किसी से बाते करना अथवा देशकथा आदि कथा करना, या प्रत्याख्यान कराना या वाचना देना या लेना भी दोष सेवन ही है। प्रमाद पूर्वक प्रतिलेखना करने वाला, पृथ्वीकाय आदि छहो काया के जीवो का विराधक होता है, और सावधानी पूर्वक प्रतिलेखना करता हुआ साधु, छहो काया के जीवो का रक्षक होता है।

दूसरे प्रहर मे ध्यान करना चाहिए और तीसरे प्रहर मे आहार पानी की गवेषणा करे। आहार पानी के कारण और विधि 'एषणा समिति' के वर्णन में बताई गई है।

चौथे प्रहर मे पात्रो को अलग रखकर, विभाव से हटाकर स्वभाव में स्थापन करनेवाली अर्थात् आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट करने वाली (आत्मा को पवित्र करने वाली) स्वाध्याय करे। इस चौथे प्रहर के चौथे हिस्से (अन्तिम मुहूर्त) में गुरु महाराज को वन्दना करके शय्या की प्रतिलेखना करे। फिर लघुनीत और बडीनीत के स्थान की यतना पूर्वक प्रति लेखना करे। उसके बाद समस्त दुखो से मुक्त करने वाला कायुत्सर्ग करे (इसके बाद प्रतिक्रमण प्रारभ करे)। कायुत्सर्ग में ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे दिन सम्बन्धी लगे हुए अतिचारो का अनुक्रम से चिन्तन करे। काउसग्ग पाल कर गुरु वन्दन करे और फिर दिन सम्बन्धी अतिचारो की आलोचना करे। प्रतिक्रमण करके शल्य से रहित होकर गुरु वन्दन करे और फिर समस्त दुखो से मुक्त करने वाला काउसग्ग करे। काउसग्ग पाल कर गुरु वन्दन करे, फिर अरिहत सिद्ध भगवान् की स्तुति करे। इसके बाद स्वाध्याय के काल की प्रतिलेखना करे।

रात्रि चर्या

देवसी प्रतिक्रमण कर चुकने के बाद रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे और दूसरे में ध्यान करे तथा तीसरे प्रहर मे निद्रा से मुक्त होकर चौथे प्रहर में पुन ध्यान करे। चौथे प्रहर में ध्यान रखकर (अस्वाध्याय काल के पूर्व) असयति जीवो को नही जगाता हुआ (जोर से नही बोलता हुआ) स्वाध्याय करे। इस चौथी पोरसी के चौथे भाग मे प्रतिक्रमण का काल आया जानकर गुरु वन्दन करके रात्रि प्रतिक्रमण करे। मोक्ष प्रदायक काउसग्ग में रात्रि सम्बन्धी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में लगे हुए अतिचारो का क्रमश स्मरण करे। कायुत्सर्ग पालकर गुरु वन्दन करे और अतिचारों

की क्रमानुसार आलोचना करे। प्रतिक्रमण करके क्षम्य रहित होकर गुरु वन्दन करे और फिर काउसग्ग में मुझ कौनसा तप करना चाहिए इसका विचार करे और काउसग्ग पाल कर जिन भगवान् की स्तुति करे। कायत्सग पाल कर गुरु वन्दना करे और तप अंगीकार कर के सिद्ध भगवान् की स्तुति करे।

इस प्रकार संक्षेप में श्रमण समाचारी (दिन और रात्रि के कर्तव्य = करणी) बताई गई है। इसका पालन करके बहुत से जीव संसार सागर को तिर गये हैं। (उत्तराध्ययन २६)

करण—सत्य में करणसित्तरी के ७० बोलों को भी पूर्वाचार्यों ने ग्रहण किया है। वे ७० बोल इस प्रकार है।

४ आहार वस्त्र पात्र और स्थान इन चारों को निर्दोष ग्रहण करना पिंड—विशुद्धि है। ५ समिति १२ भावना १२ भिक्षु की प्रतिमा ५ इन्द्रिय निग्रह २५ प्रतिलेखना ३ गुप्ति और ४ द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से अभिग्रह।

करणसत्य का पालक सत् प्रवृत्ति वाला होता है। वह जैसा कहता है वैसा करता है।

(उत्तरा २६-५१)

१७ योग सत्य

योगसत्य अनगार भगवंत का सत्तरहवाँ गुण है। मन वचन और काया इन तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोक कर शुभ—संयम साधक प्रवृत्ति करना—योग सत्य है। मन से जो भी विचार चिन्तन और मनन हो वह शुभ ही हो। भाव सत्य में जिसके अनुसार हृदय की विशुद्धि होना और मोक्ष साधना के योग्य ही विचार होना मन सत्य है। वचन की सावद्य प्रवृत्ति को त्याग कर निरवद्य प्रवृत्ति करना—सूत्रानुसार बोलना वचन योग की सत्यता है। और शरीर द्वारा सावद्य प्रवृत्ति का निरोध कर यतना पूर्वक रहना काय—योग की सत्यता है। योग सत्य से योगों की विशुद्धि होती है। यह योग विशुद्धि अयोगी अवस्था प्राप्त कराने में सहायक होती है।

१८ क्षमा

क्रोध के भाव को नहीं आने देना। यदि क्रोध के निमित्त उपस्थित हों और आत्मा में द्वेष—क्रोध और मान का उदय हो तो उसको रोकना। आत्मा में दृढ़ता पूर्वक शान्ति धारण किये रहना। इससे द्वेष—मोहनीय कर्म की निर्जरा होती है।

१९ वैराग्य

निर्लोभी रहकर माया और लोभ कषाय के उदय का निरोध करना, इष्ट शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्शों मे लुब्ध नही होना। यदि राग भाव का उदय हो जाय, तो उसे बल पूर्वक रोक कर जीतना। इससे स्नेहानुबन्ध और तृष्णा का नाश होता है और मोहनीय कर्म की निर्जरा होती है।

(यद्यपि कषाय विवेक में क्षमा और वीतरागता का समावेश हो जाता है, तथापि पुनरुक्ति दोष नही है, क्योकि कषाय विवेक मे मुख्यता दोष निवारण की है और क्षमा तथा वीतरागता में गुण धारण करने की मुख्यता है। वैसे आत्महित कारक विषयो का बारबार उपदेश करना तथा प्रकारान्तर से वर्णन करना, दोष रूप नही होकर गुण रूप होता है)

२० मन समाधारणा

अशुभ सकल्प विकल्प को छोडकर मन को स्वाध्याय ध्यान और शुभ भावना में लगाना–'मन समाधारणा' है। मानसिक शुद्धि से, अनन्त अशुभ विचारणाओ से मुक्ति मिलती है और शुभ विचारणा से एकाग्रता बढती है। इससे सयम की शुद्धि होती है। अप्रमत्त अवस्था की प्राप्ति होती है। (उत्तरा २९–५६) मन, दुष्ट घोडे की तरह बडा ही दुसाहसी है। वह चारो ओर भागता रहता है। उसकी अमर्याद एव अनियन्त्रित गति पर अधिकार करके शुभमार्ग मे लगाना=धर्म साधना में जोडना–'मन समाधारणा' है, अर्थात् श्रुतज्ञान के पठन, पाठन, चिन्तन, मनन और ध्यान मे लगाना (उत्तरा २३) अनगार भगवत का बीसवा गुण है।

२१ वचन समाधारणा

असत्य और मिश्र वचन प्रवृत्ति का त्याग कर आवश्यकतानुसार सत्य और व्यवहार वचनों का हित, मित तथा गुण वृद्धि कारक उच्चारण करना। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योगो का अनुमोदन तथा प्रचार हो, ऐसे वचन नही बोलना और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय तथा शुभ योग की वृद्धि हो, वैसे वचनो का उच्चारण करना–उपदेश देना। वाँचना, पुच्छना, परावर्त्तना तथा डिगते को स्थिर करने मे वचन की प्रवृत्ति करना–'वचन समाधारणा' है। इससे सम्यक्त्व की शुद्धि होती है। क्षयोपशम सम्यक्त्व से दर्शनमोहनीय कर्म के पुद्गल विशुद्ध तथा कमजोर होते होते समूल नष्ट होकर आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है इससे भविष्य में भी दुर्लभबोधि का भय नही रहता।

वचन की दुष्प्रवृत्ति से खुद का तो अहित होता ही है परन्तु दूसरों का—आत्माओं का भी अहित होता है। वचन समाधारणा का पालक स्व-पर हितकारी है। मोक्ष मार्ग का प्रवर्तक है।

२२ काय समाधारणा

शरीर सम्बन्धी अनुचित एवं सावद्य प्रवृत्ति तथा आलस्य प्रमाद आदि को हटाकर प्रतिलेखना प्रमार्जना वैयावृत्य कायुत्सर्ग तथा तप आदि में लगाना 'काय समाधारणा' है। काया रूपी नौका को संसार से पार होने में लगाने वाला संसार रूपी समुद्र में नहीं डूबता। किन्तु क्रमशः संसार से पार और मुक्ति के निकट होता जाता है। उसकी चारित्र पर्यायें विशद्ध विशुद्धतर होती हुई यथाख्यात चारित्र प्राप्त करने में सहायक होती है। इसके बाद वह घातिकर्मों को नष्ट करके अयोगी होकर अशरीरी सिद्ध हो जाता है (उत्तरा २९) काय समाधारणा का पालक अनगार अपनी साधुता को सार्थक करता हुआ ध्येय को सिद्ध कर लेता है।

२३ ज्ञान सम्पन्नता

अनगार भगवंत में सम्यग्ज्ञान तो होता ही है किन्तु वह स्वल्प भी हो सकता है इसलिए इस गुण का पालन करने के लिए उन्हें ज्ञान की सतत आराधना करते रहना चाहिए। जिनागमों का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिए। सांसारिक—लौकिक साहित्य का अभ्यास सम्यग् ज्ञान की आराधना नहीं है—वह अज्ञान अथवा लौकिक कला की आराधना है। उससे आत्महित नहीं होता। सम्यग्श्रुत की वाचना पृच्छा परावर्तना अनुप्रेक्षा और धर्मकथा कहना तथा सुनना—सम्यग्ज्ञान सम्पन्नता है। यदि स्मरण शक्ति कमजोर हो और ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के जोर से कठिनता से याद होता हो तो भी ज्ञान की आराधना करते ही रहना चाहिए। ज्ञान सम्पन्न होकर दूसरों को सम्यग्श्रुत पढ़ाकर ज्ञान सम्पन्न बनाना भी अनगार का कर्त्तव्य है। विशेष विचार 'सम्यग्ज्ञान' प्रकरण में किया गया है।

२४ दर्शन सम्पन्नता

असत्य एवं मिथ्या श्रद्धान से वंचित रह कर सम्यग् श्रद्धान युक्त होना— 'दर्शन सम्पन्नता' है। मोक्ष मार्ग के पथिक को 'परमार्थ' का परिचय और परमार्थ का सेवन करना और दर्शन—भ्रष्ट तथा मिथ्या दर्शनी के परिचय से दूर रहना कर्त्तव्य है। निःशंकित आदि दर्शन के आठ आचारों का निरन्तर पालन करना होता है। विशेष के लिए सम्यग्दर्शन अध्याय देखें।

२५ चारित्र सम्पन्नता

अनगार धर्म का पालन करना चारित्राचार है। इसके पांच प्रकार है-१ सामायिक २ छेदोपस्थापनीय ३ परिहारविशुद्ध ४ सूक्ष्मसम्पराय और ५ यथाख्यात चारित्र। हमारे क्षेत्र में इस समय प्रथम के दो चारित्र है। पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, दसविध समाचारी, दस प्रकार के यति धर्म आदि चारित्र का पालन करना चारित्र सम्पन्नता है।

२६ वेदना सहन

असातावेदनीय आदि कर्म के उदय से २२ प्रकार के परिषह और देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च कृत उपसर्ग उत्पन्न होते है। साध्य, कष्ट-साध्य और असाध्य रोगो की उत्पत्ति हो जाती है। उन सब को समभाव पूर्वक सहन करना, अनगार का छब्बीसवां गुण है। बावीस प्रकार के परिषह उत्तराध्ययन सूत्र अ० २ तथा समवायाग में इस प्रकार है।

१ क्षुधा-भूख-का परिषह। सयम की मर्यादा के अनुसार निर्दोष आहार नही मिलने से भूख के कष्ट को सहन करना।

२ पिपासा-निर्दोष पानी नही मिलने से प्यास का दुःख सहना।

३ शीत-वस्त्र की कमी आदि से ठण्ड का कष्ट सहना।

४ उष्ण-गर्मी का दुःख।

५ दशमशक-डांस, मच्छर, खटमल, पिस्सू, जू आदि के काटने का दुःख।

६ अचेल-अल्प वस्त्र से या वस्त्र नही मिलने से होने वाला कष्ट।

७ अरति-सयम मार्ग में आती हुई कठिनाइयो से होने वाला खेद-उदासी।

८ स्त्री-स्त्रियो से होने वाला उपसर्ग।

९ चर्या-विहार करने से होने वाला दुःख।

१० नैषेधिकी-स्वाध्याय आदि भूमि में किसी प्रकार का उत्पन्न होने वाला कष्ट।

११ शय्या परिषह-उपाश्रय अथवा बिछोने आदि की अनुकूलता नही होना।

१२ आक्रोश-किसी की गालियां एव कटु वचन सुनने से होने वाला दुःख।

१३ वध-किसी के द्वारा मारने या चोट पहुँचाने से होने वाला दुःख।

१४ याचना-भिक्षा मांगने से होनेवाले सकोच आदि का दुःख।

१५ अलाभ—आवश्यक वस्तु की प्राप्ति नहीं होने से ।

१६ रोग—किसी प्रकार की व्याधि उत्पन्न होने पर ।

१७ तृण स्पर्श—घास के बिछौने पर सम्स्तारक-वस्त्र ठीक नहीं होने से या नग्न पाँवों में तृण के चुभने से ।

१८ जल परिषह—शरीर और वस्त्र पर मैल हो जाने से तथा स्नान नहीं करने से होने वाला दुःख।

१९ सत्कार पुरस्कार—सत्कार सम्मान तथा अति आदर से हर्षित नहीं होकर समभाव रखना तथा मान पूजा की इच्छा नहीं करना ।

२० प्रज्ञा—विचार पूर्वक कार्य करना और अपने विशिष्ठ विचारों का गर्व नहीं करके सहन करना।

२१ अज्ञान—स्वल्प ज्ञान होने से किसी के पूछे हुए प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकने से होने वाली ग्लानि ।

२२ दर्शन परिषह—अन्य दर्शनों और विपरीत वादों के सुनने से सम्यग्दर्शन में स्थिर रहना न होने वाला मानसिक श्रम ।

इस प्रकार वेदना=कष्टों का सहन करना अनगार भगवन्त का २६ वाँ गुण है ।

२७ मृत्यु सहन

मृत्यु निकट आने पर अथवा कोई जीवन का अन्त करने पर तत्पर हो जाय तो भी विचलित नहीं होकर समभाव से आत्मशुद्धि करके आराधना पूर्वक मृत्यु के दुःख का सहन करे ।

अनगार भगवंत को लक्षणों से जब यह मालूम हो जाता है कि अब यह शरीर गिरने वाला है—जीवन पूर्ण होने वाला है तब वे अधिक सावधान होकर अंतिम संलेखणा करने के स्थान की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करते हैं। फिर मधुनीत बड़ीनीत की भूमि की प्रतिलेखना करते हैं। फिर संथारे पर पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठते हैं । उसके बाद हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर अरिहंत और सिद्ध भगवंत को वंदना नमस्कार करते हैं। उसके बाद गुरुदेव तथा स्थविर-रत्नाधिकों को वन्दना करते हैं । फिर अपने संयमी जीवन में लगे हुए दोषों की आलोचना करके लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करते हैं और पुनः धर्म में दृढ़ता पूर्वक स्थिर होकर अनशन—चारों प्रकार के आहार का सदा के लिए त्याग कर देते हैं । अपने अधिकार में रही हुई उपधि का भी त्याग कर देते हैं इतना ही नहीं जन्म से अब तक बड़ी सावधानी पूर्वक पाले हुए अपने सब प्रिय शरीर का भी त्याग करके धर्म ध्यान में रमण करते हुए जीवन की शेष घड़ियाँ बिताते हैं । उनके मन के किसी भी कोने में मरने का किंचित् भी भय नहीं रहता न जीने की इच्छा ही रहती है । व्याधि के उग्र हो जाने या और किसी प्रकार के कष्टों के आजाने पर वे यह भी नहीं सोचते कि अब तो शीघ्र ही मौत आजाय तो अच्छा । वे शान्ति पूर्वक समाधि भाव से जीवन के अन्त समय को पूर्ण करके आराधक बनते हैं ।

संयम के १७ प्रकार

असयमी जीवन ही समार परिभ्रमण का मूल कारण है, दु खदायक है और जन्म, मरण और नरक, तिर्यंच गति की परम्परा मे उलझानेवाला है। इस दु ख परम्परा से छूट कर परमसुख को प्राप्त करने का उपाय 'सयमी जीवन' है। मन वचन और काया को सावद्य=पापकारी कार्यों मे लगाना असयम है और निरवद्य=आत्मा को शुद्ध करनेवाले आचरण में लगाना-सयम है। वह सयम निम्न लिखित सत्तरह प्रकार का है।

१ **पृथ्वीकाय संयम**-पृथ्वीकाय के जीवो को उद्वेग, परिताप और किलामना नही पहुँचाना प्राणनाश नही करना। तीन करण और तीन योग से।

२ **अपकाय संयम**--पानी के जीवो को ,, ,, ,,

३ **तेजस्काय संयम**--अग्नि के जीवो को ,, ,, ,,

४ **वायुकाय संयम**-वायु के जीवो को ,, ,, ,,

५ **वनस्पतिकाय संयम**--वनस्पति के जीवो को ,, ,, ,,

६ **बेइन्द्रिय संयम**-दो इन्द्रिय वाले जीवो को ,, ,, ,,

७ **तेइन्द्रिय संयम**--तीन इन्द्रिय वाले जीवो को ,, ,, ,,

८ **चौरेन्द्रिय संयम**-चार इन्द्रिय वाले जीवो को ,, ,, ,,

९ **पंचेन्द्रिय संयम**-पाच इन्द्रिय वाले जीवो को ,, ,, ,,

१० **अजीवकाय संयम**--बहुमूल्य के वस्त्रादि उपकरण नही लेना। वस्तु के लेने और रखने में यतना करना। सोना, चाँदी, रुपया पैसा अथवा कार्ड लिफाफे नही रखना।

११ **प्रेक्षा सयम**--सोने, बैठने, वस्त्रादि उठाने और रखने के पूर्व अच्छी तरह से देखना। युग प्रमाण भूमि देखकर चलना। (प्रतिलेखना का भी इसमें समावेश हो सकता है)

१२ **उपेक्षा संयम**--असयम के कार्यों में उपेक्षा करना। मिथ्यादृष्टि, पासत्था, और गृहस्थ तथा समार सबधी विविध प्रकार के विचारो और कार्यों की ओर उपेक्षा रखना।

१३ **परिष्ठापनिका संयम**--मल, मूत्र, श्लेष्मादि, अशुद्ध अथवा अनुपयोगी आहारादि को निर्दोष स्थान पर यतना पूर्वक परठना।

१४ **प्रमार्जना संयम**-स्थान, वस्त्र पात्रादि का विधि पूर्वक प्रमार्जन करना।

१५ **मनः संयम**--मन में विषय कषाय के भाव नही आने देकर धर्म ध्यान में लगाना।

१६ वचन संयम—हिंसाकारी असत्य मिश्र और धर्म—विघातक सावद्य वचनों को छोड़कर निरवद्य वचन बोलना।

१७ काय संयम—खाने बैठने खाने पीने चलन फिरने आदि में सावधान होकर उपयोग पूर्वक निरवद्य प्रवृत्ति करना। (समवायांग १७)

पूर्वोक्त सत्रह प्रकार के संयम से असंयम के सभी मार्ग रुक जाते हैं। इस प्रकार का संयमी जीवन बहुत ही हल्का और ऊर्ध्वगामी होता है। *संयमी महात्मा के चरणों में हमारी त्रिकाल वन्दना हो।*

श्रमण धर्म

चारित्र धर्म की आराधना करने वाले वंदनीय पूजनीय श्रमण महात्मा निम्न दस प्रकार के श्रमण धर्म का पालन करते हैं।

१ क्षमा—आत्मा को सहनशील बना कर क्रोध पर विजय पाना। क्रोधोत्पत्ति के निमित्त उपस्थित हो जायें तो भी शांत रहकर सहन करना।

२ मुक्ति—लोभ त्याग। पौद्गलिक वस्तुओं की आसक्ति से मुक्त होना।

३ आर्जव—सरलता माया का त्याग करना। छल ठगाई आदि के विचारों का त्याग करके सरल बन जाना।

४ मार्दव—मान का त्याग। किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं करना। श्रुत लाभ तपस्या तथा उच्च संयमी होने का भी घमंड नहीं करना।

५ लाघव—लघुता—हलकापन। वस्त्रादि उपधि और संसारियों के स्नेह रूपी भार से हल्का होना। संग्रह बुद्धि नहीं रखना। इससे हलुकर्मीपन आता है।

६ सत्य—असत्य से सर्वथा दूर रहना और आवश्यकता पड़ने पर सत्य हितकारी और मित वचन बोलना। सत्य का आदर करना।

७ संयम—मन वचन और शरीर से असंयमी प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग करके संयमी बनना। सतरह प्रकार के संयम का पालन करना।

८ तप—इच्छा का निरोध करके बारह प्रकार का तप करना।

९ त्याग—परिग्रह उपकरण का त्याग करना। अकिञ्चन वृत्ति धारण करना। भौतिक वस्तु पर से ममत्व हटाना।

१० ब्रह्मचर्य—विषय वासना का त्याग कर आत्मा का धर्म चिंतन से पवित्र करते रहना।

(स्थानांग समवायांग १०)

अनाचार त्याग

जीवन को पवित्र बनाने वाले नियमों को चारित्राचार कहते हैं और संयमी जीवन को मलीन –असंयमी बनाने वाली तथा महर्षियों द्वारा अनाचरित क्रिया को अनाचार कहते हैं। अनाचार को दुराचार भी कहते हैं। निर्ग्रंथों के लिए त्याज्य अनाचार ५२ हैं। श्री दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में इनका उल्लेख है। यथा–

१ औद्देशिक–साधु साध्वी के निमित्त से बनाये हुए वस्त्र, पात्र, मकान और आहारादि का सेवन करना।

२ क्रीतकृत–साधु के लिए खरीद कर दिये जाने वाली वस्तु का सेवन करना।

३ नियागपिंड–गृहस्थ का निमन्त्रण पा कर के कभी भी आहारादि लेना।

४ अभ्याहृत–गृहस्थ अपने घर से या अन्यत्र कहीं से भी आहारादि लाकर साधु को उपाश्रय में लाकर देवे, या साधु के सामने लाकर देवे, उसे ग्रहण करे तो।

५ रात्रि भोजन–रात को आहार लेना या खाना, तथा दिन का लिया हुआ भी दूसरे या तीसरे दिन–दिनान्तर से–खाना। इस के सिवा दिन में भी जोरदार आंधी चलने से अंधेरा छा गया हो और दिखाई नहीं देता हो तब खाना और ऐसे सकड़े बर्तन में खाना कि जिसमें जीवादि दिखाई नहीं देते हों।

६ स्नान–देश स्नान–हाथ पाँव आदि धोना और सर्व स्नान करना।

७ गन्ध–चन्दन, कर्पूर, इत्र आदि सुगन्धित वस्तु का सेवन करना।

८ माल्य–पुष्प, माला या स्वर्ण रत्न अथवा मोती के हार पहनना। कागज और सूत के हार पहनना।

९ वीजन–पंखे या कपड़े आदि से हवा करना या बिजली से चलने वाले पंखे का उपयोग करना।

१० सन्निधि–घृत, गुड़, शक्कर आदि वस्तुओं का संचय करना, रख छोड़ने के लिए लाना, रात को रखना।

११ गृहीमात्र–गृहस्थों के बर्तन काम में लेना।

१२ राजपिंड–राजा, ठाकुर के योग्य अथवा उसके लिए बनाया हुआ आहरादि लेना।

१३ किमिच्छक–जहां याचक को पूछकर कि 'तुम्हे क्या चाहिए'–दान दिया जाता हो, ऐसी दान–शालादि से लेना।

१४ संबाधन–अस्थि, मांस, आदि के आराम के लिए हाथ, पांव आदि अंग दबवाना,

धारिमक भाव संघर्ष में भी बाधाएँ—कष्ट परम्पराएँ तो आती ही रहती है। उन समस्त आपत्तियों—परिषहों से नहीं घबराकर या अडिग रहकर आगे बढ़ते हैं वे ही सच्चे साधु होते हैं। परम तारक जिनेश्वर भगवान् ने अपने निर्ग्रंथ श्रमणों को इन परिषहों का पहले से परिचय करा कर सावधान किया है। श्री समवायांग २२ और उत्तराध्ययन २ में परिषहों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है।

१ क्षुधा परिषह— निर्दोष आहार नहीं मिलने पर भूख का कष्ट सहन करना।

२ पिपासा—प्यास का कष्ट। संयम मर्यादा के अनुसार निर्दोष पानी नहीं मिलने पर भयंकर कष्ट सहन करना।

३ शीत—अल्प वस्त्र से भयंकर ठण्ड का कष्ट सहना।

४ उष्ण—उग्र रूप से पड़ती हुई गर्मी में तपी हुई भूमि पर चलना। पसीने से 'धाराबार शरीर हो घबराहट बढ़ रही हो तो भी स्नान करने या ठण्डी हवा लेने की इच्छा नहीं करना। गर्मी का कष्ट सहना।

५ दंशमशक—डांस मच्छर खटमल पिस्सु आदि जंतुओं का कष्ट सहन करना। उन पर क्रोध नहीं करना और उन्हें निवारण भी नहीं करना।

६ अचेल—आवश्यक वस्त्रों के नहीं मिलने पर होने वाला कष्ट सहना। वस्त्र फट गये हों और गल गये हों और मर्यादानुसार निर्दोष वस्त्र नहीं मिले तो दीनता नहीं लाना।

७ अरति—आवश्यक आहारादि प्राप्त नहीं होने पर मनमें खेद नहीं करना। विहार से थकने पर ग्लानि का अनुभव नहीं करना किन्तु धर्म में विशेष सावधान होना।

८ स्त्री—साधुओं का स्त्रियों (साध्वियों को अपेक्षा पुरुष) की ओर आकर्षित होना अनिष्टकर है। इसलिए स्त्रियों के रूप आदि मनकम—सुहावने विषयों की ओर आकर्षित नहीं होना अथवा स्त्री मोहित करना चाहे तो उनके कष्ट सहन करते हुए बच कर रहना। (अन्य परिषह प्रतिकूल हैं तब यह अनुकूल है)

९ चर्या—पाद विहार (चलने) से होने वाला कष्ट।

१० निषद्या—स्वाध्याय भूमि या कहीं ठहरने के स्थान पर बैठने की जगह अनुकूल नहीं मिलकर विषम अथवा भय कारक मिले।

११ शय्या—अनुकूल मकान नहीं मिलने से होने वाला कष्ट।

१२ आक्रोश कोई गाली दे धमकावे दुर्वचन बोले और अपमानित करे।

१३ वध—कोई मारे पीटे अंग भंग करे तो आत्मा का कभी नाश नहीं होता क्षमा परम धर्म है —इस प्रकार सोचता हुआ सहन करे।

१४ याचना-भिक्षा मांगना, लघुता का काम है। लोग अपमानित करते है। कोई तिरस्कार भी करदे, तो विचलित नही होना।

१५ अलाभ-याचना करने पर भी वस्तु नही मिले, तो खेद नही करना और "सहज ही तप हो गया"-ऐसा विचार कर शांति धारण करना।

१६ रोग-रोग उत्पन्न होने पर दृढता पूर्वक सहन करे। जहा तक सहन हो सके, उसके निवारण का उपाय नही करे। यदि सहन नही हो सके और रोग निवारण के लिए औषधि करनी पडे तो सावद्य प्रयोग नही करे।

१७ तृणस्पर्श--रुक्ष और शिथिल शरीरवाले मुनियो को तृण पर सोने मे, उनके चूभने मे कष्ट होता है तथा नगे पाँव चलने से कांटे तथा घास चूभने से कष्ट होता है। उस कष्ट का शाति से सहन करे।

१८ जल्ल-शरीर और वस्त्र, पसीने और रज आदि लगने से मैले होजाय, तो उस मैल परिषह को सहन करे, किंतु मैल को दूर करने के लिए स्नान करने की इच्छा भी नही करे।

१९ सत्कार- राजा अथवा बहुजनमान्य व्यक्ति या श्रीमत व्यक्ति, साधु को वन्दना नमस्कार करे, आदर देवे, तो उसे चाहे नही। पूजा सत्कार की इच्छा नही करे। यदि कोई सत्कार नही करे, वन्दना नमस्कार नही करे ,तो खिन्न नही होवे। (यह भी अनुकूल परिषह है)

२० प्रज्ञा-बहुश्रुत अथवा गीतार्थ साधु को बहुत से लोग आकर पूछते है। कई विवाद करने को भी आते है। इससे खिन्न होकर यह नही सोचे कि 'इससे तो अज्ञानी रहना अच्छा, जिसमे कोई पूछे तो नही,'-इस प्रकार खेदित नही होकर शाति से सहन करना।

२१ अज्ञान-परिश्रम करने पर भी पाठ याद नही हो,-ज्ञान की प्राप्ति नही हो, तो अपने अज्ञान (विशेष ज्ञान नही होने) पर खेद नही करे और तपस्या आदि मे विशेष प्रयत्न-शील बने।

२२ दर्शन-दूसरे मतावलम्बियो के सिद्धात उनकी ऋद्धि, महत्ता, अधिक मान्यता, बडे बडे अनु-यायी तथा उनका प्रभाव देखकर शका काक्षादि नही लाना। भौतिकवादी, चार्वाक आदि की मान्यता सुनकर यह विचार नही करना कि 'परलोक है या नही, जिनेश्वर हुए है या नही, मुक्ति है या सब झूठा बकवाद है। सयम और तप का फल मिलेगा या नही'-इस प्रकार शुद्ध श्रद्धान से विचलित करने वाले विचार नही कर के शाति से सहन करते हुए 'श्रद्धा को परम दुर्लभ' मान कर दृढ रहना।

इन सभी परिषहों को सहन करते हुए संयम यात्रा में आगे बढ़ते रहने वाले ही सच्चे साधु हैं। वे ही स्व पर के तारक हैं और संसार समुद्र से वे ही पार हो सकते हैं।

परिषहों का समभाव पूर्वक सहन करने से शारीरिक कष्ट तो होता है किंतु यह देह दुःख मोक्ष रूपी महान् फल का कारण होता है "देह दुक्खं महाफलं"। आत्म दृष्टि सम्पन्न अनगार देह दुःख की परवाह नहीं करते। (दशव, ८-२७)

ऐसे परिषहजयी श्रमण महर्षियों के चरणों में हमारा बारबार वन्दन हो।*

चारित्र के भेद

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम से आत्मा में संसार के प्रति अरुचि और मोक्ष के प्रति रुचि होती है। ऐसी आत्मा में यदि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं हो तो वह आंशिक चारित्र को प्राप्त कर के देशविरत श्रमणोपासक हो जाती है किन्तु जिस आत्मा का मोहनीय कर्म बहुत ही स्वल्प (सिर्फ संज्वलन कषाय का) होता है वह संसार से सर्वथा विरक्त हो जाती है और घरबार कुटुम्ब परिवार आदि सभी सांसारिक सम्बन्धों तथा समस्त सावद्य योगों का त्याग करके अनगार धर्म स्वीकार करती है। यह अनगार चारित्र पांच प्रकार का है। वे पांच भेद इस प्रकार हैं।

१ **सामायिक चारित्र**— विषम कषाय और आरंभ परिग्रहादि सावद्य योग रूप विषम भाव की निवृत्ति और ज्ञान दर्शन चारित्र मय रत्न-त्रय रूप समभाव की प्राप्ति ही सामायिक चारित्र है। इस सामायिक चारित्र के भी दो भेद हैं।

१ इत्वर कालिक सामायिक चारित्र—यह चारित्र थोड़े काल का होता है। इसकी स्थिति जघन्य सात दिन मध्यम चार महीने और उत्कृष्ट छः महीने की है। भरत एरवत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर भगवन्तों के शासनाश्रित साधु साध्वियों का सामायिक चारित्र देने के बाद दूसरा छेदोपस्थापनीय चारित्र रूप महाव्रतों का आरोपण किया जाता है। महाव्रतारोपण के पूर्व जो चारित्र होता है। वह इत्वर कालिक सामायिक चारित्र कहा जाता है।

२ यावत्कथिक सामायिक चारित्र—संसार त्याग करते समय सर्व सावद्य त्याग रूप सामायिक

---

*परिषहों का वर्णन पृ २८६ में भी आ चुका है। वहां संकेत मात्र होना था। इसका स्वतन्त्र विषय होना आवश्यक समझकर यहां भी दिया जा रहा है।

चारित्र, जिनके जीवन भर रहता है-जिनको पुन महाव्रतारोपण की आवश्यकता नहीं होती। यह जीवन पर्यन्त का सामायिक चारित्र, भरत ऐरवन क्षेत्र में दूसरे से लगाकर २३ वे तीर्थंकर भगवन्तो के शासन के तथा महाविदेह क्षेत्र के सभी साधु साध्वियो मे होता है।

२ छेदोपस्थापनीय चारित्र-पूर्व पर्याय का छेदन कर महाव्रतो मे उपस्थापन किये जाने रूप चारित्र। यह भरत ऐरवत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम तीर्थ में ही होता है। शेष २२ तथा महाविदेह में नही होता। इस चारित्र के दो भेद है। यथा-

निरतिचार छेदोपस्थापनीय--इत्वर कालिक सामायिकवाले को महाव्रतो का आरोपण किया जाय, तब तथा तेवीसवे तीर्थंकर के तीर्थ के साधु, अंतिम तीर्थकर के तीर्थ में आवे तब बिना दोष के ही पूर्व चारित्र का छेद कर महाव्रतो का आरोपण करने रूप निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय--मूल गुणो का घात करने वाले को पुन. महाव्रतो का आरोपण करने रूप चारित्र, सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

३ परिहार विशुद्ध चारित्र-जिस चारित्र के द्वारा कर्मों का अथवा दोषो का विशेष रूप से परिहार होकर, निर्जरा द्वारा विशेष विशुद्धि हो, उसे परिहारविशुद्ध चारित्र कहते है।

इस चारित्र की आराधना नौ साधु मिल कर करते हैं। इनमे से चार साधु तप करते है। ये पारिहारिक कहलाते है। चार साधु वैयावृत्य करते है, ये अनुपारिहारिक कहलाते है। शेष एक वाचनाचार्य के रूप में रहता है, जिसे सभी साधु वन्दना करते है। उनसे प्रत्याख्यान लेते है, आलोचना करते है और शास्त्र श्रवण करते है।

पारिहारिक साधु ग्रीष्म ऋतु मे जघन्य उपवास, मध्यम बेला और उत्कृष्ट तेला का तप करते रहते है। शिशिरकाल में जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट चौला तथा वर्षाकाल मे जघन्य तेला, मध्यम चोला, उत्कृष्ट पचोला तप करते रहते है। पारणे में आयबिल करते है। शेष पाँचो साधुओ के लिए तप का नियम नही है। वे चाहे, तो नित्य भोजी भी रह सकते है। किन्तु इनका भोजन भी आयबिल तप युक्त होता है। यह क्रम छ महीने तक चलता है। इसके बाद जो चार साधु पारिहारिक थे, वे अनुपारिहारिक (वैयावृत्य करने वाले) हो जाते है और जो अनुपारिहारिक थे, वे पारिहारिक हो जाते है और एक साधु जो गुरु स्थानीय है, वे उसी रूप मे रहते है। यह क्रम भी छ माह तक चलता है। इस प्रकार आठ साधुओ के परिहारिक हो जाने के बाद (एक वर्ष बाद) उन आठ मे से एक को गुरु पद पर स्थापित किया जाता है और गुरु पद पर रहे हुए मुनिवर, पारिहारिक बनकर छ माह पर्यंत उसी प्रकार तप करते है। इस प्रकार अठारह मास मे यह परिहारविशुद्ध तप पूर्ण होता है।

इसके पूर्ण होने पर या तो वे सभी मुनिराज पुनः इसी कल्प का प्रारम्भ कर देते हैं या जिनकल्प धारण कर लेते हैं या फिर पुनः गच्छ में आ जाते हैं।

यह परिहार विशुद्ध कल्प केवल छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले मुनिवरों का ही होता है—सामायिक चारित्र वालों को नहीं होता अर्थात् मध्य के २२ तथा महाविदेह के तीर्थंकरों के साधुओं में नहीं होता।

इसके दो भेद हैं—१ निर्विश्यमानक—तप करने वाले पारिहारिक साधु और २ निर्विष्टकायिक—वैयावृत्य करने वाले तथा तप करने के बाद गुरु पद पर रहा हुआ अनुपारिहारिक साधु निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्ध चारित्री कहलाता है। कम से कम जिसकी आयु उनतीस वर्ष की हो बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय हो और जघन्य नववें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु और उत्कृष्ट असम्पूर्ण दस पूर्व का ज्ञान हो वे ही परिहार विशुद्ध चारित्र को अंगीकार कर सकते हैं। यह चारित्र तीर्थंकर भगवान् के पास अथवा जिन्होंने तीर्थंकर भगवान् के पास यह चारित्र अंगीकार किया हो उसके पास ही अंगीकार किया जा सकता है अन्य के पास नहीं।

४ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—जिसमें किञ्चित् मात्र सम्पराय (कषाय—लोभ) हो वह सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है। यह भी दो प्रकार का होता है जैसे—

संक्लिश्यमान सूक्ष्मसम्पराय—उपशम श्रेणी पर चढ़कर वापिस गिरते समय परिणाम उत्तरोत्तर संक्लेश युक्त होने के कारण इस प्रपातमुखी परिणति को संक्लिश्यमान कहते हैं।

विशुद्धयमान सूक्ष्म सम्पराय—उपशम अथवा क्षपक श्रेणी पर चढ़ते समय परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध रहते हैं। इसलिए उत्थानाभिमुखी—वर्धमान परिणाम के कारण विशुद्धयमान सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है।

यह चारित्र केवल दसवें गुणस्थान में होता है।

५ यथाख्यात चारित्र—कषाय रहित साधु का चारित्र जो किसी भी प्रकार के किञ्चित भी दोष से रहित निर्मल और पूर्ण विशुद्ध होता है। जिसकी जिनेश्वरों ने प्रशंसा की है उस सर्वोच्च चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान में और उसके आगे के गुणस्थानों में होता है। इसके निम्न भेद हैं।

छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र—यह ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में होता है।
केवली यथाख्यात चारित्र—यह तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है।
उपशान्त मोह वीतराग यथाख्यात चारित्र—ग्यारहवें गुणस्थान में।
क्षीण मोह वीतराग यथाख्यात चारित्र—बारहवें गुणस्थान में।

प्रतिपाति यथाख्यात चारित्र-ग्यारहवे गुणस्थान मे। क्योंकि इसमे मोह उपशात ही होता है। इसलिए उपशान्त हुए मोह की स्थिति समाप्त होने पर वह चारित्र समाप्त हो जाता है और अन्य गुणस्थान को प्राप्त करता है। और अन्य गुणस्थान प्राप्त होने पर उसके मोह का उदय हो जाता है। इसलिए यह प्रतिपाति चारित्र है।

अप्रतिपाति यथाख्यात चारित्र-बारहवे और उसमे आगे के गुणस्थानो मे।

सयोगी केवली यथाख्यात चारित्र-तेरहवे गुणस्थान मे।

अयोगी केवली यथाख्यात चारित्र-चौदहवे गुणस्थान मे। (भगवती २५-७)

वर्तमान काल में हमारे इस क्षेत्र में 'इत्वर कालिक सामायिक चारित्र' तथा 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' ही है। और ये सारे विधि विधान उन्ही के लिए है। इन दो चारित्र का भी जो कल्पानुसार भाव पूर्वक पालन करते है, वे मुनिवर इस ससार समुद्र मे जहाज के समान-तिरन तारन है।

निर्ग्रंथ के भेद

१ पुलाक निर्ग्रंथ-पुलाक का अर्थ है नि सार-पोला। जिसमे चारित्र परिणाम नहीं होकर ऊपरी वेष भूषादि हो। जिस प्रकार धान्य के भीतर का सार पदार्थ निकल चुका हो और ऊपर का पोला छिलका हो, उसी प्रकार चारित्र रूपी सार गुण से रहित साधु। किन्तु यह स्वरूप सापेक्ष है। कोई वेशधारी या साधुता का कोरा दिखावा मात्र करने वाला पुलाक निर्थथ नहीं हो सकता। पुलाक बनने के पूर्व उसमे सार रूप चारित्र भावना रहती है। वह प्राणी साधारण नही होता। उसकी साधना मामूली नही होती। उच्च साधना के बल से जिसमें 'पुलाक' नाम की लब्धि उत्पन्न होती है, वही कारण पाकर 'पुलाकनिर्ग्रंथ' हो जाता है। टीकाकार कहते है कि सघ पर आई हुई आपत्ति के निवारण करने के लिए दूसरा कोई मार्ग नही देख कर पुलाक निर्ग्रंथ अपनी विशिष्ठ शक्ति से आततायी का दमन करते है। इसकी स्थिति अतर्मुहूर्त मात्र की है। क्योंकि इस प्रकार की परिणति अधिक समय नही रहती।। इस अल्प समय में ही जो उग्र कषाय से अपने चारित्र को नि सार बना देते है, इसीसे उन्हें पुलाक कहा है। पुलाक, मूल और उत्तर गुणो के विराधक होते है। इनमे सामायिक और छेदो--पस्थापनीय चारित्र होता है। यदि वे पुन सम्हल जायँ, तो भाव सयम की स्थिति को प्राप्त करके, आलोचना प्रायश्चित्त करके आराधक हो सकते है। पुलाक के दो भेद है-१ लब्धि पुलाक-अपनी लब्धि का प्रयोग करने वाले, २ प्रतिसेवना पुलाक-इनके पाच भेद है।

१ ज्ञान पुलाक-ज्ञान में अतिचार लगाने वाला।

२ दर्शन पुलाक-सम्यक्त्व में शकादि दोष लगाने वाला।

३ चारित्र पुलाक—मूल तथा उत्तर गुण में दोष लगाने वाला ।

४ लिंग पुलाक—निष्कारण अन्यलिंग धारण करे अथवा साधु लिंग के साथ अन्यलिंग का भी कोई चिन्ह धारण करे ।

५ यथासूक्ष्म पुलाक—प्रमाद बढ़ा कर मन से अकल्पनीय का सेवन करे । अथवा उपरोक्त चार भेदों में कुछ कुछ विराधना करे ।

२ बकुश निर्ग्रंथ—जिसके चारित्र रूपी निर्मल वस्त्र में दोष रूपी विविध दाग लग गये हैं । जो शोभाप्रिय हैं, ऊपरी टामटीम पर ध्यान रख कर भाव संयम में दोष लगाता है वह बकुश निग्रंथ कहलाता है । बकुश निग्रंथों का चारित्र 'पुलाक' से श्रेष्ठ होता है । उनमें चारित्र भावना भी होती है किन्तु फेशन प्रियता के कारण वे दोषों का सेवन करते हैं । इसीसे वे बकुश कहलाते हैं । ये बकुश दो प्रकार के होते हैं ।

१ शरीर बकुश—हाथ पाँव मुंह दाँत आदि को धोकर साफ रखने वाला केश सँवारने वाला और आँखों में शोभा के लिए अञ्जनादि लगाने वाला शरीर बकुश है ।

२ उपकरण बकुश—वस्त्र पात्रादि को धोकर तथा रंग कर सुशोभित बनाने वाला ।

इस प्रकार शोभा बढ़ाने वाले साधु सुखशीलिये प्रशंसा के इच्छुक तथा अधिक उपकरण रखने वाले भी होते हैं । इनकी लुदकी इस दोष प्रियता से इनके साथी साधुओं तथा शिष्यादि में भी दोषों की वृद्धि होती है । उपरोक्त दोनों प्रकार के बकुश के निम्न लिखित पाँच भेद हैं —

१ आभोग बकुश—यह जानते हुए कि शरीर और उपकरण की शोभा बढ़ाना साधु के लिए निषिद्ध है—दोष लगावे ।

२ अनाभोग बकुश—अनजानपन से अथवा अचानक विभूषा करके दोष लगावे ।

३ संवृत्त बकुश—छिपकर दोषों का सेवन करने वाला ।

४ असंवृत्त बकुश—प्रकट रीति से विभूषा करने वाला ।

५ यथासूक्ष्म बकुश—उत्तर गुण में कुछ दोष सेवन करने वाला—आँख और मुंह को साफ रखने वाला ।

बकुश चारित्र वाले मूल गुण के विराधक नहीं होते किन्तु उत्तर गुण के विराधक होते हैं । ये जिनकल्पी और स्थविरकल्पी होते हैं । इनमें पहले के दो चारित्र ही होते हैं ।

३ कुशील निग्रंथ—ये दो प्रकार के होते हैं । यथा—

१ प्रतिसेवना कुशील—चारित्रवान होते हुए भी जो इन्द्रियों के आधीन होकर पिंडविशुद्धि

समिति, तप, प्रतिमादि में दोष लगावे, मूल या उत्तर गुणो में आज्ञा की विराधना करे, वह प्रतिसेवना कुशील है।

२ **कषाय कुशील**–सज्वलन कषाय के उदय से, कषाय युक्त चारित्रवाला श्रमण, कषाय कुशील कहलाता है।

प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रंथ के पाच भेद इस प्रकार है।

१ **ज्ञान कुशील**–ज्ञान के निमित्त से आजीविका करके ज्ञान को दूषित करने वाला।
२ **दर्शन कुशील**–दर्शन ,, ,, दर्शन को दूषित करने वाला।
३ **चारित्र कुशील**–चारित्र ,, ,, चारित्र मे दोष लगाने वाला।
४ **लिंग कुशील**–लिंग का उपयोग आजिविकार्थ करने वाला।
५ **यथासूक्ष्म कुशील**–तपस्वी या अन्य विशेषता की प्रशसा सुन कर हर्षित होने वाला।

कषाय कुशील निर्ग्रंथ मे सूक्ष्म कषाय होती है। उनमे यही दोष है। वे मूलगुण और उत्तर गुण में दोष नही लगाते किन्तु कषाय कुशीलपन मे गिर जाय तो विराधक हो सकते है। कषाय कुशील अवस्था में विराधक नही होते। इनमे कोई चारो कषाय में कोई तीन दो और एक मे भी होते है। इनका गुणस्थान छठे से ९ वे तक होता है। ये जिनकल्प, स्थिवरकल्प और कल्पातीत भी होते है। इनमें यथाख्यात के बिना प्रारभ के चार चारित्र होते है।

प्रतिसेवना कुशील विराधक होते है। इनका गुणस्थान छठा और सातवा होता है। ये जिन कल्प और स्थिवर कल्प मे भी होते है। इनम पहले के दो चारित्र ही होते है।

४ **निर्ग्रंथ**–जिसके ग्रंथ–मोह का उदय नही हो, वह निर्ग्रंथ कहलाता है। कषाय के उदय का अभाव हो जाने पर निर्ग्रंथ दशा की प्राप्ति होती है। अत ये निर्ग्रंथ माने जाते है। इनके दो भेद है,–

उपशान्त मोह–निर्ग्रंथ–जिनके मोह का उदय रुक गया है, ऐसे ११ वे गुणस्थानी।
क्षीण मोह निर्ग्रंथ–जिनका मोह सर्वथा नष्ट हो गया, ऐसे १२ वे गुणस्थानी निर्ग्रंथ।
ये दोनो छद्मस्थ होते है। निर्ग्रंथ के भी पाँच भेद इस प्रकार है।

१ **प्रथम समय निर्ग्रंथ**–निर्ग्रंथ का काल तो केवल अन्तर्मुहूर्त का ही है, किन्तु इसमे भी निर्ग्रंथ दशा प्राप्ति के प्रथम समय वर्ती निर्ग्रंथ इस भेद में है।
२ **अप्रथम समय निर्ग्रंथ**–प्रथम समय के बाद के अन्य समयो में वर्तने वाले।
३ **चरम समय निर्ग्रंथ**–अन्तिम समय में वर्तमान निर्ग्रंथ।
४ **अचरम समय निर्ग्रंथ**–मध्य के समयो मे वर्तमान।

५ यथा सूक्ष्म निर्ग्रंथ—सभी समयों में वर्तमान निर्ग्रंथ।

निर्ग्रंथ की स्थिति जघन्य एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त की ही होती है। अन्तर्मुहूर्त के बाद उपशान्त मोह निर्ग्रंथ तो कषाय कुशील हो जाते हैं और क्षीणमोह निर्ग्रंथ स्नातक हो जाते हैं। इनमें एक यथाख्यात चारित्र ही होता है।

५ **स्नातक निर्ग्रन्थ**—स्नातक का अर्थ है निर्मल-विशुद्ध। जो निर्ग्रंथ घातिकर्मों के समूह को समूल नष्ट करके विशुद्ध हो गए हैं वे स्नातक हैं। ये यथाख्यात चारित्री कल्पातीत स्नातक भी दो प्रकार के होते हैं—

१ **सयोगी स्नातक**—तेरहवें गुणस्थान पर रहे हुए केवलज्ञानी भगवन्त।

२ **अयोगी स्नातक**—चौदहवें गुणस्थान पर रहे हुए केवली भगवान्।

इन स्नातकों के नीचे लिखे पांच भेद हैं—

१ **अच्छवि**—काय योग का निरोध करके शरीर रहित हुए स्नातक।

२ **अशबल**—विशुद्ध चारित्रवान्।

३ **अकर्मांश**—घाति कर्मों का क्षय करके भव भ्रमण के कारणों को नष्ट करने वाले।

४ **संशुद्ध ज्ञान दर्शनधर अरिहंत जिन केवली**—इन्द्रियों तथा मन या श्रुत आदि की सहायता के बिना ही परम विशुद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शन को धारण करने वाले विश्व पूज्य जिन भगवान्।

५ **अपरिस्रावी**—काय योग के पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाने से कर्म प्रवाह रहित निष्क्रिय अयोगी केवली भगवान्।

पुलाक सर्वत्र और सदाकाल नहीं होते। वे अवसर्पिणी काल के पहले दूसरे और छठे आरे में नहीं होते किन्तु जन्म की अपेक्षा तीसरे और चौथे आरे में होते हैं। उत्सर्पिणी काल में जन्म की अपेक्षा दूसरे तीसरे और चौथे आरे में होते हैं तथा सद्भाव की अपेक्षा तीसरे और चौथे आरे में ही होते हैं। पांचवें छठे में नहीं होते।

नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी काल के चार विभाग हैं। यथा—

१ सुषमासुषम समान काल (पहले आरे के समान) इस प्रकार का काल देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र में होता है २ सुषमा समान काल (दूसरे आरे के समान) इस प्रकार के भाव हरिवर्ष और रम्यकवर्ष क्षेत्र में सदाकाल रहता है ३ सुषमदुषमा समान काल (तीसरे आरे के जैसा) इस प्रकार की स्थिति हिमवत और हरण्यवत क्षेत्र में रहती है और ४ दुषमसुषमा समान काल (चौथे आरे जैसा) 'महाविदेह' क्षेत्र में सदा बना रहता है।

पुलाक निर्ग्रथ, पूर्व के तीन काल समान प्रवर्त्तन मे नही होते, किन्तु चौथे समानकाल अर्थात् महाविदेह क्षेत्र में होते है।

पुलाक निर्ग्रंथ जन्म और सद्भाव की अपेक्षा कर्म भूमि मे ही होते है-अकर्म भूमि मे नही होते। इनका साहरन भी नही होता-अर्थात् कोई देव दानव इनका हरण करके अन्यत्र नही लेजा सकता। पुलाक के अतिरिक्त अन्य निर्ग्रंथ, ॐ जन्म और सद्भाव की अपेक्षा कर्मभूमि मे होते है और इनका साहरन हो तो अकर्मभूमि म भी कभी इनका सद्भाव हो सकता है। अवसर्पिणी काल मे जन्म तथा साहरण की अपेक्षा तीसरे, चौथे और पाचवे आरे में तथा उत्सर्पिणीकाल में जन्म की अपेक्षा २, ३, ४ आरे में और सद्भाव की अपेक्षा ३, ४ आरे में होते हैं। साहरन की अपेक्षा सभी आरो × में होते है। नोउत्सर्पिणी नो अवसर्पिणी मे जन्म और सद्भाव अपेक्षा चौथे आरे के समान काल वाले (महाविदेह क्षेत्र में) होते है और साहरण की अपेक्षा किसी भी काल मे होते है।

ज्ञान-पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील में जघन्य ज्ञान-मति श्रुति ये दो, और उत्कृष्ट अवधि सहित तीन ज्ञान होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रंथ मे दो ज्ञान हो,तो मति श्रुति,तीन हो,तो मति श्रुति और अवधि, अथवा मति, श्रुति और मन पर्यव ज्ञान होता है और चार ज्ञान भी हो सकता है। स्नातक मे तो एक मात्र केवलज्ञान ही होता है।

श्रुत-पुलाक मे कम से कम ९ वे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक का और अधिक से अधिक सपूर्ण ९ पूर्व का श्रुत होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील में जघन्य आठ प्रवचन माता का और उत्कृष्ट १० पूर्व का श्रुत होता है। कषायकुशील और निर्ग्रंथ को जघन्य आठ प्रवचनमाता का और उत्कृष्ट १४ पूर्व का श्रुत होता है। स्नातक तो श्रुत रहित ही होते है।

प्रतिसेवना-(सयम के विपरीत आचरण अर्थात् दोष सेवन) बकुश, मूलगुण मे दोष नही लगाते, किन्तु उत्तरगुण में दोष लगाते है। पुलाक और प्रतिसेवना कुशील तो मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाते है। ये तीनो विराधक होते है। कषायकुशील का चारित्र निर्दोष होता है, वे विराधक नही होते, किन्तु आराधक ही होते है। इसी प्रकार निर्ग्रंथ और स्नातक भी आराधक ही होते है।

स्थिति-पुलाकपन जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है। बकुश जघन्य एक समय और उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि तक। निर्ग्रंथ, जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक तथा स्नातक जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि तक रहते है।

ॐ निर्ग्रंथ और स्नातक का साहरण नही होता, किन्तु कोई बकुसादि का साहरण हो और साहरण के बाद वे निर्ग्रंथ या स्नातक हो जाय, तो सद्भाव हो सकता है (टीका)

× अकर्मभूमि में प्रथम, द्वितीय और तृतीय आरे के समान भाव वरतते है, तथा पन्द्रह कर्म भूमियो में-महाविदेह से साहरण हो तो प्रथमादि आरे मे सद्भाव हो सकता है।

पुलाक और निर्ग्रंथ तो कभी नहीं भी होते किन्तु बकुश दोनों प्रकार के कुशील और स्नातक तो सर्वकाल रहते हैं। हमारे भरत क्षेत्र में इस समय बकुश और दोनों प्रकार के कुशील ही हैं। पुलाक निर्ग्रंथ और स्नातक का सर्वथा अभाव ही है।

इस विषय का विस्तार पूर्वक वर्णन श्री भगवती सूत्र के २५ वे शतक के ६ उद्देश में किया गया है। जिज्ञासुओं को वहीं से देख लेना चाहिए।

निर्ग्रंथ का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है।

जिन त्यागी श्रमणों के घरबार, कुटुम्ब परिवार और धन धान्यादि बाहरी परिग्रह नहीं होता तथा कषायादि हार्दिक ग्रंथी–गांठ नहीं होती, किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता वे निर्ग्रंथ कहाते हैं। निर्ग्रंथ का स्वरूप जिनागम में इस प्रकार बताया है।

जो द्रव्य और भाव से अकेला (गच्छ में रहते हुए भी एकत्व भाव वाला) है जो अपने आत्मा का–एकत्व को भली प्रकार से जानता है, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् श्रद्धान से युक्त है, जिसने आश्रव द्वारों को रोक दिया है और अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में कर लिया है, जो पाँच समितियों से युक्त है, शत्रु और मित्र में समभाव रखनेवाला है, जिसने आत्मवाद को प्राप्त कर लिया है, जो विद्वान है, जिन्होंने इन्द्रियादि की विषयों में प्रवृत्ति और अनुकूल विषयों में राग तथा प्रतिकूल द्वेष के प्रवाह को रोक दिया है, जो सम्मान और पूजा पाने की इच्छा नहीं रखते हैं, जो धर्म के इच्छुक धर्म ज्ञाता मोक्ष मार्ग में परायण, सम्भाव पूर्वक व्यवहार करने वाले, दान्त, भव्य और देह की ममता से रहित होते हैं–देह भाव का त्याग कर आत्म भाव में रमण करते हैं। वे निर्ग्रंथ कहे जाते हैं।

(सूत्र कृतांग १–१६)

निर्ग्रंथ वे ही हैं जो–१ विविक्त शयनासन (एकान्तवास) करे २ स्त्रियों सम्बन्धी–काम विकार वर्धक कथा नहीं कहे ३ स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठे ४ स्त्रियों का रूप अंगोपांगादि निरीक्षण नहीं करे ५ ओट में रहकर स्त्रियों के मधुर शब्दों गानों हँसी या विलाप आदि नहीं सुने ६ गृहस्थावस्था में स्त्रियों के साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करे ७ पुष्टिकारक–विकार वर्धक–गरिष्ट भोजन नहीं करे ८ भूख से अधिक नहीं खावे पीवे ९ शरीर की विभूषा नहीं करे और १० मनोज्ञ शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श का सेवन नहीं करे। जो इन नियमों का पालन करता है वह निर्ग्रंथ है। (उत्तराध्ययन १६)

जो निर्ग्रंथ अपनी साधना में वर्धमान रहते हैं वे स्नातक होकर अरिहन्त और सिद्ध भगवान बन जाते हैं।

नित्य आचरणीय

निर्ग्रंथनाथ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने श्रमण निर्ग्रंथो को सदैव पालन करने योग्य इन ५८ नियमो की आज्ञा दी है।

१-१० क्षमा आदि दस प्रकार के यति धर्म की (इनका वर्णन दस प्रकार के यति धर्म मे किया है।)

११ उत्क्षिप्तचरक-आहार प्राप्ति के लिए गृहस्थ के घर जाने के पूर्व अभिग्रह करना कि 'मै उसी आहार मे से लूगा-जो गृहस्थ ने अपने खाने के लिये, पकाने के वर्तन मे से बाहर निकाल लिया हो'।

१२ निक्षिप्त चरक-पकाने के पात्र मे से नही निकाले हुए आहार मे से लेने की प्रतिज्ञा करना।

१३ अन्त चरक-खाने के वाद बचे हुए आहार मे से लेना।

१४ प्रान्त चरक-ठडा, बासी या भूने हुए चने आदि लेना।

१५ रुक्ष चरक-रूखा सूखा-जिस पर घृत तेल की चिकनाहट नही हो-ऐसा आहार लेना।

१६ अज्ञात चरक-जाति आदि के परिचय बिना-अज्ञात घरो से आहार लेना।

१७ अन्नग्लान चरक-इस भेद के टीकाकारने निम्न अर्थ दिये है।

अन्नग्लान चरक-अभिग्रह विशेष से प्रात काल प्रथम प्रहर मे आहार करने वाला।

अन्नग्लायक चरक-भूख लगने पर ही गोचरी जाने वाला।

अन्यग्लाय चरक-दूसरे रोगी साधु के लिए गोचरी जाने वाला।

उपरोक्त भेद का दूसरा रूप है 'अन्नवेल चरक" जिसका अर्थ-'भोजन काल के पहले या पीछे गोचरी के लिए जाने वाला।'

१८ मौन चरक-मौन के साथ भिक्षा के लिए निकलने वाला।

१९ ससृष्ट कल्पिक-भोजन से लिप्त हाथ अथवा पात्र से (अर्थात्-भोजन परोसने वाले से) आहार लेने के अभिग्रह वाला।

२० तज्जात ससृष्ट-जो आहार दिया जाय, उसीसे लिप्त हाथ या पात्र से दिया जाता हुआ आहार ही लेने वाला।

२१ औपनिधिक-गृहस्थ के पास जो भी आहार रक्खा है, उनमे से जो अधिक निकटवर्ती है, उसी की गवेषणा करने वाला।

२२ शुद्धेषणिक-निर्दोष-शका आदि किसी भी दोष से रहित आहार की गवेषणा करने वाला।

२३ संख्यादत्तिक–दात की संख्या का परिमाण करके लेने वाला।
२४ दृष्ट लाभिक–सुख के देखे हुए आहार की ही गवेषणा करन वाला।
२५ पृष्ट लाभिक–जो इस प्रकार पूछे कि हे साधु ! मैं आपको आहार दूं ? उससे आहार लेने का निश्चय करके आने वाला।
२६ आचाम्लिक–अयंबिल तप करने वाला।
२७ निर्विकृतिक–घृत तेल दूधादि विगयों का त्याग करने वाला।
२८ पूर्वार्द्धिक–प्रातःकाल से दो प्रहर तक आहार का त्याग करने वाला।
२९ परिमित पिण्ड पातिक–द्रव्य आदि का परिमाण करके परिमित आहार लेने वाला।
३० भिन्न पिण्ड पातिक–अखंड रोटी आदि नहीं लेकर टुकड़े की हुई वस्तु लेने वाला।
३१–३५ अरस विरस अन्त प्रान्त और रुक्ष आहार का अभिग्रह करके गोचरी जाने वाला।
३६ अरसाहार जीवी–हिंग आदि (नमक जीरा आदि) से स्वाद युक्त नहीं–हो ऐसे आहार से जीवन बिताने वाला।
३७ विरसाहारजीवी–जिसका रस मिट चुका ऐसे पुराने धान्य के आहार से जीवन भर उदर पूर्ति करने वाला।
३८ अन्ताहारजीवी–दाता के भोजन कर लेने के बाद बचे हुए आहार से ही जीवन चलाने वाला।
३९ प्रान्ताहार जीवी–तुच्छ, हलका अथवा निःसार वस्तु के आहार से ही जीवन चलाने वाला।
४० रुक्षाहार जीवी–घृत तेलादि स्निग्धता से रहित–सूखे आहार से ही आयु पर्यंत पेट पूर्ति करने वाला।
४१ स्थानातिग–अतिशय रूप से स्थिर होकर कायोत्सर्ग करने वाला।
४२ उत्कटुकासनिक–पाँवों के दोनों पंजों पर ही सारा शरीर टिकाकर (कूल्हे को किसी आसनादि पर नहीं टिकाकर) बैठना और ध्यान करना।
४३ प्रतिमा स्थायी–एक रात्रि आदि की भिक्षु प्रतिमा स्वीकार कर ध्यानस्थ रहना।
४४ वीरासनिक–बिना सिंहासन के ही सिंहासन जैसे विन्यास के सहारे मात्र पैरों पर ही सारे शरीर का भार रखकर ध्यान करने वाला। यह आसन महान् दुष्कर है।
४५ नैषधिक–नीचे लिखे पाँच प्रकार में से किसी भी प्रकार के आसन से बैठने वाला।

समपादयुता–समान रूप से पैर और कूल्हे पृथ्वी पर अथवा आसन पर जमा कर बैठना।
गोनिषधिका–गाय की तरह दोनों हाथ और पाँव जमाकर बैठना
हस्ति शुण्डिका–कूल्हों के बल बैठकर एक पाँव ऊपर रखना।
पर्यंका–पद्मासन से बैठना।

अर्द्ध पर्यङ्का-जघा पर एक पैर रखकर बैठना।

४६ दण्डायतिक-दण्ड की तरह पैर लम्बे फैलाकर बैठना।

४७ लगण्ड शायिक-कुबड निकलने की तरह मस्तक और हाथ की कोहनी तथा पाँव की एडी भूमि पर टिकाकर और पीठ को ऊँची रखकर सोने वाला।

४८ आतापक-शीत अथवा आतप को सहन करने वाले। (शर्दी के दिनो मे शीत की आतापना और गर्मी के दिनो में धूप की आतापना लेने वाले) यह जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन प्रकार की है।

४९ अप्रावृतक-वस्त्र नही रखते हुए ठण्ड के दिनो में धूप का कष्ट सहन करने वाले। यह भी जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ऐसी तीन प्रकार की होती है।

५० अकण्डूयक-खुजली चलने पर भी नही खुजलाने वाला। (ठाणाग ५-१-३९६)

प्रभु महावीर स्वामी ने उपरोक्त नियमो मे से यथाशक्य अधिक से अधिक पालन करते रहने की आज्ञा प्रदान की है। इन नियमो और इनके पालको की प्रशसा की है। प्रथम के क्षमादि दस नियम तो सभी एक साथ पालन किये जा सकते हैं। वाद के ३० आहार सम्बन्धी और अन्त के दस आसन युक्त ध्यान सबधी है। इनमें से यथा शक्ति पालन करते हुए विचरने वाले निर्ग्रंथ, भगवान् की आज्ञा के आराधक होते है।

नीचे लिखे आठ नियमो का सदैव, उत्साह पूर्वक एव आलस्य तथा प्रमाद रहित होकर पालन करना चाहिये। इनमें पराक्रम करते ही रहना चाहिए।

१ जिस शास्त्र अथवा धर्म को पहले नही सुना हो, उसे सुनने का प्रयत्न करना।

२ सुने हुए धर्म को स्मरण कर हृदय में दृढ धारणा बना लेनी चाहिए। परावर्त्तना द्वारा स्मृति मे जमाये रखना चाहिए।

३ सयम के द्वारा नये कर्मों की आवक रोक देनी चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि कही कोई कर्मों का द्वार खुल न जाय।

४ तपस्या के द्वारा पुराने कर्मों को सतत नष्ट करते रहना और आत्मा की विशुद्धि में वृद्धि करते रहना।

५ योग्य शिष्यो को ग्रहण करने में तत्पर रहना।

६ शिष्यो को साधु आचार (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य-यो पाच प्रकार का आचार) और गोचरी की विधि सिखाने में तत्पर रहना।

७ रोगी और वृद्ध साधु की उत्साह पूर्वक वैयावृत्य करने में तत्पर रहना।

८ यदि साधर्मियो में विरोध हो जाय, तो निष्पक्ष, राग द्वेष रहित तथा मध्यस्थ रहना चाहिए

भौर यह भावना रखनी चाहिए कि 'यह कलह विवाद भथवा विरोध किस प्रकार शान्त हो जाय'। उस विरोध को मिटाने में तत्पर रहना चाहिए। (ठाणांग ८)

वदनीय मुनिराज पूर्वोक्त ५० नियमों की तरह ये भाठ नियम भी सदव सावधानी पूर्वक भाचरण में लाते रहते हे।

योग सग्रह

मोक्ष साधना में सहायक बाधों को दूर करके शुद्धि करने वाले एसे प्रशस्त योगों के सग्रह को योग सग्रह' कहते हैं। मन वचन भौर काया की शुभ प्रवृत्ति—शुभ योग के ३२ भेद इस प्रकार हैं।

१ भालोचना—गुरु के समक्ष शुद्ध भावों से सच्ची भालोचना करना।

२ निरपलाप—शिष्य या भन्य कोई भपने सामने भालोचना करे तो वह किसी को नहीं कह कर भपने में ही सीमित रखना।

३ दृढ धर्मिता—भापत्ति भाने पर भी भपने धर्म में दृढ रहना।

४ निराश्रित तप—किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छा के बिना भथवा किसी दूसरे की सहायता की भपेक्षा के बिना तप करना।

५ शिक्षा—सूत्र भौर भर्थ ग्रहण रूप तथा प्रतिलेखनादि रूप भासेवना शिक्षा ग्रहण करना।

६ निष्प्रतिकर्म—शरीर की शोभा नहीं बढ़ाना।

७ भज्ञात तप—यश भौर सत्कार की इच्छा नही रखकर इस प्रकार तप करना कि बाहर किसी को मालूम नहीं पड़ सके।

८ निर्लोभ—वस्त्र पात्र भथवा स्वादिष्ट भाहार भादि किसी भी वस्तु का लोभ नहीं करना।

९ तितिक्षा—सयम साधना करते हुए जो परिषह और उपसर्ग भावें उन्हें शान्ति पूर्वक सहन करना।

१० भार्जव—हृदय में ऋजुता—सरलता धारन करना।

११ शुचि— सत्य भौर शुद्धाचार से पवित्र रहना।

१२ सम्यग्दृष्टि—दृष्टि की विशेष शुद्धता सम्यक्त्व की शुद्धि।

१३ समाधि—समाधिवन्त—शान्त भौर प्रसन्न रहना।

१४ भाचार—चारित्रवान् होना निष्कपट होकर चारित्र पालना।

१५ विनयोपगत—मान को त्याग कर विनयशील बनना।

१६ धैर्यवान्-अधीरता और चञ्चलता छोडकर धीरज धारण करना।

१७ सवेग-ससार से अरुचि और मोक्ष के प्रति अनुराग होना-मुक्ति की अभिलाषा होना।

१८ प्रणिधि-माया का त्याग करके नि शल्य होना, भावो को उज्ज्वल रखना।

१६ सुविहित-उत्तम आचार का सतत पालन करते ही रहना।

२० सवर-आश्रव के मार्गो को वन्द करके सवरवन्त होना।

२१ दोष निरोध-अपने दोषो को हटाकर उनके मार्ग ही वन्द कर देना, जिससे पुन दोष प्रवेश नही कर सके।

२२ सर्व काम विरक्तता-पाँचो इन्द्रियो के अनुकूल विषयो से सदा विरक्त ही रहना।

२३ मूल गुण प्रत्याख्यान-मूल गुण विषयक-हिंसादि त्याग के प्रत्याख्यान करना और उसमे दृढ रहना।

२४ उत्तरगुण प्रत्याख्यान-उत्तर गुण विषयक-तपादि के प्रत्याख्यान करके शुद्धता पूर्वक पालन करना।

२५ व्युत्सर्ग-शरीरादि द्रव्य और कषायादि भाव व्युत्सर्ग करना।

२६ अप्रमाद-प्रमाद को छोडना, उसे पास नही आने देना।

२७ समय साधना-काल के प्रत्येक क्षण को सार्थक करना, जिस समय जो अनुष्ठान करने का हो वही करना। समय को व्यर्थ नही खोना।

२८ ध्यान सवर योग-मन वचन और काया के योगो का सवरण करके ध्यान करना।

२६ मृत्यु का समय अथवा मारणान्तिक कष्ट आ जाने पर भी दृढता पूर्वक साधना करना।

३० सयोग ज्ञान-इन्द्रियो अथवा विषयो का सयोग, अथवा वाह्य सयोग को ज्ञान से हेय जानकर त्यागना।

३१ प्रायश्चित्त-लगे हुए दोषो का प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना।

३२ अन्तिम साधना-अन्तिम समय में सलेखणा करके पण्डित मरण की आराधना करना।

(समवायाग ३२)

उपरोक्त योगसग्रह में सभी प्रकार की उत्तम करणी का समावेश हो जाता है। इस प्रकार 'वत्तीस योगसग्रह' से आतमा को उज्ज्वल करने वाले सत प्रवर, ससार के लिए मगल रूप है।

सभोग

समान समाचारी वाले साधुओं के साथ सम्मिलित आहारादि व्यवहार का 'समोग' कहते हैं। एक गच्छ क साधओं में ता परस्पर सभाग–वन्दनादि व्यवहार प्राय हाते ही हैं क्योंकि उनके आचार विचार समान हाते हैं। यदि एक गच्छ के साधुओं के आचार विचार में भेद हुआ ता समोग में भी भेद हो जाता है। यदि आचार विचार में अत्यधिक साम्यता हो और काई खास विषमता नही हा ता अन्य गच्छ से भी समोग हो सकते हैं—सभी नहीं ता अमुक समाग हा सकते हैं। किन्तु जहां विषमता मुख्य हो वहाँ समोग नहीं रहते—नहीं रहना चाहिये। विचार की (विषमता जो दर्शन गुण का घात करती हा) तथा आचार की शिथिलता हा उनके साथ समोग नहीं रहत।

जिस प्रकार संसारियों में भी समोग असमोग होता है। ज्ञाति वग अथवा सस्था के नियमों क अनुकूल आचरण करने वालों से ही खान पानादि व्यवहार होता है। प्रतिकूल आचरण करने वालों से सम्बन्ध नहीं रहता–विच्छेद होता है इसी प्रकार श्रमण वर्ग में भी विषम आचार विचार वालों से सम्बन्ध नहीं रहता। जो आचार में गिर जाता है और सुधार नहीं करता उससे श्रमण वग अपने समोग छोड देते हैं। संभोग बारह प्रकार का है।

१ उपधि विषयक-वस्त्र पात्र आदि का परस्पर लेना देना यह उपधि विषयक समोग है।

उद्गम उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित—शुद्ध उपधि को समोगी साधुओं के साथ रह कर प्राप्त करना उसे काम में आन योग्य बनाना काम में लेना उपधि विषयक समोग है। यदि दाष लग तो तीन बार तक प्रायश्चित देकर शुद्धि की जाती है किन्तु फिर भी चौथी बार दाष लगावे तो उसे विसमोगी कर दिया जाता है। यदि प्रथम बार दाष सेवन पर प्रायश्चित्त दिया जाय और दोषी साध प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करे, तो उससे उसी समय सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है।

पासत्था आदि के साथ उपधि लेने देने का व्यवहार करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी हाता है तथा अकारण साध्वी के साथ और किसी अन्य समागी साधु के साथ कोई साध उपधि लेने देने का व्यव हार करे, ता वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है।

२ श्रुत समोग–विधि पूर्वक श्रुतज्ञान का अभ्यास करवाना या दूसरे के पास जाकर पढना। अविधि से पढे पढावे तथा पासत्था आदि को एव स्त्री को वाचना आदि देवे ता वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

३ भक्तपान—आहार पानी का देना लेना।

४ अंजलि प्रग्रह—वन्दन व्यवहार तथा आसनादि करना।

५ दान--वस्त्र, पात्र, शिष्य आदि देना।

६ निमन्त्रण--शय्या, उपधि, आहार, शिष्यादि के लिए निमन्त्रण देना।

७ अभ्युत्थान--बडो के आने पर आदर देने के लिए खडा होना।

८ कृति कर्म--विधि पूर्वक वन्दना करना।

९ वैयावृत्य--सेवा करना, रोगी, वृद्ध आदि का आवश्यकतानुसार कार्य करना।

१० समवसरण--व्याख्यानादि के समय साथ रहना, बैठना आदि।

११ सन्निषद्या—आसन आदि देना।

१२ कथा-प्रबन्ध—एक साथ बैठकर व्याख्यानादि देना। (समवायाग—१२)

सभोग का प्रश्न शुद्धाचारियो के लिए है। पासत्थ, कुशील आदि ढीले आचरण वालो से सभोग नही रखने का नियम आवश्यक है। इससे सस्कृति की रक्षा होती है। विशुद्ध परम्परा का पोषण होता है। इसके विपरीत जो अनसमझ व्यक्ति कहा करते है, कि साधुओ मे सभोग विषयक घृणा क्यो ? साधु साधु से ही परहेज क्यो करते है", इत्यादि, यह उन लोगो की भूल है। कुशीलियो से पृथक् रहना, उत्तम परम्परा की रक्षा के लिए आवश्यक है। कुशीलियो से भेद नही रखने से शुद्धाचार को हानि और शिथिलाचार को प्रोत्साहन मिलता है। श्री हरिभद्रसूरिजी ने भी 'आवश्यक' मे शिथिलाचारियो की सगति त्यागने के विषय में लिखा है कि—

"जो शुद्धाचारी होकर शिथिलाचारियो से सगति करे, तो वह शुद्धाचारी भी वन्दनीय नही रहता। जिस प्रकार विष्ठा मे पडी हुई चम्पकमाला, हृदय पर धारण करने योग्य नही रहकर उपेक्षणीय ही रहती है। श्री स्थानाग सूत्र मे लिखा कि नीचे लिखे कारणो से अपने सभोगी को विसभोगी बनादे तो विसभोगी करने वाला भगवान् की आज्ञा का विराधक नही होता।

१ सयम में दोष लगावे, पाप स्थान का सेवन कर ले।

२ दोष लगाकर भी जो गुरु से छुपावे और उनके सामने आलोचना नही करे।

३ यदि आलोचना कर ले, तो गुरु के दिये प्रायश्चित्त को स्वीकार नही करे।

४ यदि प्रायश्चित्त अगीकार कर भी ले तो उसका पालन नही करे।

५ स्थविर कल्पी मुनिवरो के स्थिति आदि कल्प का उल्लघन करके अनाचार का सेवन करे और मन मे साहसी होकर सोचे कि "मैने अकार्य कर भी लिया, तो स्थविर मेरा क्या करेगे"।

(ठाणाग ५—१)

६ आचार्य के विरुद्ध चलने वाले को।

७ उपाध्याय के विरोधी को।

८ स्थविरो के प्रति शत्रुता का व्यवहार करने वाले को।

सभोग

समान समाचारी वाले साधुओं क साथ सम्मिलित भाहारादि व्यवहार का समोग' कहते हैं। एक गच्छ के साधुओं में तो परस्पर सभोग–वन्दनादि व्यवहार प्राय होते ही हैं क्योंकि उनके आचार विचार समान होते हैं। यदि एक गच्छ के साधुओं के भाचार विचार में भद हुमा तो समोग में भी भेद हो जाता है। यदि आचार विचार में प्रत्यधिक साम्यता हो और कोई खास विषमता नहीं हो तो अन्य गच्छ से भी समोग हो सकते हैं–सभी नहीं तो अमुक समाग हो सकते हैं। किन्तु जहां विषमता मुख्य हो वहां संमोग नहीं रहते–नहीं रहना चाहिये। विचार की (विषमता जो दर्शन गुण का घात करती हो) तथा भाचार की शिथिलता हो उनक साथ समाग नहीं रहते।

जिस प्रकार ससारियों में भी समोग असमाग होता है। जाति वर्ग अथवा सस्था के नियमों के अनुकूल आचरण करने वालों से ही खान पानादि व्यवहार होता है। प्रतिकूल आचरण करने वालों से सम्बन्ध नहीं रहता–विच्छेद होता है इसी प्रकार श्रमण वर्ग में भा विषम आचार विचार वालों से सम्बन्ध नहीं रहता। जो आचार में गिर जाता ह और सुधार नहीं करता उससे श्रमण वग अपने समोग छोड देते हैं। सभोग बारह प्रकार का है।

१ उपधि विषयक -वस्त्र पात्र आदि का परस्पर लेना देना यह उपधि विषयक सभोग है।

उद्गम उत्पादन और एषणा के दोषों स रहित–शुद्ध उपधि को सभोगी साधुओं के साथ रह कर प्राप्त करना उसे काम में आने योग्य बनाना काम में लेना उपधि विषयक समोग है। यदि दोष लग तो तीन बार तक प्रायश्चित देकर शुद्धि की जाती है किन्तु फिर भी चौथी बार दोष लगावे तो उसे विसभोगी कर दिया जाता है। यदि प्रथम बार दोष सेवन पर प्रायश्चित्त दिया जाय और दोषी साधु प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करे तो उससे उसी समय सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता ह।

पासत्था आदि के साथ उपधि लेने देने का व्यवहार करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है तथा अकारण साध्वी के साथ और किसी अन्य समागी साधु के साथ कोई साध उपधि लेने देने का व्यवहार करे, तो वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है।

२ श्रुत संभोग–विधि पूर्वक श्रुतज्ञान का अभ्यास करवाना या दूसरे के पास जाकर पढ़ना। अविधि से पढ़े पढ़ावे तथा पासत्था आदि को एवं स्त्री को वाचना आदि देवे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

३ भक्तपान–आहार पानी का देना लेना।

४ अंजलि प्रग्रह–वन्दन व्यवहार तथा आलोचनादि करना।

५ दान--वस्त्र, पात्र, शिष्य आदि देना ।

६ निमन्त्रण--शय्या, उपधि, आहार, शिष्यादि के लिए निमन्त्रण देना ।

७ अभ्युत्थान--बडो के आने पर आदर देने के लिए खडा होना ।

८ कृति कर्म--विधि पूर्वक वन्दना करना ।

९ वैयावृत्य--सेवा करना, रोगी, वृद्ध आदि का आवश्यकतानुसार कार्य करना ।

१० समवसरण--व्याख्यानादि के समय साथ रहना, बैठना आदि ।

११ सन्निषद्या--आसन आदि देना ।

१२ कथा-प्रबन्ध--एक साथ बैठकर व्याख्यानादि देना । (समवायाग--१२)

सभोग का प्रश्न शुद्धाचारियो के लिए है । पासत्थ, कुशील आदि ढीले आचरण वालो से सभोग नही रखने का नियम आवश्यक है। इससे सस्कृति की रक्षा होती है। विशुद्ध परम्परा का पोषण होता है। इसके विपरीत जो अनसमझ व्यक्ति कहा करते है, कि साधुओ मे सभोग विषयक घृणा क्यो ? साधु साधु से ही परहेज क्यो करते है", इत्यादि, यह उन लोगो की भूल है । कुशीलियो से पृथक् रहना, उत्तम परम्परा की रक्षा के लिए आवश्यक है। कुशीलियो से भेद नही रखने से शुद्धाचार को हानि और शिथिलाचार को प्रोत्साहन मिलता है । श्री हरिभद्रसूरिजी ने भी 'आवश्यक' मे शिथिलाचारियो की सगति त्यागने के विषय में लिखा है कि--

"जो शुद्धाचारी होकर शिथिलाचारियो से सगति करे, तो वह शुद्धाचारी भी वन्दनीय नही रहता । जिस प्रकार विष्ठा में पडी हुई चम्पकमाला, हृदय पर धारण करने योग्य नही रहकर उपेक्षणीय ही रहती है । श्री स्थानाग सूत्र मे लिखा कि नीचे लिखे कारणो से अपने सभोगी को विसभोगी बनादे तो विसभोगी करने वाला भगवान् की आज्ञा का विराधक नही होता ।

१ सयम में दोष लगावे, पाप स्थान का सेवन कर ले ।

२ दोष लगाकर भी जो गुरु से छुपावे और उनके सामने आलोचना नही करे ।

३ यदि आलोचना कर ले, तो गुरु के दिये प्रायश्चित्त को स्वीकार नही करे ।

४ यदि प्रायश्चित्त अगीकार कर भी ले तो उसका पालन नही करे ।

५ स्थविर कल्पी मुनिवरो के स्थिति आदि कल्प का उल्लघन करके अनाचार का सेवन करे और मन मे साहसी होकर सोचे कि "मैने अकार्य कर भी लिया, तो स्थविर मेरा क्या करेगे" ।

(ठाणाग ५--१)

६ आचार्य के विरुद्ध चलने वाले को ।

७ उपाध्याय के विरोधी को ।

८ स्थविरो के प्रति शत्रुता का व्यवहार करने वाले को ।

९ साधुओं के कुल के बैरी को।
१० गण की विपरीतता करने वाले को।
११ संघ—शत्रु को।
१२ ज्ञान का अवर्णवाद बोलने वाले को।
१३ दर्शन के विरुद्ध-मिथ्यात्व का प्रचार करने एवं जैन व खोटी श्रद्धा करने-कराने वाले को।
१४ चारित्र के नियमों के प्रतिकूल चलने वाले का।

ऐसे विपरीत आचरण करने वाले प्रत्यनीक-शत्रु हैं। इन्हें विसांभोगिक बनाकर सम्बन्ध को विच्छेद कर लेना आवश्यक है। (ठाणांग ९)

कल्प

साधुओं के आचार का कल्प कहते हैं। यह अठारह प्रकार का है। यथा—

१–६ प्राणातिपातादि पांच और रात्रि-भोजन का त्याग करना। इस छ प्रकार के व्रत का पालन करना।

७–१२ छ काय के जीवों के आरंभ का त्याग करना।

१३ अकल्पनीय आहार, पानी वस्त्र पात्र शय्या आदि आधाकर्मी आदि दोष युक्त सेवन नहीं करना।

१४ गृहस्थ के बरतनों को काम में नहीं लेना।

१५ गृहस्थ के आसन पलंग कुर्सी आदि पर नहीं बैठना।

१६ गृहस्थ के घर जाकर नहीं बैठना।

१७ स्नान नहीं करना।

१८ शरीर तथा वस्त्रों की शोभा बढ़ाने और स्वच्छ रहने रूप—शोभा वर्धक कार्य नहीं करना।
(दशवै ६ तथा समवा १८)

इस प्रकार अठारह प्रकार के कल्प का यथा विधि पालन करता हुआ श्रमण जिनाज्ञा का आरा-धक होता है।

उपरोक्त कल्प के अतिरिक्त नीचे लिखे कल्प भी पंचाशक १७ में बताये गये हैं।

१ अचेलकल्प—वस्त्र नहीं रखना या थोड़े अल्प मूल्य वाले तथा जीर्ण वस्त्र रखना—अचेल कल्प है।

इन्द्र का दिया हुआ वस्त्र तीर्थंकर भगवान् के कन्धे पर पडा रहता है, किंतु भगवान् उसको काम मे नही लेते है। उस वस्त्र के गिर जाने पर उसे उठाते भी नही है। उस वस्त्र के गिरने के पूर्व एव पश्चात् वे नग्न ही रहते है। तीर्थंकर भगवान् छद्मस्थावस्था में भी कल्पातीत ही होते हैं।

कोई कोई जिनकल्पी भी वस्त्र नही रखते हैं। जिनकल्पियो के उपकरण के निम्न आठ विकल्प है।

१ रजोहरण और मुखवस्त्रिका तो सभी जिनकल्पी रखते ही है।

२ कोई उपरोक्त दो उपकरण के अतिरिक्त एक वस्त्र रखते है।

३ कोई दो उपकरण और दो वस्त्र रखते है।

४ दो उपकरण और तीन वस्त्र।

५ कोई १ रजोहरण २ मुखवस्त्रिका ३ पात्र ४ पात्र वन्धन ५ पात्र स्थापन ६ पात्र केसरीका (पात्रपोछने का वस्त्र) ७ पटल (पात्र ढकने का वस्त्र) ८ रजस्त्राण (पात्र लपेटने का कपडा) और ९ गोच्छक (पात्र आदि साफ करने का कपडा) ये नव उपकरण रखते है।

६ उपरोक्त ९ के साथ एक वस्त्र।

७ उपरोक्त ९ के साथ दो वस्त्र।

८ उपरोक्त ९ के साथ तीन वस्त्र।

इस प्रकार बारह उपकरण तक जिनकल्पी मुनि रख सकते है।

प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु, अल्प मूल्य वाले नवीन वस्त्र ले सकते है। शेष २२ तीर्थंकरो के साधु, जैसा वस्त्र मिल जाता है, वैसा ले लेते है। वे ममत्व भाव से मूल्यवान वस्त्र नही लेते।

स्थविर कल्पी साधु, थोडे, अल्प मूल्य वाले और काम में लिये हुए जीर्ण वस्त्र लेते है। इसलिए वस्त्र होते हुए भी अचेलकल्पी कहलाते है।

अचेल कल्प का विधान प्रथम और अन्तिम जिनेश्वरो के शासन मे होता है, क्योकि प्रथम जिनेश्वर के साधु ऋजुजड=सरल अनभिज्ञ होते है, और अन्तिम जिनेश्वरो के समय के मनुष्यो का स्वभाव वक्रजड=कुटिल मूर्ख-कुतर्क खडी करके गली निकालने वाले होते है। इसलिए अचेल-कल्प का विधान किया गया है।

दूसरे से लेकर २३वे तीर्थपति के शासन के मनुष्य, ऋजुप्राज्ञ=सरल और बुद्धिमान् होते है। वे धर्म का पालन पूर्ण रूप से करते है। इसलिए वे अधिक मूल्य वाले नवीन वस्त्र भी ले सकते है। उन साधुओ के लिए अचेल कल्प नही है।

२ औद्देशिक कल्प-साधु, साध्वी अथवा याचको के लिए बनाया हुआ आहार 'औद्देशिक कल्प' है। इसके चार भेद है।

१ किसी साधु या साध्वी का निर्देश किए विना सामान्य रूप से साधु साध्वियों के लिए बनाया गया माहार ।

२ साधु अथवा साध्वियों के लिए ही बनाया हुआ भ्राहार ।

३ अमुक उपाश्रय (तथा सम्प्रदाय या गच्छ) में रहने वाले साधु साध्वियों के लिए बनाया हुआ ।

४ किसी खास व्यक्ति के लिए बनाया हुआ ।

१ प्रथम प्रकार का औद्देशिक आहार सभी तीर्थंकरों के शासन में त्याज्य है ।

यदि प्रथम तीर्थंकर के संघ के उद्देश्य से आहार बनाया हो तो वह प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए अकल्पनीय है । किन्तु बीच के तीर्थंकरों के साधु साध्वी उसे ले सकते हैं । यदि बीच के जिनेश्वरों के शासन के साधु साध्वियों के लिए बनाया हो तो वह सभी के लिए अकल्प्य है अर्थात् उसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु साध्वी भी नहीं ले सकते । बीच में से भी किसी (३रे ४थ आदि) एक का उद्देश्य कर बनाया जाय तो वह उनके लिए तथा प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए अकल्प्य है शेष सब के लिए कल्पनीय है । यदि अन्तिम तीर्थाधिपति के शासन के साधुओं का उद्देश्य कर बनाया हो तो वह आहार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासनाश्रित साधुओं के लिए तो अकल्पनीय है किन्तु शेष जिनेश्वरों के शासनाश्रित साधुओं के लिए कल्पनीय है ।

२ प्रथम तीर्थंकर के साधु अथवा साध्वियों के लिए बनाया हुआ आहार प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के साधु साध्वियों को नहीं कल्पता किन्तु बीच के तीर्थंकरों के शासन के साधु साध्वियों के लिए वह कल्पनीय है ।

मध्यम तीर्थंकर के साधुओं के लिए बनाया हुआ आहार उनके साधओं को नहीं कल्पता किन्तु साध्वियों को कल्पता है । मध्यम तीर्थंकर के साधुओं में भी जिसके तीर्थ के साधुओं का उद्देश्य कर बनाया उसके तीर्थ के साधुओं को नहीं कल्पता किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य मध्य के तीर्थंकरों के साधुओं को कल्पता है । अन्तिम तीर्थपति के साधुओं या साध्वियों के लिए बनाया हुआ आहार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु साध्वियों को नहीं कल्पता किन्तु मध्य के २२ तीर्थंकरों के साधु साध्वियों को कल्पता है । यदि सामान्य रूप से साधु साध्वी के लिए बनाया जाय तो किसी को भी नहीं कल्पता है । यदि सामान्य रूप से केवल साधुओं के लिए ही बनाया गया हो तो प्रथम और अन्तिम तीर्थों को छोड़ कर शेष २२ तीर्थ की साध्वियों को कल्पता है । इसी प्रकार साध्वियों के उद्देश्य से बना हुआ आहार मध्य के साधुओं को कल्पता है ।

३ सामान्य रूप से उपाश्रय का लक्ष्य कर बनाया हुआ आहार किसी भी तीर्थ के साधु साध्वी को नहीं कल्पता । यदि प्रथम तीर्थ के उपाश्रय के साधुओं को देने के लिए बनाया हो तो प्रथम

और अन्तिम तीर्थ के साधु साध्वियो को नही कल्पता, परन्तु मध्य के सभी तीर्थ के साधु साध्वियो को कल्पता है । यदि मध्य के सभी साधु साध्वियो को सामान्य रूप से लक्ष कर बनावे, तो किसी को भी नही कल्पता । यदि मध्य के किसी एक तीर्थ के साधु साध्वी के लिए बना हो, तो उन्हे तथा प्रथम व अन्तिम तीर्थ के साधुओ को नही कल्पता, किन्तु अन्य सब को कल्पता है । अन्तिम तीर्थंकर के उपाश्रयो को लक्ष्य कर बना हो, तो प्रथम और अन्तिम को छोडकर शेष को कल्पता है ।

४ प्रथम तीर्थ के किसी एक साधु के लिए बनाया आहार, प्रथम और अन्तिम तीर्थ के साधुओ को नही कल्पता, किन्तु मध्य के सभी साधुओ को कल्पता है । मध्यम तीर्थ के किसी एक साधु के लिए बनाया हुआ आहार, किसी एक साधु के ले लेने पर, मध्य तीर्थ के दूसरे साधुओ को लेना कल्पता है । नाम पूर्वक किसी एक के लिए बनाया हुआ, उसे छोडकर मध्य तीर्थों के अन्य साधु साध्वियो के लिए कल्पनीय है।

जो रीति मध्य के बावीस तीर्थकरो की है, वही सभी महाविदेह के साधुओ की है ।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के साधुओ का परस्पर मिलना नही होता, किन्तु कल्प की समानता बताने के लिए ही यह भग बताया है ।प्रथम और द्वितीय तथा २३वे और २४वें के तीर्थ के साधुओ का मिलाप हो सकता है ।

३ शय्यातरपिण्ड कल्प–शय्यातर–जिसके मकान में रहे, उसके यहाँ से आहार पानी आदि नही लेना । यह कल्प सभी तीर्थङ्करों के शासन के साधुओ के लिए पालनीय है ।

४–राजपिण्ड कल्प–राजा या ठाकुर आदि का आहार आदि लेना राजपिण्ड है । यह कल्प प्रथम और अन्तिम जिनेश्वरो के शासन के साधु साध्वी के लिए ही अवश्य पालनीय है । राजपिण्ड में निम्न आठ वस्तुएँ मानी गई है ।

१ अशन, २ पान, ३ खादिम, ४ स्वादिम, ५ वस्त्र, ६ पात्र, ७ कम्बल और ८ रजोहरण ।

५ कृतिकर्म कल्प–बडे को वन्दना करना कृतिकर्म कल्प है । बडे के आने पर खडे होना और आने वाले के सामने जाना, ये दो भेद कृतिकर्म के है । थोडी दीक्षा वाला, अधिक दीक्षा पर्याय वाले को ही वन्दना करता है । यह कल्प सभी तीर्थङ्करो के साधुओ के लिए है ।

६ व्रत कल्प–प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करो के साधु साध्वी के पाँच महाव्रत और मध्य के बावीस तीर्थङ्करो के साधुओ के चार याम होते है । यह अन्तर गिनती का है । व्रतो मे कोई अन्तर नही है । क्योकि मध्य के तीर्थङ्करो के साधु साध्वी चौथे महाव्रत को पाँचवें में मिलाते है। क्योकि परिग्रहित स्त्री पुरुष के साथ ही मैथुन होता है । इसलिए परिग्रह में दोनो गिन लिए है और उसका नाम "बहिद्धा--दाणाओ वेरमाण" है । यह कल्प सभी तीर्थङ्करो के साधुओ को पालनीय है ।

७ पुरुष ज्येष्ठ कल्प–जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र में बडा है, वह ज्येष्ठ–बडा है । प्रथम और

अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में उपस्थापना=छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा) होता है। इसमें जो बड़ा हो वह ज्येष्ठ माना जाता है। यह नियम मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के शासन में नहीं है। उस समय छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं होता। जो साधु निरतिचार चारित्र पालन में बड़ा हो वही ज्येष्ठ माना जाता है।।

बड़ी दीक्षा उसी को दी जाती है जिसने साधु के आचार का पढ़ लिया हो उसके अर्थ का जान लिया हो। जो छ: महाव्रतों का तीन करण तीन योग से पालन करता है। ऐसे साधु को छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है।

यदि पिता पुत्र आदि तथा राजा और मन्त्री आदि दो व्यक्ति एक साथ दीक्षा लें और एक साथ ही अध्ययन समाप्त कर बड़ी दीक्षा की योग्यता प्राप्त करलें तो लोक प्रथा के अनुसार पहले पिता या राजा आदि को बड़ी दीक्षा देकर फिर पुत्र या मन्त्री आदि को देवे। यदि पिता या राजा आदि का अध्ययनादि की समाप्ति में विलम्ब हो तो पुत्र या मन्त्री आदि को उतने दिन रोक कर पिता आदि को योग्य होने पर उन्हें बड़ी दीक्षा देने के साथ पुत्रादि को दीक्षित करे। यदि पिता आदि के अध्ययन में अधिक विलम्ब हो तो उन्हें पूछकर पुत्रादि की उपस्थापना करनी चाहिए।

इस कल्प का नाम 'पुरुष ज्येष्ठ कल्प' है। इसका आशय यह है कि साध्वी दीक्षा में कितनी ही बड़ी क्यों न हो किन्तु उसे भगवान से प्रयत्न अल्प–मात्र एक दिन की दीक्षा वाले साधु को भी वन्दना करनी होती है।

८ प्रतिक्रमण कल्प–व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना कर पुन: व्रतों में सावधान होने की क्रिया को प्रतिक्रमण कहते हैं। प्रथम और अंतिम तीर्थङ्कर के शासन में यह स्थित कल्प है। दोष लगे या नहीं लगे प्रात:काल और सायङ्काल–दोनों बार प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। मध्य तीर्थङ्करों के तथा महाविदेह के साधुओं के लिए यह कल्प अनियत है। जब दोष लगे तब प्रतिक्रमण करने का उनका आचार है।

९ मास कल्प–वर्षावास तथा रोगादि अन्य कारण के बिना एक स्थान पर एक मास से अधिक नहीं ठहरना-मासकल्प है। यह कल्प भी प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए है। मध्य के तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए और महाविदेह वालों के लिए नहीं है।

प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साध्वी के लिए एक स्थान पर दो मास तक ठहरने का विधान है।

१० पर्युषण कल्प–आषाढ़ से लगाकर कार्तिक पूर्णिमा तक एक स्थान पर रहना पर्युषणकल्प है। यह कल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु साध्वी के लिए है। मध्य के तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए और महाविदेह वालों के लिए नहीं है।

प्रथम और अतिम तीर्थकरो के साधु साध्वियो के लिए ये दम ही कल्प अवश्य पालनीय है। अतएव उन्हे "स्थित कल्प" कहते है।

मध्य के २२ तीर्थकरो के लिए—१ शय्यातरपिण्ड २ कृतिकर्म कल्प ३ व्रत कल्प और ४ ज्येष्ठ कल्प तो स्थित—अवश्य पालनीय है, शेष ६ के लिए वे अस्थित कल्प है। कारण उपस्थित होने पर ही वे इन का पालन करते है। महाविदेह के माधु साध्वी का कल्प भी इसी प्रकार का है।

उपघात और विशुद्धि

सयम पालन करने मे कुछ प्रमाद हो जाने पर ऐसे दोष लग जाते है कि जिनसे चारित्र का भग होता है। श्री स्थानाग सूत्र स्था १० में चारित्र की घात करने वाले निम्नलिखित दस दोष बताये है।

१ उद्गमोपघात—आधाकर्मादि सोलह दोष युक्त आहारादि लेना।

२ उत्पादनोपघात—उत्पादन के सोलह दोष युक्त आहार पानी वस्त्रादि लेना।

३ एषणोपघात—एषणा के दस दोष लगाना।

४ परिकर्मोपघात—वस्त्र पात्र आदि के फटने टूटने पर साँधने और जोडने मे होने वाली अशुद्धि।

वस्त्र में फटे हुए एक ही स्थान पर क्रमश तीन कारियो पर चौथी लगाना—वस्त्र परिकर्मोप-घात है। पात्र में तीन से अधिक जोड लगाये हो, या टेढ़ा मेढा पात्र हो, तो ऐसे पात्र मे एक महीना १५ दिन से अधिक भोजन करना—पात्र परिकर्मोपघात दोष है। जिस स्थान को साधु के लिए लिपाया पुनाया हो, सुगन्धित किया हो, प्रकाशित किया हो, तो वह वसति परिकर्मोपघात दोष है।

५ परिहरणोपघात—अकल्पनीय का सेवन करना, परिहरणोपघात है। एकलविहारी और स्व-च्छन्दाचारी के सेवन किये हुए उपकरणो को काम मे लेने से यह दोष लगता है। यदि एकलविहारी अलग रहकर शुद्ध चारित्र पालता है और वह वापिस गच्छ में आ जाता है, तो उसके उपकरण काम में लेनें से दोष नही लगता। दोष लगता है दूषित के उपकरणो को काम मे लेनें से।

वसति परिहरणोपघात—एक ही स्थान पर वर्षावास अथवा शेष काल के एक मास से अकारण अधिक रहे, तो वह स्थान 'कालातिक्रान्त' दोष वाला है। इस प्रकार के अन्य दोप युक्त वसति का सेवन करना—स्थान परिहरणोपघात है।

६ ज्ञानोपघात—ज्ञानाभ्यास में प्रमाद करना और ज्ञान मे दोष लगाना।

७ दर्शनोपघात—सम्यक्त्व में शका काक्षादि दोष लगाना।

८ चारित्रोपघात—समिति, गुप्ति में किसी प्रकार का दोप लगाना।

९ अभियत्तोपघात—गुरु और रत्नाधिक में भक्तिभाव नहीं रखना। उनका विनय आदि नहीं करना—अप्रीतिकोपघात है।

१ संरक्षणोपघात—वस्त्र पात्र तथा शरीरादि में ममत्व भाव रखना।

उपरोक्त दस प्रकार से संयम की घात होती है। निर्ग्रंथ मुनिवर इन दोषों से वंचित रहकर अपने स्वीकृत संयम को विशुद्ध रखते हैं। वह विशुद्धि भी दस प्रकार की है। जैसे—

१–३ उद्गम विशुद्धि उत्पादन विशुद्धि और एषणा विशुद्धि। आहारादि के ४२ दोष नहीं लगाकर निर्दोष आहार पानी वस्त्र पात्र स्थानादि सेवन करने से संयम शुद्ध रहता है।

४ परिकर्म विशुद्धि—निर्दोष रीति से वस्त्र पात्र और स्थान का सेवन करना।

५ परिहरणा विशुद्धि—निर्दोष उपकरण सेवन करने से।

६ ज्ञान विशुद्धि—ज्ञान की निरतिचार आराधना करने से।

७ दर्शन विशुद्धि—दर्शनाचार का निर्दोष रीति से पालन करने से।

८ चारित्र विशुद्धि—महाव्रतों एवं समिति गुप्ति का निर्दोष पालन करने से।

९ अभियत्त विशुद्धि—गुरुजनों की विनय वैयावृत्य करने से।

१० संरक्षण विशुद्धि—निर्ममत्व भाव से उपकरणों का उपयोग करते हुए।

इस प्रकार निर्दोष रीति से संयम पालन करने वाले अनगार भगवन्त संसार में शरणभूत एवं मंगलमय होते हैं।

अवलम्बन

संयमी जीवन के निर्वाह में साधुओं को निम्न पाँच स्थान सहायक होते हैं। इसलिए इन्हें अवलंबन रूप बताये हैं।

१ छः काया—पृथ्वी पानी वनस्पति अग्नि वायु और त्रस जीव भी साधु जीवन में सहायक होते हैं।

पृथ्वी—सोने बैठने चलने फिरने और उच्चारादि परठने के काम में आती है।

पानी—पीने आदि के काम में आता है।

वनस्पति—आहार पाट पाटला वस्त्र पात्र आदि वनस्पति के होते हैं।

अग्नि—आहार अग्नि से ही पकाया हुआ होता है और ओसामन गरम पानी आदि भी काम में आता है।

वायु—जीवन के लिए वायु तो काम में आता ही रहता है।

त्रस—कम्बल ऊन का बनता है, पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो का दूध दही आदि भी काम में आता है। आहार, वस्त्र, शय्या आदि मनुष्यो से प्राप्त होता है।

२ गण—गच्छवासी मुनियो के लिए साधुओ से परस्पर सेवा, वाचना, वैयावृत्य आदि की सहायता मिलती है।

३ राजा—राजा के राज्य में निर्विघ्न विचरना होता है, न्याय नीति के पलवाने के कारण। दुष्ट मनुष्य राज्य सत्ता के प्रभाव से साधु साध्वी को विघ्न-कर्त्ता नही हो सकते। इस प्रकार से राजा भी सहायक माना गया है।

४ गृहपति, रहने के लिए स्थान देता है। इसलिए वह भी सहायक है।

५ शरीर—शरीर के द्वारा ही धर्म की आराधना होती है। इसलिए शरीर भी सहायक है।

इस प्रकार सुख पूर्वक निर्दोष सयम पालन करने में उपरोक्त पाँच सहायक होते है।

(ठाणाग ५—३)

अवग्रह

निर्ग्रंथ अनगार किसी भी आवश्यक वस्तु को ग्रहण करते है, तो वस्तु के स्वामी की आज्ञा बिना ग्रहण नही करते है। वे प्रत्येक वस्तु उसके स्वामी की आज्ञा से ही ग्रहण करते है। आज्ञा देने वाले निम्न लिखित पाँच प्रकार के होते है।

१ देवेन्द्रावग्रह—इन्द्र की आज्ञा। जिस वस्तु का कोई प्रत्यक्ष स्वामी नही हो, तो दक्षिण-भरत के साधु साध्वी को प्रथम-स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र की आज्ञा लेकर तृण, सूखा पान, ककर आदि लेने चाहिये। शक्रेन्द्र ने पहले से भगवान महावीर प्रभु से निवेदन करके अपनी आज्ञा प्रदान कर दी है।

२ राजावग्रह—चक्रवर्ती राजा की आज्ञा। भरतादि छ क्षेत्र में चक्रवर्ती का राज्य हो, तो वहाँ आवश्यकता होन पर उनकी आज्ञा प्राप्त करना।

३ गृहपति का अवग्रह—जिस मण्डल का जो राजा हो, उस मण्डलिक राजा की आज्ञा प्राप्त करना।

४ सागारी का अवग्रह—स्थान, पाट, पाटला आदि के लिए, गृह-स्वामी की आज्ञा प्राप्त करना।

५ सार्धमिक अवग्रह—समान धर्म वाले साधुओ की वर्षाऋतु के सिवाय शेष काल में एक मास तथा चातुर्मास में, पाच कोस तक के क्षेत्र में आज्ञा प्राप्त करना।

अवग्रह का क्रम पश्चानुपूर्वी है। सबसे पहले सार्धमिक का अवग्रह लिया जाता है। उसके बाद सागारी का। इस प्रकार जब चक्रवर्ती राजा के अवग्रह का भी योग नही हो, तो देवेन्द्र का अवग्रह चल सकता है। किन्तु देवेन्द्र की आज्ञा होने पर भी राजा की नही हो, तो वह वस्तु स्वीकार नही की जा

सकती। इसी प्रकार राजाज्ञा होने पर भी गृहपति अनुमति नहीं दे और गृहपति अनुमति देवे किन्तु सागारी आज्ञा नहीं दे तो भी निषेध रहता है। अन्त में साधर्मी की आज्ञा के बिना चारों की अनुमति व्यर्थ हो जाती है। (भगवती १६-२)

शय्या

आराम तलब—सुखशील व्यक्तियों के लिए बिछौना ठीक एवं मन मुताबिक नहीं हो तो उन्हें दुःख होता है। उनकी रात दुःख पूर्वक व्यतीत होती है। इसी प्रकार मुनि जीवन में भी ठीक प्रवृत्ति न होने पर दुःख शय्या' होती है। संसार की दृष्टि से दुःख रूप शय्या—अव्यस्त दुःख रूप शय्या है किन्तु मुनि जीवन में मन की अस्थिरता—असन्तोष एवं उपराम भाव दुःखशय्या है। वह चार प्रकार की है। यथा—

१ प्रव्रजित होने के बाद जिस मुनि का दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंका पर-दर्शन की कांक्षा फल में सन्देह व चित्त डाँवाडोल हो जाता है और मन में कलुषितता आ जाती है, तो इस प्रकार की मन की हालत होने पर निर्ग्रन्थ प्रवचन में अश्रद्धा अप्रतीति और अरुचि के कारण उसका मन ऊँचा नीचा होता रहता है और वह धर्म से पतित हो जाता है। यह प्रथम दुःखशय्या है।

२ कोई मुनि दीक्षित होने के बाद अपने प्राप्त लाभ में सन्तुष्ट नहीं रहकर दूसरों से लाभ की इच्छा रखता है विशेष लालायित रहता है और वह पर से वस्तु प्राप्त करने की तृष्णा बढ़ाता ही रहता है तो इस प्रकार परायी आशा रखने वाला असन्तुष्ट रह कर ऊँचा नीचा होता रहता है और वह धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। यह दूसरी दुःखशय्या है।

३ साधु होकर जिसने काम भोगों का त्याग कर दिया है किन्तु फिर भी मनुष्य और देव सम्बन्धी काम भोगों की इच्छा करता है विशेष अभिलाषा रखता है और उनकी इच्छा में ही अपना अमूल्य समय बरबाद करता रहता है तथा संकल्प विकल्प करता हुआ धर्म से गिर जाता है। यह तीसरी दुःख शय्या है।

४ कोई श्रमण यह विचार करे कि जब मैं गृहस्थवास में था तब तो तेल की मालिश व उबटन भी होती थी अंगोपांग को अच्छी तरह धोता था और स्नान करके शरीर को पूर्ण आराम पहुँचाया जाता था। शरीर में न किसी प्रकार की दुर्गन्धी नहीं आ पाती थी। किन्तु अब न तो मर्दन है न उबटन और स्नान भी नहीं किया जाता। पसीने और मैल से शरीर में दुर्गन्ध भी आती है। यह कैसा गन्दा जीवन है? इस प्रकार स्नान मर्दनादि की इच्छा करता हुआ वह संयम से निकल जाता है। यह चौथी दुःख शय्या है।

उपरोक्त 'दुःख शय्या' के विपरीत निम्न चार 'सुख शय्या' है।

१ निर्ग्रन्थ प्रवचन में दृढ श्रद्धालु रहता हुआ, और शका काक्षादि दोषो से बचता हुआ तथा अपने मन को जिन प्रवचन मे स्थिर रखता हुआ, सुख रूप शय्या का सोने वाला है।

२ जो अपने ही लाभ मे सन्तुष्ट रहता है, दूसरो से लाभ की आशा नही रखता, न वैसी अभि–लाषा ही रखता है, वह निर्लोभी एव सन्तुष्ट मुनि, सयम मे रमण करता हुआ, दूसरी सुखशय्या मे सोने वाला है।

३ जो साधु, देव और मनुष्य सम्बन्धी काम भोगो की इच्छा भी नही करता, किन्तु सयम में लीन रहता है। वह तीसरी सुखशय्या मे शयन करने वाला है।

४ जो साधु, ससार का त्याग करने के बाद यह सोचे कि जब अरिहन्त भगवान, निरोग, बलिष्ठ और दृढ शरीर वाले होकर भी, उदार, कल्याणकारी, महान प्रभावशाली और कर्मो को क्षय करने वाली लम्बी तपस्या करते थे, और आदर पूर्वक सयम का पालन करते थे, तो मुझे आभ्योपगमिकी (लुचन एव ब्रह्मचर्यादि पालन से होने वाली) तथा औपक्रमिकी (रोगादि से होने वाली) वेदना को शान्ति पूर्वक एव दीनता रहित सहन करना चाहिये। यदि समभाव पूर्वक वेदना को सहन नही करूगा, तो मुझे एकान्त पाप कर्म का बन्ध होगा, और समभाव पूर्वक सहन कर लूंगा तो एकान्त निर्जरा होगी। इस प्रकार चिन्तन करता हुआ और मैल परिषह आदि को शान्ति पूर्वक सहता हुआ, चौथी सुख रूप शय्या मे शयन करता है। (ठाणाग ४--३)

सच्चे साधु दु खशय्या को त्याग कर सुखशय्या मे शयन करते है।

स्नान त्याग

निर्ग्रन्थ अनगार आत्मार्थी होते है। वे आत्म कल्याण के लिए ही ससार त्याग कर साधु बनते है। इसलिए उनकी सभी क्रियाएँ आत्म लक्षी होती है। आत्मार्थियो का लक्ष अशरीरी बनने का होता है। वे शरीर को धोने और स्नान करने की क्रिया नही करते। स्नान करने वाले ससारी है एव काम गुण के इच्छुक होते है। क्योकि स्नान, रूप गुण, गध गुण और स्पर्श गुण के लिए होता है। अर्थात् शरीर को सुन्दर, पसीने आदि की गन्ध से रहित तथा मनोज्ञ स्पर्श के लिए स्नान किया जाता है, और इससे काम गुण को उत्तेजना मिलती है। सयमी मुनिराज, काम गुण के त्यागी होते है। इसलिए उनके लिए स्नान करना वर्जित है, और सयमी मुनिराजो के धर्माचार के विपरीत–अनाचार है। (दशवै० ३)

भगवान फरमाते है कि–'जब तक जीवन है, तब तक मैल परिषह को सहन करे? अर्थात् शरीर पर मैल हो जाने से विचलित नही होवे और उसे दूर करने के लिए स्नान करने का विचार नही करे।

(उत्तरा० २)

सकती। इसी प्रकार राजाज्ञा होने पर भी गृहपति अनुमति नहीं दे और गृहपति अनुमति देदे किन्तु सागारी आज्ञा नहीं दे तो भी निषेध रहता है। अन्त में साधर्मी की आज्ञा के बिना चारों की अनुमति व्यर्थ हो जाती है। (भगवती १६–२)

शय्या

आराम तलब–सुखशील व्यक्तियों के लिए बिछौना ठीक एवं मन मुताबिक नहीं हो तो उन्हें दुःख होता है। उनकी रात दुःख पूर्वक व्यतीत होती है। इसी प्रकार मुनि जीवन में भी ठीक प्रवृत्ति न होने पर 'दुःख शय्या' होती है। संसार की दृष्टि से दुःख रूप शय्या–द्रव्यतः दुःख रूप शय्या है किन्तु मुनि जीवन में मन की अस्थिरता–असन्तोष एवं उपराम भाव दुःखशय्या है। वह चार प्रकार की है। यथा—

१ प्रव्रजित होने के बाद जिस मुनि का दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंका पर-दर्शन की कांक्षा फल में सन्देह व चित्त डाँवाडोल हो जाता है और मन में कलुषितता आ जाती है तो इस प्रकार की मन की हालत होने पर, निर्ग्रन्थ प्रवचन में अश्रद्धा अप्रतीति और अरुचि के कारण उसका मन ऊंचा नीचा होता रहता है और वह धर्म से पतित हो जाता है। यह प्रथम दुःखशय्या है।

२ कोई मुनि दीक्षित होने के बाद अपने प्राप्त लाभ में सन्तुष्ट नहीं रहकर दूसरों से लाभ की इच्छा रखता है विशेष लालायित रहता है और वह पर से वस्तु प्राप्त करने की तृष्णा बढ़ाता ही रहता है तो इस प्रकार पराया आशा रखने वाला असन्तुष्ट रहकर ऊंचा नीचा होता रहता है और वह धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। यह दूसरी दुःखशय्या है।

३ साधु होकर जिसने काम भोगों का त्याग कर दिया है किन्तु फिर भी मनुष्य और देव संबंधी काम भोगों की इच्छा करता है विशेष अभिलाषा रखता है और उनकी इच्छा में ही अपना अमूल्य समय बरबाद करता रहता है तथा संकल्प विकल्प करता हुआ धर्म से गिर जाता है। यह तीसरी दुःख शय्या है।

४ कोई श्रमण यह विचार करे कि जब मैं गृहस्थवास में था तब तो तेल की मालिश व उबटन मर्दन होती थी अंगोपांग का अच्छी तरह धोता था और स्नान करके शरीर का पूर्ण आराम पहुँचाया जाता था। शरीर में न किसी प्रकार की दुर्गन्धी नहीं आ पाती था। किन्तु अब न तो मर्दन है न उबटन और स्नान भी नहीं किया जाता। पसीने और मल से शरीर में दुर्गन्ध भी आती है। यह कैसा गन्दा जीवन है ? इस प्रकार स्नान मर्दनादि की इच्छा करता हुआ वह संयम से निकल जाता है। यह चौथी दुःख शय्या है।

उपरोक्त दुःख शय्या के विपरीत निम्न चार सुख शय्या' है।

१ निर्ग्रन्थ प्रवचन मे दृढ श्रद्धालु रहता हुआ, और शंका कांक्षादि दोषो मे बचता हुआ तथा अपने मन को जिन प्रवचन मे स्थिर रखता हुआ, सुख रूप शय्या का सोने वाला है।

२ जो अपने ही लाभ मे सन्तुष्ट रहता है, दूसरो से लाभ की आशा नही रखता, न वैसी अभिलाषा ही रखता है, वह निर्लोभी एव सन्तुष्ट मुनि, सयम में रमण करता हुआ, दूसरी सुखशय्या मे सोने वाला है।

३ जो साधु, देव और मनुष्य सम्बन्धी काम भोगो की इच्छा भी नही करता, किन्तु संयम में लीन रहता है। वह तीसरी सुखशय्या मे शयन करने वाला है।

४ जो साधु, ससार का त्याग करने के बाद यह सोचे कि जब अरिहन्त भगवान, निरोग, बलिष्ठ और दृढ शरीर वाले होकर भी, उदार, कल्याणकारी, महान प्रभावशाली और कर्मो को क्षय करने वाली लम्बी तपस्या करते थे, आर आदर पूर्वक सयम का पालन करते थे, तो मुझे आभ्योपगमिकी (लुंचन एव ब्रह्मचर्यादि पालन से होने वाली) तथा औपक्रमिकी (रोगादि से होने वाली) वेदना को शान्ति पूर्वक एव दीनता रहित सहन करना चाहिये। यदि समभाव पूर्वक वेदना को सहन नही करूंगा, तो मुझे एकान्त पाप कर्म का बन्ध होगा, और समभाव पूर्वक सहन कर लूंगा तो एकान्त निर्जरा होगी। इस प्रकार चिन्तन करता हुआ और मैल परिषह आदि को शान्ति पूर्वक सहता हुआ, चौथी सुख रूप शय्या मे शयन करता है।   (ठाणाग ४--३)

सच्चे साधु दुःखशय्या को त्याग कर सुखशय्या मे शयन करते है।

स्नान त्याग

निर्ग्रन्थ अनगार आत्मार्थी होते हैं। वे आत्म कल्याण के लिए ही ससार त्याग कर साधु बनते है। इसलिए उनकी सभी क्रियाएँ आत्म लक्षी होती है। आत्मार्थियो का लक्ष अशरीरी बनने का होता है। वे शरीर को धोने और स्नान करने की क्रिया नही करते। स्नान करने वाले ससारी है एव कामगुण क इच्छुक होते है। क्योकि स्नान, रूप गुण, गध गुण और स्पर्श गुण के लिए होता है। अर्थात् शरीर को सुन्दर, पसीने आदि की गन्ध से रहित तथा मनोज्ञ स्पर्श के लिए स्नान किया जाता है, और इसमे काम गुण को उत्तेजना मिलती है। सयमी मुनिराज, काम गुण के त्यागी होते है। इसलिए उनके लिए स्नान करना वर्जित है, और सयमी मुनिराजो के धर्माचार के विपरीत–अनाचार है।   (दशवै० ३)

भगवान फरमाते है कि–'जब तक जीवन है, तब तक मैल परिषह को सहन करे ? अर्थात् शरीर पर मैल हो जाने से विचलित नही होवे और उसे दूर करने के लिए स्नान करने का विचार नही करे।
(उत्तरा० २)

स्नान करने से मिश्राचार तथा संयम से पतन हो जाता है। इसलिए साधु ठण्ड (सचित) अथवा गरम (अचित) जल से भी स्नान नहीं करे। संयम भाव से उपशान्त=विरस रहने वाले भिक्षु को शरीर की विभूषा की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि विभूषाप्रिय साधु के चिकने कर्म बँधते हैं और इससे संसार में परिभ्रमण होता है। (दशवं० ६—६२ से ६७)

जो अचित जल से भी स्नान करते हैं वे संयम से दूर है। (सूयग० १—७—२१)

इस प्रकार आगमों में अनेक स्थानों पर स्नान करने की मनाई की है। इतना ही नहीं खास लेपादि कारण बिना हाथ पाँव धोने वाले साधु के लिए निशीथ उ० ३ में प्रायश्चित्त विधान किया है। जब श्रावकों के लिए भी सामायिक पौषधादि धर्म की आराधना तथा पाँचवीं प्रतिमा से ही स्नान का त्याग होना बताया है तब साधु के लिए स्नान का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य नियम है ही।

स्नान मल को दूर करने के लिए किया जाता है। आत्मा के मैल को दूर करने के इच्छुक को आर्त्त और रौद्र ध्यान से मलीन बनी हुई आत्मा की सफाई धर्म और शुक्ल ध्यान से होती है। निर्ग्रन्थ मुनिवरों के आत्म स्नान का परिचय देते हुए महामुनि हरिकेशीजी ने याज्ञिकों को कहा था कि—

> धम्मे हरए बंभे संतितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
> जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥
> एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
> जहिं सिणाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ता ॥

हरिकेश मुनि कहते हैं कि हे याज्ञिकों! निष्पाप आत्मा को प्रसन्न करने वाली शुभ लेश्या—पवित्र विचारधारा रूपी धार्मिक जलाशय है और ब्रह्मचर्य रूपी शान्ति प्रदायक तीर्थ है। जिसमें स्नान करके पाप पङ्क को दूर करते हुए निर्मल एवं विशुद्ध हुआ जाता है। आप्त पुरुषों ने प्रथम विशिष्ट ज्ञान में ऐसे ही आत्म—स्नान को परम शान्ति दायक देखा है और ऐसे ही महा स्नान की महर्षियों ने प्रशंसा की है। ऐसे स्नान से निर्मल और विशुद्ध होकर महर्षि उत्तम स्थान—मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

(उत्तरा १२)

जो लोग स्नान करने में धर्म और मुक्ति मानते हैं उन्हें समझाते हुए आगमकार महर्षि फर माते हैं कि—

यदि स्नान करने से मुक्ति होती हो तो जलाशय में रहने वाले मत्स्य कच्छपादि जानवरों की भी मुक्ति होना चाहिए। क्योंकि वे तो जीवन पर्यंत उसी में रहते हैं। यदि कहा जाय कि "जल का स्वभाव मैल को दूर करने का है। इसलिए वह पाप रूप मैल को धो देता है तो यह भी उचित नहीं क्योंकि यदि जल से पाप धुल जाय तो पुण्य भी धुल जाना चाहिए।" (सूयग १—७)

जिस प्रकार पानी से शरीर पर का मैल धुलता है, उसी प्रकार चन्दनादि उत्तम विलेपन भी तो धुल जाता है। फिर उसे केवल मैल धोनें वाला ही क्यो माना जाय ? तथा पानी शरीर का मैल धो सकता है, आत्मा का नही, क्योकि वहा पानी की पहुँच नही है। आत्मा का मैल-आत्मा के जिन अध्यवसायो से मैल जमा, उसके विपरीत अध्यवसायो से छूटता है। अर्थात् विषय कषायादि से आत्मा पर मैल लगा, तो विषय कषायो को नष्ट करने और स्वाध्याय ध्यानादि से आत्मा पवित्र होती है।

यदि कोई कहे कि प्रभु स्मरण और अर्चन करने के पूर्व स्नान आवश्यक है। इसके बिना प्रभु पूजा की योग्यता नही आती, तो यह भी उचित नही है, क्योकि सर्व त्यागी सत तो बिना स्नान के ही प्रभु स्मरण और प्रभु पूजादि करते ही है। उनके लिए स्नान निषिद्ध है, तो प्रभु स्मरणादि मे गृहस्थो के लिए वह आवश्यक कैसे हो सकता है ?

कोई यह भी कहते है कि 'पूर्व के श्रावक, प्रभु वन्दन करने जाते, तो स्नान करके ही जाते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि बिना स्नान के प्रभु वन्दनादि नही होते', तो यह भी अनुचित्त है। क्योकि उनका स्नान करना धार्मिक कार्य नही, किन्तु बन ठन कर अपने गौरव युक्त जाना ही उनका उद्देश्य था। इसीलिए उन्होने स्नान के बाद श्रेष्ट वस्त्राभूषण, पुष्पमालाएँ, छत्र, चामर युक्त और सवारी पर चढकर गए थे। फिर तो उनका उत्तम वस्त्रादि पहनना, छत्रादि धारण करना और सवारी पर चढना आदि भी धर्म माना जायगा ? वास्तव में ये सभी क्रियाएँ गौरव प्रदर्शित करने रूप है। और जब स्वय भगवान् ने ही स्नान त्याग रूप धर्म कहा, "अण्हाणए" (ठाणाग ९) और भगवान् स्वय स्नान नही करते थे तथा उन्होंने स्नान करने का निषेध किया, तो उनके श्रमण, स्नान कैसे कर सकते है ? और उनके उपासक बिना स्नान किये प्रभु की वन्दना, अर्चना और स्मरण नही होना कैसे मान सकते है ?

भगवान् को वन्दन करने के लिए जाने वाले सभी लोग, स्नान करके ही जाते थे-ऐसी बात नही है। अर्जुनमाली, बिना स्नान किये ही भगवान् के दर्शन को गया था। यदि स्नान करना अनिवार्य होता, तो श्री सुदर्शन सेठ, अर्जुन से अवश्य कहते कि 'पहले स्नान कर लो, बिना स्नान किए भगवान् के पास नही जाया करते। श्री स्कन्दकजी कालोदायी आदि भी बिना स्नान किए समवसरण में चले गये। तिर्यञ्च श्रावक भी बिना स्नान किये प्रभु के समवसरण में जाते थे। सुश्रावक शखजी, पौषध दशा मे, बिना स्नान किए ही भगवान् को वन्दनार्थ गये थे। अतएव धर्मार्थ स्नान की आवश्यकता बताना अनुचित्त है।

स्नान दो कारण से किया जाता है। या तो देह दृष्टि से, या फिर धार्मिक विधान से। निर्ग्रंथो के लिए दोनो कारणो का अभाव है। देह दृष्टि भी उनमें नही है और धार्मिक विधान भी नही है। इसीलिए जैन श्रमण स्नान नही करते।

स्नान करने से निग्रन्थाचार तथा संयम से पतन हो जाता है। इसलिए साधु ठण्डे (सचित) अथवा गरम (अचित) जल से भी स्नान नहीं करे। सम्यग भाव से उपशान्त=विरत रहने वाले भिक्षु को शरीर की विभूषा की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि विभूषाप्रिय साधु के चिकने कर्म बंधते हैं और इससे संसार में परिभ्रमण होता है। (दशव० ६-६५ से ६७)

जो अचित जल से भी स्नान करते हैं वे संयम से दूर हैं। (सूयग० १-७-२१)

इस प्रकार आगमों में अनेक स्थानों पर स्नान करने की मनाई की है। इतना ही नहीं खास रुग्णादि कारण बिना हाथ पाँव धोने वाले साधु के लिए निशीथ उ० ३ में प्रायश्चित विधान किया है। जब श्रावकों के लिए भी सामायिक पौषधादि धर्म की आराधना तथा पाँचवीं प्रतिमा से ही स्नान का त्याग होना बताया है तब साधु के लिए स्नान का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य नियम है ही।

स्नान मैल को दूर करने के लिए किया जाता है। आत्मा के मल को दूर करने के इच्छुक को आर्त और रौद्र ध्यान से मलिन बनी हुई आत्मा की सफाई धर्म और शुक्ल ध्यान से होती है। निर्ग्रन्थ मुनिवरों के आत्म स्नान का परिचय देते हुए महामुनि हरिकेशीजी ने याज्ञिकों को कहा था कि—

> धम्मे हरए बंभे संतितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
> जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामिदोसं॥
> एयं सिणाणं कुसलेहिदिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
> जहिं सिणाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते॥

हरिकेश मुनि कहते हैं कि हे याज्ञिकों! मिथ्यात्व आत्मा को प्रसन्न करने वाली शुभ लेश्या-पवित्र विचारधारा रूपी धार्मिक-जलाशय है और ब्रह्मचर्य रूपी शान्ति प्रदायक तीर्थ है। जिसमें स्नान करके पाप पङ्क को दूर करते हुए निर्मल एवं विशुद्ध हुआ जाता है। आप्त पुरुषों ने अपने विशिष्ट ज्ञान में एसे ही आत्म-स्नान को परम शान्ति दायक देखा है और एसे ही महा स्नान की महर्षियों ने प्रशंसा की है। ऐसे स्नान से निर्मल और विशुद्ध होकर महर्षि उत्तम स्थान-मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

(उत्तरा १२)

जो लोग स्नान करने में धर्म और मुक्ति मानते हैं उन्हें समझाते हुए आगमकार महर्षि फरमाते हैं कि—

यदि स्नान करने से मुक्ति होती हो तो जलाशय में रहने वाले मत्स्य कच्छपादि जलचरों को भी मुक्ति होना चाहिए। क्योंकि वे तो जीवन पर्यंत उसी में रहते हैं। यदि कहा जाय कि 'जल का स्वभाव मैल को दूर करने का है। इसलिए यह पाप रूप मल को धो देता है' तो यह भी उचित नहीं क्योंकि यदि जल से पाप धुल जाय तो पुण्य भी धुल जाना चाहिए। (सूयग १-७)

जिस प्रकार पानी से शरीर पर का मैल धुलता है, उसी प्रकार चन्दनादि उत्तम विलेपन भी तो धुल जाता है। फिर उसे केवल मैल धोनें वाला ही क्यो माना जाय ? तथा पानी शरीर का मैल धो सकता है, आत्मा का नही, क्योकि वहा पानी की पहुँच नही है। आत्मा का मैल-आत्मा के जिन अध्यवसायो से मैल जमा, उसके विपरीत अध्यवसायो से छूटता है। अर्थात् विपय कषायादि से आत्मा पर मैल लगा, तो विषय कषायो को नष्ट करने और स्वाध्याय ध्यानादि से आत्मा पवित्र होती है।

यदि कोई कहे कि प्रभु स्मरण और अर्चन करने के पूर्व स्नान आवश्यक है। इसके बिना प्रभु पूजा की योग्यता नही आती, तो यह भी उचित नही है, क्योकि सर्व त्यागी सत तो विना स्नान के ही प्रभु स्मरण और प्रभु पूजादि करते ही है। उनके लिए स्नान निपिद्ध है, तो प्रभु स्मराणादि में गृहस्थो के लिए वह आवश्यक कैसे हो सकता है ?

कोई यह भी कहते है कि 'पूर्व के श्रावक, प्रभु वन्दन करने जाते, तो स्नान करके ही जाते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि बिना स्नान के प्रभु वन्दनादि नही होते', तो यह भी अनुचित्त है। क्योकि उनका स्नान करना धार्मिक कार्य नही, किन्तु वन ठन कर अपने गौरव युक्त जाना ही उनका उद्देश्य था। इसीलिए उन्होंने स्नान के बाद श्रेष्ट वस्त्राभूपण, पुष्पमालाएँ, छत्र, चामर युक्त और सवारी पर चढकर गए थे। फिर तो उनका उत्तम वस्त्रादि पहनना, छत्रादि धारण करना और सवारी पर चढना आदि भी धर्म माना जायगा ? वास्तव में ये सभी क्रियाएँ गौरव प्रदर्शित करने रूप है। और जव स्वय भगवान् ने ही स्नान त्याग रूप धर्म कहा, "अण्हाणए" (ठाणाग ६) और भगवान् स्वय स्नान नही करते थे तथा उन्होंने स्नान करने का निषेध किया, तो उनके श्रमण, स्नान कैसे कर सकते है? और उनके उपासक विना स्नान किये प्रभु की वन्दना, अर्चना और स्मरण नही होना कैसे मान सकते है ?

भगवान् को वन्दन करने के लिए जाने वाले सभी लोग, स्नान करके ही जाते थे-ऐसी बात नही है। अर्जुनमाली, बिना स्नान किये ही भगवान् के दर्शन को गया था। यदि स्नान करना अनिवार्य होता, तो श्री सुदर्शन सेठ, अर्जुन से अवश्य कहते कि 'पहले स्नान कर लो, बिना स्नान किए भगवान् के पास नही जाया करते। श्री स्कन्दकजी कालोदायी आदि भी बिना स्नान किए समवसरण में चले गये। तिर्यञ्च श्रावक भी बिना स्नान किये प्रभु के समवसरण में जाते थे। सुश्रावक शखजी, पौषध दशा मे, बिना स्नान किए ही भगवान् को वन्दनार्थ गये थे। अतएव धर्मार्थ स्नान की आवश्यकता वताना अनुचित्त है।

स्नान दो कारण से किया जाता है। या तो देह दृष्टि से, या फिर धार्मिक विधान से। निर्ग्रंथो के लिए दोनो कारणो का अभाव है। देह दृष्टि भी उनमें नही है और धार्मिक विधान भी नही है। इसीलिए जैन श्रमण स्नान नही करते।

वस्त्र नहीं धोते

जिस प्रकार निर्ग्रंथ अनगार स्नान नहीं करते उसी प्रकार वस्त्र भी नहीं धोते हैं। मैल परिषह सहना उनका आचार है। धोकर उज्ज्वल अथवा निर्मल वस्त्र रखने की उनकी रीति नहीं है। हाँ यदि वस्त्र इतना मैला हो जाय कि जिससे फूलन आदि होने की संभावना हो तो वे अचित्त पानी से धो सकते हैं और किसी अशुचि पदार्थ से लिप्त हो गया हो तो धोकर अशुचि दूर कर सकते हैं किन्तु साबुन आदि से धोकर उज्ज्वल करने का उनके लिए निषेध है और रंगने तथा रंगे हुए वस्त्र धारण करने का भी निषेध है। (आचारांग १-८-४) मैले और दुर्गन्धवाले वस्त्र को धोने और सुगन्धी बनाना मना है। (आचारांग २-५-१) तथा निशीथ के १८ वें उद्देश में वस्त्र धोने का प्रायश्चित्त विधान किया है।

पाप श्रमण

कुछ श्रमण ऐसे होते हैं कि पहले तो धर्म सुनकर विरक्त हो जाते हैं और वैराग्य पूर्वक दीक्षा लेते हैं किन्तु कालान्तर में उनके भावों में वह दृढ़ता नहीं रहती और ढीले बन कर साधुता के उत्तम आचार से गिर जाते हैं। वे मन और इन्द्रियों के दास बनकर धर्म से विमुख हो जाते हैं और स्वच्छंदी बन जाते हैं।

यदि उन्हें रहने के लिए सुन्दर एवं भव्य स्थान मिल जाय वस्त्र भी मुलायम और शोभनीय प्राप्त हो जाय और आहार पानी भी इच्छानुकूल सुस्वादु मिल जाय तो वे उसी में मुग्ध बन जाते हैं। और ज्ञान ध्यान तथा संयम को भूलकर खा पीकर आराम से सो जाते हैं। उन्हें पाप-श्रमण कहना चाहिए।

जिन आचार्य और उपाध्याय से सम्यग्ज्ञान और विनय धर्म की प्राप्ति हुई, उनकी निन्दा करने वाले आचार्यादि रत्नाधिक की सेवा नहीं करने और उनका आदर व बहुमान नहीं करने वाले पाप-श्रमण हैं।

प्राणी बीज और हरी को मसलते हुए—उन्हें कष्ट पहुँचाते हुए और इस प्रकार असाधुता के कार्य करते हुए भी जो अपने को साधु बतलाते हैं—वे पाप श्रमण हैं।

जो घास और पराल के बिछौने पाट आसन और स्वाध्याय-स्थान आदि की उपयोग पूर्वक प्रतिलेखना और प्रमार्जना किये बिना ही काम में लेते हैं (वे आलसी प्राणियों की अयतना तथा संयम की उपेक्षा करने वाले) पाप-श्रमण हैं।

जो 'ईर्या समिति' का ठीक तरह से पालन नही करता और शीघ्रता पूर्वक ऊटपटाग चलता हुआ बालक आदि का उल्लघन करता है और क्रोध के आवेश मे उपयोग शून्य चलता है, वह पाप श्रमण है।

जो अपने पात्र कवल और अन्य उपकरणो को इधर उधर डाल रखता है। प्रतिलेखना मे प्रमाद करता है, उपयोग पूर्वक ठीक प्रतिलेखना नही करता, वह पाप श्रमण है।

जो प्रतिलेखना मे मन नही लगाता, किन्तु विकथा करने और सुनने का रसिक है तथा अपने शिक्षा दाता गुरु के सामने बोलकर उनका अपमान करता है, वह पाप श्रमण है।

जो बहुत बोलता है–वाचाल है, मायावी है, अभिमानी है, रसलोलुप, इन्द्रियो के विषयो मे गृद्ध और प्राप्त आहारादिका अकेला ही उपभोग करता है, अपने साधुओ का विभाग नही करता, जिसका जीवन सन्देह पूर्ण है, जिसके चारित्र के प्रति किसीका विश्वास नही है–वह पाप श्रमण है।

शात हुई कषायो को तथा विवाद को जो पुन जगाता है–झगडालु है, सदाचार से जो रहित है, आत्म विशुद्धि की ओर जिसका ध्यान नही है और क्लेश भडकाने मे ही जो लगा रहता है, वह पाप श्रमण है।

जो स्थिरता पूर्वक नही बैठता और जहा कही बैठ जाता है तथा आसन बदलता रहता है, मुख आँख आदि से कुचेष्टा करता रहता है। इस प्रकार जो अस्थिर प्रकृति का है, वह पाप श्रमण है।

सचित्त रज से भरे हुए पैरो को बिना पूजे ही सो जाता है, अपनी शय्या की प्रतिलेखना भी नही करता और अपने बिछौने के विषय मे भी जो यतना नही रखता–वह पाप श्रमण है।

रस लोलुप बनकर जो दूध, दही, घृत आदि विगयो का बारबार सेवन करता है, जो खाने पीने का ही विशेष ध्यान रखता है–पेट भरा और स्वादु है, जिसकी तप करने में रुचि नही है–वह पाप श्रमण है।

जो प्रात काल से लगाकर सूर्यास्त तक बारबार खाता रहता है, और जिव्हा–सयम तथा तप करने की शिक्षा देने वाले गुरु का अपमान करता है, वह पाप श्रमण है।

आचार्य को छोडकर पर पाखण्ड मे जानेवाला–पर पाखण्डियो से सबध रखनेवाला और छ छ मास में गच्छ बदलने वाला, अस्थिरमति साधु, पाप श्रमण कहा जाता है।

जो घर छोडकर साधु हुआ, किन्तु साधुता मे स्थिर नही रहकर, रसलोलुप होकर गृहस्थो के घरो में फिरता रहता है और निमित्तादि बताकर द्रव्य सग्रह करता है वह पाप श्रमण कहा जाता है।

जो सामुदानिक गोचरी नही करके अपनी जातिवालो के यहा से ही आहार लेता है और गृहस्थ के आसन पर बैठता है तथा गृहस्थो के पलग पर सोता है, वह पाप श्रमण है।

इस प्रकार के पाँच कुशीलो से युक्त, सवर रहित, वेशधारी सुमाधु नही है। वह सयमी

मुनिवरों की अपेक्षा नीचे दर्जे का—अधम है। ऐसा संयम ज्ञान वेशधारी वन्दनीय नहीं हो सकता किन्तु विष की तरह निन्दनीय है। ऐसे मायावी का यह लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी बिगड़ता है।

जो संयमी मुनि उपरोक्त दोषों का त्याग कर संयम की भली प्रकार से आराधना करते हैं वे सुव्रती-मुद्राधारी हैं। वे अमृत की तरह पूजनीय वन्दनीय-सेवनीय होते हैं। ऐसे उत्तम मुनिवर इस लोक को भी सफल करते हैं और परलोक को भी सुधार लेते हैं। (उत्तराध्ययन १७)

शबल दोष

जिन दोषों से चारित्र बिगड़ जाता है उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है वे शबल दोष हैं। चारित्र के मूल गुणों में अतिक्रम व्यतिक्रम और अतिचार दोष तक शबल दोष हैं और उत्तरगुणों में इन तीन के सिवाय अनाचार भी शबल दोष है। यदि मूलगुणों में अनाचार का सेवन हो जाय तो वह शबल से भी आगे बढ़कर चारित्र भ्रष्ट हो जाता है। शबल दोष चारित्र की उज्ज्वलता में कालिमा लगाकर बदरंग कर देते हैं। संयमी मुनिवर शबल दोषों से दूर ही रहते हैं। समवायांग और दशाश्रुत-स्कन्ध में २१ शबल दोष इस प्रकार बताये हैं।

१ हस्तकर्म करने से शबल दोष लगता है। वेद के प्रबल उदय से हस्तकर्म करके वीर्य पात करना अथवा दूसरे से कराना शबल दोष है।

२ मैथुन सेवन करना शबल दोष है।

३ रात्रि भोजन करना शबल दोष है। दिन में ग्रहण करके दिन में ही खाना दोष रहित है। इसके सिवाय १ दिन में ग्रहण करके रात को खाना २ रात में ग्रहण करके दिन में खाना और रात्रि में ग्रहण करके रात्रि में खाना तथा ४ दिन में ग्रहण करके रातवासी रख कर दूसरे तीसरे दिन खाना ये चार भंग शबल दोष के हैं।

४ आधाकर्मी आहार पानी वस्त्र पात्र उपाश्रयादि का सेवन करना शबल दोष है। जो आहारादि साधु के लिए बनाया गया है वह आधाकर्मी है। अहिंसा महाव्रत के पालक मुनि आधाकर्मी आहारादि के त्यागी होते हैं। यदि कोई ऐसी वस्तु लेता है तो शबल दोष का भागी है।

५ * राजपिंड भोगना शबल दोष है। राजा ‡ ठाकुर आदि का आहारादि विशिष्ट सामग्री से उत्पन्न होकर विकार बढ़ाने वाला होता है। इसलिए इन्द्रिय निग्रही मुनियों के लिए त्याज्य है।

---

* राजपिंड में आठ वस्तुएँ मानी गई हैं—१ अशन २ पान ३ खादिम ४ स्वादिम ५ वस्त्र ६ पात्र ७ कम्बल ८ पादप्रौंछन (स्थानांग ५-१ टीका)

‡ आचारांग २-१-१ में चक्रवर्ती आदि क्षत्रिय राजा ठाकुर, सरदार और राजकर्मियों के यहाँ का आहारादि लेने का निषेध किया गया है।

६— १ खरीदे हुए, २ उधार लिए हुए, ३ निर्बल से बल पूर्वक छीन कर लिए हुए, ४ भागीदार की बिना आज्ञा के दिये जाते हुए, और ५ साधु के स्थान पर लाकर दिये जाते हुए, पदार्थ का सेवन करना शबल दोष है।

७ आहारादि का प्रत्याख्यान करने के बाद बार बार खाना, अर्थात् बार बार प्रतिज्ञा का भग करना शबल दोष है।

८ छ महीने के पूर्व ही ‡ एक गण को छोडकर दूसरे गण मे जाना शबल दोष है।

९ एक महीने में तीन बार उदक लेप लगावे (नदी उतरे) तो शबल दोष है। *

१० एक मास मे तीन बार माया रूप पाप स्थान का सेवन करना शबल दोष है। ×

११ शय्यातर के घर का आहारादि लेना शबल दोष है।

१२ जान बूझ कर जीव हिंसा करना ,,

१३ जान बूझ कर झूठ बोलना ,,

१४ जान बूझ कर अदत्तादान लेना ,,

१५ जान बूझ कर सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सोना और कायुत्सर्गादि करना, शबल दोष है।

१६ जान बूझ कर स्निग्ध और सचित रजवाली पृथ्वी पर या शिलादि पर बैठना या कायुत्सर्गादि करना, शबल दोष है।

१७ जान बूझ कर जीव युक्त शिला, पत्थर, काष्ठ और अडे तथा प्राण, बीज, हरी, कीडीनगरा, ओस, पानी, फूलन, सचित जल युक्त मिट्टी, मकडी का जाला और अन्य प्रकार के जीव जहा हो, ऐसे स्थान पर बैठना, या कायुत्सर्ग करना शबल दोष है।

१८ जान बूझ कर सचित कद, मूल, स्कन्ध, त्वचा (छाल) प्रवाल (कुँपल) पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरी का भोजन करना शबल दोष है।

---

‡ विशिष्ट ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए, आज्ञा पूर्वक दूसरे गण में जाना उचित है। किंतु छ महीने के पूर्व ही गण बदलते रहना शबल दोष है।

* जहा तक बस चले, वहा तक नदी को पानी में चल कर पार करने की मनाई है, क्योंकि इससे त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है। बृहद्कल्प भाष्य गा ५६५६ में लिखा कि 'यदि स्थलमार्ग में दो योजन चक्कर हो, तो स्थल मार्ग से ही जाना, जल मार्ग से नहीं। नदी उतरने के निम्न गाढ कारण ठाणाग ५-२ में बताये हैं।

१ राजा के विरोधी होने पर, उपकरण चोरी जाने के भय से, २ दुर्भिक्ष के कारण भिक्षा नहीं मिले तो, ३ कोई दुष्ट नदी में फेंक दे तो, ४ बाढ के पानी में बह जाय तो, और ५ अनार्य द्वारा जीवन और चारित्र के घात का प्रसग उपस्थित हो जाय, तो विधि पूर्वक नदी उतरने की छूट है।

× माया भी सर्वथा त्यागनीय है, किंतु गाढ कारण उपस्थित हो जाय अथवा प्रमाद वश माया स्थान सेवन हो जाय, और वह दो से अधिक बार हो, तो शबल दोष है।

१९ एक वर्ष में दस बार उदक लेप लगावे (नदी उतरे) तो शबल दोष है।

२० एक वर्ष में दस बार मायाचार का सेवन करे।

२१ जान बूझ कर सचित्त जल से भींगे हुए हाथ से पात्र से कुड़छी से और भाजन से दिए जाते हुए अशन पान खादिम और स्वादिम ग्रहण करके भोगवे तो शबल दोष लगता है।

इस प्रकार शबल दोषों से बचकर जो श्रमण संयम का शुद्ध रूप से पालन करते हैं वे विश्ववंद्य होते हैं। उन संतों के चरणों में हमारी भक्ति पूर्वक वन्दना हो।

कुशीलिया

विश्वोत्तम श्रमण वे ही हैं जिनमें साधुता के उत्तम गुण विद्यमान हों। गुणों के कारण ही व्यक्ति का आदर सत्कार होता है। रंग में पीतल भी सोने के समान होता है फिर भी सोने के गुण उसमें नहीं होने से वह उतना मूल्य नहीं पाता न मुकुट की जगह धारण ही किया जाता है। इसी प्रकार केवल साधु का वेश पहन लेने से ही कोई साधु नहीं हो जाता। साधुता के गुण से शून्य-साधुवेश धारी वंदनीय नहीं होता बल्कि उपेक्षणीय होता है। श्री उत्तराध्ययन अ० १७ गा० २० में लिखा है कि–

एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे, रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए, न से इहं नेव परत्थलोए॥

अर्थात्–पाँच प्रकार के कुशीलिए संयम से रहित होकर केवल वेशधारी होते हैं। वे साधुओं का स्वांग भर कर भी अधम हैं। ऐसे कुशीलिए वन्दन करने के योग्य नहीं किन्तु विष की तरह त्याज्य हैं। उन कुशीलियों का यह लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी बिगड़ता है।

ये कुशीलिए पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे–

१ पासत्थ–जो ज्ञान दर्शन चारित्र और तप के पास रहकर भी स्वयं आचरण नहीं करे। अथवा कर्मों के पाश-बन्धन में रहने वाला-पाशमुक्त नहीं होने वाला। (सूयग १–१–२–५ आवा ५) पासत्थे दो प्रकार के होते हैं १ देश पासत्था और २ सर्व पासत्था।

देश पासत्था–वह है जो शय्यातर के घर का आहार ग्रहण करता है और नित्यपिण्ड राजपिण्ड अग्रपिण्ड जीमनवार आदि का आहार लेता है। अनाचरणीय का आचरण करता है। पूर्व के सम्बन्धियों के ही आहार का इच्छुक है तथा शरीर के शुभ वर्णादि का अवलोकन करता है।

सर्व पासत्था–वह है जो केवल वेशधारी है और ज्ञान दर्शन चारित्र का पालन नहीं करता

है । मिथ्यात्व आदि मे ठहरने वाला सम्पूर्ण रूप से पासत्था है (व्यवहार सूत्र उ० १ भाष्य गाथा २०८ से)

२ यथाच्छन्द–स्वच्छन्द=अपनी मर्जी के अनुसार चलने वाला, सूत्राज्ञा के विपरीत आचरण करने वाला, सासारिक कार्यो मे प्रवृत्ति करने वाला, घमडी, क्रोधी, सुखशीलिया और उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाला, (व्यवहार १-३४ निशीथ ११)

यथाच्छन्द–स्वच्छन्दी साधु कहता है कि––

'जब वस्त्र देखे हुए ही है, तो नित्य दो बार प्रतिलेखना करने की क्या आवश्यकता है ? जिस समय बोलना ही नही, उस समय मुखवस्त्रिका मुह पर लगाये रहने की क्या आवश्यकता है जब ? हम अपने मकान पर ही है, तो रजोहरण को हर समय पास रखने की आवश्यकता ही क्या ? सारे दिन बैठे रहने से स्वास्थ्य बिगडता है, इसलिए घूमने को जाना चाहिए ।' इस प्रकार अनेक तरह की कुतर्कें करके उत्सूत्र प्ररूपणा करता है ।

चारित्र के विषय में यथाच्छन्दी कहता है कि 'शय्यातर के घर का आहार लेने मे कोई दोष नही, उल्टा गुण ही है । इससे एक ही जगह सब चीज मिल जाती है और दाता को बहुत लाभ होता है, तथा भटकना नही पडता । कुर्सी व पर्यङ्कादि पर बैठने में कोई दोष नही । गृहस्थो के घरो मे बैठने से कोई बुराई नही होती । साध्वी के उपाश्रय में बैठने से कोई हानि नही । मास कल्प से अधिक ठहरने में, कोई दोष उत्पन्न नही होता हो, तो ठहर जाना चाहिए । आदि (व्यवहार भाष्य)

३ कुशील–कुत्सित अर्थात् निन्दनीय आचार वाला । (उत्तरा १–१३ ज्ञाता ५ ठाणाग ३–२)
कुशील तीन प्रकार के होते है ।

ज्ञानकुशील–ज्ञानाचार का पालन नही करने वाला ।

दर्शनकुशील–दर्शनाचार का विराधक ।

चारित्र कुशील–चारित्र विराधक, जो आहारादि के लिए मन्त्र, विद्या, कौतुक, भूतिकर्म आदि दूषित क्रिया करके आजीविका करता है ।

४ अवसन्न–सयम से थका हुआ, आलसी प्रमादी (ज्ञाता ५ निशीथ ४)

देश अवसन्न–जो प्रतिक्रमण नही करता अथवा न्यूनाधिक या अविधि से, असमय में करता है । वह या तो स्वाध्याय ही नही करता, यदि करता है, तो अकाल में । यदि वह प्रतिलेखना करता है, तो अविधि से । भिक्षा अनेषणीय लेता है । आवश्यकी नैषेधिकी आदि समाचारी का ठीक तरह से पालन नही करता । इस प्रकार अनेक तरह से दोष लगाने वाला साधु, देश अवसन्न कहा जाता है ।

सर्व अवसन्न—जो पीठ फलक की यथा समय पूर्ण रूप से प्रतिलेखना नहीं करता या बार बार खाने के लिए बिछाए ही रखता है। जो स्थापना दोष प्राभृतिका दोष रचित दोष आदि अनेक प्रकार के दोषों से दूषित आहारादि लेता है वह सर्व अवसन्न है (व्यवहार भाष्य)

५ **संसक्त**—आसक्त—विषयों में लुब्ध। जिसमें मूलगुण और उत्तरगुण भी हों और सभी प्रकार के दोष भी हों। जिस प्रकार गाय के बाँट में अच्छा भोज भी हो और कूठन आदि बुरी चीज भी हो और वह सब खा जाय। इसी प्रकार जिसमें गुण और दोष दोनों हों वह संसक्त कहाता है।

(भाष्य ५ निशीथ ४)

संसक्त के दो भेद हैं

१ **संक्लिष्ट**—जो पाँचों आश्रवों में प्रवृत्ति करता है जो तीन गारव में फँसा हुआ है और स्त्रियों तथा गृहस्थों का विशेष संसर्ग करता है वह संक्लिष्ट संसक्त है।

२ **असंक्लिष्ट**—जो पासत्थ यथाच्छन्द कुशील और अवसन्न में मिलकर उनके जैसा ही हो जाता है और संविग्न—शुद्धाचारी के साथ रहने पर वैसा हो जाता है। जैसे में तैसा हो जाने वाला असंक्लिष्ट संसक्त होता है (व्यवहार भाष्य)

ऊपर बताये पाँच प्रकार के कुशीलिए वन्दना करने के योग्य नहीं हैं। ये सुसाधु नहीं किन्तु कुसाधु हैं। कुसाधुओं को सुसाधु मानना मिथ्यात्व है। निशीथ सूत्र उ० ४ में लिखा है कि—

जो साधु पासत्थ अवसन्न कुशीलिए संसक्त और नित्यसेवी (जो सदैव दोषों का सेवन करता रहता है) के साथ रहे उनका वस्त्रादि लेवे अथवा उन्हें साथ रखे या उन्हें वस्त्रादि दे तो लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

निशीथ सूत्र के ११ वें तथा १३ वें उद्देश में लिखा कि—

जो साधु यथाच्छन्दे साधु को वन्दना कर प्रशंसा करे और वन्दना तथा प्रशंसा करने वाले को अच्छा जाने तो गुरुचौमासिक प्रायश्चित्त आता है। पासत्थादि को आहारादि दे तो भी प्रायश्चित्त आता है ऐसा निशीथ उ० १४ में लिखा है। सूयगडांग श्रु० १ अ० ६ गा० २८ में लिखा है कि—

भिक्षु कुशील का त्याग करे और कुशीलियों की संगति का भी त्याग करे क्योंकि कुशीलियों की संगति से संयम में विघ्न होता है।

कुशीलियों को साधुओं का सहयोग नहीं मिले और श्रावकों की ओर से भी उन्हें प्रोत्साहन मिले तो नियम श्रमणों की शुद्धता कायम रह सकता है। श्रमण संस्कृति विशुद्ध रहकर संसार में आदर्श स्थान प्राप्त कर सकता है।

महामोहनीय स्थान

मोहनीय कर्म, आठो कर्मों मे प्रधान और जबरदस्त है। इसी के कारण अन्य सातो कर्मों की स्थिति है, भव भ्रमण है और चतुर्गति रूप ससार है। यदि जीवो के मोहनीय कर्म नही रहे, तो सभी जीव एक समान–सिद्ध हो जाएँ। वास्तव मे ससार का मूल ही मोहनीय कर्म है। आचारांग श्रु २ की निर्युक्ति में लिखा है कि–**"अट्ठविहकम्मरुक्खा, सव्वे ते मोहणिज्जमूलागा, कामगुणमूलगं वा तम्मुलागं च संसारो,"** दूसरे कर्म तो इसके अनुचर है। इस ससाराधिपति का नाश होना कठिन है। यदि इस एक का नाश हो जाय, तो शेष कर्म अपने आप नष्ट हो जाते है। उनको नष्ट करने के लिए विशेष प्रयत्न नही करना पडता।

जीव, यदि एक ही ध्यान रक्खे कि "मोहनीय को कम करे, परन्तु महामोहनीय तो कभी नही होने दे", यदि इतना ध्यान रहे, तो जीव उतना भारी नही होता, जितना महामोहनीय के बन्ध से होता है। नरक निगोद के दु ख, महामोहनीय कर्म के उदय से भुगतने पडते है। इस प्रकार आत्मा के भयङ्कर शत्रु से सदैव बचते रहना लाभ दायक है।

महामोहनीय की उत्पत्ति का कारण विवेक हीनता है। कषायो के अधीन होकर प्राणी इतना क्रूर, दुष्ट, और अधम हो जाता है कि वह हिताहित का भान भी भूल जाता है और निकृष्ट अध्यवसायो की तीव्रता से महामोहनीय कर्म का सचय कर लेता है। यदि अध्यवसाय तीव्रतम क्रूर हो जाय और उत्कृष्ट बन्ध कर ले, तो सित्तर कोडाकोड सागरोपम की स्थिति वाला, महान् दु खदायक कर्म बाँध लेता है। यो तो महामोह के स्थान और भी हो सकते है, किन्तु आगमकार महर्षियो ने मुख्यत ३० स्थान बताये है। जैसे–

१ त्रस प्राणियो को अत्यत क्रूर बनकर पानी मे डुबाकर मारने से महामोहनीय०।

२ त्रस जीवो का श्वास रोक कर मारने से महामोहनीय०।

३ मकान आदि में लोगो को बन्द करके, धूएँ से घुटाकर जो मरता है, वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

४ मस्तक पर प्रहार करके–मस्तक का विदारण करके मारने से। वह ऐसा विचार करे कि "मस्तक फोड देने मे यह अवश्य मरजायगा", इस प्रकार अत्यन्त क्रूर बन कर मस्तक पर प्रहार करने मे।

५ किसी के मस्तक पर गीला चमडा बाँध कर मारे (चमडा सूख कर सिकुडने से रक्त प्रवाह रुक कर महा वेदना पूर्वक मृत्यु हो जाती है) तो महामोहनीय०।

६ मनोरञ्जन से किसी मूर्ख अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर दुनिया में सद्गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला झूठ बोलकर और सूत्र के वास्तविक अर्थ को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलङ्क चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर आप निर्दोष बनने वाला महा०।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राज्य का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करदे तथा राजा की अपकीर्ति कर के उसे पद भ्रष्ट करे अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करे तो महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भोगों में लुब्ध है किन्तु अपने को कुमारभूत बाल-ब्रह्मचारी बतलाता है तो महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर सम्मान पाने का प्रयत्न करता है वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-लम्पट होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय।

१३ जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर अपहरण करना चाहे वह महामोहनीय।

१४ किसी स्वामीने अथवा गाँव की किसी जनताने किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना दिया या रक्षक नियत किया। उनकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति प्रचुर सम्पत्ति का स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा द्वेष अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि कर्ता हो जाय-विश्वासघात करे तो महामोहनीय०।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने अण्डों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी अपने पालक राजा मन्त्री सेनाधिपति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक को व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय०।

१७ वहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है–जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो ससार त्याग कर, निर्ग्रंथ वनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिसने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या में लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् को निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, वहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता मे अपने को वहुश्रुत वतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिंसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला वनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सवधी भोगो की तीव्र अभिलापा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते है, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म वांधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिलटष्ता वढाने वाले और अशुभ फल देने

६ मनोरञ्जन से किसी मूर्ख अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर दुनिया में सद्‌गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला झूठ बोलकर और सूत्र के वास्तविक अर्थ को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर आप निर्दोष बनने वाला महा०।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राज्य का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करे तथा राजा की अपकीर्ति कर के उसे पद भ्रष्ट करे, अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करे तो महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भावों में लुब्ध है किन्तु अपने को कुमारभूत बाल-ब्रह्मचारी बतलाता है तो महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर सम्मान पाने का प्रयत्न करता है वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-लम्पट होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय।

१३ जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर धनहरण करना चाहे वह महामोहनीय०।

१४ किसी स्वामीने अथवा गाँव की किसी जनताने किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना दिया या रक्षक नियत किया। उनकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति अतुल संपत्ति का स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा युक्त अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि कर्ता हो जाय-विश्वासघात करे तो महामोहनीय०।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने अण्डों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी अपने पालक राजा मन्त्री सेनाधिपति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक को व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय०।

१७ बहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है—जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो ससार त्याग कर, निर्ग्रंथ बनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिमने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या मे लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् को निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, बहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता मे अपने को बहुश्रुत बतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला बनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सबधी भोगो की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते हैं, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिलष्टता बढाने वाले और अशुभ फल देने

६ मनोरंजन से किसी मूक अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर दुनिया में सद्गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला झूठ बोलकर और सूत्र के वास्तविक अर्थ को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर स्वयं निर्दोष बनने वाला महा०।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राज्य का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करे तथा राजा की अपकीर्ति कर के उसे पद भ्रष्ट करे अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करे तो महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भोगों में लुब्ध है किन्तु अपने को कुमारभूत बाल-ब्रह्मचारी बतलाता है वो महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर सम्मान पाने का प्रयत्न करता है वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-आतुर होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय०।

१३ जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर अपहरण करना चाहे वह महामोहनीय०।

१४ किसी स्वामीने अथवा गाँव की किसी जनताने किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना दिया या रक्षक नियत किया। उनकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति प्रचुर सम्पत्ति का स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा द्वेष अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि कर्ता हो जाय–विश्वासघात करे तो महामोहनीय ।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने अण्डों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी अपने पालक राजा, मन्त्री सेनाधिपति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय ।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक को व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय ।

१७ बहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है—जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो समार त्याग कर, निर्ग्रंथ बनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिसने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या में लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् की निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, बहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता मे अपने को बहुश्रुत बतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला बनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सबधी भोगो की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते है, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिष्टता बढाने वाले और अशुभ फल देने

६ मनोरंजन से किसी मूक अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बाँधता है ।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर दुनिया में सद्गुणों का प्रदर्शन करने वाला झूठ बोलकर और सूत्र के वास्तविक अर्थ को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर आप निर्दोष बनने वाला महा० ।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय० ।

१० किसी राज्य का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करे तथा राजा की अपकीर्ति कर के उसे पद भ्रष्ट करे अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करे तो महा० ।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भोगों में लुब्ध है किन्तु अपने को कुमारब्रह्मचारी बतलाता है तो महा० ।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु भोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर सम्मान पाने का प्रयत्न करता है वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है । ऐसा मायावी विषय-लम्पट होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय० ।

१३ जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर अपहरण करना चाहे वह महामोहनीय० ।

१४ किसी स्वामीने अथवा गाँव की किसी जनताने किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना दिया या रक्षक नियत किया । उनकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति प्रचुर संपत्ति का स्वामी हो गया । ऐसा व्यक्ति ईर्षा द्वेष अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि कर्ता हो जाय—विश्वासघात करे तो महामोहनीय० ।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने अण्डों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी प्रजा पालक राजा मंत्री सेनाधिपति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय० ।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक को व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय ।

१७ वहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है–जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो ससार त्याग कर, निर्ग्रंथ वनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिसने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या में लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१६ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् की निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, वहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता मे अपने को वहुश्रुत वतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला वनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सवधी भोगो की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२६ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते है, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिटष्ता बढाने वाले और अशुभ फल देने

६ मनोरञ्जन से किसी मूर्ख अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर, दुनिया में सद्गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला झूठ बोलकर और सूत्र के वास्तविक मर्म को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर आप निर्दोष बनने वाला महा०।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राजा का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करदे तथा राजा को पराजित कर के उस पद भ्रष्ट करे, अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करे तो महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भोगों में लुब्ध है किन्तु अपने को कुमारभूत बाल-ब्रह्मचारी बतलाता है वह महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु भोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर सम्मान पाने का प्रयत्न करता है वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-लोलुप होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय०।

१[३] जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर अपहरण करना चाहे वह महामोहनीय०।

१४ किसी स्वामीने अथवा गाँव की किसी जनताने किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना दिया या रक्षक नियत किया। उसकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति अतुल सम्पत्ति का स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा द्वेष अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि कर्ता हो जाय-विश्वासघात करे तो महामोहनीय०।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने अण्डों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी अपने पालक राजा मन्त्री सेनाधिपति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय०।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक को व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय०।

१७ बहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है–जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो ससार त्याग कर, निर्ग्रंथ बनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिसने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या में लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् की निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, बहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता मे अपने को बहुश्रुत बतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता मे अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिंसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला बनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सबधी भोगो की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते है, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिटष्ता बढाने वाले और अशुभ फल देन

६ मनोरंजन से किसी मूर्ख अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर दुनिया में सद्‌गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला झूठ बोलकर और सूत्र के वास्तविक अर्थ को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर आप निर्दोष बनने वाला महा०।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राज्य का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करे तथा राजा की अपकीर्ति कर के उसे पद भ्रष्ट करे अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करे तो महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक मार्गों में लुब्ध है किन्तु अपने को कुमारभूत बाल-ब्रह्मचारी बतलाता है तो महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर सम्मान पाने का प्रयत्न करता है वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-लोलुप होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय०।

१३ जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर अपहरण करना चाहे वह महामोहनीय०।

१४ किसी स्वामीने अथवा गाँव की किसी जनताने किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना लिया या रक्षक नियत किया। उनकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति अतुल सम्पत्ति का स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा द्वेष अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि कर्ता हो जाय-विश्वासघात करे तो महामोहनीय०।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने अण्डों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी अपने पालक राजा मन्त्री सेनाधिपति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय०।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक को व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय०।

१७ बहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है-जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो ससार त्याग कर, निर्ग्रंथ बनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिसने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या मे लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् की निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, बहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता में अपने को बहुश्रुत बतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला बनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सबधी भोगो की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते है, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म बाँधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिटप्ता बढाने वाले और अशुभ फल देने

६ मनोरञ्जन से किसी मूर्ख अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर, दुनिया में सद्गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला झूठ बोलकर और सूत्र के वास्तविक अर्थ को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर आप निर्दोष बनने वाला महा०।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला, सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राज्य का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करदे तथा राजा की अपकीर्ति कर के उसे पद भ्रष्ट करे, अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करे तो महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भावों में लुब्ध है किन्तु अपने को कुमारभूत बाल-ब्रह्मचारी बतलाता है तो महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर सम्मान पाने का प्रयत्न करता है वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-लम्पट होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय०।

१३ जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर अपहरण करना चाहे वह महामोहनीय०।

१४ किसी स्वामीने अथवा गाँव की किसी जनताने किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना दिया या रक्षक नियत किया। उनकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति अतुल संपत्ति का स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा द्वेष अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि कर्ता हो जाय—विश्वासघात करे तो महामोहनीय०।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने अण्डों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी अपने पालक राजा, मन्त्री सेनाधिपति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय०।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक को व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय०।

१७ बहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है—जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो ससार त्याग कर, निर्ग्रंथ बनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिसने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या में लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् की निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, बहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता मे अपने को बहुश्रुत बतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिंसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला बनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सबधी भोगो की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते है, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म बाँधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिटष्ता बढाने वाले और अशुभ फल देन

६ मनोरंजन से किसी मूर्ख अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बाँधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर दुनिया में सद्गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला झूठ बोलकर और सूत्र के वास्तविक अर्थ को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर आप निर्दोष बनने वाला महा०।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला सत्य का अपलाप करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राज्य का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करदे तथा राजा की अपकीर्ति कर के उसे पद भ्रष्ट करे अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करे तो महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भावों में मग्न है किन्तु अपने को कुमारवत् ब्रह्मचारी बतलाता है तो महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर सम्मान पाने का प्रयत्न करता है वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-लोलुप होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय०।

१३ जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर अपहरण करना चाहे वह महामोहनीय०।

१४ किसी स्वामी ने अथवा गाँव की किसी जनता ने किसी मामूली व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि अथवा अधिकारी बना दिया या रक्षक नियत किया। उनकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति प्रचुर सम्पत्ति का स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा युक्त अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि कर्त्ता हो जाय-विश्वासघात करे तो महामोहनीय०।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने बच्चों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी अपने पालक राजा मन्त्री सेनापति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय०।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक को व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय०।

१७ वहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है—जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो ससार त्याग कर, निर्ग्रंथ वनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिसने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या मे लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् को निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, वहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता मे अपने को वहुश्रुत वतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिंसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला वनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सवधी भोगो की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते है, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिटष्ता बढाने वाले और अशुभ फल देने

६ मनोरंजन से किसी मूर्ख अथवा पागल को बारबार मारता है और उसकी दुर्दशा पर हँसता है वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

७ अपने दुर्गुणों को मायाचार से ढक कर दुनिया में सद्गुणी बनने का प्रपञ्च करने वाला भ्रम बासकर और सूत्र के वास्तविक धर्म को छुपाकर जनता को धोखा देने वाला महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ निर्दोष व्यक्ति पर मूठा कलंक चढ़ाने वाला अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़कर आप निर्दोष बनने वाला महा०।

९ सत्य बात को जानते हुए भी सभा में सच और झूठ मिलाकर मिश्र भाषा बोलने वाला सत्य का अपमान करने वाला और कलह उत्पन्न करने वाला महामोहनीय०।

१० किसी राज्य का मन्त्री जिस पर राजा ने पूर्ण विश्वास कर लिया और स्वयं निश्चिन्त हो गया उस राजा की रानियों के साथ अनाचार करे और उसकी राज्य लक्ष्मी को नष्ट करे तथा राजा को धराशायी कर के उसे पद भ्रष्ट करे, अपमानित करे और उसके भोगों का (भोग साधनों का) नाश करता महा०।

११ जो ब्रह्मचारी नहीं है और स्त्री विषयक भोगों में लुब्ध है किन्तु अपने को कुमारब्रह्मचारी बतलाता है वह महा०।

१२ जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी बता कर समान रहने का प्रयत्न करता है, वह गायों के बीच में गधे के रेंकने के समान है। ऐसा मायावी विषय-भाव होकर महामृषावाद का सेवन करता हुआ महामोहनीय०।

१३ जिसकी सहायता आश्रय और उपकार से आजीविका चलती है उसी उपकारी के धन पर लुब्ध होकर धनहरण करना चाहे वह महामोहनीय०।

१४ किसी स्वामीने अथवा गांव की जनता जनवाले किसी सामूली व्यक्ति को अपना अधिनायक अथवा अधिकारी बना दिया या रक्षक नियत किया। उनकी सहायता से वह निर्धन व्यक्ति धनसम्पन्न या स्वामी हो गया। ऐसा व्यक्ति ईर्षा द्वेष अथवा कलुषित भावना से स्वामी अथवा जनता के लिए हानि करता हो या विश्वासघात करे वह महामोहनीय०।

१५ जिस प्रकार नागिन अपने बच्चों को ही खा जाती है उसी प्रकार जो पापी अपने पालक राजा मन्त्री सेनापति कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मारता है वह महामोहनीय।

१६ जो व्यक्ति राष्ट्र नायक या व्यापारियों के नेता को और यशस्वी तथा श्रेष्ठ व्यक्ति को मारता है वह महामोहनीय०।

१७ वहुजन समाज के नेता को जो लोगो के लिए शरणभूत और आश्रय दाता है--जो व्यक्ति मारता है, वह महामोहनीय० ।

१८ जो ससार त्याग कर, निर्ग्रंथ वनने को तय्यार हो रहा है, तथा जिसने प्रव्रज्या लेली है, जो सयत है और तपस्या मे लगा हुआ है, उसे अपने धर्म से पतित करने वाला महामोहनीय० ।

१९ अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी ऐसे सर्वज्ञ भगवान् की निन्दा करने वाला महामोहनीय० ।

२० जो सत्य मार्ग को क्षति पहुँचाता है, न्यायमार्ग का उत्थापक है, और दूसरो को भी उस न्याय मार्ग से हटाता है वह महामोहनीय० ।

२१ जिन आचार्य और उपाध्याय की कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हुई, विनयादि धर्म की शिक्षा मिली, उनकी निन्दा करने वाला अज्ञानी, महामोहनीय० ।

२२ जो घमडी शिष्य, आचार्य और उपाध्यायो की भली प्रकार से सेवा नही करता, वहुमान नही करता वह महामोहनीय० ।

२३ जो स्वय अल्पज्ञ होते हुए भी जनता मे अपने को वहुश्रुत वतलाता है, और अपने को रहस्यज्ञ जाहिर करता है, वह महामोहनीय० ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी जनता में अपने आपको तपस्वी जाहिर करके समस्त जनता से समान प्राप्त करता है, उस तपचोर को महामोहनीय० ।

२५ जो शक्ति होने पर भी रोगी की सेवा नही करता और कहता है कि 'इसने भी मेरी सेवा नही की' अथवा 'यह भी मेरी सेवा नही करेगा' इस प्रकार कहकर कर्त्तव्य भ्रष्ट होने वाला वह निर्दय, कपटी और कलुषित परिणाम वाला, महामोहनीय० ।

२६ जो हिंसाकारी और आरभ वर्धक भाषण देता है, प्रचार करता है, तथा तीर्थ का भेद करने वाला वनता है, वह मामोहनीय० ।

२७ जो अपनी प्रशसा के लिए अथवा दूसरो को खुश करने के लिए या समान वृद्धि के लिए वशीकरणादि प्रयोग करता है, वह महामोहनीय० ।

२८ जो देव अथवा मनुष्य सवधी भोगो की तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय० ।

२९ देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है, या निषेध करता है, वह महामोहनीय० ।

३० जो यशलोलुप, प्रसिद्धि का इच्छुक, खुद को शक्तिशाली 'जिन' के समान पुजाने की इच्छा से झूठ ही कहता है कि "मैने देवो को देखा है, देव मेरे पास आते है, मै इनके रहस्य को जानता हू", वह महामोहनीय कर्म बाँधता है ।

महामोहनीयकर्म के उपरोक्त स्थान, चित्त की सक्लिटष्ता बढाने वाले और अशुभ फल देने

वाले हैं। आत्मगवेषी मुनि इनको छोड़कर संयम में प्रवृत्ति करे। यदि पहले कुछ दुष्कृत्य किये हों तो उन्हें हृदय से त्याग दे और जिन प्रवचनों का ही सेवन करे जिससे वह शुद्ध आचारवान हो सके। शुद्धाचार से शुद्ध हुई आत्मा अपने दोषों को इस प्रकार छोड़ देती है जिस प्रकार सर्प अपने विष का त्याग देता है। मुक्ति के स्वरूप को जान कर दोषों का त्यागने वाला धर्म प्रेमी, इस भव में यश और पर भव में उत्तम गति को प्राप्त करता है। वे दृढ़ पराक्रमी और शूरवीर मुनि आठों कर्मों का नाश करके जन्म मरण से मुक्त हो जाते हैं। (दशाश्रुतस्कन्ध दशा ९)

निदान

निदान उस बुरे संकल्प को कहते हैं जो प्रायः भोगासक्ति से उत्पन्न होता है। जिसके कारण वह कष्ट से कमाये हुए अपने धर्म रूपी धन को आत्मा खो देती है। जिस प्रकार जुआरी जुए के दाव में अपने विशाल राज्य को हार कर भिखारी बन जाता है और दर-दर की ठोकरें खाता फिरता है उसी प्रकार निदान करने वाला साधक भी पौद्गलिक सुखों से आकर्षित होकर अपने धर्म रूपी धन को हार जाता है और नरकादि के भयङ्कर दुःख मोल ले लेता है। निदान, एक ऐसा शल्य है जो चारित्र आत्मा का मर्दन कर देता है। यह जब तक रहता है तब तक चारित्रात्मा स्वस्थ एवं आरोग्य कदापि नहीं रह सकता। यदि निदान शल्य जोरदार हुआ तो वह माया शल्य और मिथ्यात्व शल्य को भी बुला लेता है। अर्थात् निदान की उग्रता से अकेले चारित्र का ही नाश नहीं होता किन्तु ज्ञान और दर्शन गुण का भी नाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म कितना कुटिल है? कठिन संयम और उग्र तपाचरण करते हुए वर्षों की साधना वाले साधक के हृदय में जब यह प्रवेश करता है तो उसकी समता शान्ति और पवित्रता का अपहरण कर देता है। जो साधक आत्माएं उच्च एवं सत्त्वपूर्ण तथा आत्म गुप्त हैं उन पर तो उसका असर ही नहीं होता और मोहावेग शान्त होकर नष्ट हो जाता है किन्तु जिनका क्षयोपशम साधारण होता है वहाँ बाहरी निमित्तों के सहारे से मोहराज साधकों के हृदय में प्रवेश कर जाता है और निदान करवा लेता है। अतएव साधकों को मोह राग भाव से बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। यहाँ भावों की असावधानी हुई कि मोह ने सिर उठाया। भगवान् महावीर जैसे सर्वज्ञ महान् नियामक की उपस्थिति में भी यह चतुर चोर चुपके से कुछ साधु साध्वियों के हृदय में बस गया था। श्रेणिक राजा और चेलना रानी के भव्य विभव के सहारे इस ने साधु साध्वियों के हृदय में प्रवेश कर भोगासक्ति उत्पन्न करदी थी और निदान करवा लिया था। किन्तु भगवान् महावीर के पास यह चोरी छुप नहीं सकी। भगवान् ने उस चोर को पकड़ के निदान कर साधु साध्वियों के धर्म रूपी धन की रक्षा की और उनके साथ

साध्वियो को उसकी लूट से बचाया। प्रभु के वचनामृत आज भी अवलम्बनभूत हो रहे हैं, और उसके द्वारा रक्षा हो सकती है। ये निदान नौ प्रकार के हैं।

१ सयम की कठोर साधना करते और भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डाँस मच्छर और मैल आदि परिषहो से पीडित साधु के सामने जब किसी सम्पत्तिशाली श्रीमन्त, उसके ठाठ और उसके भोग के विपुल साधन आते है, तो वह उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। वह सोचता है कि—'एक तो इनका जीवन है और एक मेरा जीवन है। ये कितने उच्च भोगो को भोगते है। इनकी सेवामे कितने दास दासी है। इनके खाने, पीने के पदार्थ, ओढने पहनने के वस्त्र और अलकार तथा वाहनादि कितने भव्य है। इनकी पत्नियाँ कितनी सुन्दर और अनुकूल है, और मेरी यह दशा है कि इच्छानुसार खाने को भी नही मिलता। पहनने को भी पूरे वस्त्र नही है। मैने इतने वर्षों तक कठोर साधना की। यदि उसका कुछ फल हो, तो मै भी भविष्य में ऐसी ही ऋद्धि का स्वामी और भोक्ता बनू।" इस प्रकार दृढ सकल्प कर लेता है। उसकी दृष्टि में मोक्ष की उपादेयता की जगह भोग की उपादेयता समा जाती है। अपने इस सकल्प को लिए हुए (उसकी आलोचना तथा त्याग नही करते हुए) वह मर कर किसी देवलोक में महान् ऋद्धिशाली देव होता है। वहा सुख भोग के बाद आयु पूर्ण होने पर वहा से मर कर मनुष्य होता है। निदान के अनुसार जहा सपत्ति और भोग साधना प्रचुर हो, ऐश्वर्य की कमी नही हो, ऐसी जगह जन्म लेकर भोगो मे आसक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को कोई धर्मोपदेश देना चाहे, तो वह सुनने को भी तय्यार नही होता। उस तीव्र आसक्ति और महान् आरभ परिग्रह की अवस्था में ही वह मर कर दक्षिण दिशा के नरक में उत्पन्न होकर महान् दु खो का भोक्ता बनता है। वह धर्मघातक, भविष्य में बहुत समय तक दुर्लभबोधि हो जाता है। इतना कटु फल है, इस निदान का।

२ इसी प्रकार कोई साध्वी, किसी ऐसी महान् सम्पत्तिशाली महिला को देखे कि जो सभी प्रकार के पौद्गलिक उच्च साधनो से युक्त है और अपने पति की एक मात्र प्रिय पत्नी है। जिसकी सेवा में अनेक दास दासियाँ उपस्थित रहते है। उसके उत्कृष्ट भोगो की ओर आकर्षित होकर निदान करले और उस निदान का त्याग नही करके काल कर जाय, तो वह देवलोक में जाती है। वहा के भोग भोगकर आयुष्य पूर्ण होने पर मनुष्य लोक में कन्या के रूप में जन्म लेती है और किसी श्रीमन्त राजा अथवा महान् समृद्धिशाली की एक मात्र प्रिय पत्नी होकर उदार भोगो का भोग करती हुई विचरती है। यदि कोई उसे धर्म सुनाना चाहे, तो भी वह सुनना नही चाहती और आरभ परिग्रह तथा भोग में ही आसक्त रहती है, और मृत्यु पाकर दक्षिणदिशा की नरक में उत्पन्न होकर महान् दु खो को चिरकाल तक भोगती रहती है। फिर उसे धर्म की प्राप्ति होना भी दुर्लभ हो जाता है।

३ कोई साधु, अपनी सयम साधना से पृथक् होकर और परिषहो से खिन्न होकर सोचे कि "ससार मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सुखी है। पुरुष तो अर्थोपार्जन और रक्षण में आने वाले अनेक प्रकार

के कष्टों को सहन करते हैं उन्हें युद्ध भी करना पड़ता है किन्तु स्त्रियाँ बहुत सुखी हैं। उन्हें न कमाना पड़ता है न लड़ाई झगड़ अथवा युद्ध ही करने पड़ते हैं। इच्छानुसार खाना पीना और ऐश आराम करना ही उनका काम है —इस प्रकार किसी वैभवशालिनी महिला का पौद्गलिक सुखों में मग्न देखकर मुद भी वसी स्त्री होने का निदान कर लेता है और उस निदान सहित मृत्यु पाकर देव होता है। वहाँ से निदान के अनुसार कन्या रूप में मनुष्य जन्म पाकर किसी श्रीमन्त की एक मात्र प्रिय पत्नी होती है और भोगों में इतनी गृद्ध हो जाती है कि उसे कोई धर्म की बात कहे तो भी वह सुनना नहीं चाहती। वह आरम्भ परिग्रह में आसक्त पूर्वक मर कर दक्षिण दिशा की नरक में उत्पन्न होकर दुःखी होती है। उसे भविष्य में धर्म मिलना भी दुर्लभ हो जाता है।

४ कोई साध्वी सोचे कि स्त्री जन्म तो कष्ट प्रद है। स्त्री को पुरुषों के आधीन रहना पड़ता है। स्वतन्त्र रूप से कहीं आने जाने में भी उनके लिए खतरे उपस्थित रहते हैं। गर्भ धारण आदि अनेक प्रकार के कष्टों से तो पुरुष जन्म ही उत्तम है। इस प्रकार विचार कर और श्रीमन्त पुरुष को देखकर स्वयं श्रीमन्त पुरुष होने का निदान कर लेती है तो वह भी तदनुसार देव के बाद पुरुष होकर महान् आरम्भ परिग्रह युक्त मर कर पूर्वोक्त प्रकार से दक्षिण दिशा के नरक में उत्पन्न होता है और धर्म पाना दुर्लभ हो जाता है।

५ कोई साधु साध्वी सोचे कि मनुष्य संबंधी काम भोग तो अशुचिमय अस्थिर और सड़न पड़न गलन शील है। रोग और वृद्धावस्था के भय से युक्त हैं। इससे तो देवों के भोग उत्तम हैं। देवता अपनी देवी के साथ भी भोग कर सकते हैं दूसरे देवों की देवियों से भी भोग कर सकते हैं और अपनी आत्मा में से ही देवियाँ बनाकर भोग कर सकते हैं। अतएव मैं भी ऐसा ऋद्धि और शक्तिशाली देव बनूं तो अच्छा। इस प्रकार निदान करके वह वैसा ही देव होकर भोग भोगता है। वहाँ से च्यवकर वह ऋद्धिशाली पुरुष होता है। यदि कोई उसे धर्मोपदेश देवे तो वह सुनता तो है किन्तु श्रद्धान् नहीं कर सकता। वह आरम्भादिक में आसक्ति सहित मरकर दक्षिण दिशा की नरक में जाता है और भविष्य के लिए दुर्लभबोधि हो जाता है।

पूर्वोक्त चार निदान वाले तो धर्म सुनने के भी योग्य नहीं रहते। पाँचवें निदान वाला सुन तो लेता है परन्तु श्रद्धान नहीं कर सकता।

६ कोई साधु साध्वी संयम भ्रष्ट होकर पूर्वोक्त प्रकार से मनुष्यों के भोगों को पसन्द नहीं करे किन्तु देव संबंधी भोग को पसन्द करते हुए यह निदान करे कि यदि मेरे तप संयम का फल हो तो मैं ऋद्धिशाली देव बनूं और अपनी ही देवी के साथ अथवा अपने शरीर से बनाई हुई देवी के साथ भोग भोगकर मौज उड़ाऊँ। इस प्रकार निदान सहित मरकर वह ऋद्धिशाली देव होता है। वहाँ से ऋद्धिशाली मनुष्य होता है। वह भी महान् आरम्भी परिग्रही होता है और जिन धर्म सुन सकता है

परन्तु श्रद्धान नही करता। उसकी श्रद्धान अन्य मतो मे होती है और वह तापस आदि होकर वहा से असुरकुमार देव अथवा किल्पिषी देव हो जाता है। फिर वहा से चवकर भेड बकरी आदि की तरह मूक अर्थात् अस्पष्टवादी मनुष्य होकर दुख पाता है तथा दुर्लभबोधि हो जाता है।

७ अपनी ही देवी से काम भोग करने का निदान करने वाला देव हो जाता है। वहा से मनुष्य होकर केवलि प्ररूपित धर्म पर विश्वास कर सकता है। किन्तु पालन नही कर सकता। वह दर्शन श्रावक, जीवाजीव आदि का ज्ञाता और प्रियधर्मी होता है। निर्ग्रंथ प्रवचन को वह सत्य मानता है और मरकर देवलोक में जाता है।

यह निदान मन्द रस का है। इसलिए सम्यक्त्व प्राप्ति में बाधक नही होता।

८ साधु साध्वी को विचार हो कि "काम भोग तो सभी बुरे है, चाहे देव सम्बन्धी ही हो। सार तो एक मात्र जिन धर्म ही है। किन्तु साधु की अपेक्षा श्रावक धर्म बहुत अच्छा है, जिसमे साधु की तरह परिषहो का सामना भी नही करना पडता और श्रावक धर्म भी ठीक तरह से पालन हो सकता है। मै भी भविष्य मे श्रमणोपासक बनू तो ठीक हो"। इस प्रकार निदान कर वह देव होता है और वहा से चवकर वैभव शाली मनुष्य होकर श्रमणोपासक बनता है। वह श्रावक के सभी व्रत पालता है, किन्तु साधु नही हो सकता। वह श्रावक पर्याय मे ही मनुष्य भव छोडकर ऋद्धिशाली देव हो जाता है।

६ कोई साधु—जिसे साधना प्रिय है, यह सोचे कि 'उच्च कुल में जन्म लेने से तो ससार मे गृद्ध होने के निमित्त बहुत मिलते है। वहा से निकल कर साधु बनना सरल नही है। इससे तो दरिद्र, नीच, भिक्षुक तथा अधम कुल मे जन्म लेना अच्छा कि जहा से सरलता से साधु बना जा सकता है। मै भी भविष्य में दरिद्र कुल में जन्म लू तो अच्छा हो"। इस निदान से देव होकर नीच कुल के मनुष्य मे उत्पन्न होता है और साधुता भी प्राप्त कर लेता है, किन्तु मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। वहा से मरकर वह देव ही होता है।

इस प्रकार नौ निदानो का स्वरूप बताकर विश्वहितकर भगवान् महावीर फरमाते है कि निदान कर्म आत्मा के लिए अहितकारी है। जो साधु साध्वी, निदान नही करते और अपने मोक्ष के ध्येय को सुरक्षित रखते हुए सयम और तप मे वृद्धि करते रहते है, वे सभी प्रकार के राग, काम, स्नेह और सयोग से विरक्त हो जाते है। उनकी आत्मा, चारित्र से उन्नत हो जाती है। इस प्रकार उन्नत होकर वे सर्वप्रधान अनन्त केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लेते है। फिर उनके ज्ञान और दर्शन मे कोई आवरण अथवा रुकावट नही होती। उनका ज्ञान सपूर्ण होता है। वे अरिहत भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते है। वे देवो और मनुष्यो की विशाल परिषदा में धर्मोपदेश देते है और आयुकर्म पूर्ण होने पर सिद्ध भगवान् होकर समस्त दुखो का अत कर देते है। निदान रहित एव शुद्ध दृष्टि पूर्वक निर्दोष सयम पालन करने वाला इस प्रकार साधक से सिद्ध बन जाता है।

भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर जिन साधु साध्वियों ने श्रणिक नरेश और चिल्लना रानी को देख कर निदान कर लिया था वे सावधान होगए और उस निदान कर्म की आलोचना कर उसे त्याग कर एव प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुए और तप में विशेष रूप से सावधान हो गए। (दशाश्रुतस्कन्ध १०)

उपरोक्त नौ निदान राग भाव से होते हैं। इनमें से सात निदान भोगासक्ति को लिए हुए हैं। सातवें में भोग भावना मन्द है, किन्तु छ निदानों में तीव्र है। तीव्र भोग भावना के निदान वाले को धर्म प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है और निदान शल्य के साथ माया और मिथ्यात्व का शल्य भी आत्मा में प्रवेश कर जाता है। जिससे धर्म का सुनना और श्रद्धा होना असम्भव हो जाता है। जिनके भोग भावना मद प्रकार की होती है उनको निदान शल्य भी भाले के समान नहीं होकर सूई के समान कमजोर होता है और उसके साथ मिथ्यात्व का शल्य भी नहीं होता। इसलिए उन्हें धर्म श्रद्धा हो सकती है। किन्तु विरति नहीं होती। जिनका निदान इससे भी मन्दतम रस का होता है उन्हें भोग प्राप्ति के बाद कालान्तर में और उसी भव में देशविरति और सर्वविरति भी प्राप्त हो जाती है। द्रौपदी का निदान भोग कामना युक्त होते हुए भी मन्दतम रस का था। जिससे भोग प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों में ही उसका प्रभाव घट गया और वह सर्व विरति तक पा गई। परिणामों की तरतमता से फल में भी न्यूनाधिकता होती है।

आठवें निदान में भोग कामना तो नहीं किन्तु श्रावकता की प्रशंसा अवश्य है। इसलिए ऐसे निदान वाले को साधुता प्राप्त नहीं हो सकती। देशविरति प्राप्त हो सकती है। और अंतिम निदान वाले को साधुता प्रिय है उसे साधु जीवन के प्रति अत्यंत राग है। इस राग वाला साधुता तो ठीक तरह से पाल सकता है किन्तु निदान के प्रभाव से मुक्ति नहीं पा सकता।

राग भाव की तरह द्वेष भाव से भी निदान होते हैं। जैसे कमठ और कुणिक के जीव ने पूर्व भव में द्वेष से प्रेरित होकर निदान किया था। दशाश्रुतस्कन्ध का प्रसंग राग भाव से किये हुए निदानों से सबंध रखता है। साधु साध्वियों ने श्रणिक और चिल्लना को देखकर विविध प्रकार के भावों से निदान किया था। अतएव वहाँ उन्हीं का वर्णन है।

वास्तव में निदान मात्र हेय है। इसीलिए साधक उभयकाल के प्रतिक्रमण में निदान शल्य से विरत होने निदान रहित—शुद्ध ध्यान युक्त होने की प्रतिज्ञा करता है "अनिमाण दिट्ठीसम्पन्न और बार बार सावधान होता है।

वर्षावास

जैन धर्म अहिंसा प्रधान है। इसे वही प्रवृत्ति मान्य है, जो आवश्यक होते हुए भी अहिंसक हो। साधारण स्थावरकाय के निकृष्ट जीवों की अहिंसा का भी जैन श्रमण संस्कृति ने पूर्ण ध्यान रखा है। अहिंसा के उपयोग को छोडकर एक कदम उठाना भी जैन श्रमण के लिए योग्य नही है। इसीलिए तो वर्षाकाल में जैन श्रमण ग्रामानुग्राम विहार नही करके, एक ही ग्राम मे रहते है। शेष काल में साधु, बिना रोगादि कारण के एक महीने (साध्वी दो महीने) से अधिक नही रह सकते, (बृहद० १) किन्तु वर्षाकाल में वे एक ग्राम में चार महीने तो रहते ही है। इसका मुख्य कारण अहिंसा का पालन ही है। साधु साध्वी के लिए यह विधान है कि—

"वर्षा हो जाने पर तृणादि और बीजादि हरितकाय की उत्पत्ति हो जाती है। त्रस जीव भी उत्पन्न हो जाते है, और पृथ्वी, जलकाय से युक्त हो जाती है। इसलिए विहार बन्द करके एक ही स्थान पर ठहर जाय।"

"वर्षा के चार महीने और इसके बाद यदि पन्द्रह दिन व्यतीत हो जाने पर भी विहार मार्ग, जीवो से परिपूर्ण हो, तो विहार नही करे, किन्तु जीव रहित मार्ग हो जाय, तभी विहार करना चाहिए।"

(आचाराग २—३—१)

इस प्रकार अहिंसा की आराधना की दृष्टि से निर्ग्रन्थ वर्षावास एक स्थान पर ही बिताते है। वर्षा के चार महीने (अधिक हो तो पाच महीने) व्यतीत करने के लिए स्थान चुनने में भी सावधानी रखनी पडती है, जिससे वर्षावास शान्ति पूर्वक सयम पालन करते हुए व्यतीत हो। इसके लिए यह ध्यान रखना पडता है कि—

जिस स्थान पर स्थडिल भूमि (बाहर शौच जाने का स्थान) एकान्त में और निर्दोष नही हो, जहा स्वाध्याय एव ध्यान करने के लिए स्थान अनुकूल नही हो, स्थान पाट पाटले और शय्या सस्तारक की अनुकूलता नही हो और निर्दोष आहारादि की प्राप्ति सुलभ नही हो तथा जहा बहुत से भिखारी आते जाते हो, जिससे भीडभाड बनी रहे, तो ऐसे स्थान वर्षावास के लिए अयोग्य माने गये है। ऐसे स्थानो पर साधु साध्वी को वर्षावास के लिए नही ठहरना चाहिए। किन्तु जहा स्थडिल भूमि एकात और निर्दोष हो, स्वाध्याय एव ध्यान करने का स्थान भी अच्छा हो, जहा स्थान, पाट, पाटले और सस्तारक तथा आहारादि निर्दोष और शुद्ध मिल सकते हो और जहा अन्य भिखारियो का आवागमन अधिक नही होता हो तथा भीडभाड कम रहती हो, वहा वर्षावास रहना चाहिए *।

(आचाराग २—३—१)

* कल्प सूत्र के प्रारभ में टीकाकार ने साधुओं के कल्प का वर्णन किया है, वहा दसवें 'पर्युषण कल्प' के विवेचन

साधारण तया वर्षावास एक ही स्थान पर बिताया जाता है किन्तु विशेष परिस्थिति उत्पन्न होनेपर बीच में ही विहार करना पड़ता है। जैसे कि—

१ राजा आदि के उपद्रव से अथवा उपकरणादि चोरी जाने के भय से।

२ दुर्भिक्ष के कारण भिक्षा सुलभ नहीं हो ।

३ यदि साधु को ग्राम में से निकाल दिया जाय ।

४ पानी की बाढ़ आजाने से।

५ जीवन और चारित्र का नाश होने जैसा उपद्रव हो।

उपरोक्त पांच कारणों से चातुर्मास में संवत्सरी के पूर्व एक महीना २० दिन में विहार करने की अपवाद मार्ग से छूट दी गई है।

निम्न पाँच कारणों से पीछे के ७० दिनों में विहार करने की छूट दी गई है।

१ ज्ञान के लिए—किसी विशिष्ठ ज्ञानी ने संथारा कर लिया हो और उससे वह ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो। इसके बिना उस ज्ञान के विच्छेद जान का भय हो ।

२ दर्शन के लिए—दर्शन की प्रभावना करने वाले श्रुत ज्ञान को प्राप्त करने के लिए (अथवा दर्शन की विशेष शुद्धि के लिए) वैसे विशेष ज्ञानी के पास जावे ।

३ चारित्र के लिए—जहां रहने से संयम दूषित होता हो स्त्री आदि से चारित्र मलिन होने की संभावना हो तो चारित्र की रक्षा के लिए विहार करे।

४ आचार्य उपाध्याय काल कर जाय और गच्छ में कोई अन्य आचार्यादि नहीं हो तो अन्य गच्छ का आश्रय लेने को विहार कर सकता है। अथवा आचार्य उपाध्याय का विश्वास पात्र हो तो किसी विशेष कार्य से विहार कर सकता है।

५ अन्यत्र रहे हुए आचार्यादि की वैयावृत्य के लिए जाना आवश्यक हो।

उपरोक्त कारणों से वर्षावास के मध्य में भी विहार करने की छूट दी गई है।

(ठाणांग ५–२–४१३)

साधु जिस स्थान पर एक मास ठहर चुके (साध्वी दो मास) और वर्षावास रह चुके वहां उससे द्विगुण काल तक वापिस नहीं आवे। (आचारांग २–२–२)

में साधुओं के चातुर्मास के योग्य स्थान में उत्कृष्ट तेरह विषयों की अनुकूलता होना बताया है जो इस प्रकार है।

१ जहां कीचड़ अधिक नहीं होता हो। २ जहां सम्मूर्छिम की उत्पत्ति अधिक नहीं होती हो। ३ जहां की स्थंडिल भूमि निर्दोष हो। ४ उपाश्रय स्त्री संसर्गादि रहित हो ५ गोरस की प्रचुरता हो। ६ लोक समुदाय अधिक हो। ७ वैद्य की अनुकूलता हो। ८ औषधी सुलभ हो। ९ गृहस्थ–उपासक वर्ग सम्पन्न हो। १० राजा भद्रिक परिणामी हो। ११ अन्य-मतावलम्बियों का उपद्रव नहीं हो। १२ भिक्षा सुलभ हो। १३ स्वाध्याय ध्यान भली प्रकार हो सके ऐसी अनुकूलता हो।

गृहस्थों का सम्पर्क

निर्ग्रंथ, अनगार होते है। उन्होंने गृहस्थाश्रम का त्याग किया है। अगारीपन अथवा गृहस्थवास को हेय जानकर ही वे अनगार बने है। इसलिए उन्हे गृहस्थो से अति सम्पर्क नही रखना चाहिए। क्योकि गृहस्थ जीवन ही आरम्भमय, विषय कषाय मे ओतप्रोत और ससार की ओर लुभाने वाला है। गृहस्थो और साधुओ की चर्या आपस में मेल नही खाती। दोनो के मार्ग अलग अलग है। गृहस्थ, ससार सयोगो से सबधित है और साधु ससार के सम्बन्धो से मुक्त है–"सजोगा विप्पमुक्कस्स" (उत्तरा १–१) यदि साधु, गृहस्थो के सम्पर्क मे रहेगा, तो उसे ससर्ग दोष लगने की सभावना है। सगति का प्रभाव प्राय पडता है। इसलिए जिनेश्वर भगवन्तो ने साधु साध्वी के लिए गृहस्थ का ससर्ग वर्जित बतलाया है।

यो गृहस्थ से आहारादि सयमोपयोगी चीजें ली जाती है और उन्हे धर्मोपदेश तथा ज्ञान दान दिया जाता है तथा साधु के समीप रह कर गृहस्थ, पौषधादि धर्म क्रिया भी करता है। यह सम्पर्क, लक्ष्य की एकता के कारण है। गृहस्थ की धार्मिक प्रवृत्ति का सम्पर्क भी सावधानी पूर्वक और थोडा ही हो। जहा धार्मिकता के बहाने ससार के प्रपञ्च प्रवेश करते है, वहाँ साधु का ससार की ओर झुकाव हो जाता है। साधुओ मे सासारिक आकर्षण उत्पन्न होने का मुख्य निमित्त सासारिक लोग ही है। उन्ही के ससर्ग से उनमे ससार की विविध हलचले जानने की रुचि उत्पन्न होती है (उपादान जागृत होता है) फिर वे सासारिक हाल चाल जानने के लिए समाचार पत्रादि देखने लगते है। कोई कोई ऐसी पत्रिकाएँ भी देखते है कि जिनमे मोह वर्धक–काम वर्धक कहानियाँ होती है। इसका परि–णाम सयम में उतार और पतन रूप मे निकलता है। यदि इसका मुख्य निमित्त कारण देखा जाय तो गृहस्थो का ससर्ग ही है। गृहस्थो के ससर्ग के कारण ही कई साधु साध्वी, सासारिक सावद्य कार्यों के प्रचारक बने है। अतएव गृहस्थो का ससर्ग त्यागना चाहिए, जिससे साधु साध्वी का सयम सुरक्षित रहे। स्वाध्याय, ध्यानादि विशेष रूप से हो सके। जिनागमो मे परमतारक जिनेश्वर भगवतो ने कहा कि–

"गृहस्थ आरम्भ जीवी होते है। इसलिए गृहस्थो से स्नेह नही करना चाहिए"।

(आचाराग १–३–२)

जिस प्रकार गृहस्थो का ससर्ग वर्जित है, उसी प्रकार गृहस्थो की सेवा करना, उन्हे आहारादि देना, उनके साथ स्थडिल आदि जाना, या विहार करना भी वर्जित है। यही बात अन्यतीर्थी साधु साध्वी के ससर्ग त्याग के विषय में समझनी चाहिए (आचाराग १–८–१ तथा २–१–१) ससारियो की सगति ससार की ओर खीचती है, तो अन्य तीर्थियो की सगति, धर्म से भ्रष्ट करके अन्यतीर्थ की ओर ले जाती है। गृहस्थो की सेवा करना, या कराना अनाचार है (दशवै ३) यही बात अन्यतीर्थी के विषय में भी जानना चाहिए, बल्कि उनसे भी अधिक सम्यक्त्व का "कुदसण वज्जणा" नामक चौथा

साधारण तया वर्षावास एक ही स्थान पर बिताया जाता है किन्तु विशेष परिस्थिति उत्पन्न होनेपर बीच में ही विहार करना पड़ता है। जैसे कि—

१ राजा आदि के उपद्रव से अथवा उपकरणादि चोरी जाने के भय से।

२ दुर्भिक्ष के कारण भिक्षा सुलभ नहीं हो।

३ यदि साधु को ग्राम में से निकाल दिया जाय।

४ पानी की बाढ़ आजाने से।

५ जीवन और चारित्र का नाश होने जैसा उपद्रव हो।

उपरोक्त पांच कारणों से चातुर्मास में संवत्सरी के पूर्व एक महीना २० दिन में विहार करने की अपवाद मार्ग से छूट दी गई है।

निम्न पांच कारणों से पीछे के ७० दिनों में विहार करने की छूट दी गई है।

१ ज्ञान के लिए—किसी विशिष्ठ ज्ञानी ने संथारा कर लिया हो और उससे वह ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो। इसके बिना उस ज्ञान के विच्छेद जाने का भय हो।

२ दर्शन के लिए—दर्शन की प्रभावना करने वाले श्रुत ज्ञान को प्राप्त करने के लिए (अथवा दर्शन की विशेष शुद्धि के लिए) वैसे विशेष ज्ञानी के पास जावे।

३ चारित्र के लिए—जहां रहने से संयम दूषित होता हो स्त्री आदि से चारित्र मलिन होने की संभावना हो तो चारित्र की रक्षा के लिए विहार करे।

४ आचार्य उपाध्याय काल कर जाय और गच्छ में कोई अन्य आचार्यादि नहीं हो तो अन्य गण का आश्रय लेने को विहार कर सकता है। अथवा आचार्य उपाध्याय का विश्वास पात्र हो तो किसी विशेष काम से विहार कर सकता है।

५ अन्यत्र रहे हुए आचार्यादि की वैयावृत्य के लिए जाना आवश्यक हो।

उपरोक्त कारणों से वर्षावास के मध्य में भी विहार करने की छूट दी गई है।

(ठाणांग ५–२–४१३)

साधु जिस स्थान पर एक मास ठहर चुके (साध्वी दो मास) और वर्षावास रह चुके वहां उससे द्विगुण काल तक वापिस नहीं आवे। (आचारांग २–२–२)

में साधुओं के चातुर्मास के योग्य स्थान में उत्कृष्ट तेरह विषयों की अनुकूलता होना बताया है जो इस प्रकार है।

१ जहां कीचड़ अधिक नहीं होता हो। २ जहां सम्मूर्च्छिम की उत्पत्ति अधिक नहीं होती हो। ३ जहां की स्थंडिल भूमि निर्दोष हो। ४ उपाश्रय स्त्री संसर्गादि रहित हो ५ गोरस की प्रचुरता हो। ६ लोक समुदाय भद्रिक हो। ७ वैद्य की अनुकूलता हो। ८ औषधी सुलभ हो। ९ गृहस्थ–उपासक वर्ग सम्पन्न हो। १० राजा भद्रिक परिणामी हो। ११ अन्य मतावलम्बियों का उपद्रव नहीं हो। १२ भिक्षा सुलभ हो। १३ स्वाध्याय ध्यान भली प्रकार हो सके ऐसी अनुकूलता हो।

गृहस्थों का सम्पर्क

निर्ग्रंथ, अनगार होते है। उन्होने गृहस्थाश्रम का त्याग किया है। अगारीपन अथवा गृहस्थवास को हेय जानकर ही वे अनगार बने है। इसलिए उन्हे गृहस्थो से अति सम्पर्क नही रखना चाहिए। क्योकि गृहस्थ जीवन ही आरम्भमय, विषय कषाय से ओतप्रोत और ससार की ओर लुभाने वाला है। गृहस्थो और साधुओ की चर्या आपस मे मेल नही खाती। दोनों के मार्ग अलग अलग है। गृहस्थ, ससार सयोगो से सबधित है और साधु ससार के सम्बन्धो से मुक्त है—"सजोगा विप्पमुक्कस्स" (उत्तरा १-१) यदि साधु, गृहस्थो के सम्पर्क में रहेगा, तो उसे ससर्ग दोष लगने की सभावना है। सगति का प्रभाव प्राय पडता है। इसलिए जिनेश्वर भगवन्तो ने साधु साध्वी के लिए गृहस्थ का ससर्ग वर्जित बतलाया है।

यो गृहस्थ से आहारादि सयमोपयोगी चीजें ली जाती है और उन्हे धर्मोपदेश तथा ज्ञान दान दिया जाता है तथा साधु के समीप रह कर गृहस्थ, पौषधादि धर्म क्रिया भी करता है। यह सम्पर्क, लक्ष्य की एकता के कारण है। गृहस्थ की धार्मिक प्रवृत्ति का सम्पर्क भी सावधानी पूर्वक और थोडा ही हो। जहा धार्मिकता के बहाने ससार के प्रपञ्च प्रवेश करते है, वहाँ साधु का ससार की ओर झुकाव हो जाता है। साधुओ में सासारिक आकर्षण उत्पन्न होने का मुख्य निमित्त सासारिक लोग ही है। उन्ही के ससर्ग से उनमे ससार की विविध हलचले जानने की रुचि उत्पन्न होती है (उपादान जागृत होता है) फिर वे सासारिक हाल चाल जानने के लिए समाचार पत्रादि देखने लगते है। कोई कोई ऐसी पत्रिकाएँ भी देखते है कि जिनमे मोह वर्धक—काम वर्धक कहानियाँ होती है। इसका परि-णाम सयम में उतार और पतन रूप में निकलता है। यदि इसका मुख्य निमित्त कारण देखा जाय तो गृहस्थो का ससर्ग ही है। गृहस्थो के ससर्ग के कारण ही कई साधु साध्वी, सासारिक सावद्य कार्यों के प्रचारक बने है। अतएव गृहस्थो का ससर्ग त्यागना चाहिए, जिससे साधु साध्वी का सयम सुरक्षित रहे। स्वाध्याय, ध्यानादि विशेष रूप से हो सके। जिनागमो मे परमतारक जिनेश्वर भगवतो ने कहा कि—

"गृहस्थ आरम्भ जीवी होते है। इसलिए गृहस्थो से स्नेह नही करना चाहिए"।

(आचाराग १-३-२)

जिस प्रकार गृहस्थो का ससर्ग वर्जित है, उसी प्रकार गृहस्थो की सेवा करना, उन्हे आहारादि देना, उनके साथ स्थडिल आदि जाना, या विहार करना भी वर्जित है। यही बात अन्यतीर्थी साधु साध्वी के ससर्ग त्याग के विषय में समझनी चाहिए (आचाराग १-८-१ तथा २-१-१) ससारियो की सगति ससार की ओर खीचती है, तो अन्य तीर्थियो की सगति, धर्म से भ्रष्ट करके अन्यतीर्थ की ओर ले जाती है। गृहस्थो की सेवा करना, या कराना अनाचार है (दशवै ३) यही बात अन्यतीर्थी के विषय में भी जानना चाहिए, बल्कि उनसे भी अधिक सम्यक्त्व का "कुदसण वज्जणा" नामक चौथा

आचार भग रूप अनाचार है (उत्तराध्ययन २८)। निशीथ सूत्र उ० २ तथा १५ में गृहस्थों और अन्यतीर्थियों से सम्पर्क और आहारादि तथा वस्त्रादि देने का प्रायश्चित्त बतलाया है। इसीलिए निर्ग्रंथ मुनिवर गृहस्थों व अन्य तीर्थियों का संसर्ग तथा वस्तु के लेन देन आदि प्रपञ्चों से वंचित रहते हैं।

साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ के पाँव दबावे मालिश करे प्रमार्जन करे तेलादि लगावे शरीर का मर्दन आदि करे, फोड़ा या मस्सा आदि का छेदन कर मवाद निकाले धोवे और दवा लगावे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है (निशीथ उ ११)

साधु गृहस्थ से अपने पाँव दबवावे मालिश करवावे तेलादि का विलेपन करवावे फोड़ा आदि का छेदन (आपरेशन) करवावे उसका मवाद निकलवावे धुलवावे और दवाई आदि लगावे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है (निशीथ उ १५)

गृहस्थ के बरतनों में भोजन करे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ १२)

गृहस्थ की औषधी करे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ १२)

गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थी से अपने उपकरण उठवावे तो प्रायश्चित्त आता है। (निशीथ उ १२

गृहस्थ अथवा अन्य तीर्थी का शिल्प आदि कला काव्य कला ज्योतिष तथा लग्न आदि बतावे-सिखावे तो प्रायश्चित्त। (यों अनेक क्रियाओं का निर्देश किया गया है) (निशीथ उ १३)

गृहस्थ को आहार पानी आदि देवे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ १५)

अपनी चद्दर गृहस्थ से सिलावे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ ५)

तात्पर्य यह है कि साधु गृहस्थ से निर्दोष आहारादि संयमोपकारी वस्तु अपने नियमों के अनुसार ले सकते हैं और उन्हें धर्मोपदेश तथा विरति प्रदान कर सकते हैं। इसके सिवाय न तो वे स्वयं गृहस्थों से अपना काम करा सकते हैं और न खुद उनका कार्य कर सकते हैं क्योंकि उनका जीवन निर्वाण साधना के लिए है जो ज्ञान ध्यान स्वाध्याय तथा समाचारी के पालन रूप होता है।

जो लोग कहते हैं कि साधु गृहस्थों से आहारादि लेते हैं उसके बदले में उपदेश देकर प्रत्युपकार करते हैं—ऋण चुकाते हैं वे गलत कहते हैं। साधु बिना किसी बदले की भावना के अपने संयम साधना में उपयोगी वस्तु लेते हैं और श्रावक उन्हें प्रतिलाभ कर अपने व्रत की आराधना करते हैं। लेने वाले और देने वाले दोनों को अपनी आराधना का आत्मिक लाभ होता ही है। (दशव अ ५ उ १ गा १००)

संसारी प्राणियों की सेवा करना गृहस्थों का काम है—साधुओं का नहीं। करोड़ों गृहस्थ और राज्य सत्ता संसारियों की सेवा के लिए है। साधु तो गृहस्थों का संबंध छोड़कर निकल चुके हैं। वे दीक्षित होने के दिन से स्वधर्मी हो गए हैं। इसलिए उन्हें भी गृहस्थों से निषिद्ध सेवा नहीं लेनी चाहिए। दीक्षित होने के दिन से उनका संबंध साधुओं से जुड़ चुका है। इसलिए आवश्यकता होने पर साधुओं से ही सेवा लें और दे सकते हैं।

असमाधि स्थान

जिस क्रिया से आत्मा की शान्ति भग होकर अशान्ति बढे, मोक्ष मार्ग से विपरीतता हो और कर्म बन्धन वढकर ससार परम्परा में वृद्धि हो, वह असमाधि जन्य क्रिया है। यो तो साधुता में दोष लगानें वाली जितनी भी क्रियाएँ है, वे सभी असमाधि की कारण होती है, किन्तु आगमो मे असमाधि के २० स्थानो का वर्णन किया गया है। इन बीस स्थानो मे असमाधि के सभी कारणो का समावेश हो जाता है। असमाधि स्थानो का वर्णन समवायाग २० और दशाश्रुतस्कन्ध १ से यहा लिखा जा रहा है।

१ **द्रुतद्रुतचारी**–ईर्यासमिति की उपेक्षा करके जल्दी से चलना। इस प्रकार अन्धाधुन्द चलने से जीवो की यतना नहीं होती और ठोकर आदि भी लग जाती है। जिस प्रकार जल्दी चलना असमाधि जनक है, उसी प्रकार जल्दी जल्दी बोलना, खाना आदि भी कष्ट दायक है।

२ **अप्रमार्जितचारी**–दिन में जहा अधिक जीव हो वहा और रात्रि के अन्धकार में, बिना पूजे चलना, बैठना सोना और करवट बदलना।

३ **दुष्प्रमार्जितचारी**–बेगार टालने की तरह उपेक्षा पूर्वक, बिना उपयोग के प्रमार्जन करना।

४ **अतिरिक्त शय्यासनिक**–स्थान और पाट पाटला, आसन, बिछौना आदि प्रमाण से अधिक रखना।

५ **रात्निकपरिभाषी**–जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र मे अपने से अधिक है, और गुरु अथवा उच्च पद पर है, उनसे धीठता पूर्वक विवाद करना।

६ **स्थविरोपघातक**–स्थविर मुनियो का अनिष्ट चाहने वाला–श्रमण द्रोही।

७ **भूतोपघातक**–एकेन्द्रियादि जीवो का घातक। आधाकर्मी आहार करने वाला।

८ **संज्वलन**–स्वाध्यायादि को छोडकर सदा क्रोध में ही जलना। जिस प्रकार चूने की भट्टी भीतर ही भीतर जलती रहती है, उसी प्रकार मन ही मन कूढना।

९ **क्रोधी**–अत्यत क्रोधी। वैरभाव को शान्त नही कर, दूसरो से झगडना।

१० **पृष्टमासिक**–पीठ पीछे निन्दा करने वाला। किसी की अनुपस्थिति में निन्दा करने वाले को 'पीठ का मास खाने वाला' बताया है। निन्दा से वैसे ही कर्म बँधते है और कलह होकर अशाति फैलती है।

११ **बारबार निश्चयकारिणी भाषा बोलना**–जिस विषय मे शका है–पक्का निश्चय नही है, उस विषय में निश्चयकारी भाषा बोलना, तथा दूसरे के गुणो का अपहरण करने वाले शब्द (हँसी आदि के मिस) बोलना कि 'तू चोर है, दास है,' आदि। यह मृषावाद होकर असमाधि का कारण है।

आचार भग रूप अनाचार है (उत्तराध्ययन २८)। निशीथ सूत्र उ० २ तथा १५ में गृहस्थों और अन्यतीर्थियों से संसर्ग और आहारादि तथा वस्त्रादि देवे तो प्रायश्चित्त बतलाया है। इसीलिए निर्ग्रंथ मुनिवर गृहस्थों व अन्य तीर्थियों का संसर्ग तथा वस्तु के लेन देन आदि प्रपञ्चों से वंचित रहते हैं।

'साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ के पाँव दबावे मालिश करे प्रमार्जन करे तेलादि लगावे शरीर का मर्दन आदि करे फोड़ा या मस्सा आदि का छेदन कर मवाद निकाले धोवे और दवा लगावे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है' (निशीथ उ ११)

साधु गृहस्थ से अपने पाँव दबवावे मालिश करवावे तेलादि का विलेपन करवावे फोड़ा आदि का छेदन (आपरेशन) करवावे उसका मवाद निकलवावे धुलवावे और दवाई आदि लगावे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है (निशीथ उ १५)

गृहस्थ के बरतनों में भोजन करे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ १२)

गृहस्थ की औषधी करे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ १२)

गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थी से अपने उपकरण उठवावे तो प्रायश्चित्त आता है। (निशीथ उ १२)

गृहस्थ अथवा अन्य तीर्थी को शिल्प आदि कला काव्य कला ज्योतिष तथा होम आदि बतावे-सिखावे तो प्रायश्चित्त। (यो अनेक क्रियाओं का निर्देश किया गया है) (निशीथ उ १३)

गृहस्थ को आहार पानी आदि देवे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ १५)

अपनी चद्दर गृहस्थ से सिलावे तो प्रायश्चित्त (निशीथ उ ५)

तात्पर्य यह है कि साधु गृहस्थ से निर्दोष आहारादि संयमोपकारी वस्तु अपने नियमों के अनुसार ले सकते हैं और उन्हें धर्मोपदेश तथा विरति प्रदान कर सकते हैं। इसके सिवाय न तो वे स्वयं गृहस्थों से अपना कार्य करा सकते हैं और न खुद उनका कार्य कर सकते हैं क्योंकि उनका जीवन निर्वाण साधना के लिए है जो ज्ञान ध्यान स्वाध्याय तथा समाचारी के पालन रूप होता है।

जो लोग कहते हैं कि साधु गृहस्थों से आहारादि लेते हैं उनके बदले में उपदेश देकर प्रत्युपकार करते हैं—बदला चुकाते हैं वे गलत कहते हैं। साधु बिना किसी बदले की भावना के अपने संयम साधना में उपयोगी वस्तु लेते हैं और श्रावक उन्हें प्रतिलाभ कर अपने व्रत की आराधना करते हैं। लेने वाले और देने वाले दोनों को अपनी आराधना का आत्मिक लाभ होता ही है। (दशवै अ ५ उ १ गा १ •)

संसारी प्राणियों की सेवा करना गृहस्थों का कार्य है—साधुओं का नहीं। करोड़ों गृहस्थ और राज्य सत्ता संसारियों की सेवा के लिए हैं। साधु तो गृहस्थों का संबंध छोड़कर निकल चुके हैं। वे दीक्षित होने के दिन से स्वाश्रयी हो गए हैं। इसलिए उन्हें भी गृहस्थों से निषिद्ध सेवा नहीं लेनी चाहिए। दीक्षित होने के दिन से उनका संबंध साधुओं से जुड़ चुका है। इसलिए आवश्यकता होने पर साधुओं से ही सेवा लें और दे सकते हैं।

आत्म समाधि के स्थान

वाणिज्यग्राम नगर के दूतिपलास चैत्य में त्रिलोक पूज्य भगवान् महावीर प्रभु ने निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थियो को सम्बोधित करते हुए कहा—

"आर्यों ! जो निर्ग्रन्थ निर्ग्रंथी, ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभण्डमात्र निक्षेपण समिति, मनसमिति, वचनसमिति, और कायसमिति का पालन करने वाले हे, जो मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से गुप्त, गुप्तेन्द्रिय और गुप्त ब्रह्मचारी है, तथा—

आत्मार्थी, आत्महितैषी, आत्म-योगी, आत्मपराक्रमी, पाक्षिक पौषध* करने वाले, स्वाध्याय तप आदि से सामाधि प्राप्त करने वाले और धर्म ध्यान करने वाले है, उन्हे पहले कभी उत्पन्न नही हुई, ऐसी अपूर्व आत्मसमाधि उत्पन्न होती है। उस आत्मसमाधि के दस भेद है। यथा—

१ धर्म चिन्तन करने से, पहले कभी उत्पन्न नही हुई ऐसी धर्म भावना उत्पन्न होती है और उससे वह क्षान्ति आदि धर्म तथा जीवादि तत्त्वो को जान लेता है। इससे चित्त में समाधि होती है।

२ धर्म चिन्तन करते हुए यदि अपूर्व शुभ और यथार्थ फलदायक स्वप्न दर्शन * हो जाय तो चित्त समाधि होती है।

३ धर्म चिन्तन करते हुए अभूतपूर्व जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और इससे अपने पूर्व भवो को देखकर चित्त में समाधि प्राप्त करता है।

४ यदि अपूर्व देव दर्शन हो जाय और उसकी देवलोक सम्बन्धी ऋद्धि, प्रभाव और दिव्य सुखो के कारणभूत धर्म का विचार करे तो चित्त मे समाधि होती है।

५ धर्म चिंतन से क्षयोपशम भाव की वृद्धि होकर अपूर्व अवधिज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो उससे प्रत्यक्ष रूप से लोक का स्वरूप जानने से आत्म शान्ति उत्पन्न होती है।

६ अवधिदर्शन उत्पन्न होने पर लोक का स्वरूप प्रत्यक्ष देखने से चित्त की समाधि होती है।

७ आत्मलीनता बढते हुए अपूर्व ऐसे मन पर्यवज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो उसमे मनुष्य क्षेत्र—ढाई द्वीप समुद्र के सज्ञी पचेद्रिय पर्याप्त जीवो के मनोगत भावो को जानने पर निर्ग्रन्थो को आत्म शाति प्राप्त होती है।

८ धर्म ध्यान में बढते हुए शुक्ल ध्यान मे प्रवेश कर जाय और क्षपक श्रेणी प्रारम करले, तो

---

* पूर्णिमा और अमावस्या को चौविहार उपवास करके विशेष रूप से धर्म की आराधना करके आत्मा का पोषण करना—निर्ग्रंथों के लिए भी आवश्यक है। पाक्षिक के अर्थ में उपलक्षण से अष्टमी चतुर्दशी आदि भी लेते है।

* जिस प्रकार भ० महावीर स्वामी को छद्मस्थता की अन्तिम रात्रि में दस स्वप्न आये थे।

१२ कलह उत्पन्न करना—अपनी ओर से नये नये कलह उत्पन्न करना। पहले जो कलह नहीं था उसे अपनी ओर से खड़ा करने वाला। अथवा अधिकरण उत्पन्न करना।

१३ शान्त हुए कलह को उभाड़ना—पहले के क्लेश का पारस्परिक क्षमापना के द्वारा शान्त कर दिया गया है किन्तु उसे फिर से उभाड़ना।

१४ अकाल में स्वाध्याय करना—सूत्र में बताये हुए (देखो पृ० ११३) अनध्याय काल में स्वाध्याय करना तथा वैयावृत्य का अवसर उपस्थित होने पर भी वैयावृत्य नहीं करके स्वाध्याय करना। ×

१५ रजलिप्त हाथ पाँव—सचित्त रज से लिप्त हाथ पाँव आदि को बिना पूंजे आसन या शय्या पर बैठना अथवा सचित्त रज से या पानी आदि से लिप्त हाथ आदि युक्त गृहस्थ से आहारादि लेना।

१६ जोर जोर से बोलना—प्रहर रात गये बाद जोर जोर से स्वाध्याय करना तथा मामाजी काकाजी आदि गृहस्थ योग्य भाषा बोलना।

१७ भेद करना—गच्छ गण अथवा संघ में भेद उत्पन्न करना फूट डालना और उनमें मानसिक दुःख उत्पन्न करना।

१८ क्लेश करना—कलह उत्पन्न हो ऐसी भाषा बोलना। अथवा ऐसे कार्य करना कि जिससे कलह बढ़े।

१९ दिनभर खाना—सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार बार खाते ही रहना—दिन भर मुंह चलाते ही रहना व उचित काल में स्वाध्यायादि नहीं करना।

२० अनेषणीय लेना—एषणा समिति का पालन नहीं करके दोष युक्त आहारादि लेना।

द्रव्य समाधि और भाव समाधि के इच्छुक मुनिवर उपरोक्त असमाधि स्थानों से बचते ही रहते हैं। जो श्रमण अपनी पाँच समिति का यथातथ्य पालन करते हैं वे असमाधि के कारण नहीं बनते हैं।

× यदि किसी वृद्ध रोगी या रत्नाधिक की वैयावृत्य का समय उपस्थित हो तो उस समय स्वाध्याय काल होते हुए भी वैयावृत्य नहीं करके स्वाध्याय करे, तो वह असमाधि का कारण होता है। इसलिए इस अर्थ का समावेश किया जाय तो भी उचित होगा।

आत्म समाधि के स्थान

वाणिज्यग्राम नगर के दूतिपलास चैत्य में त्रिलोक पूज्य भगवान् महावीर प्रभु ने निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थियो को सम्बोधित करते हुए कहा-

"आर्यों! जो निर्ग्रन्थ निर्ग्रंथी, ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभण्डमात्र निक्षेपण समिति, मनसमिति, वचनसमिति, और कायसमिति का पालन करने वाले है, जो मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से गुप्त, गुप्तेन्द्रिय और गुप्त ब्रह्मचारी है, तथा-

आत्मार्थी, आत्महितैषी, आत्म-योगी, आत्मपराक्रमी, पाक्षिक पौषध* करने वाले, स्वाध्याय तप आदि से सामाधि प्राप्त करने वाले और धर्म ध्यान करने वाले हैं, उन्हे पहले कभी उत्पन्न नही हुई, ऐसी अपूर्व आत्मसमाधि उत्पन्न होती है। उस आत्मसमाधि के दस भेद हैं। यथा-

१ धर्म चिन्तन करने से, पहले कभी उत्पन्न नही हुई ऐसी धर्म भावना उत्पन्न होती है और उससे वह क्षान्ति आदि धर्म तथा जीवादि तत्त्वो को जान लेता है। इससे चित्त में समाधि होती है।

२ धर्म चिन्तन करते हुए यदि अपूर्व शुभ और यथार्थ फलदायक स्वप्न दर्शन* हो जाय तो चित्त समाधि होती है।

३ धर्म चिन्तन करते हुए अभूतपूर्व जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और इससे अपने पूर्व भवो को देखकर चित्त में समाधि प्राप्त करता है।

४ यदि अपूर्व देव दर्शन हो जाय और उसकी देवलोक सम्बन्धी ऋद्धि, प्रभाव और दिव्य सुखो के कारणभूत धर्म का विचार करे तो चित्त में समाधि होती है।

५ धर्म चिंतन से क्षयोपशम भाव की वृद्धि होकर अपूर्व अवधिज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो उससे प्रत्यक्ष रूप से लोक का स्वरूप जानने से आतम शान्ति उत्पन्न होती है।

६ अवधिदर्शन उत्पन्न होने पर लोक का स्वरूप प्रत्यक्ष देखने से चित्त की समाधि होती है।

७ आत्मलीनता बढते हुए अपूर्व ऐसे मन पर्यवज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो उससे मनुष्य क्षेत्र-ढाई द्वीप समुद्र के सज्ञी पचेद्रिय पर्याप्त जीवो के मनोगत भावो को जानने पर निर्ग्रन्थो को आतम शाति प्राप्त होती है।

८ धर्म ध्यान में बढते हुए शुक्ल ध्यान में प्रवेश कर जाय और क्षपक श्रेणी प्रारभ करले, तो

---

* पूर्णिमा और अमावस्या को चौविहार उपवास करके विशेष रूप से धर्म की आराधना करके आत्मा का पोषण करना-निर्ग्रंथों के लिए भी आवश्यक है। पाक्षिक के अर्थ में उपलक्षण से अष्टमी चतुर्दशी आदि भी लेते हैं।

* जिस प्रकार भ० महावीर स्वामी को छद्मस्थता की अन्तिम रात्रि में दस स्वप्न आये थे।

घातिकर्मों को नष्ट करके अपूर्व एव अद्वितीय एसे केवलज्ञान को प्राप्त कर लोकालोक के स्वरूप को जान लेते हैं। यह ध्यानान्तर दशा अपूर्व शान्ति युक्त है।

९ अपूव केवलदर्शन से लोकालोक देखने से।

१० केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित आयुष्य पूण होने पर निर्वाण हो जाता ह और समस्त दुखों का सदा के लिए अत हो जाता है। इससे अपूव पूण तथा शाश्वत शांति प्राप्त हो जाती है।

जो निर्ग्रंथ अनगार शरीर की परवाह नहीं करके और पौदगलिक दृष्टि को छोड़कर स्वाध्यायादि धमध्यान में लगे रहते हैं। विविध प्रकार के तप करते हुए आत्मा को उज्ज्वल बनाते रहते हैं उनकी आत्म शान्ति बढ़ती जाती है और वधमान परिणाम से वे उन्नत होते होते कभी अपूव एव शाश्वत शान्ति—मुक्ति को भी प्राप्त कर लेते हैं। एसे मुक्तिपुरी के महापथिक अनगार भगवतों के चरणों में हमारी पूण भक्ति समर्पित हो। (दशाश्रुतस्कध ५)

उपरोक्त चित्त—समाधिके दस प्रकारों के अतिरिक्त नीचे लिखी चार प्रकार की समाधि भी जिनेश्वर भगवतों ने बतलाई है।

१ विनय समाधि— विनय धर्म का मूल आधार है। विनय की भूमिका पर ही सभी धम फलते फूलते हैं। मोक्ष मार्ग में प्रगति भी विनयी आत्मा हो कर सकती है। अतएव समाधि क इच्छुक को सबसे पहले विनय धर्म के द्वारा समाधि प्राप्त करनी चाहिए। इसके चार भद हैं।

१ गुरु को अपना परम उपकारी जान कर उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञा पालन करने में तत्पर रहना।

२ गुरु की आज्ञा और उनके अभिप्राय को समझना।

३ गुरु की आज्ञा का पालन करना और श्रुतज्ञान की आराधना करना।

४ अभिमान तथा आत्म प्रशंसा नहीं करना।

२ श्रुतसमाधि—अज्ञान अशांति का कारण है और ज्ञान अपूर्व शान्ति प्रदान करता ह। जिसमें ज्ञान बल है उसक लिए आत्मशान्ति का प्रबल अवलंबन उपस्थित है। इसक चार भद इस प्रकार हैं।

१ श्रुत पढ़ने से मुझे आगम ज्ञान का लाभ होगा'—ऐसा समझ कर पढ़े।

२ चित्त की एकाग्रता क लिए अध्ययन करे।

३ अपनी आत्मा का स्थिर करने के लिए श्रुत ज्ञान का अध्ययन करे।

४ स्वयं स्थिर रह कर अन्य जीवों को भी धर्म में स्थिर करने के लिए पढ़े।

३ तप समाधि—तपस्या के द्वारा होने वाली आत्म शान्ति। तपस्या से अन्तर का मैल जलता है। विषय विकार नष्ट होते हैं। इससे एक प्रकार की आत्म शांति प्राप्त होती है। इसके भी निम्नलिखित चार प्रकार हैं।

१ इस लोक के सुख-लब्धि आदि की प्राप्ति के लिए तप नही करे।

२ दैविक सुख की प्राप्ति के लिए तपस्या नही करे।

३ कीर्ति, वर्ण, शब्द और प्रशसा के लिए तपस्या नही करे, क्योकि उपरोक्त तीन प्रकार की इच्छा मे की हुई तपस्या वास्तविक समाधि प्रदान नही करती।

४ आत्मा की उज्ज्वलता के लिए-केवल निर्जरा के लिए ही तपस्या करे।

४ आचार समाधि-शुद्धाचार भी आत्म शाति का सच्चा उपाय है। जो सदाचारी है, उनके लिए अशान्ति का कारण नही रहता। यदि पूर्व के दुराचार के फल स्वरूप वर्तमान में अशाति का उदय हो, तो भी आचार समाधि वाली शान्त और समाधिस्थ आत्मा को वह विचलित नही कर सकती। इस आचार समाधि के भी नीचे लिखे चार भेद है।

१ इस लोक के स्वार्थ के लिए सदाचार का पालन नही करे।

२ पर लोक की लालसा रखकर आचार का पालन करने से आत्म शाति नही मिलती।

३ कीर्ति, वर्ण, शब्द और प्रशसा की कामना से सदाचार पालन करने से भी वास्तविक शाति नही मिलती।

४ आर्हत-जिन प्रवचन मे बताये हुए कारणो के अतिरिक्त किसी दूसरे कारणो से आचार का पालन करने पर भी आत्म समाधि नही मिलती। इसलिए बाधक कारणो को त्याग कर, समाधि साधक नियमो के अनुसार ही आचार का पालन करना चाहिए। (दशवै ९-४)

यह चार प्रकार की समाधि, सभी प्रकार की अशान्ति को दूर करके परम समाधि भाव-शाश्वत शान्ति को प्राप्त कराने वाली है। इसलिए प्रत्येक साधक को उपरोक्त चारो प्रकार की समाधि प्राप्त करने मे सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। चित्त समाधि के दस कारणो का मूल भी उपरोक्त चार समाधि में रहा हुआ है। समाधिवत आत्मा ही शाश्वत- अखड सुख को प्राप्त कर सकती है।

जो महान् आत्माएँ, आत्म समाधि रखकर उपरोक्त नियमो का पालन करती है, उनके चरणों में हमारा बारबार प्रणाम हो।

पूजनीय अनगार

सद्गुणों के कारण ही साधु वन्दनीय पूजनीय होता है। केवल वेश अथवा पक्ष ही पूजनीय नहीं होता। जिस साधु में साधुता के गुण नहीं हों वह जैन साधु कहाते हुए भी पूजनीय नहीं होता। आगमकार महर्षियों ने साधु की पूज्यता में मुख्य गुणों का निर्देश किया है। वे गुण ये हैं।

१ जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की उपासना सावधानी पूर्वक करता है उसी प्रकार जो शिष्य आचार्य महाराज की सेवा में सावधान रहता है और उनकी दृष्टि तथा चेष्टा आदि से ही उनका अभिप्राय जानकर उनकी इच्छा को पूर्ण करता है वही पूजनीय होता है।

२ जो शिष्य ज्ञानाचारादि आचार प्राप्ति के लिए गुरु की सेवा भक्ति करता है उनकी आज्ञा का पालन करता है और उनकी इच्छानुसार कार्य करता है तथा गुरु महाराज की किंचित् भी आशातना नहीं करता वही पूज्य है।

३ जो साधु ज्ञान दर्शन और चारित्र में बड़े साधुओं का विनय एवं भक्ति करता है जो उम्रमें छोटे किन्तु चारित्र पर्याय में बड़े हैं उनका भी विनय तथा सेवा करता है और गुरुजनों के सामने नम्र होकर हितमित-सत्य वचन बोलता है। गुरु की सेवा में रहता हुआ उनकी आज्ञा का पालन करता है वह पूज्य होता है।

४ जो साधु, संयम निर्वाह के लिए अज्ञातकुल से (अपरिचित घरों से) निर्दोष आहार लेता है और नहीं मिलने पर खेद नहीं करता तथा इच्छानुसार मिल जाने पर अभिमान तथा प्रशंसा नहीं करता वही पूज्य होता है।

५ जिस साधु को संथारा शय्या आसन और आहार पानी अधिक मिल सकता है किन्तु वह अल्प लेकर ही संतोष रखता है और अपनी आत्मा को संतोषभाव में रखता है वही पूजने योग्य होता है।

६ गृहस्थ लोग धन प्राप्ति के लिए लोहे के तीखे बाणों का प्रहार भी सहन कर लेते हैं किन्तु कानों में पड़ने वाले वचन रूपी बाणों का सहन करना बहुत कठिन होता है। जो साधु, बिना किसी आशा के वचन रूपी बाणों को शान्ति पूर्वक सहन करता है वह वन्दनीय पूजनीय होता है।

७ लोहे के बाण तो शरीर में थोड़ी देर पीड़ा उत्पन्न करते हैं और वह पीड़ा दूर भी हो जाती है किन्तु वचन रूपी बाण लग जाने पर निकालना बड़ा कठिन होता है। ऐसे वचन रूपी बाण इसभव और परभव में वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले होते हैं और नरकादि गति में भयानक दुःख देने वाले होते हैं।

८ वचन रूपी वाणो का समूह कान में पडते ही हृदय को दुखित करके भावना को बिगाड देता है, किन्तु सयम में सावधान साधु, यह समझता है कि 'क्षमा करना मेरा धर्म है'–इस प्रकार समभाव पूर्वक जो कटु वचनो को सहन करता है, वह साधु वीर सिरोमणि एव जितेन्द्रिय है। ऐसा साधु विश्व पूज्य होता है।

९ जो साधु, किसी के सामने अथवा पीछे निन्दा नही करता और दु खदायक, अप्रियकारी तथा निश्चियकारी भाषा नही बोलता, वही पूज्य है।

१० जो साधु, जिव्हालोलुप नही है, जो लोभी नही है, जो मन्त्र तन्त्रादि का प्रयोग नही करता, जो निष्कपट है, किसी की चुगली नही करता है, जो भिक्षा नही मिलने पर भी दीनता नही दिखाता, जो प्रशसा का इच्छुक भी नही है, न खुद अपनी प्रशसा करता है, जो नाटक खेल आदि देखने का इच्छुक नही है, वह पूज्य होता है।

११ गुरु महाराज फरमाते है कि जो विनयादि उत्तम गुणो को धारण करता है, वह साधु है और अविनयादि अशुभ गुणो का पात्र असाधु होता है। इसलिए हे शिष्य ! तुम साधु के योग्य गुणो को धारण करो और दुर्गुणो को त्याग दो। इस प्रकार जो अपनी आत्मा को समझकर राग द्वेष नही करता, किन्तु समभाव रखता है वह पूज्य है।

१२ जो साधु, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, गृहस्थ और साधु, इनमे से किसी की भी निन्दा या बुराई नही करता और अभिमान तथा क्रोध को त्याग देता है, वही पूज्य होता है।

१३ जो साधु, विनय और भक्ति के द्वारा गुरु का समान करता है, तो वह गुरु देव से सम्यग्–ज्ञान पाकर स्वय योग्य एव समाननीय–आचार्यादि बन जाता है। जिस प्रकार माता पिता अपनी कन्या को योग्य पति को देकर, श्रेष्ट कुल गृहिणि पद पर स्थापित करते है, उसी प्रकार गुरु भी शिष्य को आचार्य पद प्रदान कर समानित करते है। ऐसे समाननीय उपकारी गुरु की जो जितेन्द्रिय, सत्यपरायण और तपस्वी शिष्य, सेवा करता है, वह पूज्य होता है।

१४ उन उपकारी गुरु के सुभाषित उपदेश सुनकर जो बुद्धिमान साधु, पांच महाव्रत और तीन गुप्ति से युक्त होकर कषायो को त्याग देता है और गुरु की सेवा करता हुआ शुद्ध सयम का पालन करता है, वही पूज्य होता है।

१५ निर्ग्रंथ प्रवचन का ज्ञाता, धर्म में निपुण और विनय वैयावृत्य करने में कुशल मुनि, गुरु सेवा के द्वारा, अपने पूर्वकृत कर्म रूप मैल को हटाकर, अनन्त ज्ञान से प्रकाशित ऐसी सिद्ध गति को प्राप्त करता है। (दशवै ९–३)

आशातना

जिस प्रवृत्ति से सम्यग्ज्ञानादि गुणों की घात हो और विनय धर्म की अवहेलना हो उसे आशातना कहते हैं। ज्ञान और ज्ञानी, दर्शन और दर्शनी, चारित्र और चारित्री तथा तप और तपस्वी की उपेक्षा, अवहेलना, अनादर, अपमान एवं अविनय हो, उसे आशातना कहते हैं। ज्ञानादि के विपरीत प्ररूपणा और गुणीजनों के गुणों का अपलाप कर उनके महत्त्व को घटाना—आशातना है, विपरीत आचरण है। इससे खुद के गुणों का घात होकर पतन होता है। इसलिए निग्रंथ नीचे लिखी आशातनाओं से सदा बचते ही रहते हैं।

१ रत्नाधिक—जो चारित्र में बड़े हों, गीतार्थ हों अथवा आचार्यादि विशेष पद युक्त हों, उन रात्निक—गुणाधिक के साथ गमनागमन में आगे चलना आशातना है।

२ उनके बराबर चलना।

३ उनके पीछे चलना किन्तु उनसे सटकर चलना।

४–६ इसी प्रकार खड़े रहने में आगे खड़ा रहना, बराबर खड़ा रहना और पीछे भी सटकर खड़ा रहना।

७–९ इसी प्रकार बैठने में उनके आगे बैठना, बराबर बैठना और पीछे भी सटकर बैठना—गुणाधिकों की आशातना है।

१० रत्नाधिक और शिष्य विचारभूमि (शौच) के लिए जंगल में गये हों, वहाँ (एक पात्र में जल हो तो) रत्नाधिक के शौच करने के पूर्व ही शिष्य शौच करले तो आशातना होती है।

११ बाहर से लौटने पर अथवा स्वाध्यायार्थ बाहर जाने पर ईर्यापथिकी आलोचना गुरु से पहले ही शिष्य करले।

१२ जिस आगत व्यक्ति से गुरु को ही पहले बातचीत करनी है, उससे गुरु के पहले ही शिष्य बातचीत करे तो गुरु की आशातना होती है।

१३ रात्रि में गुरु आवाज दे कि 'कौन जाग रहा है?' तो जागते हुए भी सोने का बहाना करके पड़ा रहे और उत्तर नहीं दे तो आशातना होती है।

१४ आहार पानी लाकर उसकी आलोचना पहले अन्य साधुओं के पास करे और उसके बाद गुरु के समीप आलोचना करे तो आशातना।

१५ आहारादि लाकर दूसरे साधुओं को दिखाने के बाद रत्नाधिक को बतावे।

१६ आहारादि के लिए अन्य साधुओं को निमन्त्रित करने के बाद रात्निक को निमन्त्रित करे।

१७ रत्नाधिक को पूछे बिना ही दूसरे साधुओ को उनकी इच्छानुसार अधिक आहार देवे।

१८ रत्नाधिक के साथ आहार करते समय शिष्य, स्वादिष्ट, मनोज्ञ और सरस तथा रुचिकर वस्तु अधिक मात्रा में शीघ्रता पूर्वक खावे।

१९ रत्नाधिक के आवाज देकर बुलाने पर यदि शिष्य, सुना अनसुना करदे।

२० गुरु के आमन्त्रित करने पर यदि अपने स्थान पर बैठे बैठे ही शिष्य उत्तर दे, तो विनय की आशातना लगती है।

२१ गुरु के आवाज देने पर 'क्या कहते हो'? इस प्रकार बैठे बैठे ही प्रश्नात्मक उत्तर दे और समीप जाकर विनय पूर्वक आज्ञा प्राप्त नही करे।

२२ गुरु को शिष्य 'तू' या 'तुम' इस प्रकार तुच्छता पूर्वक वचन कहे।

२३ शिष्य, रत्नाधिक को अत्यन्त कठोर और प्रमाण से अधिक शब्द कहे।

२४ गुरु के कहे हुए वचनो से ही शिष्य उनका अपमान करे। जैसे—'आप मुझे स्वाध्याय अथवा वैयावच्च करने का कहते हो, तो आप खुद क्यो नही कर लेते। आप आलसी क्यो बन गए आदि, इस प्रकार उन्ही शब्दो से अपमान करे।

२५ गुरु धर्म कथा कह रहे हो तो बीच मे ही शिष्य बोल उठे और कहे कि 'आप कहते है वह ठीक नही है, यो कहिए।' इस प्रकार अनादर करना।

२६ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हो और शिष्य बीच में ही कहे कि 'आपको याद नही है, आप भूल कर रहे है' तो आशातना होती है।

२७ गुरु की धर्म कथा को प्रसन्नचित्त और एकाग्रता पूर्वक नही सुनकर उपेक्षा पूर्वक सुने और दूसरे दूसरे विचार करता रहे, उदासीनता पूर्वक सुने।

२८ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हो और श्रोतागण सुन रहे हो, उस समय शिष्य किसी प्रकार से परिषदा का भेदन करे। 'अब समय हो गया है', इस प्रकार कहकर धर्म सभा को भग करे।

२९ गुरु की चलती हुई धर्मकथा को भग कर, उपदेश धारा को रोक कर, स्वय कहने लग जाय अथवा व्याख्यान को ही रोक दे।

३० गुरु का धर्मोपदेश चल रहा हो और परिषद सुन रही हो, परिषदा अभी उठी नही हो और उसके पहले ही शिष्य, गुरु द्वारा कही हुई किसी सक्षिप्त बात को विस्तार पूर्वक दो बार या तीनबार कहे।

३१ रत्नाकर के आसन और शय्या को पैरो से ठुकरा कर हाथ जोडकर खमाये बिना ही चला जाय।

३२ गुरु के आसन पर बैठे, खडा रहे और उनकी शय्या सस्तारक पर बैठे या सोवे।

३३ गुरु से ऊँचे आसन पर अथवा समान आसन पर खडा हो, बैठे, अथवा समान शय्या पर शयन करे, तो आशातना होती है। (दशाश्रुतस्कन्ध ३)

आशातना

जिस प्रवृत्ति से सम्यग्ज्ञानादि गुणों की घात हो और विनय धर्म की अवहेलना हो उसे आशातना कहते हैं। ज्ञान और ज्ञानी दर्शन और दर्शनी चारित्र और चारित्री तथा तप और तपस्वी की उपेक्षा अवहेलना अनादर अपमान एवं अविनय हो उसे आशातना कहते हैं। ज्ञानादि के विपरीत प्ररूपणा और गुणीजनों के गुणों का अपलाप कर उनके महत्त्व को घटाना—आशातना है विपरीत आचरण है। इससे स्व के गुणों का घात होकर पतन होता है। इसलिए निर्ग्रंथ नीचे लिखी आशातनाओं से सदा बचते ही रहते हैं।

१ रत्नाधिक—जो चारित्र में बड़े हों गीतार्थ हों अथवा आचार्यादि विशेष पद युक्त हों उन रात्निक—गुणाधिक के साथ गमनागमन में आगे चलना आशातना है।

२ उनके बराबर चलना।

३ उनके पीछे चलना किन्तु उनसे सटकर चलना।

४–६ इसी प्रकार खड़े रहने में आगे खड़ा रहना बराबर खड़ा रहना और पीछे भी अड़कर खड़ा रहना।

७–९ इसी प्रकार बैठने में उनके आगे बैठना बराबर बैठना और पीछे भी अड़कर बैठना—गुणाधिकों की आशातना है।

१० रत्नाधिक और शिष्य विचारभूमि (शौच) के लिए जंगल में गये हों वहां (एक पात्र में जल हो तो) रत्नाधिक के शौच करने के पूर्व ही शिष्य शौच करले तो आशातना होती है।

११ बाहर से लौटने पर अथवा स्वाध्यायार्थ बाहर जाने पर ईर्यापथिकी आलोचना गुरु से पहले ही शिष्य करले।

१२ जिस आगत व्यक्ति से गुरु को ही पहले बातचीत करना की है उससे गुरु के पहले ही शिष्य बातचीत करे तो गुरु की आशातना होती है।

१३ रात्रि में गुरु आवाज दे कि 'कौन जाग रहा है' ? तो जागते हुए भी सोने का बहाना करके पड़ा रहे और उत्तर नहीं दे तो आशातना होती है।

१४ आहार पानी लाकर उसकी आलोचना पहले अन्य साधुओं के पास करे और उसके बाद गुरु के समीप आलोचना करे तो आशातना।

१५ आहारादि लाकर दूसरे साधुओं को दिखाने के बाद रत्नाधिक को बतावे।

१६ आहारादि के लिए अन्य साधुओं को निमन्त्रित करने के बाद रात्निक को निमन्त्रित करे।

१७ रत्नाधिक को पूछे बिना ही दूसरे साधुओ को उनकी इच्छानुसार अधिक आहार देवे।

१८ रत्नाधिक के साथ आहार करते समय शिष्य, स्वादिष्ट, मनोज्ञ और सरस तथा रुचिकर वस्तु अधिक मात्रा में शीघ्रता पूर्वक खावे।

१९ रत्नाधिक के आवाज देकर बुलाने पर यदि शिष्य, सुना अनसुना करदे।

२० गुरु के आमन्त्रित करने पर यदि अपने स्थान पर बैठे बैठे ही शिष्य उत्तर दे, तो विनय की आशातना लगती है।

२१ गुरु के आवाज देने पर 'क्या कहते हो' ? इस प्रकार बैठे बैठे ही प्रश्नात्मक उत्तर दे और समीप जाकर विनय पूर्वक आज्ञा प्राप्त नही करे।

२२ गुरु को शिष्य 'तू' या 'तुम' इस प्रकार तुच्छता पूर्वक वचन कहे।

२३ शिष्य, रत्नाधिक को अत्यन्त कठोर और प्रमाण से अधिक शब्द कहे।

२४ गुरु के कहे हुए वचनो से ही शिष्य उनका अपमान करे। जैसे-'आप मुझे स्वाध्याय अथवा वैयावच्च करने का कहते हो, तो आप खुद क्यो नही कर लेते। आप आलसी क्यो बन गए आदि, इस प्रकार उन्ही शब्दो से अपमान करे।

२५ गुरु धर्म कथा कह रहे हो तो बीच में ही शिष्य बोल उठे और कहे कि 'आप कहते है वह ठीक नही है, यो कहिए।' इस प्रकार अनादर करना।

२६ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हो और शिष्य बीच में ही कहे कि 'आपको याद नही है, आप भूल कर रहे हैं' तो आशातना होती है।

२७ गुरु की धर्म कथा को प्रसन्नचित्त और एकाग्रता पूर्वक नही सुनकर उपेक्षा पूर्वक सुने और दूसरे दूसरे विचार करता रहे, उदासीनता पूर्वक सुने।

२८ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हो और श्रोतागण सुन रहे हो, उस समय शिष्य किसी प्रकार से परिषदा का भेदन करे। 'अब समय हो गया है', इस प्रकार कहकर धर्म सभा को भग करे।

२९ गुरु की चलती हुई धर्मकथा को भग कर, उपदेश धारा को रोक कर, स्वय कहने लग जाय अथवा व्याख्यान को ही रोक दे।

३० गुरु का धर्मोपदेश चल रहा हो और परिषद सुन रही हो, परिषदा अभी उठी नही हो और उसके पहले ही शिष्य, गुरु द्वारा कही हुई किसी सक्षिप्त बात को विस्तार पूर्वक दो बार या तीनबार कहे।

३१ रत्नाकर के आसन और शय्या को पैरो से ठुकरा कर हाथ जोडकर खमाये बिना ही चला जाय।

३२ गुरु के आसन पर बैठे, खडा रहे और उनकी शय्या सस्तारक पर बैठे या सोवे।

३३ गुरु से ऊँचे आसन पर अथवा समान आसन पर खडा हो, बैठे, अथवा समान शय्या पर शयन करे, तो आशातना होती है। (दशाश्रुतस्कन्ध ३)

आशातना

जिस प्रवृत्ति से सम्यग्ज्ञानादि गुणों की घात हो और विनय धर्म की अवहेलना हो उसे आशातना कहते हैं। ज्ञान और ज्ञानी दर्शन और दर्शनी चारित्र और चारित्री तथा तप और तपस्वी की उपेक्षा अवहेलना अनादर अपमान एवं अविनय हो उसे आशातना कहते हैं। ज्ञानादि के विपरीत प्ररूपणा और गुणीजनों के गुणों का अपलाप कर उनके महत्व को घटाना—आशातना है विपरीत आचरण है। इससे खुद के गुणों का घात होकर पतन होता है। इसलिए निग्रंथ नीचे लिखी आशातनाओं से सदा बचते ही रहते हैं।

१ रत्नाधिक—जो चारित्र में बड़े हों गीतार्थ हों अथवा आचार्यादि विशेष पद युक्त हों उन रात्निक—गुणाधिक के साथ गमनागमन में आगे चलना आशातना है।

२ उनके बराबर चलना।

३ उनके पीछे चलना किन्तु उनसे सटकर चलना।

४–६ इसी प्रकार खड़े रहने में आगे खड़ा रहना बराबर खड़ा रहना और पीछे भी अड़कर खड़ा रहना।

७–९ इसी प्रकार बैठने में उनके आगे बैठना बराबर बैठना और पीछे भी अड़कर बैठना—गुणाधिकों की आशातना है।

१० रत्नाधिक और शिष्य विचारभूमि (शौच) के लिए जंगल में गये हों वहां (एक पात्र में जल हो तो) रत्नाधिक के शौच करने के पूर्व ही शिष्य शौच करले तो आशातना होती है।

११ बाहर से लौटने पर अथवा स्वाध्यायार्थ बाहर जाने पर ईर्यापथिकी आलोचना गुरु से पहले ही शिष्य करले।

१२ जिस आगत व्यक्ति से गुरु को ही पहले बातचीत करनी हो उससे गुरु के पहले ही शिष्य बातचीत करे तो गुरु की आशातना होती है।

१३ रात्रि में गुरु आवाज दे कि 'कौन जाग रहा है'? तो जागते हुए भी सोने का बहाना करके पड़ा रहे और उत्तर नहीं दे तो आशातना होती है।

१४ आहार पानी लाकर उसकी आलोचना पहले अन्य साधुओं के पास करे और उसके बाद गुरु के समीप आलोचना करे तो आशातना।

१५ आहारादि लाकर दूसरे साधुओं को दिखाने के बाद रत्नाधिक को बतावे।

१६ आहारादि के लिए अन्य साधुओं को निमन्त्रित करने के बाद रात्निक को निमन्त्रित करे।

१७ रत्नाधिक को पूछे विना ही दूसरे साधुओ को उनकी इच्छानुसार अधिक आहार देवे।

१८ रत्नाधिक के साथ आहार करते समय शिष्य, स्वादिष्ट, मनोज्ञ और सरस तथा रुचिकर वस्तु अधिक मात्रा मे शीघ्रता पूर्वक खावे।

१९ रत्नाधिक के आवाज देकर बुलाने पर यदि शिष्य, सुना अनसुना करदे।

२० गुरु के आमन्त्रित करने पर यदि अपने स्थान पर बैठे बैठे ही शिष्य उत्तर दे, तो विनय की आशातना लगती है।

२१ गुरु के आवाज देने पर 'क्या कहते हो' ? इस प्रकार बैठे बैठे ही प्रश्नात्मक उत्तर दे और समीप जाकर विनय पूर्वक आज्ञा प्राप्त नही करे।

२२ गुरु को शिष्य 'तू' या 'तुम' इस प्रकार तुच्छता पूर्वक वचन कहे।

२३ शिष्य, रत्नाधिक को अत्यन्त कठोर और प्रमाण से अधिक शब्द कहे।

२४ गुरु के कहे हुए वचनो से ही शिष्य उनका अपमान करे। जैसे—'आप मुझे स्वाध्याय अथवा वैयावच्च करने का कहते हो, तो आप खुद क्यो नही कर लेते। आप आलसी क्यो बन गए आदि, इस प्रकार उन्हो शब्दो से अपमान करे।

२५ गुरु धर्म कथा कह रहे हो तो बीच में ही शिष्य बोल उठे और कहे कि 'आप कहते है वह ठीक नही है, यो कहिए।' इस प्रकार अनादर करना।

२६ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हो और शिष्य बीच में ही कहे कि 'आपको याद नही है, आप भूल कर रहे हैं' तो आशातना होती है।

२७ गुरु की धर्म कथा को प्रसन्नचित्त और एकाग्रता पूर्वक नही सुनकर उपेक्षा पूर्वक सुने और दूसरे दूसरे विचार करता रहे, उदासीनता पूर्वक सुने।

२८ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हो और श्रोतागण सुन रहे हो, उस समय शिष्य किसी प्रकार से परि-षदा का भेदन करे। 'अब समय हो गया है', इस प्रकार कहकर धर्म सभा को भग करे।

२९ गुरु की चलती हुई धर्मकथा को भग कर, उपदेश धारा को रोक कर, स्वय कहने लग जाय अथवा व्याख्यान को ही रोक दे।

३० गुरु का धर्मोपदेश चल रहा हो और परिषद सुन रही हो, परिषदा अभी उठी नही हो और उसके पहले ही शिष्य, गुरु द्वारा कही हुई किसी सक्षिप्त बात को विस्तार पूर्वक दो बार या तीनबार कहे।

३१ रत्नाकर के आसन और शय्या को पैरो से ठुकरा कर हाथ जोडकर खमाये बिना ही चला जाय।

३२ गुरु के आसन पर बैठे, खडा रहे और उनकी शय्या सस्तारक पर बैठे या सोवे।

३३ गुरु से ऊँचे आसन पर अथवा समान आसन पर खडा हो, बैठे, अथवा समान शय्या पर शयन करे, तो आशातना होती है। (दशाश्रुतस्कन्ध ३)

आशातना

जिस प्रवृत्ति से सम्यग्ज्ञानादि गुणों की घात हो और विनय धर्म की अवहेलना हो उसे आशातना कहते हैं। ज्ञान और ज्ञानी, दर्शन और दर्शनी चारित्र और चारित्री तथा तप और तपस्वी की उपेक्षा अवहेलना अनादर अपमान एवं अविनय हो उसे आशातना कहते हैं। ज्ञानादि के विपरीत प्ररूपणा और गुणीजनों के गुणों का अपलाप कर उनके महत्व को घटाना—आशातना है विपरीत आचरण है। इससे गुरु के गुणों का घात होकर पतन होता है। इसलिए निर्ग्रंथ नीचे लिखी आशातनाओं से सदा बचते रहते हैं।

१ रत्नाधिक—जो चारित्र में बड़े हों गीतार्थ हों अथवा आचार्यादि विशेष पद युक्त हों उन रत्नाधिक—गुणाधिक के साथ गमनागमन में आगे चलना आशातना है।

२ उनके बराबर चलना।

३ उनके पीछे चलना किन्तु उनसे सटकर चलना।

४–६ इसी प्रकार खड़े रहने में आगे खड़ा रहना बराबर खड़ा रहना और पीछे भी अड़कर खड़ा रहना।

७–९ इसी प्रकार बैठने में उनके आगे बैठना बराबर बैठना और पीछे भी अड़कर बैठना—गुणाधिकों की आशातना है।

१० रत्नाधिक और शिष्य विचारभूमि (शौच) के लिए जंगल में गये हों वहां (एक पात्र में जल हो तो) रत्नाधिक के शौच करने के पूर्व ही शिष्य शौच करले तो आशातना होती है।

११ बाहर से लौटने पर अथवा स्वाध्यायार्थ बाहर जाने पर ईर्यापथिकी आलोचना गुरु से पहले ही शिष्य करले।

१२ जिस आगत व्यक्ति से गुरु को ही पहले बातचीत करनी है उससे गुरु के पहले ही शिष्य बातचीत करे तो गुरु की आशातना होती है।

१३ रात्रि में गुरु आवाज दे कि "कौन जाग रहा है?" तो जागते हुए भी सोने का बहाना करके पड़ा रहे और उत्तर नहीं दे तो आशातना होती है।

१४ आहार पानी लाकर उसकी आलोचना पहले अन्य साधुओं के पास करे और उसके बाद गुरु के समीप आलोचना करे तो आशातना।

१५ आहारादि लाकर दूसरे साधुओं को दिखाने के बाद रत्नाधिक को बतावे।

१६ आहारादि के लिए अन्य साधुओं को निमंत्रण करने के बाद रत्नाधिक को निमंत्रण करे।

१७ रत्नाधिक को पूछे बिना ही दूसरे साधुओ को उनकी इच्छानुसार अधिक आहार देवे।

१८ रत्नाधिक के साथ आहार करते समय शिष्य, स्वादिष्ट, मनोज्ञ और सरस तथा रुचिकर वस्तु अधिक मात्रा में शीघ्रता पूर्वक खावे।

१९ रत्नाधिक के आवाज देकर बुलाने पर यदि शिष्य, सुना अनसुना करदे।

२० गुरु के आमन्त्रित करने पर यदि अपने स्थान पर बैठे बैठे ही शिष्य उत्तर दे, तो विनय की आशातना लगती है।

२१ गुरु के आवाज देने पर 'क्या कहते हो'? इस प्रकार बैठे बैठे ही प्रश्नात्मक उत्तर दे और समीप जाकर विनय पूर्वक आज्ञा प्राप्त नही करे।

२२ गुरु को शिष्य 'तू' या 'तुम' इस प्रकार तुच्छता पूर्वक वचन कहे।

२३ शिष्य, रत्नाधिक को अत्यन्त कठोर और प्रमाण से अधिक शब्द कहे।

२४ गुरु के कहे हुए वचनो से ही शिष्य उनका अपमान करे। जैसे—'आप मुझे स्वाध्याय अथवा वैयावच्च करने का कहते हो, तो आप खुद क्यो नही कर लेते। आप आलसी क्यो बन गए आदि, इस प्रकार उन्हो शब्दो से अपमान करे।

२५ गुरु धर्म कथा कह रहे हो तो बीच में ही शिष्य बोल उठे और कहे कि 'आप कहते है वह ठीक नही है, यो कहिए।' इस प्रकार अनादर करना।

२६ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हो और शिष्य बीच में ही कहे कि 'आपको याद नही है, आप भूल कर रहे है' तो आशातना होती है।

२७ गुरु की धर्म कथा को प्रसन्नचित्त और एकाग्रता पूर्वक नही सुनकर उपेक्षा पूर्वक सुने और दूसरे दूसरे विचार करता रहे, उदासीनता पूर्वक सुने।

२८ गुरु धर्मोपदेश दे रहे हो और श्रोतागण सुन रहे हो, उस समय शिष्य किसी प्रकार से परिषदा का भेदन करे। 'अब समय हो गया है', इस प्रकार कहकर धर्म सभा को भग करे।

२९ गुरु की चलती हुई धर्मकथा को भग कर, उपदेश धारा को रोक कर, स्वय कहने लग जाय अथवा व्याख्यान को ही रोक दे।

३० गुरु का धर्मोपदेश चल रहा हो और परिषद सुन रही हो, परिषदा अभी उठी नही हो और उसके पहले ही शिष्य, गुरु द्वारा कही हुई किसी सक्षिप्त बात को विस्तार पूर्वक दो बार या तीनवार कहे।

३१ रत्नाकर के आसन और शय्या को पैरो से ठुकरा कर हाथ जोडकर खमाये विना ही चला जाय।

३२ गुरु के आसन पर बैठे, खडा रहे और उनकी शय्या सस्तारक पर बैठे या सोवे।

३३ गुरु से ऊँचे आसन पर अथवा समान आसन पर खडा हो, वैठे, अथवा समान शय्या पर शयन करे, तो आशातना होती है। (दशाश्रुतस्कन्ध ३)

उपरोक्त ३३ प्रकार की आशातना से बचकर 'विनय मूल धर्म' का भली प्रकार से पालन करने वाले और गुरु की आज्ञा में चलने वाले मुनिराज संसार समुद्र से शीघ्र ही पार हो जाते हैं।

आशातना के दूसरी प्रकार से ४५ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं।

१ अरिहंतों की आशातना—अरिहंत भगवंतों की वीतरागता सर्वज्ञतादि गुणों तथा अतिशयादि विशेषताओं का अपलाप करना उन्हें सरागी और छद्मस्थ जैसे सांसारिक मनुष्यों के समान बताना उनके केवलज्ञान को सर्वज्ञायक नहीं मानना और उनके नामसे झूठा प्रचार करना * आदि।

२ अरिहंत प्ररूपित धर्म की आशातना—अरिहंत भगवान् का धर्म सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र और तप रूप है। संवर और सकाम निर्जरा से मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश अरिहंत भगवंतों का है। ऐसे महान् धर्म का महत्व घटाना उसे जड़ क्रिया कहना उस परम तारक धर्म के नाम पर आरंभ समारंभ चलाना आस्रव को धर्म कहना बन्ध के कार्यों में धर्म बतलाना और इस साकारतर धर्म के विपरीत प्ररूपणा करना आदि।

३ आचार्य की आशातना ४ उपाध्याय की आशातना ५ स्थविरों की ६ कुल × ७ गण * ८ संघ+ ९ क्रिया—प्रतिलेखनादि क्रिया १० सांभोगिक‡—साधर्मी ११ मतिज्ञान १२ श्रुतज्ञान १३ अवधि ज्ञान १४ मनःपर्यव ज्ञान १५ केवल ज्ञान। इन पन्द्रह की आशातना करना।

१६-३० इन पन्द्रह की भक्ति और बहुमान नहीं करना।

३१-४५ इन पन्द्रह के गुणानुवाद स्तुति और प्रशंसा नहीं करना। ये १५ और मिलाने से ४५ भेद हुए।

उपरोक्त १५ की आशातना नहीं करना भक्ति बहुमान करना और गुण कीर्तन करना। इससे अनाशातना होती है। और अनाशातना से धर्म की आराधना होती है। (भगवती २५-७)

आशातना के निम्न ३३ भेद और भी हैं जो इस प्रकार हैं।

१ अरिहंतों की आशातना २ सिद्धों की ३ आचार्यों की ४ उपाध्यायों की ५ साधुओं की ६ साध्वियों की ७ श्रावकों की ८ श्राविकाओं की ९ देवों की १० देवियों की ११ इस लोककी—लौकिक

---

* उनके स्वरूप और गुणों को छुपाना आदर नहीं देना और कीर्ति नहीं करना—आशातना है। और विरोध करना, उनके स्वरूप को झुठलाना उनके स्वरूप के विरुद्ध प्रचार करना और अपमानादि करना प्रत्यनीकता = शत्रुता है। (ठाणांग ३-४)

× गच्छ समुदाय अथवा एक आचार्य की शिष्य संतति को 'कुल' कहते हैं।

* कुल के समुदाय अथवा जिसमें तीन कुल के समुदाय शामिल हों वह 'गण' कहलाता है।

+ ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुण के समूह, अथवा गण के समुदाय को संघ कहते हैं। अथवा साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका रूप श्रमण प्रधान समूह को संघ कहते हैं।

‡ जिनके आचार विचार समान हों, जिनसे वन्दनादि व्यवहार हों वे सांभोगिक कहलाते हैं।

उतम मर्यादा का तोडना, निन्दनीय आचरण करना, १२ परलोक की आशातना-कुकर्म द्वारा परलोक विगाडना अथवा परलोक नही मानकर नास्तिक बनना १३ केवली प्ररूपित धर्म की, १४ देवता मनुष्य सहित जो लोक है उसकी आशातना-लोक का स्वरूप नही मानना, देवलोक और देवो को तथा नरकादि अदृश्य वस्तु होने का निषेध करना-खडन करना १५ समस्त प्राणियो ÷ भूतो॰ जीवो × और सत्वो * की आशातना-इनको नही मानना, इनकी विराधना रूप धर्म का प्रचार करना आदि १६ काल की आशातना-काल के स्वरूप को नही मानना-अथवा काल की उपेक्षा करके क्रिया करना १७ श्रुत की आशातना-श्रुतज्ञान के अतिचार लगाना, श्रुत का अनादर करना, श्रुत धर्म के विपरीत प्रचार करना आदि रूप १८ श्रुत देव-अरिहत, गणधरादि श्रुत प्रवर्त्तक की आशातना और १९ वाचनाचार्य-जो श्रुत ज्ञान पढाते है, उनका विनय बहुमानादि नही करना। इसके अतिरिक्त ज्ञान के १४ अतिचार मिलाकर ३३ हुए। (आवश्यक सूत्र)

उपरोक्त आशातनाओ से जो अपने को बचाये रखते है और आनाशातना द्वारा चारित्र धर्म की आराधना करते है, वे निर्ग्रंथ मुनिराज, लोकोत्तम है। उनके चरणो में हमारा बारबार वन्दन हो।

श्रमण

जैन साधुओ को "श्रमण" भी कहते है। जो तपस्या मे श्रम-परिश्रम करे, उसे 'श्रमण' कहते है। जिसका मनोयोग शुभ हो उसे भी श्रमण-समण-सुमन-प्रशस्त मनवाला कहते है। यथार्थ बोलने वाला और सभी जीवो पर समभाव रखने वाला श्रमण कहलाता + है। दुर्वृत्तियो का शमन करना भी श्रमण शब्दका अर्थ है। इस प्रकार 'श्रमण' विशेषण, गुण युक्त और गौरवशाली है। श्रमण कौन होता है, इस जिज्ञासा का समाधान आगमो के मूल मे ही उपस्थित है। जैसे-

"जिस प्रकार मुझे दुख अच्छा नही लगता, उसी प्रकार अन्य सभी जीवो को दुख नही सुहाता है, इस प्रकार विचार कर जो न तो स्वय हिंसा करता है और न दूसरो के द्वारा हिंसा करवाता है (अनुमोदन भी नही करता है) और सभी जीवो में समभाव रखता है, उन्हे अपनी आत्मा के समान जानताहै, वह श्रमण है।

"जो किसी से द्वेष नही करता, जिसे सभी जीव प्रिय है, इन गुणो मे वह श्रमण कहलाता है। यह श्रमण का दूसरा लक्षण है।

÷ बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौरेन्द्रिय जीवों को प्राणी कहते है। ॰ वनस्पति काय को भूत कहते है। × पञ्चेन्द्रियों को जीव और * पृथ्वी, पानी, अग्नि तथा वायु को 'सत्व' कहते है।

+ भगवती, प्रारम्भ टीका।

उपरोक्त ३३ प्रकार की आशातना से बचकर विनय मूल धर्म का भली प्रकार से पालन करने वाले और गुरु की आज्ञा में चलने वाले मुनिराज संसार समुद्र से शीघ्र ही पार हो जाते हैं।

आशातना के दूसरी प्रकार से ४५ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं।

१ अरिहंतों की आशातना–अरिहंत भगवंतों की वीतरागता सर्वज्ञतादि गुणों तथा अतिशयादि विशेषताओं का अपलाप करना उन्हें सरागी और छद्मस्थ जैसे सांसारिक मनुष्यों के समान बताना उनके केवलज्ञान को सर्वज्ञायक नहीं मानना और उनके नामसे झूठा प्रचार करना * आदि।

२ अरिहंत प्ररूपित धर्म की आशातना–अरिहंत भगवान् का धर्म सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र और तप रूप है। संवर और सकाम निर्जरा से मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश अरिहंत भगवंतों का है। ऐसे महान् धर्म का महत्व घटाना उस जड़ क्रिया कहना उस परम तारक धर्म के नाम पर आरंभ समारंभ चलाना आश्रव को धर्म कहना बंध के कार्यों में धर्म बतलाना और इस लोकोत्तर धर्म के विपरीत प्ररूपणा करना आदि।

३ आचार्य की आशातना ४ उपाध्याय की आशातना ५ स्थविरों की ६ कुल × ७ गण * ८ संघ+ ९ क्रिया–प्रतिलेखनादि क्रिया १० सांभोगिक‡–साधर्मी ११ मतिज्ञान १२ श्रुतज्ञान १३ अवधिज्ञान १४ मनःपर्यव ज्ञान १५ केवल ज्ञान। इन पन्द्रह की आशातना करना।

१६–३० इन पन्द्रह की भक्ति और बहुमान नहीं करना।

३१–४५ इन पन्द्रह के गुणानुवाद स्तुति और प्रशंसा नहीं करना। ये १५ और मिलाने से ४५ भेद हुए।

उपरोक्त १५ की आशातना नहीं करना भक्ति बहुमान करना और गुण कीर्तन करना। इससे अनाशातना होती है। और अनाशातना से धर्म की आराधना होती है। (भगवती २५–७)

आशातना के निम्न ३३ भेद और भी हैं जो इस प्रकार हैं।

१ अरिहंतों की आशातना २ सिद्धों की ३ आचार्यों की ४ उपाध्यायों की ५ साधुओं की ६ साध्वियों की ७ श्रावकों का ८ श्राविकाओं की ९ देवों की १० देवियों की ११ इस लोकको–लौकिक

---

* उनके स्वरूप और गुणों को छुपाना आदर नहीं देना और कीर्ति नहीं करना–आशातना है। और विरोध करना, उनके स्वरूप को झुठलाना, उनके स्वरूप के विरुद्ध प्रचार करना और अपमानादि करना प्रत्यनीकता = शत्रुता है। (ठाणांग ३–४)

× एक समुदाय अथवा एक आचार्य की शिष्य संतति को 'कुल' कहते हैं।

* कुल के समुदाय अथवा जिसमें तीन कुल के समुदाय शामिल हों वह 'गण' कहलाता है।

+ ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुण के समूह, अथवा गण के समुदाय को संघ कहते हैं। अथवा साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका रूप श्रमण प्रधान समूह को संघ कहते हैं।

‡ जिनके आचार विचार समान हों जिनसे वन्दनादि व्यवहार हों वे सांभोगिक कहलाते हैं।

उतम मर्यादा का तोडना, निन्दनीय आचरण करना, १२ परलोक की आशातना-कुकर्म द्वारा परलोक विगाडना अथवा परलोक नही मानकर नास्तिक वनना १३ केवली प्ररूपित धर्म की, १४ देवता मनुष्य सहित जो लोक है उसकी आशातना-लोक का स्वरूप नही मानना, देवलोक और देवो को तथा नरकादि अदृश्य वस्तु होने का निषेध करना-खडन करना १५ समस्त प्राणियो ✲ भूतो❀ जीवो × और सत्वो * की आशातना-इनको नही मानना, इनकी विराधना रूप धर्म का प्रचार करना आदि १६ काल की आशातना-काल के स्वरूप को नही मानना-अथवा काल की उपेक्षा करके क्रिया करना १७ श्रुत की आशातना-श्रुतज्ञान के अतिचार लगाना, श्रुत का अनादर करना, श्रुत धर्म के विपरीत प्रचार करना आदि रूप १८ श्रुत देव-अरिहत, गणधरादि श्रुत प्रवर्त्तक की आशातना और १९ वाचनाचार्य-जो श्रुत ज्ञान पढाते है, उनका विनय वहुमानादि नही करना। इसके अतिरिक्त ज्ञान के १४ अतिचार मिलाकर ३३ हुए। (आवश्यक सूत्र)

उपरोक्त आशातनाओ से जो अपने को वचाये रखते है और अनाशातना द्वारा चारित्र धर्म की आराधना करते है, वे निर्ग्रंथ मुनिराज, लोकोत्तम है। उनके चरणो में हमारा वारवार वन्दन हो।

श्रमण

जैन साधुओ को "श्रमण" भी कहते है। जो तपस्या मे श्रम-परिश्रम करे, उसे 'श्रमण' कहते है। जिसका मनोयोग शुभ हो उसे भी श्रमण-समण-सुमन-प्रशस्त मनवाला कहते है। यथार्थ वोलने वाला और सभी जीवो पर समभाव रखने वाला श्रमण कहलाता + है। दुर्वृत्तियो का शमन करना भी श्रमण शव्दका अर्थ है। इस प्रकार 'श्रमण' विशेषण, गुण युक्त और गौरवशाली है। श्रमण कौन होता है, इस जिज्ञासा का समाधान आगमो के मूल मे ही उपस्थित है। जैसे-

"जिस प्रकार मुझे दु ख अच्छा नही लगता, उसी प्रकार अन्य सभी जीवो को दु ख नही सुहाता है, इस प्रकार विचार कर जो न तो स्वय हिंसा करता है और न दूसरो के द्वारा हिंसा करवाता है (अनुमोदन भी नही करता है) और सभी जीवो में समभाव रखता है, उन्हे अपनी आत्मा के समान जानताहै, वह श्रमण है।

"जो किसी से द्वेष नही करता, जिसे सभी जीव प्रिय है, इन गुणो मे वह श्रमण कहलाता है। यह श्रमण का दूसरा लक्षण है।

✲ वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौरेन्द्रिय जीवों को प्राणी कहते है। ❀ वनस्पति काय को भूत कहते है। × पञ्चेन्द्रियों को जीव और * पृथ्वी, पानी, अग्नि तथा वायु को 'सत्व' कहते है।

+ भगवती, प्रारम्भ टीका।

"जिसका मन प्रशस्त है जो कभी अप्रशस्त नहीं होता उसमें पाप जन्य विचार उत्पन्न नहीं होवे जो स्वजनों और परजनों में तथा समान और अपमान में भावों का समत्व कायम रखता है—वह श्रमण है। (अनुयोगद्वार—भाव सामायिकाधिकार)

'जो साधु आसक्ति रहित क्रूर सकल्प—निदान से रहित होते हैं जो बिना दी हुई वस्तु नहीं लेते हिंसा नहीं करते झूठ नहीं बोलते जिन्होंने मथुन सेवन और परिग्रह का त्याग कर दिया है जो क्रोध मान माया लोभ राग और द्वेष आदि कर्म बन्धन के कारणों का सावधानी पूर्वक त्याग करते हैं जो इन्द्रियजयी सयमी और आत्म भव के लिए (मोक्ष के लिए) अपने शरीर का ममत्व भी त्याग देते हैं ऐसे त्यागीजन—श्रमण कहे जाने के योग्य हैं। (सूत्रकृतांग १—१६)

उपरोक्त गुणों के पात्र ही वास्तविक श्रमण हैं। जिनमें ये गुण नहीं हों वे यदि अपने को श्रमण बतावे तो यह नाम और रूप से ही सत्य हो सकता है भाव—वास्तविक सत्य नहीं हो सकता। वदनीय पूजनीय तो वास्तविक श्रमण ही होते हैं। नाम और रूप के श्रमण वदनीय नहीं होवे।

ब्राह्मण

साधु को श्रमण के अतिरिक्त ब्राह्मण भी कहते हैं। ब्राह्मण का परिचय देते हुए आगमों में लिखा है कि—

जो सर्वविरत साधु सभी प्रकार के पाप कर्मों का त्याग कर देता है जो प्रेम द्वेष क्लेश चुगली किसी पर झूठा कलक चढ़ाना हर्ष और शोक करना विश्वासघात करना कपट सहित झूठ बोलना और मिथ्या मान्यता के अन्तर्शल्य का हृदय से निकाल देता है जो परमार्थ से युक्त है समिति सहित विचरने वाला है सदा सावधान रहने वाला है और जो क्रोध और मान से रहित है वह 'ब्राह्मण' कहा जाता है'। (सूत्रकृतांग १—१६)

जयघोष नाम के महर्षि अपने ससारी भाई को ब्राह्मण का असली स्वरूप बताते हुए फरमाते हैं कि—

हे विजयघोष ! मैं उन्हीं को ब्राह्मण कहता हूँ जिन्हें कुशल—आप्त पुरुषों ने ब्राह्मण माना है और जो आदर सत्कार के योग्य है। ऐसे पूज्य ब्राह्मण का स्वरूप यह है।

जो स्वजनादि में आसक्त नहीं होता और ससार त्याग कर दीक्षित बनने पर सोच फिकर नहीं करता हुआ आर्य वचनों—निर्दोष वचनों के अनुसार धर्म में रमण करता रहता है उस मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जो शुद्ध सोने की तरह निर्मल है, राग द्वेष और भय आदि मोह जनित विकारो मे दूर है, जिसनें तपस्या से अपने शरीर को कृश कर दिया है, इन्द्रियो और मन की बुरी वृत्तियो का जिसने दमन कर दिया है, जिनके शरीर का रक्त और मास, तपस्या की गर्मी से सूख गया है, जो निर्वाण प्राप्ति के लिए उत्तम व्रतो का पालन करता है। इस प्रकार के उत्तम गुणस्थान सम्पन्न महात्मा को मै ब्राह्मण कहता हूँ।

जो सक्षेप अथवा विस्तार से त्रस और स्थावर प्राणियो को जानकर, तीन करण और तीन योग से उनकी हिंसा नही करता, क्रोध, लोभ, हँसी, मजाक अथवा भय से भी झूठ नही बोलता, बिना दी हुई कोई भी वस्तु-सचित्त अथवा अचित्त, थोडी या बहुत नही लेता, जो मन वचन और काया से मैथुन का सेवन नही करता, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।

जिस प्रकार कमल पानी में उत्पन्न होकर भी पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार जो सत, भोगो से उत्पन्न होकर भी भोगो से अलिप्त-भिन्न रहता है, जो लोलुपता से रहित है, गृह त्यागी है, अकिञ्चन-निष्परिग्रही है और भिक्षा द्वारा अपना जीवन चलाता है, तथा जो कुटुम्ब परिवार और ज्ञातिजनो के सयोग को त्याग कर, फिर उनमें लुब्ध नही होता, वही ब्राह्मण कहा जाता है।

ब्राह्मण वही होता है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है-आत्मा में रमण करता है, जो उत्तम आचार का पालन करने वाला और घातिकर्मों को नष्ट कर, स्नातक होकर, समस्त कर्मो मे मुक्त हो जाता है, वही श्रेष्ट ब्राह्मण है।

उपरोक्त गुणो से युक्त द्विजोत्तम-उत्तम ब्राह्मण ही अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ होता है। (उत्तराध्ययन अ २५)

वास्तव मे ब्राह्मण × वे ही है जो 'ब्रह्म' आत्मसाधना मे तत्पर रहते है। जिनकी आत्मा, ब्रह्मत्व की ओर बढती जाती है। ऐसे ब्रह्मचर, ससार के लिए पूजनीय होते है।

भिक्षु

"निष्परिग्रही श्रमण को 'भिक्षु' इसलिए कहते है कि वह अभिमान से रहित, नम्र और गुरु जनो की आज्ञा का पालक होता है। वह इन्द्रियो का दमन करने वाला, भव्य और मोक्षाभिमुख होता है। उसमें शरीर के प्रति ममत्व नही रहता। वह अनेक प्रकार के भयकर परिषहो को सहते हुए, शुद्ध योगो के द्वारा आत्म शुद्धि करने वाला होता है। उसकी आत्म जागृति सतत रहती है। वह आत्म स्थिरता

× ब्राह्मण का दूसरा अर्थ 'व्रतधारी श्रावक' भी होता है (भगवती १-७ टीका)

जिसका मन प्रशस्त है जो कभी अप्रशस्त नहीं होता उसमें पाप जन्य विचार उत्पन्न नहीं होते जो स्वजनों और परजनों में तथा सम्मान और अपमान में भावों का समत्व कायम रखता है—वह श्रमण है। (अनुयोगद्वार–भाव सामायिकाधिकार)

'जो साधु आसक्ति रहित बुरे संकल्प–निदान से रहित होते हैं जो बिना दी हुई वस्तु नहीं लेते हिंसा नहीं करते झूठ नहीं बोलते जिन्होंने मैथुन सेवन और परिग्रह का त्याग कर दिया है जो क्रोध मान माया लोभ राग और द्वेष आदि कर्म बंधन के कारणों का सावधानी पूर्वक त्याग करते हैं जो इन्द्रियजयी संयमी और आत्म श्रय के लिए (मोक्ष के लिए) अपने शरीर का ममत्व भी त्याग देते हैं ऐसे त्यागीजन–श्रमण कहे जाने के योग्य हैं। (सूत्रकृतांग १–१६)

उपरोक्त गुणों के पात्र ही वास्तविक श्रमण हैं। जिनमें ये गुण नहीं हों वे यदि अपने को श्रमण बतावे तो वह नाम और रूप से ही सत्य हो सकता है भाव–वास्तविक सत्य नहीं हो सकता। वंदनीय पूजनीय तो वास्तविक श्रमण ही होते हैं। नाम और रूप के श्रमण वंदनीय नहीं होते।

ब्राह्मण

साधु को श्रमण के अतिरिक्त ब्राह्मण भी कहते हैं। ब्राह्मण का परिचय देते हुए आगमों में लिखा है कि—

'जो सर्वविरत साधु, सभी प्रकार के पाप कर्मों का त्याग कर देता है जो प्रेम द्वेष कलह चुगली किसी पर झूठा कलंक चढ़ाना हर्ष और शोक करना विश्वासघात करना कपट सहित झूठ बोलना और मिथ्या मान्यता के शल्य का हृदय से निकाल देता है जो परमार्थ से युक्त है समिति सहित विचरने वाला है सदा सावधान रहने वाला है और जो क्रोध और मान से रहित है वह ब्राह्मण कहा जाता है"। (सूत्रकृतांग १–१६)

जयघोष नाम के महर्षि अपने संसारी भाई को ब्राह्मण का असली स्वरूप बताते हुए फरमाते हैं कि—

"हे विजयघोष! मैं उन्हीं को ब्राह्मण कहता हूँ जिन्हें कुशल–आप्त पुरुषों ने ब्राह्मण माना है और जो आदर सत्कार के योग्य हैं। उस पूज्य ब्राह्मण का स्वरूप यह है।

जो स्वजनादि में आसक्त नहीं होता और संसार त्याग कर दीक्षित बनने पर शोक फिकर नहीं करता हुआ आर्य वचनों–निर्दोष वचनों के अनुसार धर्म में रमण करता रहता है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जो शुद्ध सोने की तरह निर्मल है, राग द्वेष और भय आदि मोह जनित विकारो से दूर है, जिसने तपस्या से अपने शरीर को कृश कर दिया है, इन्द्रियो और मन की बुरी वृत्तियों का जिसने दमन कर दिया है, जिसके शरीर का रक्त और मास, तपस्या की गर्मी से सूख गया है, जो निर्वाण प्राप्ति के लिए उत्तम व्रतो का पालन करता है। इस प्रकार के उत्तम गुणस्थान सम्पन्न महात्मा को मै ब्राह्मण कहता हूँ।

जो सक्षेप अथवा विस्तार से त्रस और स्थावर प्राणियो को जानकर, तीन करण और तीन योग से उनकी हिंसा नही करता, क्रोध, लोभ, हँसी, मजाक अथवा भय से भी झूठ नही बोलता, बिना दी हुई कोई भी वस्तु-सचित्त अथवा अचित्त, थोडी या बहुत नही लेता, जो मन वचन और काया से मैथुन का सेवन नही करता, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।

जिस प्रकार कमल पानी में उत्पन्न होकर भी पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार जो सत, भोगो से उत्पन्न होकर भी भोगो से अलिप्त–भिन्न रहता है, जो लोलुपता से रहित है, गृह त्यागी है, अकिञ्चन–निष्परिग्रही है और भिक्षा द्वारा अपना जीवन चलाता है, तथा जो कुटुम्ब परिवार और ज्ञातिजनो के सयोग को त्याग कर, फिर उनमें लुब्ध नही होता, वही ब्राह्मण कहा जाता है।

ब्राह्मण वही होता है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है–आत्मा मे रमण करता है, जो उत्तम आचार का पालन करने वाला और घातिकर्मों को नष्ट कर, स्नातक होकर, समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है, वही श्रेष्ट ब्राह्मण है।

उपरोक्त गुणो से युक्त द्विजोत्तम–उत्तम ब्राह्मण ही अपना और दूसरो का उद्धार करने में समर्थ होता है। (उत्तराध्ययन अ २५)

वास्तव में ब्राह्मण × वे ही हे जो 'ब्रह्म' आत्मसाधना मे तत्पर रहते है। जिनकी आत्मा, ब्रह्मत्व की ओर बढती जाती है। ऐसे ब्रह्मवर, ससार के लिए पूजनीय होते है।

भिक्षु

"निष्परिग्रही श्रमण को 'भिक्षु' इसलिए कहते है कि वह अभिमान से रहित, नम्र और गुरु जनो की आज्ञा का पालक होता है। वह इन्द्रियो का दमन करने वाला, भव्य और मोक्षाभिमुख होता है। उसमें शरीर के प्रति ममत्व नही रहता। वह अनेक प्रकार के भयकर परिषहो को सहते हुए, शुद्ध योगो के द्वारा आत्म शुद्धि करने वाला होता है। उसकी आत्म जागृति सतत रहती है। वह आत्म स्थिरता

× ब्राह्मण का दूसरा अर्थ 'व्रतधारी श्रावक' भी होता है (भगवती १–७ टीका)

बनाये रखने में उद्यमशील रहता है और मर्यादा पूर्वक तथा दूसरों के द्वारा दिये हुए निर्दोष भोजन से निर्वाह करता है इसलिए वह भिक्षु कहलाता है। (सूत्रकृतांग १-१६)

जिसने विचार पूर्वक और सम्यक्त्व युक्त मुनिवृत्ति अंगीकार की जो सरल है और निदान करके रहित है जिसने विषयों की अभिलाषा और संसारियों का परिचय त्याग दिया है जो अज्ञात कुलों की गोचरी करता है वही भिक्षु कहलाता है।

जो आगमज्ञ रागरहित होकर संयम में दृढ़ता पूर्वक रमण करता है जो असंयम से निवृत्त तथा आत्म रक्षक है जो समदर्शी किसी भी वस्तु में मूर्च्छा नहीं करता हुआ परिषहों को सहन करता है वही भिक्षु कहलाता है।

जो कठोर वचन और प्रहार को धैर्य पूर्वक सहन करता है जो सदाचार का पालन करता है अन्तर्मुख (आत्म गुप्त) होकर चारित्राचार द्वारा अपनी आत्मा की रक्षा करता है और संयम मार्ग में आनेवाले कष्टों को समभाव से सहन करके आत्म समाधि को बनाये रखता है—वही भिक्षु है।

खाली और हल्की शय्या तथा हल्का आसन पाकर जो खिन्न नहीं होता जो शीत उष्ण और डांस मच्छरादि विविध प्रकार के परिषहों के उत्पन्न होने पर भी शांतचित्त से सभी प्रकार के कष्टों को सहन करता है—वही भिक्षु है।

जो मान पूजा वन्दना और प्रशंसा का इच्छुक नहीं है ऐसा सुव्रती तपस्वी आत्मगवेषी और सम्यग्ज्ञानी संयमी ही भिक्षु कहलाने के योग्य है।

जिन स्त्री पुरुषों की संगति से संयमी जीवन का नाश हो महामोह का बन्ध हो उसे सर्वथा छोड़ने वाला और कुतूहल से दूर रहने वाला ही भिक्षु है।

छेदन विद्या स्वर विद्या भूकम्प अन्तरिक्ष स्वप्न लक्षण वास्तु अंग विकार और पशु पक्षियों की वाणी जानने आदि विद्याओं के द्वारा जो अपनी आजीविका नहीं करता है वही भिक्षु है।

मन्त्र जड़ी बूंटी से औषधी का प्रयोग वमन विरेचन धूम्र मार्ग आंखों का अंजन स्नान आतुरता कुटुम्ब का आश्रय और चिकित्सा को जो हेय जानकर त्याग देता है वही भिक्षु है।

क्षत्रिय राजपुत्र ब्राह्मण आदि उग्र कुल तथा विविध प्रकार के कलाकारों की प्रशंसा और आत्मश्लाघा नहीं करता तथा उनकी बड़ाई करना दोष का कारण जानकर त्याग देता है वही ब्राह्मण है।

जिन गृहस्थों से पहले का परिचय हो अथवा बाद में परिचय हुआ हो उनसे इहलौकिक फल की प्राप्ति के लिए जो परिचय नहीं करता है—वही भिक्षु है।

जिन गृहस्थों के यहां आहार पानी शय्या आसन और अनेक प्रकार की वस्तुएं मौजूद होते हुए भी नहीं देने और इन्कार करदे तो उन पर भी द्वेष नहीं करने वाले निर्ग्रन्थ ही वास्तविक भिक्षु हैं।

गृहस्थों से आहारादि प्राप्त करके जो बाल वृद्ध और ग्लान साधु की अनुकम्पा करके सेवा

करता है और अपने मन, वचन तथा काया को वश मे रखता है–वही भिक्षु है।

जो ओसामण, जौ का दलिया, ठडा आहार, काँजी का पानी, जौ आदि का धोवन और नीरस, रुक्ष तथा तुच्छ आहारादि मिलने पर निन्दा नही करता, किन्तु प्रान्त=गरीब घरो में गोचरी करता है, वही वास्तविक भिक्षु है।

लोक में देव, मनुष्य और तिर्यंच सबंधी अनेक प्रकार के भय जनक शब्द होते है, उन शब्दो को सुनकर भी जो चलित नही होता–वही भिक्षु है।

लोक मे चलते हुए अनेक प्रकार के वादो को जानकर भी जो विद्वान साधु, अपने आत्महित में स्थिर रह कर सयम मे दृढ रहता है और परिषहो को सहन करता हुआ, सभी जीवो को अपनी आत्मा के समान देखता है, और उपशान्त रहकर, किसी को भी बाधक नही होता-वही खरा भिक्षु है।

जिसकी जीविका का साधन शिल्प=कला नही हो, जो गृह रहित अनगार हो, जिसका ससार में न तो कोई मित्र हो और न शत्रु ही हो, जो जितेन्द्रिय हो, स्नेह के बन्धन से मुक्त हो, जितेन्द्रिय, अल्प कषायी, अल्पाहारी और परिग्रह त्यागी होकर एकाकी–राग द्वेष रहित विचरता हो, वही भिक्षु है। (उत्तराध्ययन १५)

तीर्थंकर और गणधरादि के वचनो से प्रभावित होकर, जो मुनि, जिनेश्वरो के वचनो मे मन लगाये रहते है, और तदनुसार प्रवृत्ति करते है, तथा स्त्रियो के वशीभूत नही होते, और त्यागे हुए विषय भोगो की ओर नही ललचाते, वेही भिक्षु है।

जो पृथ्वी को खुद भी नही खोदता और दूसरे से नही खुदवाता, सचित जल स्वय भी नही पीता और दूसरे को भी नही पिलाता, और तीखे शस्त्र के समान आग को खुद भी नही जलाता और न दूसरे से ही जलवाता (इसी प्रकार अनुमोदन भी नही करता) वही भिक्षु है।

जो पखे आदि से स्वय हवा नही करता और दूसरे से भी हवा नही कराता, जो हरी वनस्पति को खुद भी नही काटता और दूसरे से भी नही कटवाता तथा बीज आदि का सघट्टा टालता है, व सचित्त वस्तु का आहार भी नही करता, वही भिक्षु है।

साधुओ को उद्देश्य कर बनाये हुए आहार मे पृथ्वी, तृण, काष्ठ आदि के आश्रित रहने वाले त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा होती है। इसलिए जो साधु, औद्देशिक आहार को नही लेता और आहार को खुद भी नही पकाता तथा दूसरे से भी नही पकवाता वही भिक्षु है।

भगवान् महावीर के वचनो पर रुचि लाकर, छ काया के जीवो को अपनी आत्मा के समान जानकर, हिंसा नही करते और पाचो आस्रवो को त्याग कर, सवर सहित पाच महाव्रतो का पालन करते है, वे भिक्षु है।

तीर्थंकर भगवान् के वचनो से चारो कषायो को त्याग कर, सयम में निश्चल योग वाला होता

है और सोना चाँदी आदि धन से रहित होता है तथा गृहस्थ का परिचय नहीं करता–वही भिक्षु है।

जो सम्यग्दृष्टि विवेक बुद्धि से मति आदि ज्ञान अनशनादि तप और सत्रह प्रकार के संयम में भ्रान्ति रहित होकर सम्यग् उपयोग रखता है तथा मन वचन और काया से संवृत होकर तपस्या करके पुराने कर्मों को हटाता है वही भिक्षु है।

जो अशन पान खादिम और स्वादिम को प्राप्त करके भविष्य (दूसरे दिन आदि) के लिए संग्रहित करके नहीं रखते और दूसरे से नहीं रखवाते–वे ही भिक्षु हैं।

अशन, पान खादिम और स्वादिम को पाकर जो साधु अपने साधर्मियों को आमन्त्रित करके उन्हें देकर खाता है और खा पी कर स्वाध्याय में लीन रहता है–वही भिक्षु है।

जो कलहोत्पादक बातें नहीं करते किसी पर क्रोध नहीं करते किंतु इन्द्रियों को वश में कर के शान्ति पूर्वक रहते हैं और संयम में ही मन वचन और काया की प्रवृत्ति करते हैं तथा आकुलता रहित उपशान्त रहते हैं–वे ही भिक्षु हैं।

कटु वचन–गाली भर्त्सना और प्रहार आदि कष्टों को जो शान्ति पूर्वक सहन कर लेता है जो भूत वेताल आदि के अट्टहासादि भयंकर शब्दों को सहन करता है तथा सुख और दुःख में समभाव रखता है–वही भिक्षु है।

जो श्मशान में जाकर प्रतिमा स्वीकार करता है और भयंकर वेताल आदि को देख कर भी भयभीत नहीं होता तथा अनेक प्रकार के सद्गुणों में और तप में सदा लीन रहता है और अपने शरीर की रक्षा की इच्छा भी नहीं करता–वही भिक्षु है।

जो मुनि अपने शरीर की तथा सुख दुःख का विचार नहीं करता और शरीर का ममत्व त्याग कर बारबार कायोत्सर्ग करता रहता है यदि कोई मार पीट और अंग का छेदन करे तो भी समभाव से सहन करता है यह न तो सुख की इच्छा या संकल्प करता है और न कुतूहल या उत्सुकता लाता है–ऐसा पृथ्वी के समान सहनशील और शांत मुनि ही वास्तविक भिक्षु है।

जो श्रमण जन्म मरण रूपी महान् भयानक संसार से अपनी आत्मा का उद्धार करता है और शरीर से परिषहों को सहन करता हुआ संयम और तप में लीन रहता है–वही भिक्षु है।

गुण और दोष को सभी प्रकार से जानता हुआ जो श्रमण हाथ पाँव वाणी और इन्द्रियों से संयमित रहता है और समाधि मग्न होकर धर्म ध्यान में मग्न रहता है–वही भिक्षु है।

जो वस्त्र पात्रादि उपधि में मूर्च्छा नहीं रखता जो आसक्ति रहित होकर अज्ञात घरों से भिक्षाचरी करता है जिसने पुलनिप्पुलाक (संयम को निःसार बनाने वाले) दोषों का त्याग किया है जो क्रय विक्रय और वस्तु का संग्रह नहीं करता और संसार के सभी प्रकार के संग–संबंध से मुक्त रहता है–वही सच्चा भिक्षु है।

जो न तो रसलोलुप है न चटोरा है, और न असयमी जीवन को चाहता है, किन्तु शुद्धता पूर्वक थोडा थोडा आहार याच कर लेता है, और ऋद्धि, संमान, स्तुति तथा पूजा की इच्छा नही रखता हुआ निष्पृह होकर अपनी आत्मा में स्थिर रहता है, वही वास्तविक भिक्षु है।

जो 'अमुक दुराचारी है'-इस प्रकार की वाणी नही बोलता और दूसरो को कुपित करने वाले वचन नही कहता तथा प्रत्येक के पाप तथा पुण्य के फल भिन्न जाकर अपनी विशेषता का अभिमान नही करता-वही भिक्षु है।

जो निरभिमानी मुनि, जाति, रूप, लाभ और श्रुत ज्ञान आदि विशेषता का मद नही करके, सभी प्रकार के मदो से विरत रहता है तथा धर्म ध्यान में लीन रहता है, वही भिक्षु है।

जो महामुनि, जिनेश्वरो के धर्म का भव्य जीवो को उपदेश करता है, स्वय श्रुत चारित्र धर्म में स्थिर रहकर दूसरो को भी स्थिर करता है और दीक्षित होकर कुशील लिंग को त्याग देता है तथा हास्योत्पादक चेष्टा नही करता-वही खरा भिक्षु है।

"इस प्रकार जिन भिक्षुवर की आत्मा, मोक्ष साधना में निरन्तर स्थिर रहती है। वे इस अशु-चिमय विनश्वर शरीर को त्यागकर और जन्म मरण के बन्धन को काट कर सिद्ध गति को प्राप्त कर लेते है।" (दशवैकालिक १०)

अहा, कितना आदर्श और उत्तम स्वरूप है-भिक्षु का। इस प्रकार की उच्च वृत्ति वाला भिक्षु भी क्या कही तिरस्कार का पात्र हो सकता है? ऐसी उत्तम भिक्षावृत्ति भी कही निन्दनीय हो सकती है? ऐसे उत्तम भिक्षुओ के पवित्र दर्शन और चरण स्पर्श के लिए भव्य जीव तरसते है। वे सोचते रहते है कि "ऐसे भिक्षुवर हमारे घर कब पधारे और हमें पावन करे।" ऐसे भिक्षुवरो का अस्तित्व राष्ट्र के लिए गौरव रूप है। ऐसे उत्तम भिक्षु जितने अधिक होगे, उतना ही देश का हित अधिक होगा। इनके सिवाय जितने भी भिक्षु है, उनमें अधिक सख्या आजीविकार्थियो की है। आज भिक्षुओ को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जा रहा है, इसका मूल कारण आजीविकार्थि भिक्षुओं की अधिकता, उनका दुराचार और भौतिकवाद प्रधान दृष्टिकोण है।

है और सोना चाँदी आदि धन से रहित होता है तथा गृहस्थ का परिचय नहीं करता—वही भिक्षु है।

जो सम्यग्दृष्टि विवेक बुद्धि से मति आदि ज्ञान अनसनादि तप और सत्रह प्रकार के संयम में भ्रान्ति रहित होकर सम्यग् उपयोग रखता है तथा मन वचन और काया से संवृत्त होकर तपस्या कर के पुराने कर्मों को हटाता है—वही भिक्षु है।

जो अशन पान खादिम और स्वादिम को प्राप्त करके भविष्य (दूसरे दिन आदि) के लिए सग्रहित करके नहीं रखते और दूसरे से नहीं रखवाते—वे ही भिक्षु हैं।

अशन पान खादिम और स्वादिम को पाकर जो साधु अपने साधर्मियों को आमन्त्रित करके उन्हें देकर खाता है और खा पी कर स्वाध्याय में लीन रहता है—वही भिक्षु है।

जो क्लेशोत्पादक बातें नहीं करते किसी पर क्रोध नहीं करते किन्तु इन्द्रियों को वश में कर के शान्ति पूर्वक रहते हैं और संयम में ही मन वचन और काया की प्रवृत्ति करते हैं तथा आकुलता रहित उपशान्त रहते हैं—वे ही भिक्षु हैं।

कटु वचन-गाली भर्त्सना और प्रहार आदि कष्टों को जो शान्ति पूर्वक सहन कर लेता है जो भूत वेताल आदि के अट्टहासादि भयकर शब्दों को सहन करता है तथा सुख और दुःख में समभाव रखता है—वही भिक्षु है।

जो श्मशान में जाकर प्रतिमा स्वीकार करता है और भयकर बेताल आदि को देख कर भी भयभीत नहीं होता तथा अनेक प्रकार के सद्गुणों में और तप में सदा लीन रहता है और अपने शरीर की रक्षा की इच्छा भी नहीं करता—वही भिक्षु है।

जो मुनि अपने शरीर का तथा सुख दुःख का विचार नहीं करता और शरीर का ममत्व त्याग कर बारबार कायोत्सर्ग करता रहता है यदि कोई मारे पीटे और अंग का छेदन करे तो भी समभाव से सहन करता है वह न तो सुख की इच्छा या संकल्प करता है और न कुतूहल या उत्सुकता लाता है—ऐसा पृथ्वी के समान सहनशील और शांत मुनि ही वास्तविक भिक्षु है।

जो श्रमण जन्म मरण रूपी महान् भयानक संसार से अपनी आत्मा का उद्धार करता है और शरीर से परिषहों को सहन करता हुआ संयम और तप में लीन रहता है—वही भिक्षु है।

सूत्र और अर्थ को भली प्रकार से जानता हुआ जो श्रमण हाथ पाँव वाणी और इन्द्रियों से संयमित रहता है और समाधि युक्त होकर धर्म ध्यान में लगा रहता है—वही भिक्षु है।

जो वस्त्र पात्रादि उपधि में मूर्च्छा नहीं रखता जो लोलुपता रहित होकर अज्ञात घरों में भिक्षाचरी करता है जिसने पुलनिप्पुलाक (संयम को निःसार बनाने वाले) दोषों का त्याग किया है जो क्रय विक्रय और वस्तु का संग्रह नहीं करता और संसार के सभी प्रकार के संग-सम्बन्ध से मुक्त रहता है—वही सच्चा भिक्षु है।

मिले या नही मिले, तो सतुष्ट रहकर भिक्षावृत्ति का पालन करे।

जिव्हा को वश मे रखे। रसो में गृद्धि नही बने। स्वाद के लिए भोजन नही करे। किंतु सयम निर्वाह के लिए मूर्च्छा रहित होकर भोजन करे।

साधु, चन्दनादि से अर्चा, आभूषणादि से रचना (अलकृत करना) वदना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और समान की मन से भी इच्छा नही करे। मृत्यु पर्यन्त अपरिग्रही,निदान रहित और शरीर की ममता को छोडकर शुक्ल ध्यान ध्याता हुआ विचरे।

इस प्रकार सयम का पालन करता हुआ वह शक्तिशाली मुनि, आहारादि का त्याग करके मनुष्य शरीर को छोडकर सभी दुखो से मुक्त हो जाता है।

ममत्व और अहकार से रहित वह वीतरागी अनगार, आश्रव से रहित हो कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और सदा के लिए निवृत्त होकर परम सुखी हो जाता है। (उत्तराध्ययन ३५)

ऐसे अनगार भगवतो के चरणों में हमारी बारबार वन्दना हो।

व्यवहार

अनगार भगवतो के आचार, विचार, विधि, निषेध और प्रवृत्ति निवृत्ति की व्यवस्था और उसके आधार को जिनागमो मे 'व्यवहार' की सज्ञा दी गई है। क्योकि इनके आधार से ही विधि निषेध आदि व्यवहार होता है। वह व्यवहार पाच प्रकार का है,–१ आगम व्यवहार २ श्रुत व्यवहार ३ आज्ञा व्यव–हार ४ धारणा व्यवहार और ५ जीत व्यवहार।

१ आगम व्यवहार–केवलज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी,अवधिज्ञानी,चौदह पूर्वधर,दस पूर्वधर और नौ पूर्वधर महात्माओ द्वारा चलाया हुआ व्यवहार-आगम व्यवहार है, क्योकि वे स्वय आगम-व्यवहारी है। इनके द्वारा आगम प्रवर्तित होता है। इसलिए इनके द्वारा किया हुआ विधि निषेध,स्वत आधारभूत होता है और आगम व्यवहार कहलाता है।

२ श्रुत व्यवहार–आचारागादि सूत्र ज्ञान के आधार से जो व्यवहार होता है, वह श्रुत व्यवहार है।

३ आज्ञा व्यवहार–गीतार्थ के अनुभवज्ञान से दी हुई व्यवस्था-आज्ञाव्यहार है। दो गीतार्थ एक दूसरे मे दूर रहते हो। उनमें से किसी एक को प्रायश्चित्त स्थान प्राप्त हुआ हो, किन्तु वे चलने योग्य नही हो, तो अपने योग्य एव समझदार शिष्य को अथवा उसके अभाव मे सामान्य समझ वाले शिष्य को रहस्यमय भाषा मे प्रायश्चित्त स्थान को वतलाते हुए, उन गीतार्थ के पास प्रायश्चित्तदान के लिए भेजें

अनगार

गृहत्यागी निर्ग्रन्थ को अनगार कहते हैं। जिसके अगार–घर नहीं हो वे अनगार कहलाते हैं। अनगार का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है।

जिन संयोगों में गृहस्थ लोग फँसे हुए हैं उन सभी संसर्गों को गृहत्यागी एवं प्रव्रजित मुनि,ज्ञान द्वारा जाने और जानकर हिंसा झूठ चोरी मैथुन इच्छा इन्द्रियों के विषय तथा लोभ का त्याग दे।

जो घर सुन्दर एवं मनोहर हो आकर्षक चित्रों से सुशोभित हो माला और धूप आदि सुगन्धी पदार्थों से सुगंधित हो वस्त्रों से सज्जित और किवाड़ों से युक्त हो–ऐसे घर की मन से भी इच्छा नहीं करे क्योंकि इस प्रकार के उपाश्रय काम राग को बढ़ाने वाले हैं। इसके निमित्त से इन्द्रियों को वश में रखना कठिन हो जाता है।

शून्यगृह श्मशान वृक्ष के नीचे अथवा दूसरों के लिए बनाये हुए स्थानों में राग द्वेष रहित होकर निवास करने की रुचि रखे। परम संयमी मुनि ऐसे ही स्थान में ठहरने का संकल्प करे जो जीवादि से रहित निर्दोष और सभी प्रकार की बाधाओं तथा स्त्रियों से रहित हो।

मुनि न तो स्वयं घर बनावे न दूसरों द्वारा बनवावे क्योंकि घर बनाने में अनेक प्रकार के त्रस स्थावर सूक्ष्म और बादर जीवों की हिंसा होती है। इसलिए संयमवान् मुनि गृह समारंभ को त्याग दे।

गृह निर्माण की तरह भोजन बनाना भी हिंसा जनक है क्योंकि जल धान्य काष्ठ और पृथ्वी आदि के आश्रित अनेक जीव रहते हैं। आहार पानी को पचन पाचन करने में उन जीवों की हिंसा होती है। इसलिए प्राण भूत और जीवादि की दया के लिए न तो स्वयं भोजन पकावे और न दूसरों से पकवावे।

अग्नि ऐसा शस्त्र है कि जिसकी धाराएँ सर्वत्र फैली हुई हैं। जो बहुत से प्राणियों का विनाश करने वाली है और जिसके समान संसार में दूसरा कोई शस्त्र नहीं है। अतः अग्नि को प्रज्वलित नहीं करे।

स्वर्ण और मिट्टी को समान समझने वाला मुनि क्रय विक्रय नहीं करे क्योंकि खरीदने वाला ग्राहक होता है और बेचने वाला वणिक होता है। इसलिए जो क्रय विक्रय करता है वह साधु नहीं हो सकता।

भिक्षु को भिक्षा ही करनी चाहिए किन्तु मूल्य देकर कोई भी चीज नहीं खरीदनी चाहिए क्योंकि क्रय विक्रय में महान् दोष रहे हुए हैं और भिक्षावृत्ति ही सुखदायक है।

सूत्रानुसार सामुदानिक एवं अनिन्दित अनेक कुलों से थोड़ा थोड़ा आहार ग्रहण करे और

प्रत्यनीक (विरोधी)

शत्रु एव विरोधी की तरह बरताव करनेवाले को आगमिक शब्दो मे प्रत्यनीक कहा है। प्रत्यनीक छ प्रकार के होते है। यथा–

१ गुरु प्रत्यनीक–आचार्य उपाध्याय और स्थविर गुरु है। इनकी निन्दा करना, अहित करना, अपमान करना, उनके वचनो की अवहेलना करना, उनकी हँसी करना, उनकी सेवा नही करना और उनमें दोष ढूढना, इत्यादि प्रकार से आचार्य उपाध्याय और स्थविर से शत्रुता करना।

२ गति प्रत्यनीक–गति–भव के विपरीत आचरण करना। इसके तीन भेद है,–

१ इहलोक प्रत्यनीक–पचाग्नि तप आदि अज्ञान तप से इन्द्रियो के प्रतिकूल आचरण करना। अज्ञान वश व्यर्थ के कष्ट उठाकर,इस जन्म को बिगाड देना।

२ परलोक प्रत्यनीक–विषय विकार में गृद्ध होकर, परभव बिगाडना। भावी-दुर्गति के योग्य कार्य करना।

३ उभय लोक प्रत्यनीक–हिंसा, चोरी, जारी, आदि से यह जन्म और परभव दोनो बिगाड देना। इस जन्म में बन्दी जीवन अथवा घृणित जीवन बिताना और परभव में नरकादि दुर्गति पाना।

३ समूह प्रत्यनीक–श्रमण समूह के विपरीत आचरण करना। इसके तीन भेद है।

१ कुल प्रत्यनीक–एक आचार्य के शिष्यो का विरोधी होना।

२ गण प्रत्यनीक–तीन कुलो के समूह रूप गण से शत्रुता करना।

३ सघ प्रत्यनीक–ज्ञान दर्शन और चारित्र रूपी गुणो के धारक ऐसे समस्त श्रमण सघ से वैर रखना।

४ अनुकम्पा प्रत्यनीक-अनुकम्पा करने के योग्य साधुओ की वैयावृत्य नही करना और उल्टा विरोधी आचरण करना। अनुकम्पा के योग्य तीन प्रकार के साधु होते है।

१ तपस्वी–जो तपस्या करके अपने शरीर को जर्जर बना रहे है।

२ ग्लान–रोगी, जो रोग से अशक्त है।

३ शैक्ष–नवदीक्षित साधु, जो अभी सयम के आचार से पूर्णतया परिचित नही है।

५ श्रुत प्रत्यनीक–सम्यग् ज्ञान के आधारभूत आगमो के विपरीत प्रचार करना, उनको प्रमाण

और वे द्रव्य क्षेत्रादि देख कर गूढ़ भाषा में प्रायश्चित्त की व्यवस्था दें या स्वयं उपस्थित होकर आज्ञा दें तो वह आज्ञा व्यवहार है।

४ धारणा व्यवहार—पूर्व की धारणा (स्मृति) के अनुसार व्यवस्था देना। किसी गीतार्थ ने किसी को प्रायश्चित्त दिया हो और उस प्रायश्चित्त दान को किसी शिष्य ने देखा हो तो बाद में किसी को वैसा प्रायश्चित्त स्थान प्राप्त होने पर पूर्व की धारणा के अनुसार प्रायश्चित्त दे तो वह धारणा व्यवहार है। पुरानी धारणा के अनुसार प्रवृत्ति हो वह इस भेद में आती है।

५ जीतव्यवहार—द्रव्य क्षेत्र काल भाव संहनन धृति आदि देख कर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है-वह जीतव्यवहार है।

अथवा-किसी गच्छ में कारण विशेष से सूत्र से अधिक प्रायश्चित्त की व्यवस्था हुई हो और बाद में उसी का अनुसरण दूसरे करते रहें तो वह जीतव्यवहार है।

अथवा—अनेक गीतार्थ मुनिराजों द्वारा की हुई मर्यादा का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ 'जीत' कहलाता है। उससे प्रवर्तित व्यवहार जीतव्यवहार है।

अथवा—महाजनों ने एक या अनेक बार जिसी प्रवृत्ति को तदनुसार करना।

(व्यवहार भाष्य उ १ गा ६६३)

आचार्य परम्परा से आयी हुई और जो सावद्य नहीं हो वह प्रवृत्ति ही जीतव्यवहार हो सकती है। ×××जो शुद्धि करने वाला हो वह जीतव्यवहार है। (व्यवहार भाष्य गा ७१३-७१६)

इस प्रकार जीतव्यवहार की व्याख्या मिलती है।

पूर्वोक्त पांचों व्यवहारों में सबसे अधिक प्रभावशाली 'आगमव्यवहार' है। उसके सद्भाव में दूसरे चार व्यवहार प्रभाव हीन होते हैं। आगमव्यवहार में भी सर्वोच्च प्रभावशाली केवलज्ञानी भगवान् होते हैं। उनके अभाव में मनपर्ययज्ञानी उनके अभाव में अवधिज्ञानी उनके अभाव में चौदह पूर्वधर, यों उतरते ६ पूर्वधर—क्रम से होते हैं। आगमव्यवहारी के अभाव में श्रुतव्यवहार प्रभावशील होता है। इस समय हमारे भरत क्षेत्र में आगम व्यवहार का अभाव है क्योंकि वैसे महान् ज्ञानी अभी यहां नहीं हैं। (व्यवहार उ १० भाष्य गा ३३६)

श्रुतज्ञान के द्वारा व्यवहार हो सकता हो तब आज्ञा धारणा और जीत व्यवहार का आवश्यकता नहीं रहती। जहां श्रुत बल नहीं हो वहीं आज्ञाव्यवहार प्रभावशाली होता है और आज्ञा व्यवहार के अभाव में धारणा व्यवहार का उपयोग होता है। जहां धारणा व्यवहार भी नहीं हो वहीं आखिरी जीत व्यवहार से काम लिया जाता है। (स्थानांग ५-२ भगवती ८-८ तथा व्यवहारसूत्र उ १)

जो उपरोक्त व्यवहार के अनुसार अपनी प्रवृत्ति निर्दोष रखते हैं वे श्रमणवृंद वंदनीय होते हैं।

जीव क्रिया दो प्रकार की होती है—१ सम्यक्त्व क्रिया २ मिथ्यात्व क्रिया। आत्मा की सम्यक् परिणति और असम्यक् परिणति से जो क्रिया हो—वह जीव क्रिया कहलाती है।

निश्चय नय से जीव, जीव की ही क्रिया कर सकता है अजीव की नही कर सकता। क्योकि प्रत्येक पदार्थ अपनी ही क्रिया कर सकता है, दूसरे-पर पदार्थ की क्रिया नही कर सकता। इसलिए जीव, जीव की ही क्रिया कर सकता है और अजीव अजीव की ही क्रिया कर सकता है। जीव की क्रिया अजीव नही कर सकता और अजीव की क्रिया जीव नही कर सकता। जीव की क्रिया 'उपयोग' है। जो सम्यग् और मिथ्यात्व के भेद से दो प्रकार का है। पाच भावो में पारिणामिक तथा क्षायिक भाव के अतिरिक्त तीनो भाव (उदय उपशम और क्षयोपशम) अजीव-कर्म से सम्बन्धित है, और अजीव से सम्बन्धित आत्मा द्वारा ही कायिकादि पच्चीस क्रियाएँ होती है। इन क्रियाओ से पुन अजीव-कर्म की निष्पत्ति होती है। जिस जीव में केवल पारिणामिक भाव और क्षायिक भाव ही हो, उस (सिद्ध) में अजीव क्रियाएँ नही होती।

सम्यक्त्व क्रिया, जीव की अपनी क्रिया है, क्योकि उपयोग आत्मा का निजगुण है और वह सम्यक् रूप मे भी होना है। यद्यपि मिथ्यात्व क्रिया, मोहनीय कर्म के उदय से जीव मे होती है, किन्तु वहा आत्मा की परिणति ही मिथ्यात्वरूप मे होकर मिथ्या उपयोग रूप होती है इसलिए जीव की भूल के कारण वह भी जीव क्रिया मानी गई है। और अभव्य जीव के तो मिथ्यात्व अनादि अपर्यवसित (शाश्वत) होने से तथा अभव्यता भी पारिणामिक भाव होने से उसका मिथ्यात्व भी जीव क्रिया हो जाती है। इसलिए सम्यक्त्व और मिथ्यात्व ये दोनो जीव क्रिया मानी गई है।

अजीव क्रिया भी दो प्रकार की है—१ ईर्यापथिकी २ साम्परायिकी। ईर्यापथिकी क्रिया, उप-शातमोह वीतराग, क्षीणमोह वीतराग, और सयोगी केवली भगवान् को होती है अर्थात् अकषायी उत्तम आत्माओ को मात्र योग के कारण हाती है। शेष २४ क्रिया साम्परायिकी है, जो कषाय युक्त जीवो में होती है। ये अजीव प्रधान क्रियाएँ पच्चीस है, जो इस प्रकार है।

१ **कायिकी**—काया (शरीर) आदि योगो के व्यापार से होने वाली हलन चलनादि क्रिया। इसके दो भेद है,—१ अनुपरत कायिकी—विरति के अभाव में असयमी जीवके शरीर आदि से होने वाली क्रिया, २ दुष्प्रयुक्त कायिकी—अयतना से शारीरिक आदि प्रवृत्ति करने के कारण होने वाली क्रिया।

२ **आधिकरणिकी**—जिस अनुष्ठान विशेष से अथवा आरभ समारभ के पौद्गलिक साधनो (चाकू, छुरी, तलवार, हल, कुदाल आदि) से होने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद है,—१सयोजनाधिकरणिकी-टूटे हुए या बिखरे हुए साधनो को ठीक-दुरुस्त तथा एकत्रित करके काम के लायक बनाना, २ निर्वर्तनाधिकरणिकी—नये साधन बनवाकर उपयोग करना। अर्थात् इन साधनो से आरभ युक्त क्रिया करना।

होती है, यदि प्राणो का नाश नही हो, तो नही लगती +।

पहले की तीन क्रियाएँ एक साथ अवश्य लगती है, पिछली दो क्रियाओ के लगने नही लगने का नियम नही है, किन्तु जिसे चौथी क्रिया लगती है, उसे कुल चार, और जिसे पाँचवी क्रिया लगती है उसे कुल पाँचो क्रियाएँ लगती है।

ये क्रियाएँ चारो गति के जीवो को लगती है।

६ आरम्भिकी–यह क्रिया दो प्रकार से होती है–१ 'जीवआरभिकी'–छ काया के जीवो का आरम्भ करने से, २ 'अजीवआरभिकी'–कपडा, कागज, मृत कलेवर आदि अजीव वस्तु को नष्ट करनें से होने वाली क्रिया।

७ पारिग्रहिकी–इसके भी दो भेद है–१ जीवपारिग्रहिकी–कुटुम्ब परिवार, दास, दासी, गाय, भैसादि चतुष्पद, शुकादि पक्षी, धान्य, फल आदि स्थावर जीवो को ममत्व भाव से अपनाना, २ अजीव–पारिग्रहिकी–सोना, चाँदी, मकान, वस्त्र, आभूषण, शयन, आसन आदि अजीव वस्तुओ पर ममत्व भाव रखना।

८ मायाप्रत्यया–छल, कपट से लगनेवाली क्रिया। इसके दो भेद है–

१ आत्मभाव वक्रता–हृदय की कुटिलता, अन्तर मे कुछ और तथा बाहर में कुछ और। इस प्रकार आत्मा में ठगाई के भाव होना, २ परभाव वक्रता–खोटे तोल, नाप आदि से दूसरो को हानि पहुँचाना, विश्वास जमाकर ठग लेना आदि।

९ अप्रत्याख्यानप्रत्यया–विरति के अभाव में यह क्रिया होती है। इसके भी दो भेद है–

१ सजीव वस्तुओ मे किंचित् भी विरति के भाव नही होना, २ अजीव वस्तुओ मे विरति का भाव बिलकुल नही होना।

१० मिथ्यादर्शनप्रत्यया–सम्यक्त्व के अभाव मे अथवा तत्त्व सम्बन्धी अश्रद्धा या कुश्रद्धा के कारण लगनेवाली क्रिया। इसके भी दो भेद है–१ 'न्यूनाधिक मिथ्यादर्शनप्रत्यया'–श्री जिनेश्वर देव के कथन से कम अथवा अधिक श्रद्धान करना, और २ 'तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शनप्रत्यया'–आत्मा का अस्तित्व ही नही मानना, अथवा न्यूनाधिक मानने रूप मिथ्यात्व के सिवाय–जीव को अजीव, अजीव को जीव आदि खोटी मान्यता रखना। इसमें अन्य सभी प्रकार के मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है।

आरभिकी क्रिया, प्रमत्त सयत को छठे गुणस्थान तक होती है। पारिग्रहिकी-देशविरत (पचम

+ जिस प्रहार के कारण छ मास के भीतर प्राणांत हो जाय, तो उसमें उस प्रहार करनें वाले को प्राणातिपातिकी क्रिया लगती है।

३ प्राद्वेषिकी—ईर्षा द्वेष मत्सरता आदि अशुभ परिणाम रूप। इसके दो भेद हैं। १ जीव प्राद्वेषिकी—मनुष्य पशु आदि किसी भी जीव पर द्वेष-क्रोध आदि होना २ अजीव प्राद्वेषिकी—वस्त्र पात्र मकान आसन आदि अरुचिकर अजीव वस्तु पर द्वेष करना।

अथवा—तीन भेद—१ स्व २ पर ३ तदुभय पर अशुभ परिणाम लाना।

४ पारितापनिकी—किसी को मार पीट कर अथवा कठोर वचन कहकर क्लेश पहुँचाना दुखी करना कष्ट देना। इसके भी दो भेद हैं—१ स्वहस्त पारितापनिका'—अपने हाथ से या वचन से कष्ट पहुँचाना २ परहस्तपारितापनिका'—दूसरों के द्वारा दुःख पहुँचाना।

दूसरी प्रकार से इसके तीन भेद हैं—१ स्वयं क्लेशित—दुःखी होना २ दूसरे को दुःखी करना ३ स्व और पर को दुःख देना।

५ प्राणातिपातिकी—प्राणों का नाश करने रूप क्रिया। इसके भी दो भेद हैं—१ स्वहस्त प्राणातिपातिकी'—स्वयं हिंसा करना और २ परहस्तप्राणातिपातिकी'—दूसरे से जीव घात करवाना।

दूसरी तरह से इसके तीन भेद हैं—१ स्वात्मघात २ अन्य जीवों की हिंसा और ३ अपनी तथा दूसरों की हिंसा करना—खुद भी मरना और दूसरों को भी मारना।

इन पांच क्रियाओं में से जिसे कायिकी' क्रिया होती है उसे आधिकरणिकी क्रिया अवश्य ही होती है और जिसे आधिकरणिकी क्रिया होती है उसे कायिकी क्रिया अवश्य होती है। इसी प्रकार प्राद्वेषिकी * क्रिया भी होती है अर्थात् प्राद्वेषिकी क्रिया जिसे लगती है उसे कायिकी और आधिकरणिकी भी लगती है और जिसे कायिकी अथवा आधिकरणिकी क्रिया लगती है उसे प्राद्वेषिकी सहित तीन क्रिया अवश्य ही लगती है।

जिसे कायिकी क्रिया लगती है उसे 'पारितापनिकी' क्रिया लगती भी है और नहीं भी लगती है। जब किसी दूसरे जीव को कष्ट दिया जाता है तब होती है और किसी जीव को दुखित नहीं करे, तो नहीं होती है किन्तु जिसे पारितापनिकी क्रिया लगती है उसे पिछली तीन क्रिया भी अवश्य ही लगती है। यही बात आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया के विषय में समझ लेनी चाहिए।

जिसे प्राणातिपातिकी क्रिया होती है उसे पिछली चार क्रियाएँ अवश्य ही लगती हैं किन्तु जिसे कायिकी आधिकरणिकी प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी क्रिया लगती है उसे प्राणातिपातिकी क्रिया लगती भी है और नहीं भी लगती है क्योंकि प्राणों का नाश कर देने से प्राणातिपातिकी क्रिया

---

* प्राद्वेषिकी क्रिया पूर्व की दो क्रियाओं के साथ इसलिए लगती है कि जीव काया और अन्य साधनों के द्वारा जो क्रिया करता है वह कषाय के सद्भाव में ही करता है। अकषायी जीवों के शरीर से होने वाली क्रिया तो शरीर द्वारा होने हुए भी कषाय रहित होने से ऐर्यापथिकी नाम की २५ वीं क्रिया मानी गई है।

होती है, यदि प्राणो का नाश नही हो, तो नही लगती + ।

पहले की तीन क्रियाएँ एक साथ अवश्य लगती है, पिछली दो क्रियाओ के लगने नही लगने का नियम नही है, किन्तु जिसे चौथी क्रिया लगती है, उसे कुल चार, और जिसे पाँचवी क्रिया लगती है उसे कुल पाँचो क्रियाएँ लगती है ।

ये क्रियाएँ चारो गति के जीवो को लगती है ।

६ **आरम्भिकी**-यह क्रिया दो प्रकार से होती है-१ 'जीवआरभिकी'-छ काया के जीवो का आरम्भ करने से, २ 'अजीवआरभिकी'-कपडा, कागज, मृत कलेवर आदि अजीव वस्तु को नष्ट करने से होने वाली क्रिया ।

७ **पारिग्रहिकी**-इसके भी दो भेद है-१ जीवपारिग्रहिकी-कुटुम्ब परिवार, दास, दासी, गाय, भैसादि चतुष्पद, शुकादि पक्षी, धान्य, फल आदि स्थावर जीवो को ममत्व भाव से अपनाना, २ अजीव-पारिग्रहिकी-सोना, चाँदी, मकान, वस्त्र, आभूषण, शयन, आसन आदि अजीव वस्तुओ पर ममत्व भाव रखना ।

८ **मायाप्रत्यया**-छल, कपट से लगनेवाली क्रिया । इसके दो भेद है-

१ आत्मभाव वक्रता-हृदय की कुटिलता, अन्तर में कुछ और तथा बाहर में कुछ और । इस प्रकार आत्मा में ठगाई के भाव होना, २ परभाव वक्रता-खोटे तोल, नाप आदि से दूसरो को हानि पहुँचाना, विश्वास जमाकर ठग लेना आदि ।

९ **अप्रत्याख्यानप्रत्यया**-विरति के अभाव मे यह क्रिया होती है । इसके भी दो भेद है-

१ सजीव वस्तुओ में किंचित् भी विरति के भाव नही होना, २ अजीव वस्तुओ में विरति का भाव बिलकुल नही होना ।

१० **मिथ्यादर्शनप्रत्यया**-सम्यक्त्व के अभाव में अथवा तत्त्व सम्बन्धी अश्रद्धा या कुश्रद्धा के कारण लगनेवाली क्रिया । इसके भी दो भेद है-१ 'न्यूनाधिक मिथ्यादर्शनप्रत्यया'-श्री जिनेश्वर देव के कथन से कम अथवा अधिक श्रद्धान करना, और २ 'तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शनप्रत्यया'-आत्मा का अस्तित्व ही नही मानना, अथवा न्यूनाधिक मानने रूप मिथ्यात्व के सिवाय-जीव को अजीव, अजीव को जीव आदि खोटी मान्यता रखना । इसमे अन्य सभी प्रकार के मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है ।

आरभिकी क्रिया, प्रमत्त सयत को छठे गुणस्थान तक होती है । पारिग्रहिकी-देशविरत (पचम

+ जिस प्रहार के कारण छ मास के भीतर प्राणात हो जाय, तो उसमें उस प्रहार करने वाले को प्राणातिपातिकी क्रिया लगती है ।

गुणस्थान तक होती है । मायाप्रत्यया दसवें गुणस्थान तक कषाय के सद्भाव में होती है (माया का दूसरा अर्थ कषाय' भी है ।) अप्रत्याख्यानप्रत्यया क्रिया—विरति के अभाव में चौथे गुणस्थान तक होती है और मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया—पहले और तीसरे गुणस्थान में होती है ।

जिस जीव को आरम्भिकी क्रिया लगती है उसे मायाप्रत्ययिकी क्रिया तो अवश्य लगती है किन्तु शेष तीन क्रिया की भजना है (लगती भी है और नहीं भी लगती) जो छठे गुणस्थानवर्ती साधु हैं उन्हें तो ये तीन क्रियाए नहीं लगती किन्तु पहले और तीसरे गुणस्थान वाले को सभी लगती है। चौथे गुणस्थान वाले को मिथ्यादर्शनप्रत्यया' नहीं लगती और देशविरत को अप्रत्याख्यानप्रत्यया' नहीं लगती ।

जिसे पारिग्रहिकी' क्रिया लगती है उसे आरम्भिकी और मायाप्रत्ययिकी तो अवश्य लगती है क्योंकि वह गृहस्थ है किन्तु शेष दो क्रिया के लिए भजना है । पांचवें गुणस्थान में दोनों नहीं लगती। चौथे में एक अप्रत्याख्यानी' क्रिया लगती है और पहले व तीसरे गुणस्थान में दोनों क्रियाएँ लगती हैं।

जिसे मायाप्रत्ययिकी क्रिया लगती है उसके लिए चारों क्रियाओं की भजना है क्योंकि अप्रमत्तसंयत को तो चारों क्रियाएँ नहीं लगती । प्रमत्तसंयत को आरम्भिकी लगती है—शेष तीन नहीं लगती । देशविरत को आरम्भिकी पारिग्रहिकी और मायाप्रत्ययिकी—ये तीन लगती है शेष दो नहीं लगती । अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी नहीं लगती शेष चारों लगती है और पहले तथा तीसरे गुणस्थान में पांचों क्रिया लगती है ।

जिस जीव को अप्रत्याख्यान क्रिया होती है उसे आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया ये तीन क्रियाएँ अवश्य होती हैं किन्तु मिथ्यादर्शनप्रत्यया केवल मिथ्यात्वी को होती है शेष को नहीं होती।

जिस प्राणी को मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया होती है उसे प्रथम की चारों क्रियाएँ अवश्य होती है, किन्तु जिन्हें प्रथम की चार क्रियाएँ होती है उन्हें मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया की भजना है । जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय तथा मिश्रमोहनीय है उसे होती है—शेष को नहीं होती ।

अप्रमत्त संयत को एक मात्र मायाप्रत्ययिकी क्रिया लगती है । प्रमत्तसंयत को १ आरम्भिकी और २ मायाप्रत्ययिकी ये दो देशविरत श्रावक को पिछली तीन अविरत श्रावक को चार और मिथ्यात्वी को और मिश्रगुणस्थान वाले को पांचों क्रियाएँ लगती हैं ।

एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को पांचों क्रियाए लगती है । नारक और देव में सम्यक्त्वी को चार और मिथ्यात्वी और मिश्र को पांच क्रिया लगती है । तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में—मिथ्यात्व और मिश्र को पांचों अविरत सम्यग्दृष्टि को चार और देशविरत को तीन क्रिया लगती है । मनुष्य में तो अप्रमत्त को एक प्रमत्त संयत को दो देशविरत को तीन अविरत को चार और

मिथ्यात्वी तथा मिश्र की पाच क्रिया लगती है।

११ दृष्टिजा-जीव अथवा अजीव पदार्थ को देखने से होने वाले राग-द्वेपमय परिणाम। सुरूप अथवा कुरूप जीव और सुन्दर अथवा घृणित दृश्य के देखने पर अच्छे बुरे भाव होने से लगने वाली क्रिया।

१२ स्पर्शजा-जीव अथवा अजीव के स्पर्श से होने वाली राग द्वेप की परिणति। राग द्वेप के वश होकर जीव या अजीव के विषय में प्रश्न करने मे लगने वाली क्रिया-पृष्टिजा कहलाती है।

१३ प्रातीत्यिकी--जीव और अजीव रूप वाह्य वस्तु के आश्रय से उत्पन्न राग द्वेप और उससे होने वाली क्रिया।

१४ सामन्तोपनिपातिकी-यह भी जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार की होती है। जीव और अजीव वस्तुओ के किये हुए सग्रह को देखकर लोग प्रशसा करे और उस प्रशसा को सुन कर हर्पित होना। इस प्रकार वहुत से लोगो के द्वारा अपनी प्रशमा सुनकर हर्पित होने से यह क्रिया लगती है।

१५ स्वहस्तिकी-अपने हाथ में ग्रहण किये हुए जीव को मारने पीटने रूप तथा अपने हाथ में ग्रहण किये हुए जीव से दूसरे जीव को मारने पीटने रूप'जीव-स्व-हस्तिकी', और अजीव को पीटनेसे तथा अपने हाथ में ग्रहण किये हुए खड्गादि से जीव को मारने पीटने मे लगने वाली 'अजीव-स्वहस्तिकी' क्रिया कहलाती है।

१६ नेसृष्टिकी-किसी वस्तु को फेंकने से होने वाली क्रिया। इसके दो भेद है-१ जीव नैसृष्टिकी-खटमल, यूका आदि को पटक देने, या फेकने या फव्वारे से जल छोडने से होने वाली तथा २ अजीव नैसृष्टिकी-वाण फेंकने, लकडी, वस्त्र आदि फेकने, आदि से होने वाली क्रिया।

१७ आज्ञापनिका-दूसरे को आज्ञा देकर कराई जाने वाली क्रिया अथवा दूसरो के द्वारा मँगवाई जाने वाली वस्तुओ से होने वाली क्रिया। इसके दो भेद है-१ जीव आज्ञापनिका-सजीव वस्तुओ से सम्वन्धित और २ अजीव आज्ञापनिका-अजीव वस्तुओ से सम्वन्धित।

१८ वैदारिणी--विदारण करने से होने वाली क्रिया। यह भी जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार की होती है।

अथवा-विचारणिका-जीव और अजीव के व्यवहार-लेन देन मे दो व्यक्तियो को समझाकर सौदा पटाने रूप (दलाल की तरह) या किसी को ठगने के लिए किसी वस्तु की प्रशसा करने मे लगने वाली_क्रिया।

१९ अनाभोगप्रत्यया--अनजानपने से या उपयोग शून्यता से होने वाली क्रिया। इसके दो भेद

है—१ वस्त्र पात्रादि को बिना देखे ग्रहण करने और रखने रूप—अप्रतिलेखना से और २ असावधानी से प्रतिलेखना प्रमार्जना करने से लगने वाली क्रिया।

२० अनवकांक्षा प्रत्यया—इसके स्व और पर ऐसे दो भेद हैं। १ अपने हित की अपेक्षा नहीं रख कर अपने शरीर आदि को हानि पहुँचाने रूप और २ पर हित की अपेक्षा नहीं रखकर दूसरों को हानि पहुँचाने रूप।

अथवा—इस लोक और परलोक की परवाह नहीं करके दोनों लोक बिगाड़ने रूप क्रिया।

२१ प्रेम प्रत्यया—राग से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं—१ माया से और लोभ से।

२२ द्वेष प्रत्यया ईर्षा द्वेष से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं—१ क्रोध से और २ मान से।

२३ प्रायोगिकी—१ आर्त रौद्र ध्यान अर्थात् अशुभ विचारणा से मन का दुष्प्रयोग करना २ सावद्य वचन बोलकर वचन का अशुभ प्रयोग करना और ३ प्रमाद युक्त गमनागमनादि से काया का बुरा प्रयोग करने रूप क्रिया।

२४ सामुदानिकी—बहुत से लोग मिलकर एक साथ एक ही प्रकार की क्रिया करे—अच्छे बुरे दृश्य देखे या आरम्भ जन्य कार्यों को साथ मिलकर करे उसे सामुदानिकी क्रिया कहते हैं। यह भी सान्तर बीच में रुक कर और निरन्तर बिना रुके तथा तदुभय—दोनों प्रकार से यों तीन प्रकार की होती है।

अथवा जिससे आठों कर्म एक साथ ग्रहण किये जाते हैं वह सामुदानिकी क्रिया है। इसके देशोपघात और सर्वोपघात ऐसे दो भेद हैं।

२५ ईर्यापथिकी—कषाय रहित जीवों को योग मात्र से होने वाली क्रिया। यह क्रिया—१ उपशांत-मोह वीतराग २ क्षीणमोह वीतराग और ३ सयोगी केवली भगवान् के होती है। इसकी स्थिति बंध और वेदन रूप दो समय की है। इसके बाद इसकी निर्जरा हो जाती है।

(स्थानांग २—१ तथा ५—२ और प्रज्ञापना २२)

यह अन्तिम क्रिया वीतरागियों को होती है। इसके सिवाय २४ क्रियाएँ सरागियों को होती हैं। अन्तिम क्रिया के लिए गुणस्थान ११, १२ और १३ हैं। अयोगीकेवली (१४ वाँ गुणस्थान) और सिद्ध (निर्वाणीत) अक्रिय हैं।

उपरोक्त क्रियाओं में से कितनी क्रियाएँ श्रावक होने पर भी लगती हैं। अतः प्रत्येक कार्य में विवेक रखा जाय तो बहुत बचाव हो सकता है।

दीक्षा

जैन दीक्षा प्राप्त करना, एक प्रकार से ससारी जीवन से मरकर धर्म जीवन में जन्म लेना है। सभी प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियो का त्याग कर, आत्म साधक निरवद्य जीवन अपनाना और सयम तप की वृद्धि करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए निर्ग्रंथ दीक्षा स्वीकार की जाती है। दीक्षा शब्द के पर्यायो को निम्न गाथा मे बताया गया है।

पव्वज्जा, णिक्खमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं।
धम्मचरणं अहिंसा, दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥

अर्थ—१ प्रव्रज्या, पाप व्यापारो का त्याग कर शुद्ध चरणयोग मे गमन करना।

२ निष्क्रमण—द्रव्य सग और भाव सग से निकलना अर्थात् पृथक् हो जाना।

३ समता—सब प्राणियो मे तथा इष्ट अनिष्ट पदार्थों में समता-समभाव रखना।

४ त्याग—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना।

५ वैराग्य—विषयो मे विरक्ति।

६ धर्मचरण—क्षमा आदि दसविध यति धर्म का पालन करना।

७ अहिंसा—प्राणातिपात आदि का त्याग करना।

८ दीक्षा—सब प्राणियो को सदा अभयदान देना।

शब्द नय की अपेक्षा ये उपरोक्त शब्द एकार्थक है। समभिरूढ नय की अपेक्षा तो ये सब भिन्नार्थक है—क्योकि सब शब्दो की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न है।

ठाणाग ठाणा ३ उद्देशक २ में, तथा ठाणाग ठाणा ४ उद्देशक ४ मे प्रव्रज्या के भिन्न भिन्न प्रकार से भेद बतलाये है। उनमे प्रतिबद्ध (इहलोक सम्बन्धी, परलोक सम्बन्धी विषयो में आसक्ति रूप) आदि कई प्रव्रज्याएँ विशुद्ध नही है। अप्रतिबद्ध आदि कई प्रव्रज्याए विशुद्ध है। अत भोजन, शिष्य आदि की लालसाओ से रहित होकर, निरतिचार प्रव्रज्या का पालन करना आत्म कल्याण का हेतु है।

दीक्षा को मुण्डन भी कहते है। ठाणाग सूत्र के दसवे ठाणे मे दस प्रकार के मुण्डन कहे गये हैं। यथा—पाच इन्द्रियो के विकारो का और क्रोधादि चार कषायो का तथा सिर का मुण्डन, यह दस प्रकार का मुण्डन है। इनके द्रव्यमुण्डन और भावमुण्डन ऐसे दो भेद किये गये हैं। इनमें से सिरमुण्डन द्रव्यमुण्डन है और शेष नौ भावमुण्डन है। नौ मुण्डन के साथ ही सिरमुण्डन की सफलता है।

है –१ वस्त्र पात्रादि को बिना देखे ग्रहण करने और रखने रूप–अप्रतिलेखना से और २ असावधानी से प्रतिलेखना प्रमार्जना करने से लगने वाली क्रिया।

२० अनवकांक्षा प्रत्यया–इसके स्व और पर ऐसे दो भेद हैं। १ अपने हित की अपेक्षा नहीं रख कर अपने शरीर आदि को हानि पहुँचाने रूप और २ पर हित की अपेक्षा नहीं रखकर दूसरों को हानि पहुँचाने रूप।

अथवा–इस लोक और परलोक की परवाह नहीं करके दोनों लोक बिगाड़ने रूप क्रिया।

२१ प्रेम प्रत्यया–राग से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं–१ माया से और मान से।

२२ द्वेष प्रत्यया ईर्षा द्वेष से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं–१ क्रोध से और २ मान से।

२३ प्रायोगिकी–१ आर्त रौद्र ध्यान अर्थात् अशुभ विचारणा से मन का दुष्प्रयोग करना २ सावद्य वचन बोलकर वचन का अशुभ प्रयोग करना और ३ प्रमाद युक्त गमनागमनादि से काया का बुरा प्रयोग करने रूप क्रिया।

२४ सामुदानिकी–बहुत से लोग मिलकर एक साथ एक ही प्रकार की क्रिया करे–जैसे बुरे दृश्य देखें या आरम्भ जन्य कार्यों को साथ मिलकर करे, उसे सामुदानिकी क्रिया कहते हैं। यह भी सान्तर बीच में रुक रुक कर और निरन्तर बिना रुके तथा तदुभय–दोनों प्रकार से यों तीन प्रकार की होती है।

अथवा जिससे आठों कर्म एक साथ ग्रहण किये जाते हैं वह सामुदानिकी क्रिया है। इसके देशोपघात और सर्वोपघात ऐसे दो भेद हैं।

२५ ईर्यापथिकी–कषाय रहित जीवों को योग मात्र से होने वाली क्रिया। यह क्रिया–१ उपशान्त-मोह वीतराग २ क्षीणमोह वीतराग और ३ सयोगी केवली भगवान् के होती है। इसकी स्थिति बंध और वेदन रूप दो समय की है। इसके बाद इसकी निर्जरा हो जाती है।

(स्थानांग २–१ तथा ५–२ और प्रज्ञापना २२)

यह अन्तिम क्रिया वीतरागियों को होती है। इसके सिवाय २४ क्रियाएँ सरागियों को होती हैं। अन्तिम क्रिया के स्थान गुणस्थान ११ १२ और १३ हैं। अयोगीकेवली (१४ वाँ गुणस्थान) और सिद्ध (क्रियातीत) अक्रिय हैं।

उपरोक्त क्रियाओं में से अधिकांश क्रियाएँ श्रावक होने पर भी लगती हैं। अतः प्रत्येक कार्य में विवेक रखा जाय तो बहुत बचाव हो सकता है।

दीक्षा

जैन दीक्षा प्राप्त करना, एक प्रकार से ससारी जीवन से मरकर धर्म जीवन में जन्म लेना है। सभी प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियो का त्याग कर, आत्म साधक निरवद्य जीवन अपनाना और सयम तप की वृद्धि करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए निर्ग्रंथ दीक्षा स्वीकार की जाती है। दीक्षा शब्द के पर्यायो को निम्न गाथा में बताया गया है।

पव्वज्जा, णिक्खमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं।
धम्मचरणं अहिंसा, दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥

अर्थ—१ प्रव्रज्या, पाप व्यापारो का त्याग कर शुद्ध चरणयाग मे गमन करना।

२ निष्क्रमण—द्रव्य सग और भाव सग से निकलना अर्थात् पृथक् हो जाना।

३ समता—सब प्राणियो मे तथा इष्ट अनिष्ट पदार्थों मे समता-समभाव रखना।

४ त्याग—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना।

५ वैराग्य—विषयो मे विरक्ति।

६ धर्मचरण—क्षमा आदि दसविध यति धर्म का पालन करना।

७ अहिंसा—प्राणातिपात आदि का त्याग करना।

८ दीक्षा—सब प्राणियो को सदा अभयदान देना।

शब्द नय की अपेक्षा ये उपरोक्त शब्द एकार्थक है। समभिरूढ नय की अपेक्षा तो ये सब भिन्नार्थक है—क्योकि सब शब्दो की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न है।

ठाणाग ठाणा ३ उद्देशक २ में, तथा ठाणाग ठाणा ४ उद्देशक ४ मे प्रव्रज्या के भिन्न भिन्न प्रकार से भेद बतलाये है। उनमें प्रतिबद्ध (इहलोक सम्बन्धी, परलोक सम्बन्धी विषयो में आसक्ति रूप) आदि कई प्रव्रज्याएँ विशुद्ध नही है। अप्रतिबद्ध आदि कई प्रव्रज्याए विशुद्ध है। अत भोजन, शिष्य आदि की लालसाओ से रहित होकर, निरतिचार प्रव्रज्या का पालन करना आत्म कल्याण का हेतु है।

दीक्षा को मुण्डन भी कहते है। ठाणाग सूत्र के दसवे ठाणे मे दस प्रकार के मुण्डन कहे गये है। यथा-पाच इन्द्रियो के विकारो का और क्रोधादि चार कषायो का तथा सिर का मुण्डन, यह दस प्रकार का मुण्डन है। इनके द्रव्यमुण्डन और भावमुण्डन ऐसे दो भेद किये गये है। इनमें से सिरमुण्डन द्रव्यमुण्डन है और शेष नौ भावमुण्डन है। नौ मुण्डन के साथ ही सिरमुण्डन की सफलता है।

प्रव्रजित होने के कारण

निम्न लिखित दस कारणों से भी मनुष्य दीक्षा स्वीकार करता है।

छंदा रोसा परिजुण्णा, सुविणा पडिसुया चेव।
सारणिया रोगिणिया, अणाढिया देवसण्णत्ति ॥
वच्छाणुबंधिता।

१ छन्द—अपनी या दूसरे की इच्छा से दीक्षा लेने को 'छन्द प्रव्रज्या' कहते हैं।
२ रोष—क्रोध से दीक्षा लेना।
३ परिद्युना—दारिद्र्य अर्थात् गरीबी के कारण दीक्षा लेना।
४ स्वप्न—विशेष प्रकार का स्वप्न आने से दीक्षा लेना।
५ प्रतिश्रुत—किसी के वचन सुनकर आवेश में आकर दीक्षा लेना।
६ स्मारण—स्मारण अर्थात् किसी के द्वारा स्मरण कराने से या कोई दृश्य देखने से जाति-स्मरण ज्ञान होना और पूर्वभव को जानकर दीक्षा ले लेना।
७ रोगिणिका—रोग के कारण संसार से विरक्ति हो जाने पर ली गई दीक्षा।
८ अनादर—किसी के द्वारा अपमानित होने पर ली गई दीक्षा। अथवा मन्द उत्साह से ली गई दीक्षा।
९ देव संज्ञप्ति—देवों के द्वारा प्रतिबोध देने पर ली गई दीक्षा।
१० वत्सानुबन्धिका—पुत्र स्नेह के कारण ली गई दीक्षा।

(ठाणांग १० सूत्र ७१२)

दीक्षार्थी के सोलह गुण

दीक्षा लेने वाले व्यक्ति में नीचे लिखे सोलह गुण होने चाहिये।

१ आर्य देश समुत्पन्न—प्रायः आर्य देश में उत्पन्न व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है।

२ शुद्ध जातिकुलान्वित—जिसकी जाति अर्थात् मातृपक्ष और कुल अर्थात् पितृपक्ष दोनों शुद्ध हों। प्रायः शुद्ध जाति और कुल वाला संयम का निर्दोष पालन करता है। किसी प्रकार की भूल होने पर भी कुलीन होने के कारण रथनेमि की तरह सुधार लेता है।

३ क्षीणप्रायाशुभकर्मा–जिसके अशुभ अर्थात् चारित्र मे वाधा डालने वाले कर्म प्राय क्षीण अर्थात् नष्ट हो गए हो ।

४ विशुद्धधी–अशुभ कर्मों के दूर हो जाने से जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई हो । निर्मल बुद्धि-वाला धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर उसका शुद्ध पालन करता है ।

५ विज्ञात ससार नैर्गुण्य–जिस व्यक्ति ने ससार की निर्गुणता (व्यर्थता) को जान लिया हो । मनुष्य जन्म दुर्लभ है, जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है, धन सम्पत्ति चञ्चल है, सासारिक विषय दु ख के कारण है, जिनका सयोग होता है उनका वियोग भी अवश्य होता है, आवीचिमरण से प्राणियो की मृत्यु, प्रति क्षण होती रहती है । इस प्रकार ससार के स्वभाव को जानने वाला व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी होता है ।

६ विरक्त–जो व्यक्ति ससार से विरक्त हो गया हो, क्योकि सासारिक विषयभोग में फँसा हुआ व्यक्ति सयम का पालन नही कर सकता ।

७ मन्द कषायभाक्–जिस व्यक्ति के क्रोध, मान, आदि चारो कषाय मन्द हो गये हो । स्वय अल्प कषायवाला होने के कारण वह अपने और दूसरे के कषाय आदि को शान्त कर सकता है ।

८ अल्प हास्यादि विकृति–जिसके हास्यादि नोकषाय कम हो । अधिक हँसना आदि गृहस्थो के लिए भी निषिद्ध है ।

९ कृतज्ञ–जो दूसरे द्वारा किये हुए उपकार को माननेवाला हो । कृतघ्न व्यक्ति लोक मे निन्दा प्राप्त करता है, इसलिए भी वह दीक्षा के योग्य नही होता ।

१० विनय विनीत–दीक्षार्थी विनयवान् होना चाहिए, क्योकि विनय ही धर्म का मूल है ।

११ राज सम्मत–दीक्षार्थी, राजा मन्त्री आदि के सम्मत अर्थात् अनुकूल होना लाहिए । राजा आदि से विरोध करने वाले को दीक्षा देने से अनर्थ होने की सभावना रहती है ।

१२ अद्रोही–जो झगडालू तथा ठग, धूर्त न हो ।

१३ सुन्दराग भृत्–सुन्दर शरीर वाला हो अर्थात् उसका कोई अग हीन या गया हुआ नही होना चाहिए । अपाग या नष्ट अवयव वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नही होता ।

१४ श्राद्ध–श्रद्धा वाला । दीक्षित भी यदि श्रद्धा रहित हो, तो अगारमर्दक के समान वह त्यागने योग्य हो जाता है ।

१५ स्थिर–जो अगीकार किए हुए व्रत में स्थिर रहे । प्रारम्भ किए हुए शुभ कार्य को बीच मे छोडनेवाला न हो ।

१६ समुपसम्पन्न–पूर्वोक्त गुणो वाला होकर भी जो दीक्षा लेने के लिए पूरी इच्छा से गुरु के पास आया हो ।

प्रव्रजित होने के कारण

निम्न लिखित दस कारणों से भी मनुष्य दीक्षा स्वीकार करता है।

छंदा रोसा परिजुण्णा, सुविणा पडिसुत्ता चेव।
सारणिया रोगिणिया, अणाढिया देवसण्णत्ति ॥
वच्छाणुबंधिता।

१ छन्द—अपने या दूसरे की इच्छा से दीक्षा लेने का छन्द प्रव्रज्या' कहते हैं।
२ रोष—क्रोध से दीक्षा लेना।
३ परिद्यूना—दारिद्रय अर्थात् गरीबी के कारण दीक्षा लेना।
४ स्वप्न—विशेष प्रकार का स्वप्न आने से दीक्षा लेना।
५ प्रतिश्रुत—किसी के वचन सुनकर आवेश में आकर दीक्षा लेना।
६ स्मारण—स्मारण अर्थात किसी के द्वारा स्मरण कराने से या कोई दृश्य देखने से जाति-स्मरण ज्ञान होना और पूर्वभव को जानकर दीक्षा ले लेना।
७ रोगिणिका—रोग के कारण संसार से विरक्ति हो जाने पर ली गई दीक्षा।
८ अनादर—किसी के द्वारा अपमानित होने पर ली गई दीक्षा। अथवा मन्द उत्साह से ली गई दीक्षा।
९ देव सज्ञप्ति—देवों के द्वारा प्रतिबोध देने पर ली गई दीक्षा।
१ वत्सानुबन्धिका—पुत्र स्नेह के कारण ली गई दीक्षा।

(ठाणांग १ सूत्र ७१२)

दीक्षार्थी के सोलह गुण

दीक्षा लेने वाले व्यक्ति में नीचे लिखे सोलह गुण होने चाहिये।

१ आर्य देश समुत्पन्न—प्राय आर्य देश में उत्पन्न व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है।

२ शुद्ध जातिकुलान्वित—जिसके जाति अर्थात् मातृपक्ष और कुल अर्थात् पितृपक्ष दोनों शुद्ध हों। प्राय शुद्ध जाति और कुल वाला संयम का निर्दोष पालन करता है। किसी प्रकार की भूल होने पर भी कुलीन होने के कारण रथनेमि की तरह सुधार लेता है।

१४ सूत्रार्थ भाषक–आगमो के अर्थ को ठीक ठीक बतानें वाला हो।

१५ स्वगुर्वनुज्ञान गुरु पद–अपने गुरु से जिसे गुरु बनने की अनुमति मिल गई हो।

इन पन्द्रह में से जिस गुरु में जितने गुण कम हो वह उनकी अपेक्षा मध्यम या जघन्य गुरु कहा जाता है। काल दोष से कोई गुण न हो तो बहुत गुण तो उसमें होने ही चाहिए।

(धर्मसग्रह अधिकार ३ श्लोक ८०, ८४ पृ ७)

परिवार बढाने की और आहार पानी आदि से सेवा करवाने की दृष्टि न रखते हुए, दीक्षार्थी पर अनुग्रह करने के लिए और अपने कर्मों की निर्जरा के लिए दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षार्थी की परीक्षा

दीक्षा लेने वाले से उसके नाम, ग्राम, कुल, जाति, व्यवसाय, आचरण, सरक्षक, कारण आदि का परिचय प्राप्त करे। अर्थात् दीक्षार्थी कौन है, किस ग्राम नगरादि का रहने वाला है, इसका कुल जाति आदि खानदान कैसा है? गृहस्थावस्था का चाल चलन कैसा है? क्या व्यापार (कार्य) करता है? दीक्षा क्यो लेता है? दीक्षा लेने का क्या कारण है? इसके सरक्षक कौन है? इत्यादि बातो का परि–चय उससे पूछकर तथा उसके परिचित व्यक्तियो से पूछकर प्राप्त करे। यदि इन बातो से उसकी दीक्षा सम्बन्धी योग्यता का पता लग जाय, तो फिर उसे मुनि मार्ग की वास्तविक कठिनाइयो का बोध करावे। भौतिक पदार्थो मे आसक्त, कायर पुरुषो के लिए मुनि मार्ग अत्यन्त कठिन है, और आरम्भ से निवृत्त भौतिक पदार्थों की लालसा से रहित शूरवीर पुरुषो के लिए कठिन नही है। वे उत्साह पूर्वक मुनि मार्ग का आचरण करके परम पद की प्राप्ति कर लेते है।

दीक्षार्थी को दीक्षा देने मे पहले वीतराग प्ररूपित साधु मार्ग, आचार गोचर, परीषह समिति गुप्ति भाव विशुद्धि आदि का स्वरूप समझाना चाहिए। समझाने पर यदि उसकी धर्म दृढता और सहन–शीलता मालूम पडे, तो उसके खास घर वालो की आज्ञा लेकर दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा देते समय दीक्षार्थी के यह कहने पर कि मुझे दीक्षा दो, तब उसको देव गुरु को विधि–वत् वन्दन करवा कर 'इरियावही, तस्सउत्तरी' का पाठ उच्चारण करके कायोत्सर्ग करवा कर विधि पूर्वक 'करेमि भते' का पाठ उच्चारण करावे।

ठाणाग २ उद्देशा १ में बतालाया गया है कि दीक्षा देने वाले का और दीक्षा लेने वाले का मुँह पूर्व–अथवा उत्तर दिशा की तरफ रहना चाहिये। अन्यत्र टीका में यह भी लिखा है कि दीक्षार्थी दीक्षा देने वाले के वाम भाग में खडा रहे। यह स्थिति दीक्षा देने वाले का मुह उत्तर की तरफ और दीक्षा लेने वाले का मुह पूर्व की ओर रहे, तो सुगमता से बन सकती है।

उपरोक्त सोलह गुणों वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है।

(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक ६३–७८)

काल दोष से कोई गुण न हो तो भी बहुतसे गुण तो होने ही चाहिए।

दीक्षा दाता की योग्यता

दीक्षा देनेवाले में नीचे लिखे पन्द्रह गुण होने चाहिए।

१ विधिप्रपन्न प्रव्रज्य—दीक्षा देने वाला गुरु ऐसा होना चाहिए जिसने स्वयं विधि पूर्वक दीक्षा ली हो।

२ आसेवित गुरुक्रम—जिसने गुरु की चिरकाल तक सेवा की हो अर्थात् जो गुरु के समीप रहा हो।

३ अखण्डित व्रत—व्रतों का अखण्ड पालन करनेवाला हो।

४ विधि पठितागम—सूत्र अर्थ और तदुभय रूप आगम जिसने गुरु के पास रह कर विधि पूर्वक पढ़े हों।

५ तत्त्ववित्—शास्त्रों के अध्ययन से निर्मल ज्ञानवाला होने से जो जीवाजीवादि तत्त्वों को अच्छी तरह जानता हो।

६ उपशान्त—मन वचन और काया के विकार से रहित हो।

७ वात्सल्य युक्त—साधु साध्वी श्रावक और श्राविका रूप संघ में वत्सलता अर्थात् प्रेम रखने वाला हो।

८ सर्व सत्त्वहितान्वेषी—संसार के सभी प्राणियों का हित चाहने वाला हो।

९ आदेय—जिसकी बात दूसरे लोग मानते हों।

१० अनुवर्तक—विभिन्न स्वभाव वाले शिष्यों को ज्ञान दर्शन चारित्र की शिक्षा देकर उनका पालन पोषण करने वाला हो।

११ गम्भीर—रोष अर्थात् क्रोध और तोष अर्थात् प्रसन्न अवस्था में भी जिसके दिल की बात को कोई न समझ सके।

१२ अविषादि—किसी भी प्रकार का उपसर्ग होने पर भी दीनता न दिखावे अर्थात् न घबरावे।

१३ उपशम लब्ध्यादि युक्त—उपशम लब्धि आदि लब्धियों को धारण करनेवाला हो जिस लब्धि अर्थात् शक्ति से दूसरे को शान्त कर दिया जाय उसे उपशमलब्धि कहते हैं।

१४ सूत्रार्थ भाषक-आगमो के अर्थ को ठीक ठीक बतानें वाला हो।

१५ स्वगुर्वनुज्ञान गुरु पद-अपने गुरु से जिसे गुरु बनने की अनुमति मिल गई हो।

इन पन्द्रह में से जिस गुरु में जितने गुण कम हो वह उनकी अपेक्षा मध्यम या जघन्य गुरु कहा जाता है। काल दोष से कोई गुण न हो तो बहुत गुण तो उसमें होने ही चाहिए।

(धर्मसग्रह अधिकार ३ श्लोक ८०, ८४ पृ ७)

परिवार बढाने की और आहार पानी आदि से सेवा करवाने की दृष्टि न रखते हुए, दीक्षार्थी पर अनुग्रह करने के लिए और अपने कर्मों की निर्जरा के लिए दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षार्थी की परीक्षा

दीक्षा लेने वाले से उसके नाम, ग्राम, कुल, जाति, व्यवसाय, आचरण, सरक्षक, कारण आदि का परिचय प्राप्त करे। अर्थात् दीक्षार्थी कौन है, किस ग्राम नगरादि का रहने वाला है, इसका कुल जाति आदि खानदान कैसा है ? गृहस्थावस्था का चाल चलन कैसा है ? क्या व्यापार (कार्य) करता है ? दीक्षा क्यो लेता है ? दीक्षा लेने का क्या कारण है ? इसके सरक्षक कौन है ? इत्यादि बातो का परि-चय उससे पूछकर तथा उसके परिचित व्यक्तियो से पूछकर प्राप्त करे। यदि इन बातो से उसकी दीक्षा सम्बन्धी योग्यता का पता लग जाय, तो फिर उसे मुनि मार्ग की वास्तविक कठिनाइयो का बोध करावे। भौतिक पदार्थों मे आसक्त, कायर पुरुषो के लिए मुनि मार्ग अत्यन्त कठिन है, और आरम्भ से निवृत्त भौतिक पदार्थों की लालसा से रहित शूरवीर पुरुषो के लिए कठिन नही है। वे उत्साह पूर्वक मुनि मार्ग का आचरण करके परम पद की प्राप्ति कर लेते है।

दीक्षार्थी को दीक्षा देने से पहले वीतराग प्ररूपित साधु मार्ग, आचार गोचर, परीषह समिति गुप्ति भाव विशुद्धि आदि का स्वरूप समझाना चाहिए। समझाने पर यदि उसकी धर्म दृढता और सहन-शीलता मालूम पडे, तो उसके खास घर वालो की आज्ञा लेकर दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा देते समय दीक्षार्थी के यह कहने पर कि मुझे दीक्षा दो, तब उसको देव गुरु को विधि-वत् वन्दन करवा कर 'इरियावही, तस्सउत्तरी' का पाठ उच्चारण करके कायोत्सर्ग करवा कर विधि पूर्वक 'करेमि भते' का पाठ उच्चारण करावे।

ठाणाग २ उद्देशा १ में बतलाया गया है कि दीक्षा देने वाले का और दीक्षा लेने वाले का मुँह पूर्व-अथवा उत्तर दिशा की तरफ रहना चाहिये। अन्यत्र टीका में यह भी लिखा है कि दीक्षार्थी दीक्षा देने वाले के वाम भाग में खडा रहे। यह स्थिति दीक्षा देने वाले का मुह उत्तर की तरफ और दीक्षा लेने वाले का मुह पूर्व की ओर रहे, तो सुगमता से बन सकती है।

दीक्षा के अवसर पर दीक्षा लेने वाले के कल्पानुसार जितनी जरूरत हो उतने ही वस्त्र पात्रादि उपकरण लेना चाहिए अधिक नहीं।

शिक्षा देने के पश्चात् फिर भी यदि कोई परीक्षा करना हो तो प्रवचन की विधि के अनुसार जघन्य सात दिन यावत् उत्कृष्ट छह मास तक परीक्षा की जा सकती है।

छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा) देने के पहले उसके साथ आहारादि नहीं करना चाहिए और उसकी गवेषणा का लाया हुआ आहारादि न लेना चाहिए। छेदोपस्थापनीय (बड़ी दीक्षा) कम से कम सात दिन से देना चाहिए।

बृहत्कल्प उद्देशा ३ में बतलाया गया है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र के समय वे ही वस्त्र पात्रादि उपकरण रखने चाहिए जो दीक्षा ग्रहण करते समय लिए थे यदि कोई गृहस्थ नवीन लाकर दे तो उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिए।

दीक्षा योग्य क्षेत्र

धर्म ध्यान करने के स्थान में अर्थात् जिस स्थान पर भगवान् विराजे हों या साधु साध्वी ठहरे हुए हों या देवालय में वाटिका में वृक्ष आदि के नीचे इत्यादि रमणीय स्थान दीक्षा के योग्य है। श्मशान शून्यगृह दग्धगृह भग्नगृह (खण्डहर) आदि स्थान दीक्षा देने के अयोग्य बताये हैं।

दीक्षा का फल

दीक्षा लेकर सिंह की तरह शूरवीरता के साथ शुद्ध संयम का पालन करना सर्व श्रेष्ठ है। शुद्ध संयम में लीन रहने वाले मुनियों के सुख के सामने देवलोक का सुख भी फीका है। भगवती सूत्र शतक १४ उ. ९ में बताया गया है कि एक मास की पर्याय वाला साधु वाणव्यन्तर देवों के सुख का भी अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् वह वाणव्यन्तर देवों से भी अधिक सुखी है। दो मास की पर्याय वाला भवनवासि देवों (इन्द्र के सिवाय) के सुख का तीन मास की पर्याय वाला असुरकुमारों के सुख का चार मास की पर्याय वाला ग्रह नक्षत्र और तारा रूप ज्योतिषी देवों के सुख का पांच मास की पर्याय वाला ज्योतिषी के इन्द्र सूर्य और चन्द्र के छः मास की पर्याय वाला सौधर्म और ईशानवासी देवों के सात मास की पर्याय वाला सनत्कुमार और माहेन्द्र तक देवों के सुख का आठ मास की पर्याय वाला ब्रह्मलोक और लान्तकवासी देवों के नव मास की पर्याय वाला महाशुक्र और सहस्रार देवों के सुख का

दस मास की पर्याय वाला आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवो के सुख को, ग्यारह मास की पर्याय वाला ग्रैवेयक देवो सुख को, और बारह मास तक चारित्र का यथातथ्य पालन करनेवाला निर्ग्रन्थ, अनुत्तर विमानवासी देवो के सुखो से भी अधिक सुखी हो जाता है। इससे अधिक समय तक शुद्ध सयम का पालन करने वाला तो सिद्ध बुद्ध होकर समस्त दुखो का अत कर देता है। इन्ही आत्मिक सुखो की प्राप्ति के लिये तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि अतुल सासारिक सुख सम्पत्ति और राजपाट को छोड कर दीक्षित हो, भिक्षु पद अगीकार करते हैं। देवलोक के सुखो मे रहे हुए भी सम्यग्दृष्टि देव एव अहमिन्द्र आदि इस भिक्षु पद की आकाक्षा करते हैं। अत प्रत्येक भिक्षु को शास्त्रोक्त निर्ग्रन्थाचार का पालन करना चाहिये।

दीक्षा अगोकार करके जो शुद्ध सयम का पालन नही करते है और उसमे तल्लीन नही रहते है उनको सयम (जो कि सुखो का स्थान है) महानरक के समान दुखदायी मालूम होता है। जो पौद्--गलिक सुखो के लिये सयम से पतित हो जाते है अथवा सयम में शिथिल बन जाते है, सयम का विधि-वत् पालन नही करते है, उनका ससार परिभ्रमण नही घटता। वे आत्मिक सुखो से वचित रहते है। उन्हे सुगति प्राप्त होना दुर्लभ है। जैसा कि कहा गया है --

"सुहसायगस्स समणस्स, सायाउल्लगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणा पहोयस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥

(दशवै अ ४ गा २६)

अर्थ--सुख मे आसक्त रहने वाले-सुख के लिये व्याकुल रहने वाले, अत्यन्त सोने वाले, शरीर की विभूषा करने वाले और हाथ पैर आदि धोने वाले साधु को सुगति मिलना दुर्लभ है।

शुद्ध सयम का पालन करने वाले को सुगति सुलभ होती है--

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥

(दशवै अ ४ गा २७)

अर्थ--तप रूपी गुण से प्रधान, सरल बुद्धिवाले, क्षमा और सयम में तल्लीन, परिषहो को जीतने वाले साधु को सुगति, मोक्ष मिलना सुलभ है। तप सयम में अनुरक्त, सरल प्रकृति वाले तथा बाईस परीषहो को समभावपूर्वक सहन करने वाले साधक के लिये सुगति प्राप्त होना सरल है।

पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो य, खंती य बंभचेरं च ॥

(दशवै अ ४ गा २८)

अर्थ—जिनको तप और संयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं ऐसे साधक यदि पिछली अवस्था में भी अर्थात् वृद्धावस्था में भी चढ़ते परिणामों से संयम स्वीकार करते हैं तो वे शीघ्र ही स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

दीक्षा के अयोग्य

तओ णो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं जहा-पंडए वाइए कीवे।

(ठाणांग ३ उ ४ तथा बृहत्कल्प उ ४)

अर्थ—तीन को दीक्षा देना नहीं कल्पता है। यथा—पण्डक (नपुंसक) वातिक और क्लीब।

(१) पण्डक (नपुंसक)—जिसे स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा हो उसे नपुंसक कहते हैं।

(२) वातिक—जो नग्न स्त्री आदि को देख कर वीर्य को न रोक सके उसे वातिक कहते हैं। अथवा व्याधित अर्थात् रोगी।

(३) क्लीव—असमर्थ अर्थात् जो स्त्री आदि को देख कर उनके शब्द सुनकर अथवा उनसे निमन्त्रणादि पाकर अपने ब्रह्मचर्य को कायम न रख सके उसे क्लीब कहते हैं।

इन तीन को दीक्षा देना नहीं कल्पता है क्योंकि इनके उत्कट वेद का उदय होने से ये दीक्षा पालने में असमर्थ हैं। यदि बिना मालूम पड़े अनजाने में इन्हें दीक्षा दे दी हो तो फिर भी मुण्डित करना शिक्षा देना बड़ी दीक्षा देना साथ आहार करना आदि नहीं—कल्पता है।

उपरोक्त मूलपाठ के आधार से टीकाकार ने टीका में तथा प्रवचनसारोद्धार' और 'धर्मसंग्रह में अठारह प्रकार के पुरुषों को तथा बीस प्रकार की स्त्रियों को दीक्षा के अयोग्य बताया है। वे इस प्रकार हैं—

बाले वुड्ढे नपुंसे य, जड्डे कीवे य वाहिए। तेणे रायावगारी य, उम्मत्त य अदंसणे ॥१॥
दासे दुट्ठे य मूढे य, अणत्ते जुंगिए इय। ओबद्धए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय ॥२॥
गुव्विणी बालवच्छाय, पव्वावेउ न कप्पइ।

१ बाल—जन्म से लेकर आठ वर्ष तक बालक कहा जाता है। बाल स्वभाव के कारण वह देश विरति या सर्वविरति चारित्र को अंगीकार नहीं कर सकता।

२ वृद्ध—सत्तर वर्ष से ऊपर वृद्धावस्था मानी जाती है। शारीरिक अशक्ति के कारण वृद्ध भी दीक्षा के योग्य नहीं होते। कुछ आचार्य साठ वर्ष से ऊपर वृद्धावस्था मानते हैं। यह बात १०० वर्ष की आयु को लक्ष्य करके कही गई है।

३ नपुसक–जिसको स्त्री और पुरुष दोनो की अभिलाषा हो उसे नपुसक कहते है। प्राय अशुभ भावना वाला तथा लोकनिन्दा का पात्र होने के कारण वह दीक्षा के अयोग्य होता है ।

४ क्लीव–पुरुष की आकृति वाला होकर भी स्त्री के समान हाव भाव और कटाक्ष करने वाला। यह भी दीक्षा के योग्य नही होता ।

५ जड–जड तीन प्रकार का होता है–भाषा जड, शरीर जड और करण जड ।

(क) भाषा जड के तीन भेद है–जलमूक, मन्मनमूक और एलकमूक । जो व्यक्ति पानी मे डूबे हुए के समान केवल बुडबुड करता है, कुछ भी स्पष्ट नही कह सकता,उसे जलमूक कहते है। बोलते समय जिसके मुँह से कोई शब्द स्पष्ट न निकले, केवल अधूरे और अस्पष्ट शब्द निकलते रहे, उसे मन्मनमूक कहते है। जो व्यक्ति भेड-या बकरी के समान शब्द करता है, उसे एलकमूक कहते है। ज्ञान ग्रहण में असमर्थ होने के कारण भाषाजड, दीक्षा के योग्य नही होना ।

(ख) शरीर जड–जो व्यक्ति बहुत मोटा होने के कारण विहार, गोचरी, वन्दना आदि करने में असमर्थ है, उसे शरीर जड कहते है ।

(ग) करणजड–जो व्यक्ति समिति, गुप्ति प्रतिक्रमण, प्रत्युपेक्षण पडिलेहना आदि साधु के लिए आवश्यक क्रियाओ को नही समझ सकता, या नही कर सकता, वह करण जड (क्रियाजड) है ।

तीनो प्रकार के जड, दीक्षा के लिए योग्य नही होते ।

६ व्याधित–किसी बडे रोग वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नही होता ।

७ स्तेन–खात खनना, मार्ग में चलते हुए को लूटना आदि किसी प्रकार से चोरी करने वाला व्यक्ति, दीक्षा के योग्य नही होता। उसके कारण सघ की निन्दा तथा अपमान होता है ।

८ राजापकारी–राजा,राजपरिवार, राज्य के अधिकारी या राज्य की व्यवस्था का विरोध करने वाला दीक्षा के योग्य नही होता। उसे दीक्षा देने से राज्य की ओर से सभी साधुओ पर रोष होने का कारण रहता है ।

९ उन्मत्त–यक्ष आदि के आवेश या मोह के प्रबल उदय से जो कर्त्तव्य को भूलकर परवश हो जाता है और अपनी विचार शक्ति को खो देता है, वह उन्मत्त कहलाता है ।

१० अदर्शन–दृष्टि अर्थात् विना नेत्रो वाला अन्धा। अथवा दृष्टि अर्थात् सम्यक्त्व से रहित (प्रकट रूप से श्रद्धाहीन) तथा स्त्यानगृद्धि निद्रावाला। अन्धा आदमी जीव की रक्षा नही कर सकता अथवा श्रद्धाहीन, दूसरो को श्रद्धाहीन बनाने का प्रयत्न करता है और स्त्यानगृद्धिवाले से निद्रा मे कई प्रकार के उत्पात हो जाने का भय रहता है। इसलिए ये दीक्षा के योग्य नही होते ।

११ दास–घर की दासी से उत्पन्न हुआ, अथवा दुर्भिक्ष आदि में धन देकर खरीदा हुआ या जिस

पर कर्ज का भार हो उसे दास कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने से उसका मालिक वापिस बुलाने का प्रयत्न करता है। इसलिए वह भी दीक्षा का अधिकारी नहीं होता।

१२ दुष्ट-दुष्ट दो तरह का होता है-कषाय दुष्ट और विषय दुष्ट। जिस व्यक्ति के काम आदि कषाय बहुत उग्र हों उसे कषायदुष्ट कहते हैं और काम मार्गों में अत्यन्त गढ़ व्यक्ति को विषयदुष्ट कहते हैं।

१३ मूढ़-जिसमें हिताहित का विचार करने की शक्ति नहीं हो।

१४ ऋणात-जिस पर राज्य आदि का ऋण हो।

१५ जुंगित-जुंगित का अर्थ है दूषित या हीन। जुंगित तीन प्रकार का होता है-जाति जुंगित कर्म जुंगित और शरीर जुंगित।

(क) जाति जुंगित-चण्डाल कालिक डोम आदि अस्पृश्य जाति के लोग जाति जुंगित हैं।

(ख) कर्म जुंगित-कसाई शिकारी मच्छीमार धोबी आदि निन्द्यकर्म करने वाले कर्म जुंगित हैं।

(ग) शरीर जुंगित-हाथ पैर कान नाक ओठ-इन अंगों से रहित पंगु कुबड़ा काणा कोढ़ी वगैरह शरीर जुंगित है। चमार जुलाहा आदि निम्न जाति के शिल्प से आजीविका करने वाले शिल्प जुंगित का चौथा प्रकार भी है। ये सभी दीक्षा के अयोग्य है। इन्हें दीक्षा देने से लोक में अपयश होने की संभावना रहती है।

१६ अवबद्ध-धन लेकर नियत काल के लिए जो व्यक्ति पराधीन बन गया है वह अवबद्ध कहलाता है। इसी प्रकार विद्या पढ़ने के निमित्त से जिसने नियत काल तक पराधीन रहना स्वीकार कर लिया है वह भी अवबद्ध कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने से क्लेश आदि की शंका रहती है।

१७ भृतक-नियत अवधि के लिए वेतन पर कार्य करने वाला व्यक्ति भृतक कहलाता है। उसे दीक्षा देने से मालिक अप्रसन्न हो सकता है।

१८ शैक्ष निस्फेटिका-माता पितादि की रजामन्दी के बिना जो दीक्षार्थी भगाकर लाया गया हो या भाग कर आया हो वह भी दीक्षा के अयोग्य होता है। उसे दीक्षा देने से माता पिता के कर्म बन्ध का संभव है एवं साधु अदत्तादान दोष का भागी होता है। ×

पुरुषों की तरह उक्त अठारह प्रकार की स्त्रियाँ भी उक्त कारणों से दीक्षा के अयोग्य बतलाई

× उपरोक्त अठारह बोल उत्सर्ग मार्ग को लक्ष्य में रख कर कहे गए हैं। अपवाद मार्ग में गुरु आदि उस दीक्षार्थी की योग्यता देख कर सूत्रव्यवहार के अनुसार दीक्षा दे सकते हैं। और आगमव्यवहारियों पर तो ये उपरोक्त नियम लागू ही नहीं होते हैं।

गई है। इनके सिवाय गर्भवती और स्तन पान करनेवाले छोटे बच्चोवाली स्त्रियाँ भी दीक्षा के अयोग्य है। इस प्रकार दीक्षा के अयोग्य स्त्रियाँ कुल वीस है।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार १०८ गा ७९२ तथा धर्मसग्रह अधि ३ श्लोक ७८ पृ ३)

अयोग्य दीक्षा का निषेध

जिणवयणे पडिकुट्ठं, जो पव्वावेइ लोभदोसेणं ।
चरणट्ठिओ तवस्सी, लोवेइ तमेव उ चरित्तं ॥

(पचवस्तु गा ५७४)

अर्थ–जिनवचन मे निषिद्ध अर्थात् उपर्युक्त अयोग्य व्यक्तियो में से किसी को भी जो मुनि लोभ के वशीभूत होकर दीक्षा दे दे, तो वह मुनि चारित्र का उल्लघन करता है।

"जो भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासयं वा अणुवासयं वा जे अणलं पव्वावेइ पव्वावंतं वा साइज्जइ" (निशीथ उद्देशक ११)

अर्थ–जो साधु नायक स्वजन अथवा जानकार को तथा अनायक-अस्वजन अथवा अजानकार को एव उपासक, श्रावक, समदृष्टि तथा अनुपासक, अश्रावक या मिथ्यादृष्टि, इसमे से कोई भी हो, किन्तु वह दीक्षा के अयोग्य हो अथवा अयोग्य हो गया हो, तो उस अयाग्य को दीक्षा दे, दिलावे और देते हुए को अच्छा जाने, तो गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। अत किसी भी अयोग्य को दीक्षा नही देनी चाहिये।

गणि सम्पद (आचार्य के गुण)

आचार्य, समस्त सघ के अधिपति होते है। मोक्ष मार्ग पर चलने वाले सार्थ के महान् सार्थवाही होते है। जिनेश्वर भगवान् के धर्म शासन के शासक, सारणा वारणा धारणा द्वारा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार मे वृद्धि करने वाले, रक्षक तथा शिथिलाचार एव अनाचार के वारक, अवरोधक होते है। वे सस्कार का सिंचन करते रहते है और विकार को नष्ट करते है, विकार को उत्पन्न नही होने देते, फैलने नही देते। जिनेश्वर भगवान् के धर्म साम्राज्य की जिम्मेदारी आचार्य पर होती है। ऐसे सघ सञ्चालक आचार्य भगवत में आगे लिखे ३६ गुण होने ही चाहिये। इन गुणो से युक्त होकर जो सघ का सचालन करते है, वे पच परमेष्टि के तीसरे पद मे वदनीय होते है। वे ३६ गुण इस प्रकार है।

१ आचार सम्पदा से सम्पत्तिमान–आगमों में बताये हुए आचार से युक्त होना आचार सम्पदा है। जो आचार्य भगवान् के बताये हुए ज्ञानादि पांच आचार का पालन करते हैं वे आचार रूपी धन के धनी हैं। यह आचार सम्पदा चार प्रकार की है –

१ संयम ध्रुवयोग युक्त–संयम में तीनों योग से दृढ़ और स्थिर रहना। अर्थात्–प्रतिलेखना स्वाध्याय आदि में और अवश्य करने योग्य क्रियाओं में लीन रहना तथा आस्रवनिरोध आदि १७ प्रकार के संयम में सावधान रहना।

२ अहंकार से रहित।

३ अप्रतिबद्ध विहारी।

४ वृद्ध शीलता–शरीर और आयु से वृद्ध नहीं होने पर भी वृद्धों की तरह गम्भीर अनुभवी और शांत हो। चपलता रहित हो।

२ श्रुतसम्पदा–ज्ञान रूपी लक्ष्मी से लक्ष्मीपति। जिनका स्वागम परागम का ज्ञान भंडार भरपूर हो। यह ज्ञान लक्ष्मी चार प्रकार की होती है।

१ बहुश्रुत–बहुत से शास्त्रों के ज्ञाता।

२ परिचित श्रुत–केवल वाचन मात्र से ही बहुश्रुत नहीं हो किन्तु पठित श्रुत की स्मृति को कायम रखने वाले और मर्मज्ञ हों।

३ विचित्र श्रुत–स्व समय परसमय नय निक्षेप द्रव्य गुण पर्यायादि विविध प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न हों।

४ घोषविशुद्धि–जिनका उच्चारण शुद्ध हो भाषा के नियम से युक्त हो हित मित वचन बोलने वाले।

३ शरीर सम्पदा–जिनका शरीर विरूप नहीं हो प्रमाण से अधिक लम्बा या ठिगना नहीं हो हीनांग नहीं हो। आकर्षक और शुभ लक्षण युक्त शारीरिक सम्पत्ति हो। इसके चार प्रकार हैं।

१ ऊँचाई और चौड़ाई प्रमाण युक्त हो।

२ आकृति घृणाजनक हास्योत्पादक और कुरूप नहीं हो।

३ दृढ़ और स्थिर संहनन हो। बलवान हो।

४ पाँचों इन्द्रियें पूर्ण हो।

४ वचन सम्पदा–वाणी की विशिष्टता आकर्षकता युक्त होना। इसके भी चार प्रकार हैं।

१ आदेय वचन–स्वीकार करने योग्य श्रद्धास्पद वचन हो। सैद्धांतिक वचन एवं प्रामाणिक वचन वाले हों।

२ मधुर वचन–जिनकी वाणी मीठी हो, जिसे सुनने के लिए श्रोता लालायित रहते हो।
३ अनिश्रित वचन–पक्षपात रहित और क्रोधादि कषाय से वचित हितमित वाणी हो।
४ असदिग्ध वचन–जिनकी वाणी सन्देह रहित, स्पष्ट और श्रद्धा बढाने वाली हो। शका उत्पन्न करने वाले वचन नही हो।

५ वाचना सम्पदा–शिष्यो को पढाने की कला, श्रुतज्ञान का प्रचार करने की योग्यता को वाचना सम्पदा कहते है। यह भी चार प्रकार की है।

१ विदित उद्देश्य–शिष्य की योग्यतानुसार पाठ्य वस्तु निश्चित्त करके पढाना।
२ विदित वाचना–शिष्य की धारणा शक्ति और योग्यता के अनुसार हेतु दृष्टान्तादि से युक्त, प्रमाण और नय सापेक्ष रहस्य ज्ञान देना।
३ उपयुक्त वाचना–जितना उपयुक्त है, उतनाही सिखाना, पढाये हुए सूत्र को सन्देह रहित स्मृति में होने पर अर्थ ज्ञान देना।
४ अर्थ निर्यापकता–सूत्र प्रतिपादक जीव, अजीव आदि तत्त्वो का निर्णायक, एव रहस्य ज्ञान देना, उत्सर्ग, अपवाद तथा पूर्वापर सगति पूर्वक पढाना।

६ मति सम्पदा–मति की निर्मलता, वस्तु के हेयोपादेय को समझने की निपुणता, एव बुद्धि–चातुर्य, मति सम्पदा है। यह भी चार प्रकार की है।

१ अवग्रह मति सम्पदा–सामान्य रूप से-बिना विस्तार के वस्तु का ग्रहण करना। इसके निम्न लिखित छ भेद है।
  १ सकेत मात्र सुनकर शीघ्र ही सारी वस्तु समझ लेना।
  २ बहुतसी बातो का एक साथ ग्रहण कर लेना।
  ३ वस्तु को अनेक प्रकार से ग्रहण करना।
  ४ ध्रुव ग्रहण–स्थिर और निश्चल रूप से ग्रहण करना।
  ५ अनिश्रित ग्रहण–हृदय पर अकित कर लेना, जिससे किसी पुस्तकादि का सहारा लेने की आवश्यकता नही रहे।
  ६ असदिग्ध ग्रहण–सदेह रहित ग्रहण करना, जिसमे किसी प्रकार का सशय नही रहे।
२ ईहा मति सम्पदा–सामान्य रूप से जानी हुई वस्तु को विशेष रूप से जानना, जिज्ञासा पूर्वक भेद प्रभेद युक्त जानना। इसके भी 'अवग्रह' की तरह छ भेद है।
३ अवाय मति सम्पदा–ईहा द्वारा जानी हुई वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान करना। इसके भी अवग्रह की तरह छ भेद होते है।

२ मधुर वचन-जिनकी वाणी मीठी हो, जिसे सुनने के लिए श्रोता लालायित रहते हो।
३ अनिश्रित वचन-पक्षपात रहित और क्रोधादि कषाय से वचित हितमित वाणी हो।
४ असदिग्ध वचन-जिनकी वाणी सन्देह रहित, स्पष्ट और श्रद्धा बढाने वाली हो। शका उत्पन्न करने वाले वचन नही हो।

५ वाचना सम्पदा-शिष्यो को पढाने की कला, श्रुतज्ञान का प्रचार करने की योग्यता को वाचना सम्पदा कहते है। यह भी चार प्रकार की है।

१ विदित उद्देश्य-शिष्य की योग्यतानुसार पाठ्य वस्तु निश्चित्त करके पढाना।
२ विदित वाचना-शिष्य की धारणा शक्ति और योग्यता के अनुसार हेतु दृष्टान्तादि से युक्त, प्रमाण और नय सापेक्ष रहस्य ज्ञान देना।
३ उपयुक्त वाचना-जितना उपयुक्त है, उतनाही सिखाना, पढाये हुए सूत्र को सन्देह रहित स्मृति में होने पर अर्थ ज्ञान देना।
४ अर्थ निर्यापकता-सूत्र प्रतिपादक जीव, अजीव आदि तत्त्वो का निर्णायक, एव रहस्य ज्ञान देना, उत्सर्ग, अपवाद तथा पूर्वापर सगति पूर्वक पढाना।

६ मति सम्पदा-मति की निर्मलता, वस्तु के हेयोपादेय को समझने की निपुणता, एव बुद्धि-चातुर्य, मति सम्पदा है। यह भी चार प्रकार की है।

१ अवग्रह मति सम्पदा-सामान्य रूप से-बिना विस्तार के वस्तु का ग्रहण करना। इसके निम्न लिखित छ भेद है।
  १ सकेत मात्र सुनकर शीघ्र ही सारी वस्तु समझ लेना।
  २ बहुतसी बातो का एक साथ ग्रहण कर लेना।
  ३ वस्तु को अनेक प्रकार से ग्रहण करना।
  ४ ध्रुव ग्रहण-स्थिर और निश्चल रूप से ग्रहण करना।
  ५ अनिश्रित ग्रहण-हृदय पर अकित कर लेना, जिससे किसी पुस्तकादि का सहारा लेने की आवश्यकता नही रहे।
  ६ असदिग्ध ग्रहण-सदेह रहित ग्रहण करना, जिसमे किसी प्रकार का सशय नही रहे।
२ ईहा मति सम्पदा-सामान्य रूप से जानी हुई वस्तु को विशेष रूप से जानना, जिज्ञासा पूर्वक भेद प्रभेद युक्त जानना। इसके भी 'अवग्रह' की तरह छ भेद है।
३ अवाय मति सम्पदा-ईहा द्वारा जानी हुई वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान करना। इसके भी अवग्रह की तरह छ भेद होते है।

४ धारणा मति सम्पदा—जाना हुई वस्तु का स्मरण में रखना। इसके निम्न छ भेद हैं।

१ बहुत धारणा—एक वस्तु को सुनकर उस जाति की अनेक वस्तुऐं धारण कर लेना।

२ बहुविध धारणा—भिन्न भिन्न प्रकार से अनेक प्रकार से धारण करना।

३ पुरानी बातें याद रखना।

४ कठिन वस्तुओं का धारण करना जिनका स्मृति में रखना बड़ा दुष्कर होता है। भग जाल आदि को याद रखना।

५ बिना किसी पुस्तक या ग्रंथ की सहायता के ही याद रखना।

६ सन्देह रहित—निःशंकता पूर्वक स्मृति में रखना।

७ प्रयोग सम्पदा—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का विचार करने के बाद वाद आदि में प्रवृत्त होना प्रयोग सम्पदा है। हिताहित का विचार करके चर्चा में प्रवृत्त होना प्रयोग सम्पदा है। इसके चार भेद है।

१ अपना सामर्थ्य जानकर ही बाद में प्रवृत्त होना।

२ परिषद को जानकर वाद में प्रवृत्त होना।

३ क्षेत्र को जानकर फिर वाद में प्रवृत्त होना।

४ विषय को समझकर वाद में उतरना। वस्तु अथवा प्रतिपक्षी को समझकर उस पर विचार करने के बाद वाद में प्रवृत्ति करना।

८ संग्रह परिज्ञा सम्पदा—बुद्धि पूर्वक गण ज्ञान ध्यान और संयम के साधनों का संग्रह करना। इसके चार प्रकार है।

१ क्षेत्र प्रतिलेखना—सभी मुनियों के लिए चातुर्मास के योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना करना। वर्षाकाल में निर्ग्रन्थों की मर्यादा के अनुसार क्षेत्र की गवेषणा करना।

२ प्रतिहारिक पदार्थ ग्रहण—मुनियों के लिए उपयोगी और वापिस लौटाने योग्य पीठ फलक शय्या संथारा प्राप्त करने वाला।

३ समयानुसार क्रिया करे—स्वाध्याय प्रतिलेखना प्रतिक्रमण गोचरी वैयावृत्य आदि उचित समय पर ही करना।

४ बड़ों का सत्कार करे—रत्नाधिक साधुओं का विधि पूर्वक सत्कार सम्मान करे।

६ शिष्यों को विनय धर्म की शिक्षा देना-पाच प्रकार के आचार के पालक आचार्यप्रवर अपने शिष्यो को चार प्रकार के विनय धर्म की शिक्षा देते है। अपने अधीनस्थ मुनियो को सुशिक्षित करने पर ही वे कर्त्तव्य पालक और शिष्यो के ऋण से मुक्त होते है। आचार्य शिष्यो को ग्रहण करते है, तब उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उन्हे धर्म शिक्षा देकर उनके उत्थान मे सहायक बने। आचार्य पर अपने अधीनस्थ मुनियो का यह कर्ज हो जाता है। वे अपने शिष्यों को विनय धर्म की समुचित शिक्षा देकर ऋण-मुक्त होते हैं। वह विनय चार प्रकार का है। यथा-

१ आचार विनय-मोक्ष के ध्येय से किया हुआ शुद्ध आचरण, आचार विनय कहलाता है। इसके चार प्रकार है। यथा-

१ सयम समाचारी-सतरह प्रकार के सयम को शुद्ध रूप में शिष्यो से पलाना। डिगते हुए को स्थिर करना और निर्वाण मार्ग मे आगे बढाते जाना।

२ तप समाचारी-बारह प्रकार के तप में जोडना, वृद्धि करना, तपस्वी को उत्साहित करना आदि।

३ गण समाचारी-गण की सारणा वारणादि द्वारा रक्षा करना। प्रतिलेखनादि क्रिया और ग्लान, वृद्ध तपस्वी आदि की वैयावृत्य की व्यवस्था करना। उत्साह रहित में उत्साह भरना और गण धारणा के योग्य शिक्षा देना।

४ एकल विहार समाचारी-सयम, तप और गण समाचारी के ज्ञाता, और योग्य अधिकारी को एकल विहार समाचारी समझाना-जिनकल्प के आचार आदि की शिक्षा देना।

२ श्रुत विनय-आगम ज्ञान का अभ्यास करवाना। इसके भी चार भेद है।

१ अग प्रविष्टादि सम्यग्श्रुत का अभ्यास करवाना।

२ सूत्रो के अर्थ का ज्ञान करवाना।

३ हितकारी ज्ञान पढाना। योग्यता के अनुसार पढाना।

४ सम्पूर्ण रूप से-प्रमाण, नय और निक्षेपादि भेद सहित पढाना।

३ विक्षेपणा विनय-मिथ्यात्व अविरति आदि में जाते हुए श्रोता के मन को स्वसमय रूप धर्म में स्थापित करना। इसके भी चार भेद है।

१ जो मिथ्यादृष्टि है, जिसने पहले सम्यग्दृष्टि प्राप्त नही की, उसे समझाकर सम्यग्

दृष्टि बनाना।

३ धर्म से डिगते हुए को स्थिर करना।

४ संयमीजनों के हित सुख और उत्थान के लिए तथा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होना।

४ दोष निर्घातन विनय—क्रोधादि कषायों और हिंसादि पापों का निवारण करना। इसके भी चार भेद हैं।

१ क्रोधी के क्रोध रूपी भूत को मृदु वचनों से उतारना।

२ विषय कषाय अथवा मद आदि दुर्गुणों को दूर करना।

३ पर-पाखण्डादि के आकर्षण से जिसकी रुचि पलट रही हो अथवा पौद्गलिक वासना की जिसमें इच्छा उत्पन्न हुई हो उसकी उस रुचि एवं आकांक्षा का छेदन कर के धर्म में स्थिर करना।

४ आत्म समाधि युक्त खेद रहित और धर्म ध्यान में लीन रहने वाला बनाना तथा श्रद्धा में स्थिर करना।

इस प्रकार आठ सम्पदा और एक शिष्यों के प्रति आचार्य के कर्तव्य इन नौ विषयों के प्रत्येक के चार चार भेद होने से आचार्य के कुल ३६ गुण हुए। इन ३६ गुणों को 'गणि सम्पत्'=आचार्य की ऋद्धि भी कहते हैं। इस प्रकार के गणाधिपति के प्रति शिष्यों का क्या कर्तव्य है वह सूत्रकार महाराज इस प्रकार बतलाते हैं।

गुणवान शिष्यों की चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति है। वह इस प्रकार है।

१ उपकरण उत्पादनता—तप संयम के सहायक उपकरणों को प्राप्त करना। इसके चार भेद हैं—

१ जो उपकरण पास नहीं मिल रहा उन्हें प्राप्त करना।

२ पुराने उपकरणों की रक्षा करना उन्हें ठीक करके काम में लेना।

३ जितने पास उपकरण की कमी है उसकी पूर्ति करना।

४ उपकरणों का यथाविधि विभाग करना।

२ सहायता विनय—गुरु आदि की सेवा करना। इसके भी चार भेद हैं।

१ अनुकूल वचन कहना—आचार्य की आज्ञा को सम्मान पूर्वक स्वीकार करना विनय पूर्वक निवेदन करना और सभी मुनियों के साथ हितकारी वचनों का व्यवहार करना।

२ अनुकूल काय सेवा-गुरु की इच्छानुसार व आज्ञानुकूल वैयावच्च करना।

३ मन के अनुकूल सेवा-गुरु के मन के अनुकूल-उन्हे शान्ति और सुख पहुँचे उस प्रकार सेवा करना।

४ प्रतिकूल नही होना-गुरु की इच्छा के विपरीत कोई भी कार्य नही करना।

३ वर्ण संज्वलनता-आचार्य की, उनके गुण तथा विशेपता की प्रशसा करना-स्तुति करना। इसके भी चार भद है।

१ यथातथ्य गुणानुवाद करना। आचार्य, गण और जिनशासन के वास्तविक गुणो का यशोगान करना।

२ आचार्य, गण अथवा जिनशामन की निन्दा करने वाले को योग्य उत्तर देकर निरुत्तर करना।

३ गुणानुवाद करने वालो को उत्साहित करना।

४ वृद्धो की सेवा करना-जो अपने से वडे है अथवा वयोवृद्ध है उनकी सेवा करना।

४ भारवहन करना-गुरु अथवा गण का भार उठाना और उसका योग्यता पूर्वक निर्वाह करना। यह भी चार प्रकार का है।

१ निराधार शिष्य, जिसके गुरु आदि का विरह हो गया हो, या जो रुष्ट हो, तो ऐसे निराधार शिष्य का सग्रह करना।

२ नवदीक्षित को ज्ञान पढाना और चारित्र की विधि सिखाना।

३ वीमार साधर्मी साधु की यथाशक्ति सेवा करना।

४ साधर्मी साधुओ मे परस्पर कलह उत्पन्न हो जाय, तो स्वय निष्पक्ष रहकर कलह उपशान्त करने का प्रयत्न करना। इससे शान्ति रहेगी, मन मुटाव और वाद विवाद नहीं होगा। विशेष 'तू तू मै मै' इस प्रकार की कटु वाणी का व्यवहार नही होगा और इससे शान्ति पूर्वक सयम और तप से आत्मा की उन्नति होती रहेगी।

इस प्रकार का विनयशील शिष्य, गण की शोभा है। स्वत गण धारण करने के योग्य होता है। ऐसे उत्तम शिष्यो से जिनशासन वृद्धि पाता है। (दशा श्रुतस्कन्ध ४)

इस प्रकार श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र मे आचार्य भगवत के गुणो का वर्णन किया गया है। 'प्रवचन-सारोद्धार' ग्रन्थ मे आचार्य के ३६ गुण दूसरी प्रकार से यो दिये है।

१ आर्य देशोत्पन्न २ उत्तम कुलोत्पन्न ३ उत्तम जातिवत ४ रूप सम्पन्न ५ शारीरिक दृढता ६ धृति (धैर्य) वत ७ अनाशसी=निस्पृही-नि स्वार्थी ८ थोडा वोलने वाले ९ अमायी-सरल १० स्थिर

दृष्टि बनाना ।

३ धर्म से डिगते हुए को स्थिर करना ।

४ सधर्मीजनों के हित सुख और उत्थान के लिए तथा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होना ।

४ दोष निर्घातन विनय—क्रोधादि कषायों और हिंसादि पापों का निवारण करना । इसके भी चार भेद हैं ।

१ क्रोधी के क्रोध रूपी भूत को मृदु वचनों से उतारना ।

२ विषय कषाय अथवा मद आदि दुर्गुणों का दूर करना ।

३ पर-पाखण्डादि के आकर्षण से जिसकी रुचि पलट रही हो अथवा पौद्गलिक वासना की जिसमें इच्छा उत्पन्न हुई हो उसकी उस रुचि एवं आकांक्षा का छेदन कर के धर्म में स्थिर करना ।

४ आत्म समाधि युक्त खेद रहित और धर्म ध्यान में लीन रहने वाला बनाना तथा श्रद्धा में स्थिर करना ।

इस प्रकार आठ सम्पदा और एक शिष्यों के प्रति आचार्य के कर्तव्य इन नौ विषयों के प्रत्येक के चार चार भेद होने से आचार्य के कुल ३६ गुण हुए । इन ३६ गुणों को गणि सम्पत्=आचार्य की ऋद्धि भी कहते हैं । इस प्रकार के गणाधिपति के प्रति शिष्यों का क्या कर्तव्य है वह सूत्रकार महाराज इस प्रकार बतलाते है ।

गुणवान शिष्यों की चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति है । वह इस प्रकार है ।

१ उपकरण उत्पादनता—तप संयम के सहायक उपकरणों को प्राप्त करना । इसके चार भेद है—

१ जो उपकरण पहले नहीं मिले हों उन्हें प्राप्त करना ।

२ पुराने उपकरणों की रक्षा करना उन्हें ठीक करके काम में लेना ।

३ जिसके पास उपकरण की कमी है उसकी पूर्ति करना ।

४ उपकरणों का यथाविधि विभाग करना ।

२ सहायता विनय—गुरु आदि की सेवा करना । इसके भी चार भेद है ।

१ अनुकूल वचन बोलना—आचार्य की आज्ञा का सम्मान पूर्वक स्वीकार करना विनय पूर्वक निवेदन करना और सभी मुनियों के साथ हितकारी वचनों का व्यवहार करना ।

२ अनुकूल काय सेवा-गुरु की इच्छानुसार व आज्ञानुकूल वैयावच्च करना।

३ मन के अनुकूल सेवा-गुरु के मन के अनुकूल-उन्हे शान्ति और सुख पहुँचे उस प्रकार सेवा करना।

४ प्रतिकूल नही होना-गुरु की इच्छा के विपरीत कोई भी कार्य नही करना।

३ वर्ण संज्वलनता-आचार्य की, उनके गुण तथा विशेषता की प्रशसा करना-स्तुति करना। इसके भी चार भद है।

१ यथातथ्य गुणानुवाद करना। आचार्य, गण और जिनशासन के वास्तविक गुणो का यशोगान करना।

२ आचार्य, गण अथवा जिनशामन की निन्दा करने वाले को योग्य उत्तर देकर निरुत्तर करना।

३ गुणानुवाद करने वालो को उत्साहित करना।

४ वृद्धो की सेवा करना-जो अपने से वडे है अथवा वयोवृद्ध है उनकी सेवा करना।

४ भारवहन करना-गुरु अथवा गण का भार उठाना और उसका योग्यता पूर्वक निर्वाह करना।
यह भी चार प्रकार का है।

१ निराधार शिष्य, जिसके गुरु आदि का विरह हो गया हो, या जो रुष्ट हो, तो ऐसे निराधार शिष्य का सग्रह करना।

२ नवदीक्षित को ज्ञान पढाना और चारित्र की विधि सिखाना।

३ बीमार साधर्मी साधु की यथाशक्ति सेवा करना।

४ साधर्मी साधुओ में परस्पर कलह उत्पन्न हो जाय, तो स्वय निष्पक्ष रहकर कलह उपशान्त करने का प्रयत्न करना। इससे शान्ति रहेगी, मन मुटाव और वाद विवाद नही होगा। विशेष 'तू तू मै मै' इस प्रकार की कटु वाणी का व्यवहार नही होगा और इससे शान्ति पूर्वक सयम और तप से आत्मा की उन्नति होती रहेगी।

इस प्रकार का विनयशील शिष्य, गण की शोभा है। स्वत गण धारण करने के योग्य होता है। ऐसे उत्तम शिष्यो मे जिनशासन वृद्धि पाता है। (दशा श्रुतस्कन्ध ४)

इस प्रकार श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र मे आचार्य भगवत के गुणो का वर्णन किया गया है। 'प्रवचन-सारोद्धार' ग्रन्थ मे आचार्य के ३६ गुण दूसरी प्रकार से यो दिये है।

१ आर्य देशोत्पन्न २ उत्तम कुलोत्पन्न ३ उत्तम जातिवत ४ रूप सम्पन्न ५ शारीरिक दृढता ६ धृति (धैर्य) वत ७ अनाशसी=निस्पृही-नि स्वार्थी ८ थोडा बोलने वाले ९ अमायी-सरल १० स्थिर

परिपाटि-निरन्तर अभ्यास से जिनके अनुयोग का क्रम स्थिर हो गया है ११ जिनके वचन आदरणीय हों १२ परिषद को जीतने वाले १३ अल्प निद्रा वाले १४ माध्यस्थ अपक्षपाती १५ क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र की परि-स्थिति और व्यवहार को जानने वाले १६ काल का विचार करके बरतने वाले १७ शिष्यों के भाव को जानकर योग्य प्रवृत्ति करने वाले १८ आसन्न लब्धप्रतिभा-विशिष्ट क्षयोपशम से जो तत्काल ही समयानुकूल सोच लेते हैं १९ अनेक देशों की भाषा के जानने वाले २० ज्ञानाचार के पालक २१ दर्शना-चार २२ चारित्राचार २३ तपाचार और २४ वीर्याचार के पालन व पलवाने वाले २५ सूत्र अर्थ और दोनों के ज्ञाता २६–२९ हेतु दृष्टान्त नय और उपनय में कुशल ३० ग्राहणा कुशल-दूसरों को समझाने में चतुर ३१ स्व समय के ज्ञाता ३२ पर समय के ज्ञाता ३३ गम्भीर ३४ तेजस्वी ३५ शान्त प्रकृति वाले और ३६ सौम्यदृष्टि वाले।

आचार्य भगवंत में और भी अनेक गुण होते हैं। श्री स्थानांग सूत्र के छठे स्थान में आचार्य के मुख्यतः निम्न छह गुण होना बतलाया है जो कि अति आवश्यक है।

१ श्रद्धावंत २ सत्यवंत ३ बुद्धिमान ४ बहुश्रुत ५ सत्त्ववंत और ६ अल्पाधिकरणी।

सबसे पहले श्रद्धा की आवश्यकता है। जो विशुद्ध और दृढ़ श्रद्धालु होते हैं वे ही जिनधर्म का उन्नत कर सकते हैं। इसके बाद सत्य प्ररूपक हो कुशाग्र बुद्धि विशाल ज्ञान भण्डार सत्त्ववंत (किसी की इच्छा के अनुकूल हो कर हाँ में हाँ मिलाने वाले नहीं हो) और अल्प अधिकरण वाले हो। वे ही आचार्य जिनशासन के लिए आधारभूत होते हैं।

आचार्य भगवंत के मुख्यतः छह कर्त्तव्य होते हैं। यथा–

१ सूत्र के अर्थ का निश्चय करना और प्रकरण तथा संस्कृति के अनुकूल अर्थ की शिक्षा देना। अथवा सूत्र और अर्थ के पठन पाठन में संघ को स्थिर करना।

२ विनय की वृद्धि करना। विनयवंत आचार्य के शिष्य गण भी विनयी होते हैं।

३ गुरुजनों की भक्ति सम्मान और आदर करना।

४ शिष्यों का आदर करना।

५ दाताओं की दान विषयक श्रद्धा बढ़ाना।

६ शिष्यों की बुद्धि और धर्मरुचि तथा संयम पालने की शक्ति बढ़ाना उत्साहित करना।

(ठाणांग ६)

यों तो आचार्य भी साधु ही होते हैं किन्तु सामान्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य उपाध्याय भगवंतों के लिए सात अतिशेष विशेषता-विशेष नियम होते हैं। जैसे कि–

१ सामान्यतः यह नियम है कि साधु जब बाहर से आकर उपाश्रयमें प्रवेश करते हैं तब बाहर

ही पाँवो को पूज कर रज को दूर कर देते है। आचार्य उपाध्याय के पाँव भी वाहर ही उनके शिष्य पूजकर रज को दूर कर देते है, किन्तु कभी आचार्य उपाध्याय उपाश्रय में आकर शिष्यो से पाँवो का प्रमार्जन करावे, तो वे आचार का उलघन करने वाले नही वनते, जबकि सामान्य साधु ऐसा नही कर सकते।

२ उपाश्रय में लघुनीत, वडीनीत परठते समय आचार्य उपाध्याय के कही अशुचि लग जाय, तो उसे दूर करते आज्ञा का उलघन करने वाले नही वनते।

३ वृद्ध अथवा रोगी साधु की वैयावृत्य, सामान्य साधुओ को तो करनी ही पडती है, किन्तु आचार्य उपाध्याय वैयावृत्य करे या नही-यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वे नही भी करे, तो अपने आचार का उलघन नही करते।

४ आचार्य उपाध्याय आवश्यकता होने पर एक या दो रात उपाश्रय में अकेले रहे, तो वे आचार का उलघन करने वाले नही होते, किन्तु सामान्य साधु अकेले रहे, तो मर्यादा का भग होता है। आचार्य उपाध्याय प्राय चारित्र में दृढ होते है। उन पर जनता का विश्वास होता है,वे तो कारणवश ही रहते है, अतएव उनके अकेले रहने पर मर्यादा का उल्लघन नही होता।

५ इसी प्रकार उपाश्रय के वाहर अन्यत्र भी एक दो रात अकेले रहे, तो मर्यादा का अतिक्रमण नही होता।

६ अन्य साधुओ की अपेक्षा उनके वस्त्र पात्र शोभित हो, जिससे अन्य लोगो पर उनका प्रभाव पडे। सामान्य साधु को वस्त्रादि सुशोभित नही रखना चाहिए, यदि रखे तो मर्यादा का भग होता है, किन्तु आचार्य के लिए यह छूट है

७ भोजन पानादि विशेषतावाले करे (शिष्य उन्हे आगत आहार में से उत्तम आहार भेट करे और वे स्वीकार करे)तो मर्यादा का भग नही होता। (ठाणाग ७)

इस प्रकार सामान्य साधुओ की अपेक्षा आचार्य उपाध्याय के लिए विशेष छूट है। आचार्य भगवत, गण की पूर्ण व्यवस्था और साल सभाल रखते है। सघ के रक्षक है। यदि सघ-साधु साध्वी, उनकी आज्ञानुसार नही चले, अविनीत, असयमी और उद्दड बन जाय, तो आचार्य उन्हे छोडकर अलग भी हो जाते है (ठाणाग ५–२) उनके सिर पर सघ की पूर्ण जवाबदारी है। सघ में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि होती है, उत्थान होता है, तो उसमे आचार्य की शोभा है। यदि सघ में ज्ञान दर्शन और चारित्र की हीनता हो, शिथिलाचार और स्वच्छन्दता बढती हो, मर्यादा का भग बेरोकटोक होता हो, तो उसमे आचार्य की शोभा नही, किन्तु अपकीर्ति है। उनके प्रभाव में खामी है। 'गच्छाचार पयन्ना' मे कहा है कि–

जीहाए विलिहितो, न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि ।
दंडेणवि ताडतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ॥१७॥

मुंह से मीठा बोलता हुआ जो आचार्य गच्छ के आचार की रक्षा नहीं कर सकता वह अपने गच्छ का हितकर्त्ता नहीं किन्तु अहितकर्त्ता है। और जो आचार्य मीठा नहीं बोलता किन्तु ताडना करता हुआ भी गच्छ के आचार की रक्षा करता है वह आचार्य कल्याण रूप है—आनन्द दायक है।

तित्थयरसमो सूरी, सम्म जो जिणमय पयासइ ।
आणां अइक्कमंतो सो, कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥२७॥

भट्ठायारो सूरी, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी ।
उम्मग्गठिओसूरी, तिन्निवि मग्गं पणासंति ॥२८॥

(गच्छाचार पइण्णा)

जो आचार्य जिनेन्द्र के मार्ग का सम्यग् रूप से प्रचार करते हैं वे तीर्थंकर के समान हैं किन्तु जो आचार्य स्वयं जिनाज्ञा का पालन नहीं करते और दूसरों से नहीं करवाते वे सत्पुरुषों की श्रेणी में नहीं होकर कापुरुष=कायर हैं। जिनेश्वर भगवान् के पवित्र मार्ग को दूषित करनेवाले आचार्य तीन प्रकार के होते हैं। यथा–

१ जो आचार्य स्वयं आचार भ्रष्ट हैं।
२ जो भ्रष्टाचारियों का सुधार नहीं करके उपेक्षा करता है।
३ जो उन्मार्ग का प्रचार और आचरण करता है।
ये तीनों प्रकार के आचार्य भगवान् के पवित्र धर्म को दूषित करते हैं

उम्मग्गठिओ इक्कोऽवि, नासए भव्वसत्त संघाए ।
तं मग्ग मणुसरंत, जह कुत्तारो नरो होइ ॥३०॥
उम्मग्ग सपट्ठिआणं, साहूण गोयमा ! णूणं ।
संसारो य अणंतो, होइ य सम्मग्गनासीणं ॥३१॥

जो आचार्य जिनमार्ग को छोड़कर उन्मार्ग में चलते हैं वे निश्चय ही अनन्त संसार परिभ्रमण करते हैं। जिस प्रकार तैरना नहीं जानने वाला नाविक अपने साथ बहुतों को ले डूबता है उसी प्रकार उल्टे मार्ग पर चलने वाला आचार्य अपने साथ बहुतों को उन्मार्ग गामी बना देता है।

जो उ प्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिआ ॥२९॥

जो आचार्य, आलस्य अथवा प्रमाद से या और किसी कारण से, सयम मे विपरीत जाते हुए अपने शिष्यादि को नही रोकते, वे तीर्थकरो की आज्ञा के विराधक है।

आगे गच्छाचारपइन्ना मे सूत्रकार महाराज फरमाते है कि—

उम्मग्गठिए सम्मग्गनासए जो उ सेवए सूरी ।
निअमेणं सो गोयम !, अप्पं पाडेइ ससारे ॥२९॥

जो आचार्य उन्मार्गगामी है और सम्यग् मार्ग का लोप कर रहे है, ऐसे आचार्य की सेवा करने वाले शिष्य भी ससार समुद्र मे डूबते है।

श्री स्थानाग सूत्र (५-२) में लिखा कि 'जो आचार्य, अपने शिष्यो पर नियन्त्रण नही रख सकें, उनसे सदाचार का पालन नही करवा सके, तो उन्हे अपने पद का त्याग कर अलग हो जाना चाहिए।

और जो आचार्य महाराज अपने कर्त्तव्य का ठीक तरह से पालन करते है, उनके विषय मे 'गच्छाचारपइन्ना गा० २५-२६ मे लिखा है कि—

विहिणा जो उ चोएइ, सुत्तं अत्थं च गाहई ।
सो धण्णो सो अ पुण्णो य, स बन्धू मुक्खदायगो ॥२५॥
स एव भव्वसत्ताणं, चक्खुभूय विआहिए ।
दंसेइ जो जिणुद्दिट्ठं, अणुट्ठाणं जहट्ठिअं ॥२६॥

जो आचार्य अपने आश्रित श्रमण वर्ग को अधर्म से बचाकर धर्म मार्ग मे प्रेरित करते रहते है, उन्हे सूत्र अर्थ और उनका मर्म समझाते रहते है, वे आचार्य, उन शिष्यो के हितैषी और मुक्ति दाता है, ऐसे पुण्यशाली आचार्य, धन्यवाद के पात्र है। जो आचार्य, भव्य प्राणियो को श्री जिनेश्वर भगवान् के मार्ग को यथार्थ रूप से दिखाते है, वे उन जीवो के लिए चक्षुभूत है।

इस प्रकार अपने कर्त्तव्य को यथार्थ रूप मे पालन करने वाले आचार्य महाराज, सघ के लिए श्रेयकारी है। वे सघ के वास्तविक नायक और तारक है। ऐसे आचार्य भगवतो के चरणो में हमारी भक्ति पूर्वक वदना हो।

भिक्षु की बारह प्रतिमा

संसार त्याग कर निग्रंथ बनने के बाद कई आत्मार्थी श्रमण कर्मों की विशेष निर्जरा के लिए कई प्रकार की आराधना करते हैं उनमें प्रतिमा की आराधना भी है। प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञा अथवा अभिग्रह विशेष' भी होता है। यों तो प्रतिमाएँ अनेक प्रकार की है किन्तु यहाँ भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का वर्णन श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के आधार से किया जाता है।

१ मासिकी भिक्षुप्रतिमा--भिक्षु की प्रतिमा की आराधना करने वाले श्रमण का सब प्रथम अपने शरीर की सारसंभाल छोड़ देनी चाहिए अर्थात् शरीर निरपेक्ष हो जाना चाहिये क्योंकि शारीरिक सुविधा चाहने वाले से यह साधना नहीं हो सकती। अतएव सबसे पहले उसे देह-भाव त्याग देना चाहिए। इस साधना में यदि देव मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग उपस्थित हों तो समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। दीनता रहित साहस पूर्वक शान्त भाव से-क्षमा युक्त और स्थिरता सहित सभी कष्टों को सहन करना चाहिए।

इस साधना के साधक को क्षुधा शांति के लिए आहार पानी भी सदा की भांति नहीं लेकर केवल एक दत्ति आहार' और एक दत्ति पानी की लेनी चाहिए अर्थात् एक बार में जितना आहार पात्र में पड़े उतना ही लेना चाहिए। दाता ने यदि एक रोटी दी और बाद में पुनः कुछ देने लगे तो एक रोटी के अतिरिक्त कुछ नहीं ले सकते। यदि दाता ने पहले एक चम्मच दाल ही दी तो उसके बाद वह आहार की कोई भी वस्तु नहीं ले सकता। इसी प्रकार यदि पानी बहराते समय एकाध बून्द पानी पात्र में गिरने के बाद दाता के हाथ से पानी की धारा पात्र में पड़ते पड़ते रुक गई तो उसके बाद पानी भी नहीं लेना चाहिए और पर्याप्त पानी के अभाव में प्यास का कष्ट सहन करना पड़े तो शान्ति पूर्वक सहन करना चाहिये।

यह भिक्षा भी मुनि को वहीं से लेनी चाहिये जो उसे नहीं पहिचानता हो जिसे उसकी इस विशिष्ट साधना का पता नहीं हो। वहाँ से उसे निर्दोष आहार मिलेगा क्योंकि जिसे मुनि की प्रतिमा आराधना का पता होगा वह तो सावधानी रखकर अधिक आहार देने का प्रयत्न करेगा। इसीलिए मुनि को अज्ञात कुल' की ही गोचरी करनी चाहिए। अज्ञात कुल से भी समस्त दोष रहित शुद्ध आहार ही लेना चाहिये और वह भी थोड़ा ही। यदि एक बार में भी अधिक दिया जाता हो तो नहीं लेना चाहिए।

भिक्षाचरी का समय भी ऐसा ही होना चाहिए कि जिसमें अन्य साधु ब्राह्मण अतिथि भिखारी

और पशु आदि को बाधा नही हो। वे भिक्षा माँग कर चले गये हो। उनके चले जाने के बाद ही साधु को गोचरी के लिए जाना चाहिए।

इस साधना के साधक श्रमण को भिक्षा वही से लेनी चाहिए जहा एक ही मनुष्य के लिए भोजन थाली मे परोसा गया हो। जहा दो, तीन या अधिक व्यक्तियो के लिए भोजन परोसा हो, वहा से नही ले। इसका कारण यही है कि एक मनुष्य के लिये परोसे हुए भोजन मे से निर्दोष आहार तो थोडा ही मिलेगा–जिसमें उदर पूर्ति नही हो सके। यहा साधक का लक्ष्य साधना का है–पेट भरने का नही। यदि वह आहार गर्भवती ॐ स्त्री के लिए बना हो, या छोटे बच्चे वाली के लिए बना हो, तो उसमे से नही ले और गर्भवती तथा बच्चे को स्तन पान कराती हुई स्त्री, आहार देना चाहे, तो उससे भी नही ले।

आहार दान करने वाली के दोनो पाँव द्वार के भीतर हो, तो उससे आहार नही ले और दोनो पाँव देहली के बाहर हो तो भी नही ले। एक पाँव देहली के भीतर और एक बाहर हो तभी ले।

भिक्षा के लिए जाने सम्बन्धी काल की विधि यह है कि प्रतिमाधारी मुनि, दिन के आदिभाग * में भिक्षार्थ जावे, तो मध्यकाल मे और पिछले समय मे नही जावे। मध्यकाल मे जावे, तो पूर्व या पश्चात् काल मे नही जाय और तीसरे विभाग में जाय, तो प्रथम और मध्यमकाल मे नही जावे।

भिक्षुप्रतिमा के धारक भिक्षुवर, निम्न छ प्रकार में से किसी भी प्रकार का अभिग्रह–नियम निर्धारित करके गोचरी के लिए जावे।

१ पेटा–भिक्षा स्थान (ग्राम अथवा मुहल्ले) को, पेटी के समान चार कोने कल्पे और बीच के स्थानो को छोडकर चारो कोनो के घरो में भिक्षार्थ जावे।

२ उपरोक्त चार कोनो में से केवल दो कोनो (दिशाओ) मे ही गोचरी करे।

३ गोमूत्रिका–जिस प्रकार चलता हुआ बैल पेशाब करता है और वह वक्राकार × (टेढा–मेढा) पडता है, उसी प्रकार साधु, घरो की आमने सामने की दोनो पक्तियो में से प्रथम एक पक्ति (लाइन) के एक घर से आहार लेवे, उसके बाद सामने की दूसरी पक्ति में के घर से आहार

ॐ गर्भवती के विषय में यह समझना चाहिए कि मुनि को मालूम हो जाय कि 'यह स्त्री गर्भवती है' तब उसके हाथ से नहीं ले। अन्यथा आठवें मास से उसके हाथ से आहार लेना बन्द करदे, इस समय उसके शारीरिक चिन्हों से गर्भवती होने का पता लग सकता है।

* तीसरे प्रहर के प्रारम्भ में। क्योंकि उसे प्रथम प्रहर स्वाध्याय और दूसरे प्रहर ध्यान तो करना ही होता है।

× पूज्य श्री आत्मारामजी म सा ने अपनें दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र पृ० २६९ में गोमूत्र को 'वलयाकार' (गोलाकार) लिखा है, किन्तु अन्य साहित्य तथा कोष और प्रत्यक्ष से यह अर्थ सगत नहीं होता, वक्राकार ही ठीक लगता है।

लेवे इसके बाद फिर प्रथम पंक्ति का-गोचरी किये हुए प्रथम घर का छोड़कर लवे । इस प्रकार क्रम से दोनों पंक्तियों में से भिक्षा लेने की वृत्ति को गोमूत्रिका कहते हैं ।

- ४ पतंगवीथिका–पतंग के उड़ने की रीति के अनुसार एक घर से लेकर फिर कुछ घर छोड़कर आहार लेवे ।

५ शम्बूकावर्त्ता–शंख के चक्र की तरह गोलाकार घूम कर गोचरी लेना । यह गोचरी दो प्रकार से होती है १ आभ्यन्तर शम्बूकावर्त–बाहर से गोलाकार गोचरी करते हुए भीतर की ओर आवे २ बाह्य शम्बूकावर्त–भीतर से प्रारंभ करके (मुहल्ले के) बाहर की ओर जावे ।

६ गतप्रत्यागता–एक पंक्ति के अंतिम घर में भिक्षा के लिए जाकर वहां से वापिस लौटकर भिक्षा ग्रहण करे ।

इस प्रकार उपरोक्त छ प्रकार के अभिग्रहों में से किसी एक प्रकार का अभिग्रह लेकर फिर गोचरी के लिए निकले । इस प्रकार आहार की विधि बतान के बाद अब विहार की विधि बताई जाती है ।

प्रतिमाधारी मुनिराज विहार करते हुए ग्रामादि में जावे तो जहां के लोग यह जानते हों कि 'ये मुनि प्रतिमाधारी हैं' वहां तो एक दिन रात रहे और जहां कोई यह नहीं जानता हो वहां दो दिन और दो रात रहे । इससे अधिक ठहरने पर दीक्षा पर्याय का छेद अथवा तप का प्रायश्चित्त ● आता है ।

प्रतिमाधारी मुनि को अधिकांश मौन ही रहना चाहिए । यदि बोलना हो तो निम्न चार प्रकार की भाषा बोलना चाहिए ।

१ याचनी–आहारादि की याचना करने को ।

२ पृच्छनी–मार्ग आदि पूछने रूप ।

३ अनुज्ञापनी–स्थान आदि के लिए आज्ञा लेने के लिए ।

४ पुट्ठवागरणी–पूछे हुए प्रश्न का उत्तर देने रूप (आप कौन हैं क्या करते हैं कहां ठहरे हैं–इस प्रकार पूछे हुए आवश्यक प्रश्नों का उत्तर देते हैं) ।

प्रतिमाधारी मुनिराज नीचे लिखे तीन प्रकार के स्थानों में ठहर सकते हैं ।

● प्रायश्चित्त के विषय में पूज्यश्री आत्मारामजी म. ने पृ. २७ में लिखा कि "इस प्रकार साम्प्रदायिक धारणा चली आती है ।–यह किस प्रकार उचित है ? जब कि मूलपाठ में ही 'छेदे वा परिहारे वा' लिखा है ।

टीकाकार 'छेद' का अर्थ ग्रामान्तर जाकर कुछ काल बाद वापिस आना लिखते हैं तथा 'परिहार' का अर्थ रहे हुए मकान को छोड़कर दूसरे मकान में रहना लिखा है ।

१ अध आरामगृह–उस गृह मे ठहरना जिसके चारो तरफ उद्यान हो।

२ अधोविकट गृह–जो ऊपर से ढका हुआ और चारो ओर से खुला हो।

३ अधो वृक्षमूल गृह–वृक्ष के नीचे बने हुए घर मे अथवा वृक्ष के नीचे।

उपरोक्त तीनो प्रकार के स्थानो मे से किसी स्थान को देखकर उसके अधिकारी से अपने लिए ठहरने की आज्ञा प्राप्त करके उसमे ठहरना चाहिए।

भिक्षु प्रतिमा के धारक निर्ग्रंथ को ऊपर बताये हुए उपाश्रयो में से किसी एक उपाश्रय मे ठहर कर नीचे लिखे तीन प्रकार के मस्तारक (बिछौना) लेना कल्पता है।

१ पृथ्वी शिला २ लकडी का पटिया और ३ पहले से बिछा हुआ घास आदि का बिछौना।

उपाश्रय मे ठहरने के बाद यदि कोई स्त्री या पुरुष (स्त्री और पुरुष, मैथुन की इच्छा से) आजाय, तो मुनि जहा जिस स्थिति मे हो, उसी में समभाव पूर्वक रहे, न तो बाहर से भीतर आवे और न भीतर से बाहर जाय। उसे अपने स्वाध्याय या ध्यान में ही मग्न रहना चाहिए।

ध्यानस्थ रहे हुए मुनिराज के उपाश्रय को यदि कोई व्यक्ति आग लगाकर जलावे, तो मुनि को न तो उस ओर ध्यान ही देना चाहिए और न भीतर से बाहर अथवा बाहर से भीतर आना चाहिए, बल्कि निर्भीकता पूर्वक अपने ध्यान में ही लीन रहना चाहिए। यदि मनुष्य, मुनि को मारने को आवे, तो मुनि उसे एक बार या बारबार पकडे नही, किन्तु अपनी मर्यादा मे ही रहे। ❀

प्रतिमाधारी मुनि जब विहार करते हो और चलते चलते उनके पाँव मे लकडी का ठूँठ (फाँस) काँटा, काँच अथवा कंकर लगजाय, तो उसे निकालना नही चाहिए। किन्तु अपनी मर्यादा के अनुसार पवृत्ति करनी चाहिये।

❀ यह दशाश्रुतस्कन्ध की वृत्ति के आधार से लिखा है। इस मूलपाठ के दो हिस्से हैं। जैसे कि—

"मासिय ण भिक्खुपडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स केइ उवस्सय अगणिकाएण झामेज्जा, णो से कप्पइ त पडुच्च निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।"

"तत्थण केइ बाहाए गहाय आगसेज्जा नो से कप्पइ त अवलवित्तए वा पलवित्तए वा, कप्पइ अहारिय रिइत्तए।"

किन्तु पूज्यश्री आत्मारामजी म० तथा श्री घासीलालजी म० सम्पादित प्रति में यह एक ही सूत्र है और इसका अर्थ निम्न प्रकार से किया है।

"मासिकी भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न मुनि के उपाश्रय को कोई अग्नि से जलादे,तो उस समय प्रतिमा प्रतिपन्न भिक्षु,अन्दर हो तो अग्नि के भय से बाहर नहीं निकले। यदि बाहर हो तो भीतर नहीं आवे। उस समय यदि कोई उसकी भुजा पकड कर उसको खींचे, तो खींचने वाले को नारियल और ताल फल की तरह अवलम्ब और प्रलम्ब नहीं करे, अर्थात् उसकी भुजा आदि को पकडकर न लटके, किन्तु ईर्यासमिति के अनुसार चार हाथ के युग प्रमाण भूतल को देखता हुआ निकले।"

चलते हुए प्रतिमाधारी मुनि की आँखों में मच्छरादि बारीक जीव, या बारीक बीज अथवा रज कण पड़जाय तो उसे निकालना नहीं चाहिए किन्तु धैर्य पूर्वक सहन करना चाहिये और मर्यादानुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए।

विहार करते हुए मुनि को रास्ते में जहाँ सूर्य अस्त हो जाय वहीं ठहर जाना चाहिए भले ही वह स्थान बिना ढका हो दुर्गम स्थल हो नीचा स्थान हो पर्वत हो खड्डा हो गुफा हो अर्थात् कितना ही विषम और भयानक स्थान हो तो भी जहां सूर्य अस्त हो जाय वहीं ठहर जाय वहां से एक कदम भी आगे नहीं बढ़े और सारी रात वहां समभाव पूर्वक स्वाध्याय और ध्यान में व्यतीत करे। जब रात्रि पूर्ण होकर सूर्य उदय हो जाय तभी वहां से आगे बढ़े और जिधर जाना हो उधर ईर्यासमिति सहित जावे।

प्रतिमाधारी मुनिराज को सचित्त पृथ्वी पर थोड़ी या विशेष नींद (निद्रा या प्रचला) नहीं लेनी चाहिए क्योंकि वहां निद्रा लेने से हाथ से भूमिका स्पर्श होगा और उससे जीवों की हिंसा होगी। इसलिये विधि पूर्वक निर्दोष स्थान पर ही ठहरना चाहिए या फिर प्रथम निर्दोष स्थान पर चला जाना चाहिए। यदि मुनि को लघुनीत या बड़ीनीत की बाधा हो जाय तो उसे रोके नहीं किन्तु पहले से देखे हुए निर्दोष स्थान पर जाकर उच्चार प्रस्रवण परठे और परठ कर फिर उपाश्रय में आजाय और विधि पूर्वक कायोत्सर्गादि करे।

यदि प्रतिमाधारी साधु के शरीर पर सचित्त रज लग गई हो तो उसी दशा में उसे गृहस्थ के यहां आहारादि की याचना के लिए नहीं जाना चाहिए। जब वह सचित्त रज पसीना मैल अथवा हाथ के स्पर्श आदि से अचित हो गई हो तो फिर आहारादि के लिए गृहस्थ के यहां जाना कल्पता है।

प्रतिमाधारी साधु को अपने हाथ पाँव दांत मुंह और आंख आदि का अचित गर्म जल अथवा अचित ठंडे जल से नहीं धोना चाहिये। यदि कीचड़ अथवा अशुचि आदि का लेप कहीं लग गया हो या भोजन करते हाथ और मुँह पर लेप लगा हो तो उसे धो सकता है।

प्रतिमाधारी मुनि के सामने मदोन्मत्त हाथी दुष्ट घोड़ा प्रचण्ड बैल भयंकर भैंसा क्रूर कुत्ता और विकराल सिंह मुनि को मारने के लिए आता हो तो मुनि को पांच पांव नहीं हटना चाहिए किन्तु धर्म्य धारण कर के वहीं खड़ रहजाना चाहिये। यदि सामने आने वाला पशु शान्ति से आता हो तो युगप्रमाण (लगभग चार हाथ तक) पीछे हट जाना चाहिए।

साधु को शीत से बचने के लिए धूप में और धूप से घबराकर छाया में नहीं जाना चाहिए, किन्तु वह जहां है वहीं रहकर शीत अथवा उष्ण के कष्ट सहन करना चाहिए।

+ जल का अर्थ-शुष्क जलाशय अथवा जलाशय का किनारा समझना चाहिए,-ऐसा विवेचनकार लिखते हैं।

प्रतिमाधारी श्रमण, मासिकी भिक्षुप्रतिमा की इस प्रकार सूत्र मे बताई हुई विधि के अनुसार, अपने कल्प के अनुकूल, मोक्ष मार्ग के अनुरूप और निर्जरा तत्त्व के योग्य, समभाव पूर्वक पालन करे। शुद्ध आचार का पालन करते हुए भी यदि जानते या अनजानपने से कोई दोष लगा हो, तो उसकी प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करता हुआ पूर्ण करे। इस प्रकार शुद्धता पूर्वक मासिकीभिक्षुप्रतिमा को पूर्ण करता हुआ तथा जिन धर्म, भिक्षुप्रतिमा और प्रतिमाधारियो की कीर्ति करता हुआ निर्ग्रंथ, जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है।

यह भिक्षु की प्रथम प्रतिमा की विधि हुई।

२ दोमासिकी भिक्षुप्रतिमा—प्रथम प्रतिमा में आहार और पानी की एक एक दत्ति ही थी। इस प्रतिमा में एक-एक दत्ति बढाकर दो दत्ति आहार और दो दत्ति पानी की ली जाती है। इसके सिवाय प्रथम प्रतिमा की समस्त विधि का पालन करना चाहिये।

३ त्रिमासिकी भिक्षुप्रतिमा—तीसरे महीने मे पूर्वोक्त सब विधि के साथ एक एक दत्ति बढाकर तीन दत्ति आहार और तीन दत्ति पानी की ली जाती है।

४ चौमासिकी भिक्षुप्रतिमा—चौथे महीने मे पूर्वोक्त विधि के साथ चार चार दत्ति ली जाती है।

५ पंचमासिकी भिक्षुप्रतिमा—पाँच दत्ति आहार और पाच दत्ति पानी।

६ छः मासिकी भिक्षुप्रतिमा—छ छ दत्ति ली जाती है।

७ सप्त मासिकी भिक्षुप्रतिमा—सात सात दत्ति ली जाती है। *

---

* शका हो सकती है कि सात सात वार आहार लेनें पर तप कैसे होगा? वैसे दो तीन दत्ति से ही पूर्ति हो सकती है, फिर सात दत्ति तो बहुत अधिक है? समाधान है कि—शका उचित है, किन्तु प्रतिमाधारी के नियमों पर ध्यान देनें से समाधान हो सकता है। प्रथम तो प्रतिमाधारी मुनि अज्ञात कुल की गोचरी करता है—जहा साधु के प्रति विशेष राग की सभावना नहीं और प्रासुक आहार दुर्लभ होता है। दूसरा यह भी नियम है कि 'एक व्यक्ति के लिए जो भोजन लाया गया हो उसमें से ले।' यह नियम कितना कठोर है। एक व्यक्ति के लिए लाये हुए भोजन में से निर्दोष आहार कितना मिल सकता है? फिर यह भी तो नियम है कि 'ऐसे एक व्यक्ति के लिए लाये हुए भोजन में से भी थोडा ही ले। यदि उस थोडे आहार का (चावल खिचडी आदि का) एक दाना भी पात्र में गिर गया अथवा पहले चमच भर दाल ही डाल दी तो एक दत्ति पूरी हो चुकी। दाता को यह तो खयाल होता ही नहीं कि यदि मेरी असावधानी से साधु के पात्र में पहले थोडी वस्तु गिर जायगी, तो बाद में वे लेंगे ही नहीं। श्रमणोपासक से भी ऐसी भूल हो सकती है, फिर अज्ञात व्यक्ति का तो कहना ही क्या?

यह ठीक है कि ज्यों ज्यो दत्ति बढती है, त्यो त्यो आहार ग्रहण विशेष होनें की सभावना है, किन्तु नियमों को देखते हुए विचार होता है कि सभी दत्तियों का पूरा होना—कम सभव है। प्रथम तो दो रात से अधिक कहीं नहीं रहना,

पूर्वोक्त सातों प्रतिमाएँ एक एक महीने की हैं। इनमें कुल सात महीने लगते हैं। दत्तियों की वृद्धि के सिवाय और सब विधि पहली प्रतिमा के समान ही है।

८ प्रथम सात दिनरात की—इसका समय सात दिनरात का है। इसमें भी पहली प्रतिमा के सभी नियमों का पालन करना होता है। इसके सिवाय इस प्रतिमा में चौविहार उपवास करके ग्राम से बाहर—जंगल में जाकर आकाश की ओर मुंह करके सीधा सो जाना चाहिये। ग्राम के बाद करवट नहीं बदलना चाहिए या किसी एक करवट से सोना चाहिए। अथवा निषद्यासन से बैठकर ध्यान करते हुए समय व्यतीत करना चाहिए। ध्यान करते समय देव मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग हो तो विचलित नहीं होकर धैर्य और समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। यदि मधुशंका अथवा शौच की बाधा हो जाय तो उस रोके नहीं किन्तु पहले से देखे हुए स्थान पर जाकर बाधा दूर करे और पुनः कायोत्सर्ग करके ध्यान मग्न हो जाना चाहिए।

९ द्वितीय सप्त रात्रिन्दिवस प्रतिमा—इसमें विशेष विधि यह कि चौविहार उपवास पूर्वक ग्राम बाहर जाकर दण्डासन लगुडासन अथवा उत्कट आसन से ध्यान करना चाहिये। अन्य सभी क्रियाएँ पूर्व प्रतिमा की तरह पालन करनी चाहिए।

१० तृतीय सप्त रात्रिदिवस प्रतिमा—इसमें चौविहार उपवास पूर्वक ग्राम के बाहर गोदोहासन वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान करना चाहिए।

११ एक दिनरात की प्रतिमा—यह प्रतिमा एक रात और एक दिन की है। चौविहार बेला करके इस प्रतिमा की आराधना की जाती है। ग्राम के बाहर जाकर दोनों पांवों को कुछ संकोच कर खड़ा रहे और दोनों हाथों को घुटनों तक लम्बे रखकर ध्यानस्थ रहे। बाकी विधि पूर्व प्रतिमा के अनुसार ही समझनी चाहिए।

१२ एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—इसकी आराधना का काल केवल एक रात्रि का ही है। यह चौविहार तेले के तप से की जाती है। ग्राम के बाहर निर्जन स्थान में जाकर अपने शरीर को थोड़ा आगे

और विहार करते ही जाना। फिर छोटे गाँव में निर्दोष आहार—एक व्यक्ति के खाने को लिया हो, ऐसा योग थोड़ा ही मिलना है। यदि मिले भी तो एक दो या तीन दत्ति थोड़ी थोड़ी चीज की हुई कि मोयरी ही पूरी हो जाती है। इसके साथ यह भी तो नियम है कि दाता का एक पांव देहली के भीतर और एक पांव बाहर हो उसी से लेना।

प्रथम मास में एक दत्ति दो तीन निवाले से अधिक क्या होगी? विहार तो करना ही पड़ता है। कमजोरी दिनोंदिन अधिक बढ़ती है। ऐसी दशा में बढ़ी हुई दत्ति कभी कभी विशेष सहायक भले ही बनती हो—सदैव नहीं। फिर अनुभव करमाये वह सत्य है।

झुकाकर और लम्बे हाथ रखकर खडा रहे। एक निर्जीव वस्तु पर अपनी दृष्टि स्थिर रखकर ध्यान करे। आँखो को वन्द नही करे, किन्तु अपलक दृष्टि उस पुद्गल पर ही रखे। अपनी सभी इन्द्रियो को गुप्त–अन्तर्मुखी और शरीर तथा अगो को निश्चल रखे। ध्यान करते समय यदि देव मनुष्य या तिर्यञ्च का उपसर्ग उत्पन्न हो जाय, तो उसे शाति पूर्वक स्थिर रहकर सहन करे और उच्चार प्रश्रवण की वाधा उत्पन्न हो, तो पूर्व प्रतिमा में बताई हुई विधि पूर्वक करना चाहिए।

इस प्रतिमा का ठीक तरह से पालन नही करके विचलित होने वाले अनगार को तीन प्रकार की हानि, अनिष्ट और कुफल होते है। वह उन्माद (पागलपन) और लम्बे समय तक चले ऐसे हठीले रोग के उत्पन्न होने से दुखी हो जाता है और वह धर्म से भ्रष्ट भी हो जाता है। और जो धीर साहसी मुनि अडिग रहकर (दृढता पूर्वक आत्मनिष्ठ हो कर) इस प्रतिमा सम्यग् प्रकार से पालन करते है, उन्हे अपूर्व लाभ होता है। उनको या तो अवधिज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, या मन पर्यवज्ञान अथवा केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। वे सुखी होते है। उनकी आत्मा की मुक्ति होकर समस्त दु खो का अत हो जाता है।

(दशाश्रुतस्कन्ध दशा ७)

इस प्रकार भिक्षु की वारह प्रतिमाओ का विधान है। पूर्वकाल के मुनिवर इनका पालन करते थे। वर्त्तमान में इनका पालन नही किया जाता है। कहा जाता है कि 'इनका विच्छेद * हो गया है'। वास्तव में साधारण सत्त्ववाला श्रमण इनका पालन नही कर सकता। जिसका शरीर सहनन सुदृढ हो, मनोवल-उत्तम हो, जो योद्धा की तरह शौर्य पूर्वक परिषहो की सेना से टक्कर लेने योग्य हो, वही इनका सफलता पूर्वक आराधन कर सकता है।

प्रतिमा धारन करने की आज्ञा प्रदान करने वाले 'आगमव्यवहारी' महापुरुष हो, तो दीक्षा के प्रथम दिन ही वारहवी भिक्षु प्रतिमा का आराधन किया जा सकता है। जैसे श्री गजसुकुमालजी ने दीक्षा के दिन ही वारहवी प्रतिमा धारण की थी। यदि आज्ञा देने वाले आगमविहारी नही हो, तो भिक्षु की प्रतिमा धारण करने वाले की दीक्षा पर्याय कम से कम बीस वर्ष की हो और आयु २९ वर्ष पूर्ण करके तीसवाँ लग गया हो। उसका ज्ञान जघन्य नावे पूर्व की तीसरी वस्तु तक और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व हो। इस प्रकार की योग्यता वाला प्रतिमा धारण कर सकता है। धन्य है वे मोक्षमार्ग के महान् सेनानी अनगार भगवत, जो परिषहो की भयकर सेनाओ के तीक्ष्ण और असह्य प्रहार को सहन करते हुए उर्ध्वगामी बनते है।

इन प्रतिमाओ का पालन साध्वियाँ नही कर सकती (बृहद्कल्प उ ५) उनके लिए आहार

---

१ व्यवहार सूत्र उ ९ के भाष्य में प्रतिमा का आराधन, प्रथम तीन सहनन वालों को माना है, शेष के लिए विच्छेद बताया है।

पानी की दत्ति रूप सप्तसप्तमिका आदि भिक्षु प्रतिमा का पालन करना विहित है। जैसा कि अंतकृत सूत्र वर्ग ८ अ ५ में महारानी सुकृष्णा महासतीजी की तपस्या के वर्णन में उल्लेख है। सप्तसप्तमिका में प्रथम सप्ताह में एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ली जाती है। * दूसरे सप्ताह में दो दत्ति आहार की व दो पानी। इस प्रकार सातवें सप्ताह में सात दत्ति आहार और सात दत्ति पानी की जाती है। इसमें ४९ दिन लगते हैं। अष्टअष्टमिका में एक से लगाकर आठ दत्ति तक बढ़ा जाता है और प्रत्येक दत्ति आठ आठ दिन की होती है। इसमें ६४ दिन लगते हैं। नवनवमिका में एक से नौ दत्ति तक बढ़ा जाता है और प्रत्येक दत्ति ९ दिन की होती है। इसमें कुल ८१ दिन लगते हैं और 'दसदसमिका' में कुल १०० दिन लगते हैं।

साध्वी वर्ग, भिक्षु की बारह प्रतिमा का पालन इसलिए नहीं कर सकता कि उनकी शारीरिक अनुकूलता नहीं है। इसीलिए निषेध किया गया है। उनके लिए बिना किवाड़ के मकान में रहना निषिद्ध है (बृहत्कल्प उ १) वे खुले स्थान में भी नहीं रह सकती (बृहत्कल्प उ २) शरीर वोसिरा-कर कायोत्सर्ग करना जंगल में जाकर ऊंचे हाथ रख कर खड़े खड़े ध्यान करना उत्कटु आसन उत्कटा-सन वीरासन आदि कुछ आसन लगाकर ध्यान करने की भी मनाई है। यदि उन्हें आतापना लेनी हो तो चारों ओर से बन्द मकान में चारों ओर कपड़ा बांध कर खड़ा रहे और नीचे हाथ रखकर आतापना ले ऐसा विधान है (बृहत्कल्प उ ५)।

* व्यवहार सूत्र के ९ वें उद्देशे के मूल में भी इन प्रतिमाओं का वर्णन है किन्तु स्व. पूज्यश्री अमोलकऋषिजी महाराज साहब के अनुवाद में इसकी विधि बताई गई कि 'सप्तसप्तमिका' में प्रथम सप्ताह के प्रथम दिन एक दत्ति आहार एक दत्ति पानी दूसरे दिन दो दत्ति तीसरे दिन तीन इस प्रकार सातवें दिन सात दत्ति। इसी प्रकार सात सप्ताह तक करे। व्यवहार भाष्य और टीका में पहले तो अंतकृतसूत्र के अनुसार विधि लिखी और बादमें दूसरे आदेश से ऐसी विधि भी लिखी है। परन्तु अन्तकृत सूत्र के मूलपाठ के अनुसार पहली विधि ही ठीक है।

भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगार

चरम तीर्थपति श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप जो मुनि वृन्द था वह कैसा था, उनकी चारित्र परिणति किस प्रकार की थी, वे अनगार निष्परिग्रही होते हुए भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप रूप आत्मिक ऐश्वर्य से किस प्रकार समृद्ध थे, उनकी आत्मा कितनी पवित्र थी। इसका विस्तृत वर्णन 'औपपातिक सूत्र' में आया है। जब हम उस को देखते है, तो हमारी आत्मा में उन गुण समृद्ध और तपोधनी महात्माओ के प्रति प्रशस्त राग उत्पन्न होता है। कितने पवित्र और उत्तमोत्तम सन्त थे वे। हम उन महर्षियो के पार्थिव शरीर के तो दर्शन नही कर सकते, किन्तु उनके पवित्र एव उन्नत आत्म स्वरूप की कुछ झाकी तो पा सकते है। और उन अनगार भगवन्तो के विशुद्ध गुणो का आदर पूर्वक स्मरण करके अपनी आत्मा को भी शुभ परिणति मे लगा सकते है। साथ ही हम सच्चे साधु=खरे निर्ग्रंथ का स्वरूप जानकर वर्तमान श्रमण वर्ग की सयम साधना में सहायक हो सकते है। पाठको के सामने वह वर्णन उपस्थित करते हुए निवेदन करते है कि वे ध्यान पूर्वक पढे और मनन करे तथा वर्त्तमान श्रमण वर्ग के उत्थान में सहायक बने।

तेणंकालेणं तेणंसमएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे समणा भगवन्तो अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोग पव्वइया......

भगवान् महावीर प्रभु के समय उनके समीप रहने वाले जो अनगार भगवन्त थे, उनमें बहुत से उग्र कुल के, कितनेक भोग कुल के, कई राजन्य कुल के, कई ज्ञात कुल के, कितनेक कौरव कुल के, कई क्षत्रिय, सुभट, योद्धा, सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठी, सम्पत्तिशाली और अन्य अनेक उत्तम जाति और उत्तम कुल के थे। वे रूपवान्, विनयवन्त, विज्ञानवन्त, (अनुभव ज्ञान सम्पन्न) लावण्यवन्त, पराक्रमी, सौभाग्यशाली और कान्तिवान् थे। उन्होने भगवान् का उपदेश सुनकर और इस ससार को असार तथा दुख रूप समझकर, पूर्व पुण्य से प्राप्त विपुल धन, धान्य और कुटुम्ब परिवार को त्याग दिया था। उन्होने सुन्दर स्त्रियें और विपुल भोग सामग्री को किंपाक=फल लुभावने विषफल के समान समझकर तथा अस्थिर-जल के बुलबुले के समान नाशवान् एव क्षणभगुर मानकर छोडदिया था और भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हो गये थे।

उनमें कोई सन्त तो कुछ दिनो के ही दीक्षित थे, कई मुनिवर कुछ महीनो से ही सयमी हुए थे। बहुत से सन वर्ष, दो वर्ष के और कई अनेक वर्षो की दीक्षापर्याय वाले थे। वे सब सयम और तपस्या की उत्तम परिणति से अपनी आत्मा को निर्मल बनाते हुए, मोक्ष मार्ग में आगे कूच कर रहे थे-बढे ही जा रहे थे।

देवाभिदेव महावीर प्रभु के अन्तेवासी उन अनगार भगवन्तों में बहुत से मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी कई अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी थे और कई भगवान् महावीर के समान केवलज्ञानी (सर्वज्ञ सर्वदर्शी) भी थे। बहुत से मनोबली=भयंकर परिषहों में भी अडिग रहने वाले थे। बहुत से वचनबली= जिनके वचन प्रभावशाली और कुमति तथा मिथ्यावाद पर विजय पाने वाले थे और कई शरीर बल-वाले=उग्रविहार और वैयावृत्यादि कार्यों में शरीर का लगा देने वाले थे।

मुनिवरों को प्राप्त लब्धियाँ

कुछ मुनिवर मन से ही किसी पर अनुग्रह करने में समर्थ थे (उनमें ऐसी शक्ति थी कि वे जिसके प्रति मनमें अनुग्रह-हित कामना करलें उसका दुःख और दारिद्र्य नष्ट हो जाय और वह सुखी हो जाय) कई मुनिवर ऐसे थे कि जिन्हें वचन सिद्धि प्राप्त थी। अनायास ही किसी के प्रति उनके हित-वचन निकल जाय तो उनके भाग्योदय का कारण बन जाय और किसी का शरीर स्पर्श भी हितकारी होता था। कई महात्मा ऐसे विशिष्ट लब्धि सम्पन्न थे कि जिनके मुंह से निकला हुआ कफ सुगन्धित होकर सभी प्रकार के रोगों के लिए अचूक औषधी रूप बनता। किन्हीं महात्माओं के शरीर का मल लघुनीत * बड़ीनीत आदि अशुचि पदार्थ भी महौषधि रूप बनकर असाध्य रोग के रोगियों के लिए उपकारक बनते। मुनियों को लब्धियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

१ खेलौषधि-जिनके खेल=श्लेष्म से सुगन्ध आती है और जिससे रोग शान्त हो जाते हैं।
२ जल्लौषधि-जिनके कान मल जिव्हा आदि का मैल औषधि रूप होता है।
३ विप्रुडौषधि-जिनके मल मूत्र से सुगन्ध आती है और जिनके उपयोग से रोग शान्त हो जाते हैं।
४ आमर्शौषधि-जिनके हाथ पांव आदि का स्पर्श ही राम बाण औषधि तुल्य हो।
५ सर्वौषधि-जिनके शरीर के मल मूत्र श्लेष्म मल मैल आदि सभी औषधि रूप हो।

* ऐसे नमूने तो इस पंचमकाल में भी थे और जिनके दर्शन करने वाले आज भी मौजूद हैं। एक तपस्वीजी महात्माजी के विषय में हमें विश्वस्त रूप से मालूम हुआ कि एक सेठ के पैर में ऐसी तकलीफ पैदा हो गई थी कि जिसके लिए सभी उपचार व्यर्थ हो गये और बड़े बड़े नामी डाक्टरोंने उन्हें पैर कटवाने की सलाह दी। वे हताश होकर घर लौट आये। उन्हें किसीने सलाह दी कि यदि तुम अमुक तपस्वीजी की लघुनीत लाकर लगाओ तो आराम हो सकता है। लघुनीत प्राप्त होना असंभव था। वे स्वयं परठने जाते थे किन्तु परठकर वापस लौटते ही वहां की गीली मिट्टी उठाली गई और उसके लगाने से उन सेठ का वह हठीला रोग नष्ट होकर पैर अच्छा हो गया। आत्म शक्ति के चारक में अनायास ही ऐसी विशेषताएं प्रकट हो जाती हैं जिनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं होता।

६ कोष्ठक बुद्धि–कोठे मे डाले हुए धान्य की तरह, जिन मुनिवरो को पाया हुआ ज्ञान ज्यो का त्यो चिरकाल तक कायम रहे।

७ बीजवुद्धि–जिस लब्धिधारी मुनि को बीज रूप एक ही अर्थ–प्रधान पद प्राप्त होने पर अपनी बुद्धि से विना सुना ऐसा सभी अर्थ जानले, वह बीजवुद्धि लब्धि होती है। गणधर भगवन्तो मे यह लब्धि होती है।

८ पट वुद्धि–वस्त्र में भर कर सग्रहित किये पुष्प एव फल के समान, विशिष्ट वक्ताओ द्वारा कहे हुए प्रभूत सूत्रार्थ का सग्रह करने में समर्थ।

९ पदानुसारिणी–जिसके प्रभाव से एक पद सुन लेने पर वहुत से पद बिना सुने ही जान लिए जाएँ।

१० संभिन्नश्रोता–मात्र कानो से ही नही, किन्तु शरीर के सभी अग उपागो से सुनने की शक्ति वाले। अथवा–

श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्शनेन्द्रिय इन्द्रियें, अपना अपना काम करती है, किन्तु इस लब्धि के धारी मुनिराज के एक ही इन्द्री, शेप सभी इन्द्रियो का काम करती है। अथवा–

इस लब्धि के प्रभाव से बारह योजन में फैली हुई चक्रवर्ती की सेना के भिन्न भिन्न एक साथ वजने वाले अनेक बाजो की आवाज को पृथक् पृथक् रूप से ग्रहण करती है।

११ खीराश्रव–जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन श्राताओ को दूध के समान मधुर लगे।

१२ मधुराश्रव–श्रोताओ को जिनके वचन मधु जैसे मीठे प्रसन्नकारी और रोगहारी लगे।

१३ सर्पिराश्रव–श्रोताओ मे घृत के समान स्नेह सम्पादन करने वाले वचन बली।

१४ अक्षीणमहानसी–जिसके प्रभाव से भिक्षा मे लाये हुए थोडे से आहार से बाहर से आये हुए हजारो साधु साध्वियो को भोजन करा दिया जाय, फिर भी वह उतना ही बचा रहे और लब्धि–धारी के भोजन करने पर ही आहार समाप्त हो।

१५ ऋजुमति–मन पर्यवज्ञान का एक भेद। जिसका धारक ढाई अगुल कम ढाई द्वीप परिमाण क्षेत्र के मनवाले जीवो के मन के भाव जान ले।

१६ विपुलमति–मन पर्यवज्ञान का दूसरा भेद। जिसका धारक ऋजुमति से ढाई अगुल प्रमाण अधिक क्षेत्र के निवासियो के मन के भावो को विस्तार पूर्वक जान सके।

१७ विकुर्वण ऋद्धि–अनेक प्रकार के रूप वनाने की शक्ति। जिससे लाखो करोडो रूप बना सके।

१८ चारण लब्धि–जिसके प्रभाव से आकाश मे गमन करने की शक्ति प्राप्त हो। यह जघाचारण और विद्याचारण के भेद से दो प्रकार की है। इसकी गमन शक्ति वहुत ही तेज और शीघ्र गामिनी होती है।

जंघाचारण लब्धिवाला एक ही उड़ान में रुचकवर द्वीप पर पहुँच जाता है। किन्तु लौटते समय एक जगह (नन्दीश्वर द्वीप पर) ठहर कर दो उड़ान में अपने स्थान पर आया जाता है।

विद्याचारण लब्धि वाला जाते समय पहली उड़ान में मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उड़ान में नन्दीश्वर द्वीप पर जाता है। ये वापिस लौटते समय एक ही उड़ान में स्वस्थान आजाते हैं। इसका विशेष वर्णन भगवती श २० उ ९ में है।

१९ अवधिलब्धि—अवधिज्ञान जिसके द्वारा अत्यन्त निकट या अत्यन्त दूर की भी रूपी वस्तु दिखाई देती है। भले ही वह बड़ी हो या बारीक।

२० केवल लब्धि—जिससे समस्त लोक और अलोक क सभी द्रव्यों की भूत भविष्य और वर्तमान काल की समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यायों (अवस्थाओं) को प्रत्यक्ष जाना जाय। (उववाई सूत्र)

२१ अरिहंत लब्धि—तीर्थंकर पद चौंतीस अतिशय पेंतीस वाणी युक्त। (समवायांग)

२२ चक्रवर्ती—छह खण्ड के स्वामी-एक छत्र राज्य करनेवाला। चौदह रत्न नवनिधि मण्ड नरेन्द्र की ऋद्धि। (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)

२३ बलदेव—वासुदेव के बड़े भ्राता। (समवायांग)

२४ वासुदेव—अर्ध चक्री-* आधे भरतखंड के स्वामी (समवायांग)

२५ गणधर—तीर्थंकर भगवंत के मुख्य शिष्य श्रमण संघ के नायक चार ज्ञान चौदह पूर्वधर। (भगवती १-१)

२६ पूर्वधर—पूर्वोका ज्ञान प्राप्त करने वाले (नन्दी सूत्र)

२७ आहारक—अपने शरीर में से एक छोटासा पुतला तय्यार कर दूरस्थ केवलज्ञानी के पास भेज कर समाधान प्राप्त करने की शक्ति वाले महात्मा। (प्रज्ञापना २१ तथा ३६)

२८ पुलाक—चक्रवर्ती की सेना का भी अपनी शक्ति से विनाश कर देने की शक्ति रखने वाले साधु (भगवती २५-६)

२९ तेजोलेश्या—क्रुद्ध होने पर हजारों लाखो मनुष्यों को भस्म कर देने की शक्ति विशेष। (भगवती १५)

३० शीतल लेश्या—संहारक तेजोलेश्या को भी शांत कर देने वाली शक्ति (भगवती १५)

---

* वासुदेव के बल के विषय में ग्रंथकार लिखते हैं कि वासुदेव में इतना बल होता है कि—यदि उन्हें जंजीर से बाँध कर हाथी घोड़े रथ और सेना सहित सोलह हजार राजा खींचे तो भी उन्हें नहीं हिला सकते। किन्तु वासुदेव इन सभी को बाँये हाथ से पकड़ कर खींच सकते हैं। इन में बीस लाख अष्टापद (एक बड़ा ही बलवान पशु) जितना बल होता है। बलदेव में उनसे आधा और चक्रवर्ती में दुगुना होता है। तीर्थंकरों के बल का तो पार ही नहीं है।

३१ आशीविष—जिनकी दाढो में महान् विष होता है। ऐसे मनुष्य, बिच्छू, सांप और मेढक।
(भगवती ८—२)

इनमें से कुछ लब्धियो का उल्लेख 'अनुयोगद्वार' सूत्र मे भी है। उसमे तो सम्यग्दर्शन लब्धि, गणिआचार्य लब्धि आदि अन्य लब्धियो का भी उल्लेख है। विभिन्न स्थलो मे अन्य लब्धियो का उल्लेख भी मिलता है। ●

सयमी और आत्मार्थी सन्त, लब्धि प्राप्त होते हुए भी उसका उपयोग नही करते, क्योकि लब्धि का उपयोग चारित्र का विघातक है। यदि कोई सकारण भी उपयोग करे, तो वे प्रमादी माने जाते है और उन्हे प्रायश्चित्त लेकर अपनी शुद्धि करनी पड़ती है, तभी वे धर्माराधक माने जाते है। जब तक वे प्रायश्चित्त नही ले लेते, तब तक वे भगवान् की आज्ञा के पालक—आराधक नही माने जाते।

अनगारों की विशेषताएँ

(भगवती २०—९)

कई मुनि 'कनकावली' तप करने वाले थे, तो कई 'एकावली,' 'लघुसिंह क्रीडा,' 'महासिंह क्रीडा,' 'भद्र प्रतिमा', 'महाभद्र प्रतिमा', 'सर्वतोभद्र प्रतिमा' और 'आयबिल वर्धमान तप' करने वाले थे। *

कई मुनिवर मासिकी भिक्षु प्रतिमा के धारक थे, तो कई दो मासिकी यावत् सप्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा के धारक थे। कोई प्रथम सप्त रात्रि की भिक्षु प्रतिमा के धारक थे, तो कई दूसरी, तीसरी सप्तरात्रि भिक्षु प्रतिमा के पालक थे। कई दिन रात की (११ वी) भिक्षु प्रतिमा की आराधना करते थे, तो कई एक रात्रि की (१२ वी) भिक्षु की प्रतिमा को धारन किये हुए थे।

कई मुनिवर 'सप्तसप्तमिका भिक्षु प्रतिमा' से लगाकर 'दसदसमिका भिक्षु प्रतिमा" करने वाले

● 'प्रवचनसारोद्धार' में २८ लब्धियों का उल्लेख है। यहां हमने ३१ की सख्या दी है। हमनें इसमें उववाई सूत्र में आई हुई लब्धियां पहले ली। इसलिये प्रचलित क्रम में भी अन्तर पडा। सख्या में अन्तर आने का कारण यह है कि 'प्रवचनसारोद्धार' में "क्षीरमधुसर्पिराश्रव" नाम की लब्धि को एक ही गिना, जब कि उववाई सूत्र में तीनों पृथक् पृथक् गिनाई। इससे दो अङ्क बढ गये और 'पटबुद्धि' नाम की लब्धि 'प्रवचनसारोद्धार' से इसमें अधिक है। इसका समावेश कोष्ठक बुद्धि में हो सकता है।

प्रवचनसारोद्धार में लिखा है कि—अभव्य पुरुषों में निम्न लिखित १३ लब्धियां नहीं होती। जैसे—१ अरिहंत २ चक्रवर्ती ३ वासुदेव ४ बलदेव ५ सम्भिन्नश्रोत लब्धि ६ चारण ७ पूर्वधर ८ गणधर ९ पुलाक १० आहारक ११ केवली १२ ऋजुमति और १३ विपुलमति।

इन तेरह के अतिरिक्त १५ लब्धियें अभव्य पुरुष प्राप्त कर सकता है। अभव्य स्त्रियां इनके सिवाय 'क्षीर—मधुसर्पिराश्रव' लब्धि भी नहीं पा सकती।

* तप का वर्णन पांचवें विभाग में किया जायगा।

है। लघुमोक प्रतिमा 'महामोक प्रतिमा' यवमध्यचन्द्र प्रतिमा और वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा' के आराधक अनगार भी भगवान् महावीर के अन्तेवासी थे।

ये सभी मुनिवर संयम और तप से अपनी आत्मा को शुद्ध–पवित्र करते हुए विचरते थे।

भगवान् महावीर के उन सर्वत्यागी साधु भगवतों में बहुत से स्थविर भगवंत (जो श्रुत प्रव्रज्या और आयु में बड़े थे) उच्च जाति सम्पन्न व कुलीन थे बलवान थे, रूप सम्पन्न और विनय सम्पन्न थे। वे ज्ञान दर्शन चारित्र लज्जा और लघुता से युक्त थे। वे ओजस्वी तेजस्वी वर्चस्वी और यशस्वी थे। उन्होंने क्रोध मान माया और लोभ को जीत लिया था। उनकी इन्द्रियें उनके वश में थीं। उन्होंने निद्रा क्षुधादि परीषहों को जीत लिया था। जीने की आशा और मृत्यु का भय तो उन्हें था ही नहीं। वे मुनिपुंगव व्रत में प्रधान और गुणों में संसार के सभी साधुओं में उच्च स्थान धराने वाले थे। वे निर्दोष भिक्षाचरी आदि क्रिया में उत्तम और महाव्रत आदि चारित्राराधना में सर्वोत्तम थे। इन्द्रिय निग्रह अथवा दोषों को दूर करने में भी वे कुशल थे। वे निश्चय=विशुद्ध आत्म तत्त्व के जानकार थे और उसी ध्येय की पूर्ति में प्रगतिशील रहते थे। व्यवहार में रहते हुए भी उनका लक्ष निश्चय की ओर ही रहता था। अच्छी बुरी परिस्थितियों को वे अपने आत्मबल पर विश्वास रखकर सह लेते थे। वे संत प्रवर सरलता नम्रता लघुता क्षमा निर्लोभता में बढ़े चढ़े हुए थे। उनकी आत्मा चारित्र में इतनी रंग गई थी कि जिससे अनेक प्रकार के उत्तम गुण प्रकट हो गये थे। वे विद्या में भी प्रधान थे। अनेक प्रकार की विद्या और मन्त्र तथा वेद के वे जानने वाले थे किन्तु जानते हुए भी वे आचरण तो केवल मोक्ष मार्ग में उपयोगी ऐसे ज्ञानादि उत्तम गुणों का ही करते थे। वे ब्रह्मचर्य नयवाद के पारगामी और नियम पालने में दृढ़ थे। उनका जीवन और आचरण सत्य पर ही–आधारित–था–जिसमें दंभ की तो छाया ही नहीं थी। वे पवित्रता में प्रधान थे। उनके जैसी भावों की पवित्रता=अन्तर्शुद्धि अन्यत्र मिलनी असंभव ही थी। उनका वर्ण=आकृति उत्तम थी। वे तपस्वी और जितेन्द्रिय थे। उन्होंने अपनी इच्छाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। वे बाह्य और आभ्यन्तर–दोनों प्रकार से शुद्ध थे अर्थात् उनका बाह्य जीवन (वाणी और शरीर सम्बन्धी क्रिया) शुद्ध–निर्दोष था और आभ्यन्तर जीवन भी पवित्र था। उनके चारित्र एवं तप का लक्ष्य भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए नहीं था अर्थात् निदान रहित था। उनकी उत्सुकता=चपलता बहुत कुछ नष्ट हो चुकी थी। उनकी लेश्या–विचारणा ज्ञानादि विषयों से बाहर नहीं जाती थी और अशुभ लेश्याओं के लिये तो वहाँ स्थान ही नहीं था। वे सदैव अपनी संयमी परिणति में ही रमण करके पूर्व के कुसंस्कारों को दृढ़ता से नष्ट करते थे। वे जो भी प्रवृत्ति करते थे उन सब में निर्ग्रंथ प्रवचन=आर्हत् सिद्धांत दृष्टिगत रहता था। वे मुनि मतंगज निर्ग्रंथ प्रवचन के प्रकाश में ही–उसी के अनुसार अपना जीवन चलाते थे।

वे अनगार भगवन्त आत्मवाद–स्व सिद्धात के जानकार थे। अर्थात् वे आत्म अनात्म के भेद ज्ञान में प्रवीण और परवाद–अन्य सिद्धात के भी जानकार थे, अन्य दर्शनो की जानकारी भी उन्हे थी। वे स्व–पर सिद्धात के ज्ञाता होते हुए भी स्व सिद्धात में स्थित रहकर उसकी आराधना करते थे। वे वे आत्म धर्म × के पालक थे। जिस प्रकार नलिनि वन में हाथी, मस्त होकर विचरते है, उसी प्रकार वे मुनिमतगज भी गजेन्द्र की तरह सयमरूपी रमणीय वन (आराम) में प्रसन्नता पूर्वक विचरते थे।

वे मेधावी–गीतार्थ मुनिवर, जिज्ञासुओ की शका का समाधान करने मे कुशल थे। उनके समाधान छलछिद्र रहित होते थे, अथवा उनके उत्तर खण्डित नही हो सकते थे। वे श्रमणवर ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय के आगार थे। वे उस कुत्रिकापण जैसे थे, जिसके यहा तीनो लोक की अलभ्य वस्तु प्राप्त होती थी, अर्थात् वे ज्ञान के भण्डार थे–उनमे सभी प्रकार की अलौकिक विद्याएँ थी। कोई भी परवादी उन्हे विवाद में नही जीत सकता था, वे परवादी–मान–मर्दक थे। उन त्यागी, विरागी, विज्ञानियो के आगे मिथ्यावाद ठहर ही नही सकता था। आचार्य की महानिधि के समान द्वादशाग (सर्वश्रुत) रूप भावधन के वे धनी–मालिक थे। वे उस अलौकिक ऐश्वर्य के अधिपति थे कि जिसे लूटने और छीनने की शक्ति किसी मे भी नही है। वे सभी अक्षरो की सधि, उनके सयोगो से उत्पन्न होने वाले अर्थ=शब्दानुशासन के सर्वोच्च ज्ञाता थे। वे सभी भाषाओ के ज्ञाता थे।

वे जिन नही होते हुए भी जिनेश्वर के समान अर्थात् सरागी होते हुए भी वीतरागी के समान थे। कषायो और विषयो पर उनका पूरा अधिकार था। वे इन्द्रियजयी महात्मा, सर्वज्ञ जिनेश्वर के समान अमोघ उपदेश देने वाले थे। ऐसे जिनेश्वर के अन्तेवासी अनगार भगवन्त, सयम और तप से अपनी आत्मा को विकसित करते हुए विचरण करते थे।

मोक्ष मार्ग के वे पराक्रमी पथिक, ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदानभडमात्र निक्षेपण समिति और उच्चार प्रसवणादि परिस्थापनिका समिति, इन पांच समितियो के पूर्ण पालक थे। वे मनोगुप्त थे, उनका मन सासारिक विषयो की ओर नही जाता था। क्योकि उन्होने स्वाध्याय ध्यान और ज्ञानाभ्यास में मन को लगा रक्खा था। इसलिए दूसरी ओर जाने का मन का अवकास ही नही था। वे वचन गुप्ति के धारक थे। उनका अधिकाश समय मौन मे ही जाता था। वे तभी बोलते थे जब कि सयम साधना मे बोलना आवश्यक होता, या जहा स्व–पर कल्याण की सभावना होती। जिन वचनो से कर्म बन्धन बढे–ससार की परम्परा लम्बी हो, ऐसे सावद्य वचन तो वे बोलते ही नही थे। काय गुप्ति भी उनमें पूर्ण रूप से थी। वे विना ज्ञानादि आराधना और शारीरिक बाधा के काय सचालन नही करते थे। उनके शरीर से आरम्भ जन्य तथा सावद्य क्रिया नही हो जाय, इसकी

× से आयट्ठीणं, आयहियाण, आयजोइ, आयपरकक्कमाणं (दशाश्रुत स्कन्ध ५

वे सतत् सावधानी रखते थे। वे आत्मगुप्त थे उनका आत्मा स्वाध्याय संयम और ध्यानादि की सीमा में ही रहती थी। उन महात्माओं की इन्द्रियें भी गुप्त थी। अनुकूल विषयों की ओर रुचि तथा प्रतिकूल विषयों की ओर अरुचि वे होने ही नहीं देते थे। वे ब्रह्मचर्य गुप्ति के भी धारक थे। नव प्रकार की वाड़ से उन्होंने ब्रह्मचर्य की इस प्रकार रक्षा की थी कि जिससे उस किसी प्रकार का खतरा नहीं हो सकता था। जिस प्रकार मूंजी अपने धन की रक्षा में पूर्ण सावधान होता है उसी प्रकार वे ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्म=आत्मा, की रक्षा में पूर्ण सावधान थे। स्त्रीकथा स्त्रियों के सौंदर्य का निरखना पौष्टिक आहार करना अति आहार करना शरीर की विभूषा करना इत्यादि कारण ब्रह्मचर्य के घातक हैं। इन सभी निमित्तों से वे दूर ही रहते थे इसीसे वे ब्रह्मचर्य गुप्ति के धारक कहे जाते थे।

वे ममत्व करके रहित थे। वस्त्र पात्र तो दूर रहे अपने निकट के साथी—शरीर पर भी उनका ममत्व नहीं था। उन्होंने संसार के अथवा कर्म जन्य सभी संयोगों से अपना सम्बन्ध छुटा लिया था। वे अपनी आत्मा के अतिरिक्त सभी पर वस्तुओं से विलग थे।

वे आदर्श मुनिवर अकिञ्चन थे। उनके पास धन तो था ही नहीं पर दूसरे दिन के खाने के लिए भी कुछ नहीं रहता था। वस्त्र पात्र वे फालतू रखते ही नहीं थे। वे एक या दो पात्र एकाध वस्त्र रखते थे। तीन पात्र और तीन चद्दर से अधिक तो कोई रखते ही नहीं थे। वस्त्र पात्र भी उनके सामान्य और स्वल्प मूल्य के होते थे। क्रोधादि कषाय हास्यादि नोकषाय और मिथ्यात्व रूपी आभ्यन्तर गांठ तथा धनवस्तु आदि बाह्य परिग्रह की गांठ को उन पवित्र मुनिपुंगवों ने तोड़ दी थी और आठ कर्मों की गांठ—बन्धन को काटने में प्रयत्नशील थे।

संसार परिभ्रमण (आश्रव) के मार्ग का उन संयमी सन्तों ने बन्द कर दिया था। उनका संसारी लोगों से लगाव नहीं रहता था। वे आवश्यक कार्य के सिवाय गृहस्थियों के निकट सम्पर्क में नहीं आते थे। संसारियों की समस्याओं को उनकी विचारणा में स्थान ही नहीं था। वे संसार के विविध रंगों में नहीं रंग कर दूर ही रहते थे। स्नेह की चिकास से वे निर्लिप्त रहते थे। उन्हें वीतराग होना था। वीतराग होने में पाप का सर्वथा त्याग तो सब प्रथम करना पड़ता है और १८ पाप के त्याग में संसारियों अथवा सांसारिक वस्तुओं से राग (१० वां पाप) और रति=आसक्ति (१६ वां पाप) त्यागना ही पड़ता है तभी वीतरागता की ओर बढ़ सकते हैं। भगवान् महावीर देव के पवित्र अनगार भगवन्त छिन्नस्रोत और निर्लेप थे।

उन्मुक्त विहारी—वे पवित्र अणगार उन्मुक्त=स्वतन्त्र विहारी थे। उनके किसी प्रकार का बन्धन नहीं था। जो बन्धन मुक्त है वही स्वतन्त्र हो सकता है। जहां पराश्रय है वहां बन्धन है। जहां स्वाश्रय है वहां स्वतन्त्रता है। संसार में रहते हुए भी साधुओं को हम संसार त्यागी कहते हैं। उसका यही कारण है कि उन्होंने संसार के स्नेहानुबन्ध से अपने को आजाद कर लिया है।

प्रतिबन्ध

आत्मा, खुद वन्धन सजता है। अपनी पराधीनता खुद तय्यार करता है, किंतु स्वाश्रय से नही -पराश्रय से। पराश्रय से ही बन्धन मे जकडाता है। पराश्रय का ही दूसरा नाम पराधीनता है। यह वन्धन (प्रतिवन्ध) चार प्रकार का है। यथा-

१ द्रव्य प्रतिवन्ध २ क्षेत्र प्रतिवन्ध ३ काल प्रतिवन्ध और ४ भाव प्रतिवन्ध।

किसी वस्तु के प्रति स्नेह से बँध जाना द्रव्य-प्रतिवध है। यह तीन प्रकार का होता है-१सचित्त २ अचित्त और ३ मिश्र।

सचित्त-द्रव्य-बन्धन-ससारियो का माता, पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री, मित्र, ज्ञाति, दास, दासी, शुक आदि पक्षी और अश्वादि पशु पर स्नेह होता है। ससार त्याग देने पर भी यदि पूर्व प्रतिवध कायम रहे अथवा शिष्यो और उपासको का स्नेह, वन्धन रूप वन जाय, तो यह सचित्तद्रव्यबन्धन है। शिष्य प्राप्ति के लिए कई साधु साध्वी मर्यादा से बाहर होकर अनुचित प्रयत्न करते है। कई शिष्यो की मर्यादा हीनता को चलाते रहते है। यह सब मोह के कारण होता है। यह सचित्तद्रव्यबन्धन है। भगवान् महावीर के अनगार महात्मा, ऐसे प्रतिवन्ध से दूर रहते थे यदि कोई उनका शिष्यत्व स्वीकार करता अथवा भगवान् द्वारा उन्हे नवदीक्षित शिष्य दिया जाता, तो वे उसे श्रुतज्ञान का अभ्यास कराते और उसकी सयम साधना में सहायक होते, किंतु उसे अपने लिए बन्धन रूप नही बना लेते थे। तात्पर्य यह कि वे सचित्त-द्रव्य-प्रतिबन्ध से रहित थे।

अचित्त-द्रव्य-बन्धन-गृहस्थो के तो सोना चाँदी, तावा, पीतल आदि धातु, वस्त्र, वासण, घर आदि अनेक प्रकार का अचित्त द्रव्य-प्रतिबन्ध होता है। श्रमणो के वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि उपकरण, ममत्व होने पर बन्धन रूप हो जाते है। ममत्व के कारण ही इनका विशेष सग्रह होता है और वह परिग्रह रूप बन जाता है। वे पवित्र अनगार लघुभूत थे। यदि एक वस्त्र और एक पात्र से ही काम चल जाता, तो वे दूसरा लेते हो नही। आजकल उपकरणो की अधिकता, उन्हे सुन्दर बनाने की रुचि, रगविरगे पात्र, लकडी और कोई कोई अपने तथा अपने साथ राज्याधिकारियो और नेताओ के लिए हुए फोटुओ का सग्रह अपने पास रखते हैं,-यह साधुता की परिणति के विपरीत है। सस्थाओ के लिए धन सग्रह करवाने की प्रवृत्ति भी कही कही देखी जाती है। यह सब निर्ग्रथता पर कलक है। भगवान् के अतेवासी अनगार इस प्रकार के अचित्त द्रव्य प्रतिबन्ध से भी रहित थे। वे सतवर अपने तप से उत्पन्न लब्धियो से भी निरपेक्ष थे।

मिश्र-द्रव्य-प्रतिबन्ध-सचित्त और अचित्त दोनो प्रकार के द्रव्य का सम्मिलित योग हो, और

उस पर जो स्नेह हो जाता है वह मिश्रद्रव्य प्रतिबन्ध है। उपकरणादि युक्त शिष्य (मोहक उपकरणादि युक्त) अथवा जन प्रशंसित उपाधिधारी व लौकिक डिगरी प्राप्त शिष्य के मोह में बन्ध जाना साक-मेता तथा अधिकार सम्पन्न या धनवान उपासकों के प्रेम में बन्ध जाना मिश्र-द्रव्य-प्रतिबन्ध है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध से भी वे सच्चे श्रमण रहित थे। सम्राट श्रेणिक कुणिक उदयन और श्रेष्ठिवर आनन्द जैसे महान् गृहस्थ उपासकों पर भी वे मोहित नहीं थे।

इस प्रकार के द्रव्य प्रतिबन्ध से वे श्रमणवर रहित थे।

क्षेत्र बन्धन—क्षेत्र प्रतिबन्ध भी उन निग्रंथों के नहीं था। अमुक शहर अथवा गाँव अच्छा है। वहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद एवं शरीर के अनुकूल है। आहारादि की प्राप्ति इच्छानुसार सरलता से हो सकती है। अमुक बगल खेत और खलिहान स्वडिलादि के लिए सुखप्रद है। अमुक उपाश्रय उसके कमरे उसका आंगन में सब बैठने सोने आदि के लिए अच्छे हैं। ऐसा साताकारी क्षेत्र दूसरा नहीं है। यह क्षेत्र मेरा अनुरागी है इसलिए मुझे यहीं रहना चाहिए। अन्य क्षेत्र में जाने पर इतनी अनुकूलता नहीं मिलेगी और यहाँ कोई दूसरा आकर प्रभाव जमा लेगा तो मैं घाटे में रहूँगा'। इस प्रकार क्षेत्र पर ममत्व करके उसके स्नेह बन्धन में बन्धा जाता है। भ० महावीर के वे द्रव्य-भाव श्रमण इस प्रकार के क्षेत्र प्रतिबन्ध से भी रहित थे।

काल बन्धन—उन निर्ग्रंथ भगवन्तों पर काल का बन्धन भी नहीं था। उनकी तप साधना में काल बाधक नहीं बन सकता था। वे यह नहीं सोचते कि 'अभी समय अनुकूल नहीं है इसलिए उग्र साधना नहीं करके ढीला आचार ही चलने देना चाहिए। वे सावधानी पूर्वक यथासमय आवश्यक साधना और प्रतिक्रमणादि करते थे किंतु काल के बन्दी बनकर साधना में पोल नहीं चलाते थे। वे वर्षाकाल के चार महीने एक स्थान पर रहकर व्यतीत करते थे और शेष आठ महीनों में एक * रात्रि और नगर में पाँच रात्रि रहकर आगे कूच करते जाते थे। कोई तिथि लग्न वार दिकशूल यामिनी और कालराहु उनके विहार या धर्म साधना में बन्धन रूप नहीं हो सकते थे।

भाव बन्धन—उन महर्षियों के भाव प्रतिबन्ध भी नहीं था। किसी पर क्रोध करके वे वैरानुबन्ध नहीं रखते थे। मान को मन से उन्होंने छोड़ दिया था माया की गांठ भी उनके हृदय में नहीं थी और लोभ के बन्धन को उन्होंने काट दिया था। उनमें भय अथवा हास्यादि की प्रवृत्ति नहीं थी अर्थात् आभ्यन्तर परिग्रह त्याग ही उनकी भाव प्रतिबन्ध रहितता था। इस प्रकार वे बन्धन मुक्त-स्वतन्त्र विहारी थे।

---

* टीकाकार लिखते हैं कि यह विधान प्रतिमाकल्प वाले मुनियों की अपेक्षा से है ... तो मासकल्प विहार वाले होते हैं।

वासी चन्दन कप्प-वे बन्धन रहित-स्वतन्त्र तो थे ही, किंतु हृदय भी उनका कितना पवित्र कि जहा मानापमान के विचारो को ही स्थान नही। कोई उनकी अर्चना करे, वन्दना नमस्कार करे, सत्कार करे और अपने को चरणो में अर्पण करदे, तो उससे वे प्रसन्न नही होते तथा कोई अपमान करे, ताडना तर्जना करे और वध भी करे, तो वे नाराज नही होते थे। वे पूजक निन्दक तथा वधक पर समान भाव-रागद्वेष रहित परिणाम रखने वाले थे। जिस प्रकार चन्दन को वसूले से छिलने पर भी वह सुगन्ध ही देता है, उसी प्रकार वे पवित्र अनगार, निरादर और ताडना तर्जना करने वाले का भी हित ही चाहते थे।

समलेट्ठुकंचणा-मिट्टी और सोना दोनो एक समान। जिन्होने परिग्रह को पाप का मूल जानकर त्रिविध त्याग दिया, वे मिट्टी और सोने मे विषम भाव क्यो रक्खे? जहा मिट्टी के प्रति उपेक्षा हो और सोने के प्रति प्रेम हो, वही परिग्रह की गाठ होती है। उन महात्माओ ने तो मिट्टी और सोने को पुद्गल परिणाम मानकर और दोनो को पृथ्वीकाय के विभिन्न रूप समझकर उदासीन होगए थे। सोना ही क्या, मूल्यवान हीरे भी उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नही रखते थे और वे उन्हे भी ककर के समान उपेक्षणीय मानते थे। आत्मार्थियो के लिए सोने और हीरे मोतियो का महत्व ही क्या? वे तो सब को पर समझकर परे ही रहते थे।

समसुहदुक्खा-वे पौद्गलिक सुख दुख-शुभ कर्मोदय से प्राप्त साता और अशुभ कर्मों से प्राप्त असाता (दुःख) में भी कोई भेद नही रखते थे। आत्मिक आनन्द के भक्तो को पौद्गलिक सुख कब लुभा सकता है? पौद्गलिक सुखो को तो उन्होने जानबूझ कर छोडा है और परीषहो तथा उपसर्गों की सेना से युद्ध करने के लिए डट गए है, फिर वे आरामतलबी को कब पसन्द करेगे। सुखशीलियापन तो उनमें था ही नही, न दुःख भीरुता ही उनमें थी। यदि परीषह उत्पन्न हो, तो शान्ति पूर्वक सहन करना और अनुकूल आहारादि प्राप्त हो, तो भी उनमे राचना नही। दोनो अवस्थाओ में समभाव पूर्वक रहना उनका स्वभाव बन गया था। 'सुख टिका रहे और दुःख दूर हो जाय,' इस प्रकार का विचार भी उनके मन में नही आता था।

इहलोगपरलोगअपडिबद्धा-इस लोक और परलोक के बन्धन से रहित, उन पवित्र परमार्थगामी निर्ग्रंथो के लिये, इस मनुष्य लोक में कोई वस्तु लुभावनी नही थी। इस लोक सम्बन्धी सुख, यश, पूजा, प्रतिष्ठा अथवा सत्कार के प्रति उनकी रुचि नही थी और न परलोक-स्वर्ग सम्बन्धी सुखो को ही वे चाहते थे। इहलोक सम्बन्धी सुखो की अप्राप्ति एव अभाव से पीडित होकर भी कई दीक्षित होते है और दीक्षित होने पर उसमें से अनेक तो अपनी कामनाओ को भस्म कर, विना किसी भौतिक इच्छा के मोक्ष साधना करते रहते है, किन्तु कुछ ऐसे भी होते है, जो या तो इस लोक सबधी सुखो की काम-

भावों को मनमें बसाये रखते हैं या दैविक सुखों की लालसा हृदय में दबाये रखते हैं। श्री स्थानांग सूत्र ३–२–१५७ में इस प्रकार की लालसा युक्त वाला ग्रहण करने वाले को दीक्षा को 'इहलोगपडिबद्धा, परलोगपडिबद्धा, उभयलोगपडिबद्धा' बतलाया है। ऐसे साधक मात्र द्रव्य साधु ही हो सकते हैं–भाव साधु नहीं और ऐसी साधना मिथ्यादृष्टि भी कर सकते हैं। इहलोगादि बन्धन से युक्त प्रव्रज्या मोक्ष–दायिनी नहीं होती। जब उसमें से प्रतिबन्ध निकलकर 'अपडिबद्धा' प्रव्रज्या होती है तभी परमार्थ गामिनी होकर मोक्ष प्रदायिका होती है।

आजकल तो कुछ साधु स्पष्ट रूप से कहने लगे हैं कि उनकी दीक्षा लोक–सेवा के लिए है। मोक्षसाधना के सिद्धांत को ही वे गलत बतलाते हैं। स्वर्ग के विषय में उनकी श्रद्धा ही नहीं है। ऐसे साधु इस लोक के बन्धनों से बन्धे हैं। ऐसे इहलोक प्रतिबद्धों की साधना का फल संसार ही है।

वे लोकोत्तम मुनिवर न तो इस लोक के स्नेह पाश में बँधे थे न परलोक का सुनहरी एवं मोहक सुखसागर उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर सका था। वे दोनों ही प्रकार के बन्धनों से रहित–अप्रतिबद्ध थे।

संसारपारगामी–प्रश्न हो सकता है कि जब वे इस लोक से सम्बन्धित नहीं थे और परलोक से भी सम्बन्धित नहीं थे तो उनका ध्येय क्या था? आखिर कुछ न कुछ तो लक्ष्य रहा ही होगा न उनका? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वयं सूत्रकार कहते हैं कि वे संसार पारगामी थे। इस अनादि अनन्त चतुर्गति रूप संसार समुद्र से पार होने के लिए वे प्रयत्नशील थे। उनका ज्ञान ध्यान संयम तप और कष्ट सहन सब संसार के उस पार पहुँचने के लिए था जहाँ जन्म मरण रोग शोक वियोगादि दुःख और नाशवान भौतिक सुख नहीं हैं। जहाँ अपने आपमें अनन्त सुखों का सागर परिपूर्ण रूप से भरा हिलोरें ले रहा है। उस अनन्त आत्मिक सुख रूपी समुद्र के सामने संसार का भौतिक सुख एक बिन्दु के बराबर भी नहीं है। मुक्तात्मा में रहा हुआ आत्मिक सुख मेरु पर्वत जितना है तो संसार का नाशवान भौतिक सुख एक सरसव के दाने जितना भी नहीं है। प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे पद में तथा उववाई सूत्र में कहा है कि 'जो सुख आकाश के समस्त प्रदेशों में भी नहीं समा सकता वह एक सिद्धात्मा में विद्यमान है। यह सुख साध्य है। प्रत्येक आत्मा को ऐसे सुख को प्राप्त करने का समान रूप से अधिकार है। किन्तु इसकी प्राप्ति उन्हीं को होती है जो इस पर दृढ़ श्रद्धा करे और श्रद्धा के बाद सम्यग् अभियान प्रारम्भ करदे। इस लोक परलोक से दृष्टि हटाकर संसार के उस पार पहुँचने का ही एक मात्र लक्ष्य रखते तो देर–सवेर अवश्य ही पार पहुँच सकता है। यदि इसमें कठिनाई है तो एक ही–श्रद्धा की। श्रद्धा होने में और टिकने में ही महान् बाधा होती है। दर्शन–मोहनीय कर्म का प्रबल प्रभाव इस प्रकार की श्रद्धा होने में पूर्ण रूप से बाधक होता है और अनेक प्रकार के बाह्य

निमित्त खडे करके आत्मा को भटकाता है। बड़े बडे साधुओ को भी इस मिथ्यात्व ने भटका दिया और वे मोक्ष के साधक (ससार त्यागी) कहे जाकर भी मोक्ष के विषय में कुश्रद्धा फैलाते है और ससार के गुणगान करते है।

अनन्त आत्मिक सुख रूप मोक्ष पर एक बार दृढ श्रद्धा जिसकी हो गई, वह कभी न कभी श्रद्धा को सफल करने का भी प्रयत्न करेगा और एक दिन ऐसा भी आयगा कि वह उस अनन्त सुख का स्वामी बन जायगा। एक बार के आत्माङ्कित हुए सस्कार उस महान् दुर्दशा से भी निकाल कर ऊपर उठा देगे और उसे 'ससारपारगामी' बना देगे। अनन्त काल के अनन्त जन्मो म, मिथ्या श्रद्धान तो अनन्तवार की, किन्तु जिनेश्वर भगवान् फरमाते है कि 'हे भव्यात्मा ! तू एक बार ससारपारगामी होने की श्रद्धा तो करले, अरे एक बार–एक मूहूर्त के लिए भी तू दृढता पूर्वक 'मोक्ष' की वास्तविक श्रद्धा करले, फिर देख ! तेरी आत्मा, अर्धपुद्गल परावर्त्तन काल से पहले ही परमात्मा बनकर अनन्त आत्मिक सुखो की स्वामीनि बन जायगी। हा, भगवान् के वे अनगार भगवत ससारपारगामी थे। ससार के भले बुरे से उनका कोई सम्बन्ध नही था। ससार मे लोग सुखी है या दुखी, रोगी है या निरोग, भूखे है या तृप्त, और नगे है या ढके, उन पर अत्याचार हो रहे है या सुख समृद्धि बरसाई जा रही है, फसले ठीक होती है या नही, वे नीति पर चलते है या अन्याय का आचरण करते है और आपस में हिल मिलकर सम्प से रहते है या लडाई झगडा करते है। इस प्रकार की चिन्ता–विचारणा से वे परे ही रहते थे। क्योकि वे 'इहलोक प्रतिबद्ध' नही होकर 'ससारपारगामी' थे। वे समझते थे कि ससार के ये झगडे आज कल के नही है, किन्तु अनादि काल के है। इनकी समस्याओ का हल आज तक नही हुआ। ससारी लोग अपनी समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करते ही है। हम तो इन समस्याओ को ससार में ही छोडकर आये है। हमारे सामने ससार से पार होने की ही एक समस्या है–समस्या नहीं, कर्त्तव्य है। वही हमें करना चाहिए'। इस प्रकार उन पवित्र सतो का एक मात्र लक्ष्य ससार से पार होने का ही था। वे उसी में लगे हुए थे।

कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिया विहरति–वे ससार पारगामी थे, ससार से पार होना चाहते थे, किन्तु ससार से पार होने के लिए कर्मों का जाल काटना पडता है। वे अपने कर्म रूपी कचरे को भस्म कर आत्मा को शुद्ध सोने की तरह बनाने के लिए तत्पर थे। पहले उन्होने सयम के द्वारा नये कर्मों का आगमन रोक दिया था। और पुराने कर्मो को तप रूपी अग्नि में भस्म करने के लिए वे सावधान हो गए थे। वे कर्मों को काटते हुए ही विचरते थे। उनका सोचना, विचारना, बोलना, और प्रत्येक क्रिया करना, निर्जरा जनक होता था। यद्यपि कषाय और योग के सद्भाव में कुछ कुछ कर्म बन्धन भी अपने आप हो जाते थे, जो कि स्थिति के अनुसार होते रहते है, फिर भी उनमें मोह की चिकास इतनी नही रहती थी कि जिससे वे गाढ अथवा दृढ बन्धन बन सके। बन्ध की अपेक्षा उन जागृत

आत्माओं में निर्जरा बहुत अधिक मात्रा में होता थी। पुद तीर्थंकर भगवान् भी प्रव्रजित होने के बाद कर्मों को नष्ट करने का ही प्रयत्न करते थे। भ० ऋषभदेवजी के विषय में 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि-"कम्मसंघणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए विहरई।" क्योंकि संसार से पार होने की यही विधि है चाहे तीर्थंकर हो या सामान्य साधु। तदनुसार भगवान् के ये भाग्यशाली अनगार कर्मों के बन्धनों को तत्परता के साथ नष्ट करते हुए विचर रहे थे।

भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगारों में से कई तो भगवान् महावीर प्रभु के पहले ही सिद्ध होगए-भगवान् के अरिहंत रहते हुए ही वे सिद्ध होगए और कई बाद में हुए तथा शेष देवभव को प्राप्त हुए।

इस प्रकार के उत्तमोत्तम अनगार थे-भगवान् महावीर के परिवार में। शारीरिक बाधा निवारण के सिवा समस्त समय उनका ज्ञान ध्यान और वैयावृत्य में ही लगता था। जहाँ भगवान् विराजते उस उपवन में अपूर्व दृश्य उपस्थित हो जाता था। कहीं कोई आचार्य कुछ साधुओं को श्रुत की वाचना देते थे तो किसी वृक्ष के नीचे कुछ वाचना लेते थे। कहीं कोई प्रश्न पूछते थे तो कुछ परावर्त्तना करते थे। कोई एकान्त स्थान में ध्यान लगाकर बैठे थे कोई किसी को तत्त्वोपदेश रूप आक्षेपनी कथा कहते थे तो कोई मिथ्यात्व परिहार रूप विक्षेपनी कथा कहते थे। इसी प्रकार कोई संवेगनी कथा कहते थे तो कोई निर्वेदनी कथा कहते थे। यों विविध प्रकार से आत्मा को पवित्र करते हुए वे अनगार भगवंत विचर रहे थे। (उववाई सूत्र)

यह है भगवान् महावीर स्वामी के समय के अनगार भगवंतों की उत्तमता पवित्रता निर्दोषता एवं शुद्ध साधुता का संक्षिप्त वर्णन। इससे हम वर्तमान दशा की तुलना करें तो मालूम होगा कि दिन रात का अन्तर होगया है। यह ठीक है कि उतनी पवित्रता काल दोष से संहननादि विपरीतता से वर्तमान में नहीं मिल सकती किन्तु काल संहननादि दोष के बहाने पाप चलाना और शिथिलाचार का समर्थन करना तो कदापि उचित नहीं है। जब आज भी काल एवं संहननानुसार कुछ साधु-साध्वी निष्ठापूर्वक यथाशक्ति संयम का ठीक पालन करते हैं तो दूसरे क्यों नहीं कर सकते? क्या काल और संहनन दोष उन्हीं पर असर कर गया? आज कई साधु अल्प उपधि से काम चलाते हैं तब बहुत से साधुसाध्वी ऐसे हैं कि जिनके उपकरण मर्यादातीत हैं। प्लास्टिक के कई रंगीन प्याले, रकाबियें गिलासें आदि रखते हैं। वस्त्रादि की मर्यादा भी नहीं निभाते। ज्ञान ध्यान में जिनकी रुचि ही नहीं रही। व्यर्थ की बातों में समय बिताने अथवा सांसारिक कर्म बन्धन बढ़ाने वाली चर्चा में जिनका समय व्यतीत होता है। कई लौकिक पुस्तकें समाचार पत्रादि पढ़ने के शौकीन हैं। इस प्रकार की दूषित प्रवृत्तियाँ भी क्या काल और संहननदोष से हैं? [illegible] चारित्र मोहनीय कर्म के उदय

का परिणाम है और उस उदय के वश में होकर वे तदनुसार प्रवृत्तियें करते हैं। उदय को विफल करने में सावधान नही होते। यदि उपरोक्त लेख से त्यागी पाठकगण सावधान होजायँ, तो वे भी लगभग वैसे ही अनगार भगवत हो सकते हैं। और श्रावक समुदाय सावधान हो जाय, तो उसके योग से श्रमण सस्था का भी हित हो सकता है।

अनगार भगवंत की उपमाएँ

१ कांस्य पात्र के समान–भगवान् महावीर के अन्तेवासी निर्ग्रन्थ, कास्य पात्र के समान स्नेह रहित थे। जिस प्रकार कासी के पात्र पर पानी नहीं ठहरता–उस पर से फिसल जाता है, उसी प्रकार वे मुनिराज भी स्नेह रहित थे। मोह को जीतने के लिए स्नेह रहित होना आवश्यक भी है। स्नेही जीव, निर्मोही नही हो सकता, और बिना मोह नष्ट हुए वीतरागता भी प्राप्त नही हो सकती।

२ शङ्ख के समान–वे शख के समान श्वेत थे। जिस प्रकार शख पर किसी भी प्रकार का दूसरा रग नही चढ सकता, उसी प्रकार वे प्रेम रग से वचित थे। ससारियो और भौतिक वस्तुओं तथा अपने शरीर के प्रति भी उनका प्रेम–राग नही था।

३ जीव के समान–वे जीव के समान सीधी गति वाले थे। जिस प्रकार पर–भव जाते हुए जीव की गति किसी से भी नही रुक सकती, उसी प्रकार वे महात्मा, जिस दिशा की ओर विहार करते, उधर चले ही जाते। शहर गाव और अच्छे बुरे क्षेत्र, उनकी गति अथवा दिशा को मोड नही सकते। यदि मार्ग मे भयानक जगल आ जाय अथवा आहारादि की अनुकूलता नही हो, तो वे इससे नही रुक सकते और आर्य देश मे विचरते ही रहते थे। आत्मिक पथ–मोक्ष मे भी वे बिना रुके आगे बढते ही जाते थे।

४ शुद्ध स्वर्ण–वे मुनि मतगज शोधित स्वर्ण के समान कीट रहित थे। जिस प्रकार सोने को कीट नही लगता और वह सुन्दर दिखाई देता है, उसी प्रकार उनकी आत्मा पर कर्म रूप कीट नही चढता था। आत्म–जागृति उनमे इतनी थी कि जिससे उनकी उज्ज्वलता निखरती ही जाती थी, उनकी आत्मा की चमक बढती जा रही थी। उनका चारित्र सोने के समान निर्मल एव निष्कलक था।

५ दर्पण–वे श्रमणवर आदर्श (दर्पण) के समान प्रकट भाव वाले थे। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में जैसा रूप होता है वैसा ही दिखाई देता है, उसमें अन्तर नही आता, उसी प्रकार उन मुनिवरो का हृदय स्वच्छ था। भीतर और बाहर एक समान था। उसमें छुपाने जैसी कोई बात ही नही थी। उनके सरल एव निष्कपट हृदय के दर्शन उनके चेहरे, उनकी वाणी और उनकी चर्या से ही हो जाते थे।

का भी त्याग किया जाता है। वे मुनिवर इन पांच अवलम्बनो का रुक्ष भाव से और ज्ञान दर्शन रूप सबल का हार्दिक लगन से अवलम्बन किये हुए थे। जब वे शरीर जैसे जीवन भर के साथी की भी चारित्र साधना के आगे परवाह नही करते, तो गृहस्थो के आलम्बन के मुहताज वे कैसे हो सकते थे?

वे श्रेष्ठ मुनिवर, स्वय दूसरो के लिए अवश्य अवलम्बनभूत थे। सयम साधना मे जिन राजाओ व गृहस्थो को अवलम्बनभूत माना है, उन्ही राजामहाराजाओ के लिए वे अवलम्बनभूत होते थे। वे राजा और चक्रवती सम्राट, अन्तर के उद्गार निकालते हुए कहते कि "साहुसरणपवज्जामि" इतना ही नही जिन छ काय के निर्जीव क्लेवर का आलम्बन माना, उन छ काय के अनन्त जीवो के लिए भी वे उपकारक है-अवलम्बनभून वन गये है। उन त्यागवीरो ने खुद आरम्भ समारम्भ का त्याग करके उन जीवो को अपनी ओर से निर्भय वनाये है और उनके प्रताप से कई मनुष्य यावज्जीवन सर्वथा, और कई देश से त्यागकर अनन्त जीवो को अभयदान दिया है। उनके आश्रय से कई सयमी अपना सयम पालकर मोक्ष मार्ग के साधक वनते थे। इस प्रकार वे दूसरो के लिए अवलम्बनभूत थे।

९ **वायु**-जिस प्रकार वायु, एक स्थान पर नही ठहरता, उसका कोई स्थान नही होता, उसी प्रकार मुनिराज के भी काई घर नही होता। वे एक स्थान पर नही रह कर ग्रामानुग्राम विचरते ही रहते थे। वे किसी क्षेत्र, सघ अथवा व्यक्ति विशेष से वन्धे हुए नही थे। वायु, गरीब और अमीर सब को स्पर्श करता है, उसी प्रकार वे निष्पृही मुनिराज, गरीब अमीर का भेद रखे विना, सबको धर्मोपदेश-ज्ञान दान देते थे।

१० **चन्द्रमा की तरह शीतल स्वभाव वाले**-जिस प्रकार चन्द्रमा सौम्य और शीतल होता है। उसका शीतल प्रकाश रात्रि को सुहावनी बना देता है, गर्मी के दिनो में सूर्य के भीषण ताप से जब हम घबडा जाते है, तब चन्द्रमा के शीतल प्रकाश वाली रात्रि हमे बहुत ही शान्ति देती है, उसी प्रकार उन अनगार भगवन्तो की पवित्र लेश्या-शुभ परिणाम, सभी जीवो के लिए सुखदायक होते थे। ससार के त्रि-ताप से तपे हुए, घबडाये हुए और झुलसे हुए जीवो के लिए वे सतप्रवर, चन्द्रमा की तरह शाति प्रदायक थे। उनके चेहरे और वाणी से झरती हुई सुधा मे सराबोर होकर भव्य प्राणी, अनुपम शाति का अनुभव करते थे।

अधेरी रात मे चन्द्रमा का प्रकाश, पथिको के लिए आधारभूत होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व एव अज्ञान रूपी भाव अन्धकार से भरे हुए इस भयानक ससार में, उन शीतल स्वभाव वाले सतो के ज्ञान का शीतल प्रकाश, मोक्षमार्ग के पथिको के लिए शान्ति, दायक होता था। इस शीतल प्रकाश के अभाव से ही तो 'नन्द मनिहार' भटक कर मिथ्यात्व के गाढ अन्धकार में गिर गया था और आज भी लाखो भावुक भटक गये है।

११ सूर्य के समान तेजस्वी—जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से प्रकाशित होरहा है वैसे वे तपोमय महात्मा अपने तप के तेज से देदिप्यमान हो रहे थे। तपस्या के प्रभाव से दुर्बल और निर्बल होते हुए भी आत्म-तेज बढ़ता है और उस आत्म तेज के प्रभाव से तपस्वी के चेहरे का तेज भी बढ़ता है।

सूर्य का प्रकाश अन्धकार को मिटाता है उसी प्रकार उन ज्ञानी महात्माओं का ज्ञान प्रकाश भी अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटाने वाला था। इस प्रकार भगवान महावीर के अन्तेवासी अनगार सूर्य के समान तेजस्वी थे।

१२ सागर के समान गम्भीर—जिस प्रकार समुद्र गम्भीर होता है वह क्षुद्र नाले की तरह छलक कर खाली नहीं हो जाता उसी प्रकार वे महर्षि भी उदार और गम्भीर हृदयी थे। वे अनुकूल निमित्तों से खुश नहीं होते और प्रतिकूल निमित्तों से नाराज नहीं होते तथा अनार्यों और म्लेच्छजनों के द्वारा दिये हुए कष्टों को शान्ति पूर्वक सहन करते थे। उनकी गम्भीरता को भंग करने की शक्ति किसी देव दानव में भी नहीं थी। वे 'नागश्री' का दिया हुआ हलाहल समान प्राणघातक तुम्बीपाक भी शान्ति पूर्वक खा सकते थे और सोमिल द्वारा सिर पर आग भी रखवा सकते थे। क्षमासागर श्रमण मुनिराज की क्षमा मामूली थी? इस प्रकार भगवान् महावीर के अनगार भगवंत समुद्र के समान क्षमा के सागर और गम्भीर थे।

१३ पक्षी के समान बन्धन मुक्त—जिस प्रकार पक्षियों के आकाश विहार में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता वे स्वेच्छा से जहाँ चाहे चले जाते हैं उसी प्रकार वे उन्मुक्त विहारी अनगार भी क्षेत्र विशेष के प्रतिबन्ध से रहित थे। वे अपनी मुनि मर्यादानुसार विचरते ही रहते थे। स्वजनादि का मोह अथवा स्थान या क्षेत्र-मोह के बन्धन से वे मुक्त थे। अनुयायियों का प्रेम भी उन्हें नहीं रोक सकता था। जबतक जंघाबल साथ देता तबतक वे अपने कल्प के अनुसार बिना किसी प्रतिबन्ध के विहार करते रहते थे।

१४ मेरु पर्वत के समान स्थिर—जिस प्रकार सुमेरु पर्वत भयंकर बवण्डर से भी कम्पित नहीं होता और स्थिर रहता है उसी प्रकार वे दृढ़ संयमी अनगारसिंह संयम साधना में उपस्थित होते हुए भयंकर उपसर्ग से भी नहीं डिगते किन्तु संयम में अधिकाधिक स्थिर रहकर मृत्यु का भी सामना करते रहते थे। उन्हें न तो अनुकूल (स्त्री एवं सत्कार परीषह) डिगा सकते थे और न प्रतिकूल (रोग एवं वधादि) परीषह डिगा सकते थे। वे परीषहों और उपसर्गों के सामने धीर वीर होकर डट जाते थे।

१५ शरद ऋतु के जल के समान निर्मल—जिस प्रकार वर्षा के समाप्त हो जाने के बाद शरद ऋतु में जल निथर कर निर्मल हो जाता है उसमें वर्षा के कारण बहकर आई हुई गंदगी और कचरा कचरा नहीं रहता उसी प्रकार संसार त्यागने के बाद उन श्रमण[illegible] हृदय भी [illegible]ता था।

उदय भाव के प्रवाह के कारण ससारावस्था में विषय विकार रूपी आई हुई गदगी, उन सतप्रवरो के हृदय से दूर होकर शुद्धता आ गई थी। अब उनके पवित्र हृदय में अप्रशस्त राग द्वेष के लिए स्थान नही रह गया था। जिस प्रकार शरीर का मैल, निर्मल जल से दूर होता है, उसी प्रकार वे निर्मल आत्माएँ, भव्यात्माओं के आत्म मैल को दूर करने में सहायक होती थी।

१६ गेंडे के सींग की तरह एकाकी–जिस प्रकार गेडे के एक ही सीग होता है। वह उस एक ही सीग से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार वे अनगार, राग द्वेष से रहित एव आत्मनिष्ठ होकर विचरते थे। उनका आत्मनिष्ठा रूपी एकाकीपन, रक्षक बनकर उनकी विजय-कूच को आगे बढा रहा था।

१७ भारण्ड पत्ती की तरह अप्रमत्त–शास्त्रो मे आया है कि भारड पक्षी आकाश में ही उडता रहता है, जब वह आहार के लिए पृथ्वी पर आता है, तो पूरी सावधानी के साथ, अपने पखो को फैला कर ही बैठता है और जहा खतरे की आशका हुई कि फौरन उड जाता है। उसी प्रकार भ० के साधु भी अपने ज्ञान ध्यान रूपी धर्मोद्यान में ही विचरते रहते थे। वे गृहस्थो के ससर्ग में नही रहते थे। जब उन्हे आहारादि की आवश्यकता होती, तभी गृहस्थो के घरो मे जाते थे और कार्य होते ही शीघ्र लौट आते थे। गृहस्थो के यहाँ वे अप्रमत्त-सावधान होकर यह ध्यान रखते थे कि कही उनकी पवित्र साधुता, एव विशुद्ध समाचारी में दोष नही लग जाय। जहा दोष की आशका होती, वहा से वे उसी समय चल देते थे। इस प्रकार वे अपनी सयम साधना में सदा सावधान रहते थे।

१८ हाथी के समान शौर्यवंत–जिस प्रकार हाथी, युद्ध में डट जाता है और भयकर घाव लगते हुए भी पीछे नही हटता; उसी प्रकार वे शूरवीर मुनिवर भी परीषह रूपी सेना के सामने डट जाते थे। वे आपत्तियो से घबडाकर कभी पीछे पाँव नही रखते थे।

१९ वृषभ जैसे भारवाहक–जिस प्रकार मारवाड का धोरी वृषभ, उठाये हुए भार को उत्साह पूर्वक यथास्थान पहुँचाता है, उसी प्रकार वे उत्तम श्रमण, स्वीकार किये हुए सयम का, चढते हुए भावो से यथा-विधि जीवन पर्यन्त निर्वाह करते थे। उनके परिणामो मे शिथिलता नही आती थी। वे गलियार बैल जैसे नही थे। वे धोरी एव जातिवन्त वृषभ के समान थे।

२० सिंह के समान विजयी–जिस प्रकार सिंह किसी भी जगली जानवर से नही हारता, उसी प्रकार वे श्रमण सिंह, न तो परीषहो से पराजित होते थे, न मिथ्यात्व और अज्ञान के आक्रमण से भयभीत होते थे और पाखण्डियो के प्रहार भी उन पर बे असर हो जाते थे। वे सिंह के समान निर्भीक होकर अपनी सयम यात्रा को आगे बढाते ही जाते थे।

२१ पृथ्वी के समान सहनशील–जिस प्रकार पृथ्वी, सर्दी, गर्मी, कूडा-कर्कट, विष्ठा, मूत्र तथा हल कुदा-लादि के प्रहार सहती हुई भारवहन करती है, उसी प्रकार वे निर्ग्रंथ मुनिराज, अपने को वन्दन करने वालो तथा गाली देने और प्रहार करने वालो के प्रति समभाव रखते हुए सभी प्रकार के कष्टो को सहन करते थे।

२२ घृत सिंचित अग्नि के समान दैदीप्यमान-जिस प्रकार घृत से सिंचन की हुई अग्नि विशेष रूप से जाज्वल्यमान होता है उसी प्रकार वे उत्तम श्रमणवर ज्ञान और तपस्या के तेज से देदीप्यमान थे।

अग्नि अपने को और दूसरों को प्रकाशित करता है किन्तु वह किसी दूसरे से प्रकाशित नहीं होती उसी प्रकार भ० महावीर के तपस्वी निर्ग्रंथ अपने ज्ञान और तप के प्रभाव से स्वयं देदीप्यमान थे। और दूसरे भव्य प्राणियों को भी प्रभावित करते थे किन्तु उन्हें कोई प्रभावित नहीं कर सकता था।

भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगार भगवन्तों की २२ उपमाओं का यह वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार किया गया है। इस सूत्र में इतनी ही उपमाएँ हैं किन्तु प्रश्नव्याकरण सूत्र श्रु २ अ० ५ में नीचे लिखी ९ उपमाओं का वर्णन भी है। पाठकों के ज्ञानार्थ वे भी यहां दी जा रही हैं।

२३ राख से ढकी हुई अग्नि के समान-जिस प्रकार राख में दबी हुई अग्नि ऊपर से दिखाई नहीं देती। ऊपर तो केवल राख ही दिखाई देती है किन्तु उसके नीचे जाज्वल्यमान-प्रकाश देने वाली अग्नि अवश्य है। ऊपर राख आ जाने से अग्नि का तेज नष्ट नहीं हुआ। उसी प्रकार उन तपस्वी संतों का शरीर दुर्बल रूक्ष और निस्तेज होते हुए भी उसमें तप के द्वारा प्रकाशमान और तेजस्वी आत्मा विद्यमान थी। अग्नि पर राख आ जाने से उसका तेज बाहर नहीं निकलता-भीतर ही दबा रहता है किन्तु उन तपस्वी महात्माओं का आत्म तेज दुर्बल देह पर भी झलकता था। प्रातः स्मरणीय श्री धन्ना अनगार का शरीर तपस्या की भट्टी में जलकर निस्तेज हो गया था किन्तु आत्म तेज इतना बढ़ गया था कि उसकी आभा कृश शरीर पर भी प्रकट हो रही थी-'तवतेयलासिरीए होत्था'।

जब देह दृष्टि होती है और आत्मा की ओर दुर्लक्ष होता है तब शरीर की कान्ति बढ़ती है और आत्म तेज घटता है किन्तु जब देह दृष्टि छूटकर आत्म दृष्टि होती है तो-तपस्या होने से शरीर का तेज घटता है और आत्म-तेज बढ़ता है। बढ़ते बढ़ते वह इतना बढ़ जाता है कि उसकी दीप्ति शरीर पर भी झलक उठती है। उनकी देह कृश और आत्मा पुष्ट होती है। भगवान् महावीर प्रभु के पवित्र अनगार राख में ढँकी हुई अग्नि के समान शरीर से दुर्बल और मुरझाये हुए होकर भी आत्म-तेज से अपने आप प्रकाशित हो रहे थे। दाग भाग से उनका आत्म-पवित्रता अपना तेज फैला रही थी।

२४ गोशीर्ष चन्दन के समान-गोशीर्ष चन्दन शीतल और सुगन्धित होता है। उसके विलेपन से शरीर शीतल और सुगन्धित होता है उसी प्रकार वे उत्तम मुनिराज कषायाग्नि के शान्त हो जाने से शीतल थे और उनके पवित्र चारित्र की सुयश रूपी मिष्ट सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। तपस्वी होते हुए भी वे स्वभाव से उग्र नहीं थे। तपस्या की पवित्र अग्नि में कषाय का कचरा बहुत कुछ भस्म हो चुका था। उनके आत्म तेज का प्रकाश उष्ण एवं जलन गुण वाला नहीं किन्तु चन्द्रमा की तरह

शीतल प्रकाश वाला था। उपासकों मे उनके चारित्र की बहुत प्रशंसा होती थी। यह उनके चरित्र की सुगन्धि का प्रभाव था।

२५ सरोवर के समान शान्त–जिस प्रकार हवा के नही चलने से सरोवर का जल स्थिर और सम रहता है। उसमें लहरे नही उठती, उसी प्रकार कषाये उपशान्त होजाने से उन महात्माओं में समत्व आगया था। परिस्थिति की विषमता उन्हे उत्तेजित नही कर सकती थी। उनके परिणामों में विचलितता नही आती थी।

सरोवर के उदाहरण मे एक चौभंगी भी बताई जाती है। वह इस प्रकार है।

१ कुछ सरोवर ऐसे भी है कि उनमे से पानी निकल कर बाहर बहता है, किन्तु बाहर से द्रह के भीतर नही आता, उसी प्रकार भगवान् महावीर के पास ऐसे बहुत से मुनिराज थे जिनके ज्ञान की गंगा बाहर बहती थी। वे दूसरो को ज्ञानामृत पिलाते थे, किन्तु किसी से ज्ञान ग्रहण करते नही थे, क्योंकि अपने विशिष्ट क्षयोपशम से पूर्ण श्रुत ज्ञान प्राप्त करके वे श्रुतकेवली होगए थे। उन्हे पढने योग्य श्रुत शेष रहा ही नही था। वे दूसरो को ज्ञानदान देते, परन्तु दूसरे से लेते नही थे। ×

२ समुद्र में बाहर से पानी आता तो है, किन्तु बाहर जाता नही। उसी प्रकार कई मुनि ऐसे थे कि वे ज्ञान ग्रहण करते थे, पर किसी को देते नही थे। जो ज्ञानाभ्यास में ही लगे रहते थे, वे स्वत ज्ञान ग्रहण करते थे, किन्तु औरों को उपदेश नही देते थे।

३ कुछ सरोवर ऐसे भी होते है कि जिसमे पानी बाहर से आता भी है और बाहर जाता भी है। उसी प्रकार कई मुनिवर, ग्यारह अंगो का ज्ञान दूसरे मुनियो को पढाते भी थे और स्वत पूर्वो का ज्ञान पढते भी थे।

४ ढाई द्वीप के बाहर ऐसे सरोवर है कि जिनमें न तो पानी बाहर से सरोवर में आता है और न सरोवर से बाहर निकलता है। उसी प्रकार भगवान् महावीर के कई अनगार भगवंत, जिनकल्प धारन करके विचरते थे। कई श्रुत पढ लेने के बाद स्वाध्याय, ध्यान और तपादि में लीन रहते थे। वे न तो नया ज्ञान पढते थे और न किसी को पढाते थे।

इस प्रकार भगवान् महावीर प्रभु के समीपस्थ अनगार, सरोवर के समान थे।

२६ ठूंठ के समान–जिस प्रकार जंगल मे सूखे हुए वृक्ष का ठूंठ निश्चल खडा रहता है। हवा के प्रचण्ड वेग से भी वह नही हिलता, उसी प्रकार कायोत्सर्ग मे अडोल खडे हुए मुनिराज, भयंकर उपसर्ग आने पर भी निश्चल और अडिग ही रहते थे।

२७ शून्य गृह के समान–जिस प्रकार सूना अथवा वीरान घर अस्वच्छ रहता है, उसकी सफाई

× अवधि आदि ज्ञान, पढने की चीज नहीं, वे तो क्षयोपशम और क्षायिक भाव से आत्मा में से ही प्रकट होते हैं।

नहीं होती उसी प्रकार वे आत्मार्थी मुनिवर अपने शरीर की सार सँभाल नहीं करते थे। देह की सफाई सजाई की ओर वे ध्यान ही नहीं देते थे। उनका ध्यान आत्मा की सफाई की ओर था। वे आत्मा को अधिकाधिक स्वच्छ करने में लग रहते थ। देह दृष्टि का तो उन्होंने गृहत्याग के साथ ही त्याग कर दिया था।

२८ दीपक के समान—जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक की लौ बुझती नहीं किन्तु निष्कम्प होकर जलती ही रहती है उसी प्रकार वे उत्तम सत शून्य घर आदि में ध्यान धर कर निश्चल खड़े रहते थे और परीषहों के उत्पन्न होने पर भी नहीं डिगते थे। वे वायु रहित दीपक की लौ की तरह निष्कम्प खड़े रहते थे।

२९ उस्तरे की धार के समान—जिस प्रकार उस्तरे के एक ही ओर धार होती है वह एक ओर से ही चलता है उसी प्रकार उन उत्तम मुनिवरों की प्रवृत्ति भी एक उत्सर्ग मार्ग पर ही होती थी। वे अपवाद मार्ग का आश्रय ही नहीं लेते थे। क्योंकि अपवाद मार्ग कमजोरी-विवशता वश अपनाया जाता है। वे उत्तम मुनिवर मृत्यु को स्वीकार कर लेते थ परन्तु अपने मार्ग से पीछे हटना स्वीकार नहीं करते थ।

३० सर्प के समान एकदृष्टि वाले—जिस प्रकार सर्प अपने लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखता है अगल बगल की ओर नहीं देखता उसी प्रकार भगवान् महावीर के अंतेवासी श्रेष्ठ मुनिराज केवल मोक्ष की ओर ही दृष्टि रखकर आराधना करते रहते थे। उनका ध्यान मोक्ष की ओर ही रहता था। दर्प अथवा अमर्ष सम्बन्धी सुख या संसार की ओर उनका ध्यान नहीं जाता था।

३१ सर्प गृह के समान—जिस प्रकार सर्प अपने रहने का घर (बिल) नहीं बनाता, किन्तु दूसरे द्वारा बनाये हुए बिल में रहता है उसी प्रकार गृहत्यागी अनगार भगवंत अपने लिए घर का निर्माण नहीं करते किन्तु गृहस्थों ने अपने लिए जो घर बनाये हैं उन्हीं में वे ठहरते हैं। सर्प तो बिल बनाने वाले की इच्छा के बिना उसे दुःखी करके—जबरदस्ती कब्जा कर लेता है। किन्तु अनगार भगवंतों में यह विशेषता रही हुई है कि वे किसी पर बलजबरी नहीं करते। किसी का दिल नहीं दुखाते अपितु सुखा पूर्वक दिये हुए प्रासुक स्थान का उपयोग करते हैं इसी प्रकार निर्दोष आहारादि ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार ३१ उपमाओं से युक्त उत्तम मुनिराज इस भारतीय भूमि पर विचर कर स्व-पर कल्याण साधते रहे थे। 'दुनिया में क्या हो रहा है जगत का प्रवाह किस ओर जा रहा है संसार क्या चाहता है समाज किस ओर बह रहा है जनता की मांग क्या है,—इस प्रकार की बातें उनके मानस क्षेत्र में उत्पन्न ही नहीं होती थी। नारद मुनिवर का महान महोत्सव भी उनके चित्तमें

नही कर सका। उनकी मोक्ष साधना उस समय भी अबाध गति से चलती-ही--रहती थी। उन्हें अपने धर्म की ही परवाह थी। दुनिया के वातावरण से उनका कोई वास्ता नही था। यदि कोई जिज्ञासु बनकर उनके समीप आता, तो उसे अपनी सीधी सादी भाषा में, मोक्ष मार्ग का उपदेश करते, अन्यथा अपने ध्यान में लीन रहते। उन्हे उपदेश देने, जाहिर व्याख्यान करने और अधिक से अधिक सख्या में सभा इकट्ठी करने का शोक नही था। शव्दाडम्बर और पाण्डित्य प्रदर्शन से वे दूर ही रहते थे। इस प्रकार के ध्येयनिष्ठ निर्ग्रन्थ अनगार ही खरे तिन्नाण तारयाण होते थे। खुद को भुलाकर दूसरो के तारक बनने की बुराई उनमें नही थी। उन पवित्र सतो के प्रताप से ही महान् ऋद्धिशाली देव, अपने प्रिय आमोद प्रमोद को छोडकर, उन महर्षियो की चरण-वदना करने के लिए इस पृथ्वी पर आते थे, और उनके चरणो में अपनी भक्ति समर्पित करके अपने को धन्य मानते थे।

कुछ आपवादिक नियम

महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि चारित्र का पालन करना उत्सर्ग मार्ग है। सामान्य नियमो को उत्सर्ग मार्ग कहते है और परिस्थिति विशेष के कारण विवश होकर सयम अर्थात् मूल नियम की रक्षा के लिए रुक्ष भाव से,दोषो का कुछ अश में सेवन किया जाय तो, वह अपवाद मार्ग है। कुछ साधुओ को विकट रोग आ घेरते है और साध्वोचित साधारण उपचार करने से रोग की उपशान्ति नही होती हो तथा वह रोग मानसिक सक्लेश का कारण होकर हायमान परिणाम का निमित्त बनता हो, और रोगोप-शान्ति के बाद साधु के पुन सयम साधना मे तत्पर होने की सभावना हो, और विवशता पूर्वक सयम की रक्षा के लिए ऑपरेशन आदि कारना पडे, अथवा अन्य प्रकार से मरणान्तिक कष्ट जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय और दोष के सेवन किये बिना सयम, जीवन और सघ की रक्षा नही हो सकती हो, तो ऐसी अनिवार्य परिस्थिति मे अपवाद सेवन होता है।

अपवाद मार्ग का आश्रय, उस विष-भक्षण के समान है, जिसे रोगी के हित के लिए कुशल वैद्य,रोगोपशाति के लिए, रोगी को उचित मात्रा में देता है। इस प्रकार अपवाद का सेवन भी गीतार्थ के अभिप्राय-निश्राय में होता है। वे उचित समझते है और दूसरा उपाय नही देखते है,तब अपवाद की व्यवस्था करते है।

छेद ग्रथो में कहा है कि "उत्सर्गात् परिभ्रष्टम्य अपवाद गमनम्"-उत्सर्ग मार्ग से गिराव हो, तब अपवाद में गमन होता है। रुचि और उत्साह पूर्वक तथा साधारण अवस्था में अपवाद मार्ग नहीं अपनाया जाता। यदि कोई रुचि एव उत्साह पूर्वक दोष लगावे, तो वह सयम से दूर माना जाता है।

संयम में दूषण लगाने के निम्न लिखित दस कारण स्थानांगसूत्र स्था० १० तथा भगवतीसूत्र श० २५ उ० ७ में बताये हैं। यथा–

१ दर्प–अहंकार से। मान पूजा की भावना से या कषायवश दोष लगावे।

२ प्रमाद के वशसे। आलस्य से अथवा संयम के प्रति उपेक्षा से।

३ अनाभोग–अनजानपन से।

४ आतुरता–रोगी की सेवा करने के लिए अथवा स्वयं भूख प्यास आदि से पीड़ित होने पर।

५ आपत्ति से–संकट उपस्थित होने पर।

६ संकीर्णता–संकड़ाई अथवा भीड़भाड़ के कारण।

७ अकस्मात्–अचानक दोष लग जाय।

८ भय से–भयभीत होकर दोष लगावे।

९ द्वेष से–ईर्षा एवं द्वेष वश दोष सेवन करे।

१० विमर्श से–शिष्य की परीक्षा के हेतु दोष लगावे।

इस प्रकार दस कारणों से चारित्र में दोष लगता है। इनमें से दर्प प्रमाद और द्वेष के कारण जो दोष लगाये जाते हैं उनमें चारित्र के प्रति उपेक्षा का भाव और विषय कषाय की परिणति मुख्य है। भय आपत्ति और संकीर्णता में चारित्र के प्रति उपेक्षा तो नहीं किन्तु परिस्थिति की विषमता –संकटकालीन अवस्था को पार कर उत्सर्ग की स्थिति पर पहुँचने की भावना है। अनाभोग और अकस्मात् में तो अनजानपने से दोष का सेवन हो जाता है–और विमर्श में चाह कर दोष लगाया जाता है। यह भावी हिताहित को समझने के लिए है। इसमें भी चारित्र की उपेक्षा नहीं है।

दर्प प्रमाद और द्वेष के कारण प्रतिसेवना–विपरीताचरण किया जाता है वहां शुद्धाचार के लिए अवकाश नहीं रहता। आगमों में जो आपवादिक नियम बताए हैं उनमें भय और आपत्ति के कारण ही अधिक लगते हैं और उन दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त भी लेना पड़ता है। आपवादिक नियमों में से कुछ ये है–

१ अन्यतीर्थी तथा भिक्षुओं के साथ आहारादि लेने जाने की मनाई आचारांग श्रु १ अ ८ उ १ तथा श्रु २ अ १ उ १ में की है। यह उत्सर्ग मार्ग है। किन्तु कठिन परिस्थिति वश अन्यतीर्थियों के साथ गृहस्थ द्वारा शामिल मिले हुए आहार का संविभाग करे और स्वयं भी ले तो आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। (आचारांग २–१–५)

२ वर्षाकाल में एक ही स्थान पर रहने की और विहार बन्द कर देने की आज्ञा आचारांग सूत्र श्रु २ अ ३ उ १ में है। किन्तु ठाणांग ठा ५ उ २ में कारण उपस्थित होने पर वर्षाकाल में भी विहार करे तो यह अपवाद है। (देखो वर्षावास प्रकरण)

३ साधू को पानी मे चलकर अथवा बरसते पानी मे आहारार्थ जाने की मनाई है, (दशवै ५-१-८) किन्तु उच्चार की बाधा होने पर, उसे नही रोककर बरसते पानी में भी जावे, तो आज्ञा का लोप नही होता।

४ साधु चक्कर का रास्ता हो, तो पृथ्वी पर चल कर ही जाते है, किन्तु पानी मे होकर-नदी उतर कर नही जाते। किन्तु दूसरा मार्ग नही होने पर एक माह में दो बार और वर्ष में नौ बार नदी उतरकर जावे, तो यह अपवाद है (दशाश्रूतस्कन्ध-२) तथा ठाणाग ठा ५ उ. २ में नीचे लिखे पांच कारणो से नदी उतरने का उल्लेख है,-

१ राजा अथवा अधिकारी द्वारा भय उपस्थित होने पर।
२ दुर्भिक्ष के कारण आहारादि अलभ्य हो जाने पर।
३ यदि कोई शत्रु नदी में फेंक दे तो।
४ बाढ आने पर बह जाय तो।
५ म्लेच्छो द्वारा उपद्रव हो तो।

५ साधु और साध्वी एक स्थान पर नही ठहर सकते, साध्वी के स्थान पर साधु अकारण बैठ नही सकता, खडा भी नहीं रह सकता (बृहत्कल्प उ० ३) इतना ही नही, जिस ग्राम में जाने और आने का केवल एक ही द्वार हो और वहा साध्वी रही हुई हो, तो साधु नही रह सकते (बृहत्कल्प उ १)

किन्तु निम्न कारणो से एक स्थान पर रहने का ठाणाग ठा ५ उ २ में उल्लेख है।

१ दुर्गम अटवी मे एक स्थान पर रहना पडे तो।
२ किसी ग्राम मे ठहरने का दूसरा स्थान नही मिले तो।
३ नागकुमारादि के मन्दिर में साध्विये ठहरी हो, वह मन्दिर सुना हो, भय प्रद हो, या लोगो का आना जाना भी हो, तो ऐसे स्थान पर, साध्वी की रक्षा के लिए साधु, साध्वी के साथ ठहर सकते है।
४ चोर के द्वारा साध्वी के वस्त्रादि लूटजाने का भय हो तो।
५ दुराचारी पुरुष का भय हो तो।

६ साधु, साध्वी का सघट्टा भी नही कर सकते, यह उत्सर्ग मार्ग है। किन्तु ठाणाग ५-२ तथा बृहत्कल्प उ ६ के अनुसार निम्न कारणो से साधु, साध्वी का हस्तादि ग्रहण कर सहारा देवे, तो आज्ञा का उल्लघन नही होता।

१ यदि कोई उपद्रवी साँड आदि साध्वी को मारने के लिए आ रहा हो।
२ दुर्गम स्थान से गिरती हुई साध्वी को बचाने के लिए।
३ कीचड अथवा दलदल में फँसी हुई अथवा पानी में बहती हुई साध्वी को निकालते।

४ नौका पर चढ़ते या उतरते समय साध्वी को सहारा देते ।

५ यदि कोई साध्वी राग भय प्रथवा प्रपमान से यक्षाधिष्ठित होने से, उन्माद से प्रथवा उपद्रवादि से या फिर क्रोधादि से उद्विग्न हुई हो तो उसे स्थिर करने के लिए ।

७ निम्न पाँच कारणों से वस्त्रधारिणी साध्वी नग्न साधु के साथ रहती हुई भी प्राज्ञा की विराधनी नहीं मानी जाती ।

१ शोक के कारण व्याकुल बने हुए एकेले नग्न साधु का सान्त्वना देते ।

२ हर्ष स उन्मत्त बने हुए साधु को स्थिर करने के लिए ।

३ यक्षादि के प्रावेश वाले साधु को सम्हालते ।

४ वात प्रादि रोग से उन्मादित होने पर ।

५ किसी साध्वी ने प्रपने पुत्र को दीक्षा दिलाने के बाद दीक्षा ली हो और कारणवश (दूसरे साधु का सयोग मिले वहां तक) पुत्र को साथ रखना पड़ तो।

८ साघ का साध्वी से वैयावृत्य कराना नहीं कल्पता है किन्तु दूसरे साधु का योग न हो तो वैयावृत्य करा सकता है ।

९ यदि रात्रि या विकाल में साधु को सर्पदंश हो जाय प्रौर उसका उपचार जानने वाला कोई पुरुष नहीं हो तो स्त्री से उपचार करा सकते हैं । इसी प्रकार साध्वी पुरुष से उपचार करा सकती है (व्यवहार ५)

१० साधु के पाँव में कांटा लग गया हो प्रौर निकालने वाले कोई साधु निपुण नहीं हो तो साध्वी से निकलवाने का उल्लेख है । इसी प्रकार प्रांखों में पड़े हुए कचरे का निकालने की भी छूट है । यही छूट साधु को साध्वी से कांटा प्रादि निकलवाने की है (बृहत्कल्प ६)

११ साधु जहां स्त्रियाँ रहती हो वहां नहीं जाते तब राजा के प्रन्तपुर (रनिवास) में तो जा ही कसे सकते हैं । किन्तु कारणवश प्रन्तपुर में जाने की प्रनुमति भी ठाणांग ठा ५ उ २ में दी गई है । वे कारण ये हैं ।

१ नगर के चारों प्रोर किला—प्रकोट हो प्रौर उसके दरवाजे बन्द किय गये हों इस कारण बहुत से श्रमण ब्राह्मण प्राहारादि के लिए न तो बाहर जा सकते हों प्रौर न बाहर से भीतर प्रा सकते हों । ऐसी दशा में प्रन्तरपुर में रहे हुए राजा को समझाने के लिए प्रथवा राज्याधिकार प्राप्त रानी को समझाने के लिए जाना पड़े तो ।

२ यदि पडिहारे पाट, पाटले शय्या संस्तारक वहां से लाये हों तो वापिस लौटाने के लिए ।

३ मदोन्मत्त हाथी, घोडा आदि आ रहा हो और साधु, अन्तपुर के समीप ही हो, तो उससे वचने के लिए।

४ यदि कोई वरवस पकडकर अन्तपुर में ले जाय तो।

५ किसी उद्यान में साधु ठहरे हो और वहाँ अन्तपुर–रानियें भी पहुँच गई हो और वे साधु के चारो ओर बैठ जाय तो।

१२ साधु, हरी वनस्पति को नही छूते और सघटा टालते है, किन्तु अन्य मार्ग के अभाव में विषम मार्ग से जाना पडे और गिर पडने का भय हो, तो वृक्ष या लता को पकडकर अपने को वचावे, तो अपवाद है (आचाराग२–३–२)

१३ **"एगो एगित्थिए सद्धिं णेव चिट्ठे न संलवे"**(उत्तरा.१–२६) यह उत्सर्ग मार्ग है, किन्तु निम्न कारणो से वातचीत कर सकते है।

१ मार्ग पूछने के लिए, २ मार्ग बताते हुए, ३ आहारादि देते हुए और ४ आहारादि दिलाते हुए। इन कारणो से वातचीत करता हुआ जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता। (ठाणाग ठा ४–२)

फुटकर विधान

अनगार धर्म से सम्वन्ध रखने वाले कुछ फुटकर नियम यहा उपस्थित किये जाते हैं।

१ इस लोक में अनेक प्रकार के वाद चल रहे है और लोगो के अनेक प्रकार के अभिप्राय है, किन्तु साधु को उन लौकिक वादो और अभिप्रायो मे नही उलझकर सयम में ही दृढ रहना चाहिए।
(उत्तरा २१–१६ तथा सूयग० १–१–४–५)

२ आरभ समारभ में जाते हुए मन, वचन और शरीर को रोके। (उत्तरा २४)

३ अज्ञानी और अविरत जीवो की सगति से दूर रहना, गुरु एव वृद्धजनो की सेवा करना, और एकान्त में शातिपूर्वक स्वाध्याय करना तथा सूत्र और अर्थ का चिंतन करना–यही मोक्ष मार्ग है।
(उत्तरा ३२–३)

४ यदि अच्छा (विनय और आचारवत) साथी नहीं मिले, तो समस्त पापो का त्याग करके तथा काम भोगादि में अनासक्त रहता हुआ, अकेला ही विचरें। (उत्तरा ३२–५)

अकेला विचरना साधारणतया निषिद्ध है, क्योकि इससे सयम विघातक निमित्त उपस्थित होकर

---

* टब्बाकार श्री पार्श्वचन्द्रजी इसका अर्थ यों करते है कि–'ऐसे विषम मार्ग से साधु नहीं जावे, जिससे वृक्ष, लतादि अथवा पथिक का हाथ पकडना पडे, इसे केवली भगवान् नें कर्म बन्धन का कारण बताया है।

पतनका कारण ममता है और मर्यादा का भंग होता है किन्तु असयमी व शिथिलाचारी के साथ रहने के बनिस्वत दृढ़ संयमी होकर शुद्धाचार पूर्वक अकेला विचरना उत्तम बताया गया है ।

५ संवर के द्वारा नये कर्मों को रोक कर तप के द्वारा पुराने कर्मों का क्षय करे ।

(उत्तरा ११-२५)

६ यदि साधु को रोग हो जाय तो शरीर का नाशवान मानकर समभाव से सहन करे ।

(आचा १-५-२)

७ सोते समय सारे शरीर का प्रमार्जन करके यतना पूर्वक शयन करना । श्वासोच्छ्वास खांसी छींक अथवा उबासी आदि लेते समय हाथ द्वारा मुख को ढक कर यतना पूर्वक उच्छ्वासादि लेना चाहिए । (आचा २-२-१)

[क्योंकि खांसी आदि लेते समय मुख द्वारा वायु जोर से निकलती है जिससे मुखवस्त्रिका होते हुए भी अयतना हो जाती है । इस अयतना को रोकने के लिए ही यह विधान किया गया है ।]

८ साधु जहां सूर्य अस्त हो, वहीं ठहर जाय । (सूय १-२-२-१४)

९ उत्तमोत्तम धर्म को सुनकर और संसार के समस्त सम्बन्धों को महान् आस्रव-जनक "सव्वे सगा महासवा", समझकर जीवनभर के लिए त्याग दे-उनको इच्छा भी नहीं करे ।

(सूय १-३-२-१३)

१० मुनि समस्त विश्व के प्रति समभाव रक्खे। वह न तो किसी का प्रिय करे और न किसी का अप्रिय ही करे । (सूय १-१०-७)

११ विश्व में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सब में विरति (निवृत्ति) धारण करे क्योंकि विरति ही से निर्वाण होना बताया गया है । (सूय १-११-११)

१२ मुनि को चाहिए संयम स्वीकार करने के बाद कर्म और शरीर को झटक दे-हल्के करदे "धूणे कम्म सरीरगं" और रूखा सूखा भोजन करे । (आचारांग १-२-६ तथा १-५-३)

१३ हे मुनि ! तू अपने शरीर को कृश तथा जीर्ण कर दे "कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं" क्योंकि जिस प्रकार पुरानी लकड़ी शीघ्रता से जलकर भस्म हो जाती है उसी प्रकार स्नेह रहित-कमजोर बने हुए कर्म जल्दी नष्ट हो जाते हैं । (आचा १-४-३)

१४ हे मुनि ! मोक्ष की ओर दृष्टि रखकर पौद्गलिक प्रतिबन्ध को तोड़ते हुए आरंभ रहित होकर विचर । (आचा १-४-४)

१५ हे पुरुष ! तू परम दृष्टि=परमार्थ=मोक्ष की ओर दृष्टि रखकर संयम में पराक्रम कर "पुरिसा ! परमचक्खु विपरिक्कमे" (आचा १-५-२)

१६ जिनाज्ञा के बाहिर प्रवृत्ति और जिनाज्ञा मे आलस्य नही करना चाहिए। (आचा १-५-६)

१७ भगवान् ने जैसा आचार पाला है, वैसा ही पाले, किन्तु वैसा आचरण नही करे, जो भगवान् ने नही किया है। (आचा १-२-६)

१८ जैसे दिवाल पर का लेप (लेवडा) हटा देने मे दिवाल कृश हो जाती है, उसी प्रकार अनशन आदि तप के द्वारा शरीर को कृश कर देना चाहिए और अहिंसा धर्म का ही पालन करना चाहिए। (सूत्र. १-२-१-१४)

१९ जो कहते है कि गृहवास में रहते हुए भी धर्म का पालन हो सकता है, वे मोहान्ध है। अर्थात् अनगार धर्म के विरोधी है (सूय १-३-२-१८)

२० जो भाट की तरह स्वार्थवश दूसरो की प्रशसा करते है, वे मुखमगलिक है। (सूय १-७-२५)

२१ कोई कितना ही भाग्यशाली, पराक्रमी, शक्तिशाली और लोकपूज्य हो, यदि वह मिथ्यादृष्टि हो, तो उसका उग्र आचार और विकट तप भी कर्म फल बढाने वाला ही होगा। (सूय १-८-२२)

[कर्म नष्ट करने वाला पराक्रम, सम्यग्दृष्टि के सद्भाव मे ही होता है]

२२ सभी प्राणियो में मैत्री भाव रक्खे। (सूय १-१५-३)

२३ मोक्ष के प्रतिपादन में विशारद-कुशल होकर असयम का निराकरण करे और मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करे "**भिक्खू मोक्ख विसारए**" (सूय १-३-३-११)

२४ साधु, परमार्थ=मोक्ष, का अनुगमन करे "**परमट्ठाणुगामियं**" (सूय १-९-६)

२५ आत्मदृष्टि अथवा तत्त्वदृष्टि वाला पुरुष, माया से रहित होता है "**एगंतदिट्ठीए अमाई रूवे**" (सूय १-१३-६)

२६ यदि दोषी साधु, रोगी हो जाय, तो उसे गच्छ के बाहर नही करे, किन्तु उसकी सेवा करे, और नीरोग हो जाने पर, दोषी की सेवा करने का प्रायश्चित्त ले। (व्यवहार २-७)

२७ वर्षा होते समय, धूंअर-कुहरा पडते समय, आंधी आदि से प्रबल वायु चलते समय तथा मच्छर, तीड आदि त्रस जीवो के उड उडकर गिरते हो उस समय, गोचरी आदि के लिए नही निकले। (दशवै ५-१-८)

२८ वेश्या के मुहल्ले में गोचरी नही जावे। (दशवै ५-१-९)

२९ शकास्पद सभी स्थानो का त्याग करदे। (दशवै ५-१-१५)

३० निषिद्ध कुलो में गोचरी नही जावे। (दशवै ५-१-१७)

३१ डांस मच्छर रक्त मास चूसे, तो उन्हे रोके नही। (उत्तरा २-११)

३२ जो शब्दादि विषयों में प्रमुप्त है (विरत नहीं है) वह भगवान् की आज्ञा से बाहर है।
(आचा १-१-५)

३३ याचकों पथिकों और भिखारियों को दान देने के लिए दानशालादि स्थापन करने के विषय में साधुओं से कोई दानी व्यक्ति प्रश्न करे, तो साधु उसकी न तो अनुमति दे और न निषेध ही करे क्योंकि अनुमति देने से प्राणि हिंसा की अनुमोदना होती है और निषेध करने से याचकों को अन्तराय लगती है। (सूय १-११-१७ से २१)

३४ जिन कुकर्मों का प्रायश्चित्त कम नहीं हो सकता ऐसे बड़े ५ कर्म हैं। यथा—
१ हस्तकर्म २ मैथुन ३ रात्रि-भोजन ४ शय्यातर पिण्ड और ५ राज-पिण्ड।
(ठाणांग ५-२)

३५ वाचना देन-ज्ञानाभ्यास कराने के अयोग्य—
१ अविनीत २ विगयमृद्ध रस लोलुप ३ क्रोधी और ४ कपटी। (ठाणांग ४-३)

३६ संमोहना—मिथ्यात्व वर्धक कर्म बांधने के चार कारण। १ कुमार्ग देशना २ सद्मार्ग का आचरण करने वाले को अन्तराय डालना। ३ कामासक्ति और ४ निदान करना। (ठाणांग ४-४)

३७ 'णो लोगस्सेसणं चरे' लोकैषणा—जनता की गरज-आकानगमन अथवा समीप से सम्मान की आशा नहीं करे। (आचारांग १-४-१)

३८ नाटक मोहक दृश्य तथा सुरूप सम्पन्न वस्तु नहीं देखे। गायन वांदित्रादि नहीं सुने।
(आचा २-११-१२)

३९ जो जिन धर्म से बाहर हैं उन अन्य-तीर्थियों की उपेक्षा ही करनी चाहिए उनके आचार विचार की ओर आकर्षित नहीं होना चाहिए। (आचा १-४-३)

४० साधु, स्त्री और पशु का स्पर्श नहीं करे। (सूय १-४-२-२०)

४१ गहन झाड़ी निकुंज आदि में नहीं रहे। (दश ८-११)

४२ प्रव्रज्या परीषह सहन रूप है। (उत्तरा २१-११)

४३ जिस ग्राम में प्रवेश करने और निकलने का एक ही मार्ग है उस ग्राम में साधु रहे तो साध्वी नहीं रहे और साध्वी रहे तो साधु नहीं रहे। (बृहत्कल्प उ १)

४४ जहां मनुष्य अधिक एकत्रित होते हों ऐसे राजपथ=मुख्यमार्ग=उधर बाजार धर्मशाला और तीन चार रास्ते मिले ऐसी जगह साध्वी नहीं रहे। (बृहत्कल्प उ १ २)

४५ साधु बिना किवाड़ के स्थान में रह सकता है किन्तु साध्वी नहीं रह सकती। (बृह १)

४६ नदी तालाब आदि जलाशय के किनारे बैठना सोना पानी पीना आहार करना उच्चार तथा स्वाध्यायादि करना नहीं कल्पता है। (बृह० १)

४७ जो क्लेश अथवा क्रोधादि का उपशमन करते हैं, क्षमा रखकर शांति स्थापित करते है, उन्हे धर्म की आराधना होती है, किन्तु जो क्लेश का शमन नही करते, उन्हें धर्म की आराधना नही होती; वे विराधक होते है, क्योंकि साधुता का सार ही उपशमन-शान्ति है।

"जे उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जे न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा''''उवसम सारं सामण्णं" (बृह० १–३५)

४८ साधु खुले स्थान में रह सकते है, किन्तु साध्वी को खुले स्थान मे नही रहना चाहिए।
(बृह० २–११)

४९ राज्य परिवर्त्तन होने पर नये राजा की आज्ञा लेकर उसके राज्य में विचरे।
(व्यवहार ७–२५)

५० पाट पाटले ऐसे लावे जो एक हाथ से उठ सके। (व्यवहार ८–२)

५१ आठ वर्ष से कम उम्र वाले को दीक्षा देना और उस के साथ आहार करना नही कल्पता है। (व्यवहार १०–२४)

५२ गर्मी लगने पर पखे अथवा वस्त्रादि से हवा नही करे। (उत्तरा० २–९ तथा दशवै० ३)

५३ जीवन को अस्थिर और आयु को परिमित जानकर तथा मोक्ष मार्ग को कल्याण कारी समझकर सभी प्रकार के भोगो से निवृत्त होजाना चाहिए। (दशवै० ८–३४)

५४ जो भोजन करके सज्झाय में लीन होजाय वही साधु है।

"भोच्चा सज्झाय रए जे स भिक्खू" (दशवै० १०–९)

५५ जिसके हाथ पांव और इन्द्रियाँ तथा वचन वशमें है, जो आत्मनिष्ठ होकर समाधिभाव में रहता है, और सूत्र तथा अर्थ का ज्ञाता होता है वही भिक्षु है। (दश० १०–१५)

५६ सयमी होकर आत्म गवेषणा करे **"चरेज्जत्त गवेसए"** (उत्तरा० २–१७)

५७ जिस प्रकार खाली मुट्ठी और खोटा सिक्का असार है, तथा चमकते हुए काच का मूल्य वैडूर्यमणि के सामने कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार संयम से शून्य द्रव्य-लिंग भी नि सार=व्यर्थ ही है।
(उत्तरा० २०–४२)

५८ जो मोक्ष में विपरीत विचार रखता है, उसकी सयम रुचि भी व्यर्थ ही है।
(उत्तरा० ३०–४९)

५९ जिम प्रकार सग्राम में गया हुआ योद्धा, विजय के लिए अपने शरीर की भी परवाह नही करता, उसी प्रकार मुनि भी कर्मों के साथ सग्राम करते हुए शाश्वत सुखों-निर्मल आत्म स्वरूप का ही ध्यान रक्खे। इस नाशवान शरीर के नष्ट होने का विचार नही करे।

"कायस्स वियाघाए संगामसीसे वियाहिए" (प्राचा० १-६-५)

६० साधु एकत्व भावना का ही चिन्तन करता रहे, अर्थात् अपने आत्मा का उसके पुद्गल रहित अकेलेपन का ध्यान (एकत्व भावना) करता रहे। इसीसे मुक्ति होती है। (सूय० १-१०-१२)

६१ जो निर्वाण को ही सर्वोत्तम मानते हैं वे नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान हैं "निव्वाणं परमं बुद्धा, नक्खत्ताण व चंदिमा"—(सूय० १-११-२२)

६२ काश्यप-भगवान् महावीर के धर्म का ग्रहण करके आत्म रक्षा के लिए प्रव्रजित होकर संसार के घोर प्रवाह को तिर जाय—"अत्तत्ताए परिव्वए (सूय० १-११-३२)

६३ 'आरंभं तिरियं कट्टु अत्तत्ताए परिव्वए" अर्थात्-आरंभ का त्याग करके आत्मत्व प्राप्ति के लिए प्रव्रजित हो जाय। (सूय १-३-३-७)

६४ "उट्ठिए णो पमायए" सावधान हो जाओ। दीक्षित होकर तुम्हें प्रमाद नहीं करना चाहिए। (प्राचा २-५-२)

६५ "अवय मुक्खो तुज्झ अन्नमत्थेव" तुझे तेरे आध्यात्मिक पुरुषार्थ से ही बन्धन से मुक्ति मिलेगी (और कोई तुझे मुक्त नहीं कर सकेगा अपनी मुक्ति का प्रयत्न तू खुद ही कर) (प्राचा १-५-२)

६६ तू अपने आप से युद्ध कर बाहर के युद्ध से तुझे क्या प्रयोजन है ? फिर युद्ध के योग्य शरीर (मानव भव) की प्राप्ति सुलभ हो जायगी। (प्राचा १-५-३)

६७ जो ढीले हैं विषयासक्त हैं स्त्रियादि में अनुरक्त हैं, मायावी हैं, प्रमादी हैं और गृहवास में रहे हुए हैं उनसे संयम का पालन होना शक्य नहीं है। (प्राचा १-५-१)

६८ आगमों की कोई बात समझ में नहीं आवे तो "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं" —जिनेश्वरों ने फरमाया है वही सत्य है। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती। इस प्रकार सोचकर समाधान कर लेना। किन्तु अश्रद्धालु नहीं होना। (प्राचा २-५ ५ तथा भगवती १ ३)

६९ संसार में जितनी भी उपाधि-दुःख है वह सब कर्म से ही उत्पन्न हुई है-"कम्मुणा उवाहि जायति'। इसलिए अकर्मी होने का प्रयत्न करना चाहिए। (प्राचा १ ३ १)

७० सभी परवादियों में पाप रहा हुआ है "सव्वत्थ सम्मयं पावं" इसलिए उनका संग नहीं करना। (प्राचारांग १ ८-१)

७१ आठ प्रकार के सूक्ष्म प्राणियों में भी साधु दया का अधिकारी होता है। (दशवै ८ १३)

७२ अनन्त ज्ञान युक्त साधु भी आचार्य को नमस्कार करते हैं-सेवा करते हैं। (दशवै ९ १ ११)

७३ मुनि तीन कारणों से संसार के उस पार पहुँच कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं-१ निदान

नही करने से २ दृष्टि सम्पन्नता से (सम्यग्दृष्टि युक्त रहकर) और ३ योगवहन–तप पूर्वक श्रुत पढने तथा योगो को समाधि में रखने से। (ठाणाग ३-१)

७४ पूर्व कर्मों का नाश करे और नूतन कर्म नही बाँधे। (सूत्र १-१५-२२)

७५ सयम का पालन करते हुए भी जो कषाय करते है, उनका सयम, ईख के फूल की तरह व्यर्थ है। (सूय १–११–३४)

७६ साधु सदैव आत्म गुप्त रहे। (उत्तरा २१–१६)

७७ आत्महित के लिए विरक्त होवे। (उत्तरा २१–२१)

७८ जैसा आचार निर्ग्रंथो का है, वैसा लोक में किसी का नही है। (दशवै ६–५)

७९ ससार की विचित्रता–उदयभाव की विविध दशा देखकर सभी जीवों से विरत हो जाय **"उवरओ सव्वभूएसु"** (दशवै ८–१२)

८० **"पूव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे"**–पूर्व के बांधे हुए कर्मों को क्षय करने के लिए इस देह को टिकावे। (उत्तरा ६-१४)

८१ साधु के लिए न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय है। (उत्तरा ९–१५)

८२ एकत्वभाव से रहने वाला मुनि बहुत सुखी है। (उत्तरा ९–१६)

८३ शत्रु या मित्र कोई भी हो, साधु को चाहिए कि ससार के सभी प्राणियो के प्रति समभाव रक्खें। (उत्तरा १९–२६)

८४ केश लुचन दुष्कर है। (उत्तरा १९–३४)

८५ जो आश्रव बढाने वाली विद्या का प्रयोग करता है, वह अनाथ है। (उत्तरा २०–४५)

८६ असयम से निवृत्त होकर सयम में प्रवृत्ति करे। (उत्तरा ३१–२)

८७ जिनेन्द्रने एकान्त समाधि भाव में रहने का कहा है। (सूय १–१०–६)

८८ **"सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा"**। –समस्त विश्व के प्रति समताभाव रक्खे और किसी का भी (भौतिक दृष्टि से) प्रिय तथा अप्रिय नही करे। (सूय १–१०–७)

८९ अपने और दूसरो के लिए, त्रस और स्थावर प्राणियो की हिंसा करना, कराना और अनु-मोदन करना–अर्थ दण्ड है। साधु इसे त्याग दे। (सूय २–२)

९० तू ही मेरा मित्र है; बाहर क्यो देखता है। (आचाराग १–३–३)

९१ मुक्त जीवों को बताने मे कोई समर्थ नही है। (आचाराग १–५–६)

९२ **"एगे अहमंसि ण मे अत्थि कोई णयाहमवि कस्सइ"**–मै अकेला ही हूँ। मेरा कोई भी नहीं है और मै भी किसी का नही हूँ। (आचाराग १–८–६)

९३ परमार्थ दर्शी, मोक्षमार्ग से अन्यत्र रमण नहीं करता। (आचारांग १ २ ६)

९४ अपने कर्मों को तोड़ने से ही पवित्र आत्म-स्वरूप के दर्शन होते हैं। (आचा १ १ २)

९५ शरीर में रोग हो जाय और कोई गृहस्थ उसका उपचार करे दबावे तेल घृत मसम आदि लगावे धोवे या अन्य क्रिया करे तो उसे स्वीकार नहीं करना और इच्छा भी नहीं करना और यही सोचना कि– सभी जीव पूर्व में दूसरों को उपजाई हुई वेदना ही भुगत रहे हैं –"कडु वेयणा-पाणभूतजीवसत्ता वेयणं वेदेंति' यह सोचकर शान्ति धारण करना। (आचारांग २ १३)

९६ जीवों को जो भी दुःख होते हैं वे आरम्भ (हिंसा) से ही उत्पन्न हुए हैं–"आरंभजं दुक्ख मिणंति णच्चा (आचारांग १ ३ १)

९७ सव्वओ पमत्तस्सभयं,सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं–प्रमादी को सर्वत्र भय है, अप्रमादी को नहीं। (आचारांग १ ३ ४)

९८ यह देखो कि लोक में महान् भय रहा हुआ है –"पास लोए महब्भयं, (आचा १ ६ १)

९९ इसलोक और परलोक की आशा त्याग दे–"अणिस्सिओ लोग मिणं तहापरं' (आचारांग २-१६)

१०० जो बन्धन से मुक्त होने का उपाय खोजने और कर्मों का नष्ट करने में कुशल है वही पंडित है–"से मेहावी अणुग्घायणस्स खेयण्णे जे य बन्धप्पमुक्खमन्नेसी कुसले। (आचा १-२ ६)

१०१ "आयगुत्ते सया वीरे जायामायाए जावए। वीर पुरुष आत्म गुप्त हाने और देह का संयम-यात्रा का साधन मानकर निर्वाह करे। (आचारांग १ ३ ३)

१०२ "दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामीणं –मोक्ष प्राप्त करनेवाले वीरों का मार्ग बड़ा विकट है। (आचारांग १ ४ ४)

१०३ जिसे तू-हनना चाहता है उसमें तू अपने ही का देख। जिस पर तू हुकूमत करना चाहता है जिसे अपने दबाव में रखना चाहता है और जिसे तू संताप देना चाहता है हे पुरुष! वहां तू अपने ही का देख कि वहां भी मैं ही हूं। (आत्मा के प्रति अद्वैत भाव रखने से हिंसकभाव दूर हो जाता है) (आचारांग १-५ ५)

१०४ जिन धर्म ही सर्वोत्तम धर्म है। (सूय १-२-२-२४ तथा १-६-७-१६)

१०५ गृह त्यागकर जीवन से निरपेक्ष हो जाओ और शरीर का व्युत्सर्ग कर दो। (सूय १ १० २४)

१०६ जो अविरत है-अप्रत्याख्यानी है वह पाप नहीं करता हुआ भी पापी है-(भले ही वह एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय हो) (सूय २-४-१४)

१०७ सिद्धि ही जीव का निज स्थान है। (सूय. २-५-२६)

१०८ अनारभी एव अपरिग्रही पुरुष की ही शरण में जाओ। (सूय. १-१-४-३)

१०९ अठारह पाप से विरत, दातो को नही धोनेवाला, आँखो मे अजन नही लगाने वाला, वमन नही करने वाला, सावद्य क्रिया से रहित एव उपशान्त कषायी हो, ऐसे सयमी साधु को भगवान् ने सवर युक्त एव एकान्त पण्डित कहा है। (सूय २-४)

११० ससार में अपना कोई शत्रु नही है, किन्तु कषाय तथा इन्द्रियो के वश में पडा हुआ अपना आत्मा ही अपना शत्रु है-"एगप्पा अजिए सत्तु, कसाया इन्दियाणिय" (उत्तरा २३-३८)

१११ "सच्च पइण्णा ववहारा"-ससार में सत्य प्रतिज्ञा पूर्वक व्यवहार चलता है; (व्यवहार-२)

११२ साधु साध्वी को रात को अथवा (सध्या) विकाल को विहार करना नही कल्पता है। रात के समय अथवा विकाल में स्थडिल अथवा स्वाध्याय के लिए वाहर जाना नही कल्पता है। यदि जाना आवश्यक हो, तो अकेले नही जावे, किन्तु साधु दो या तीन और साध्वी तीन या चार साथ जा सकते है। (बृहत्कल्प उ १)

११३ अकेले विहार करने वाले साधु, वहुत क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, पापी, ढोगी और धूर्त होते है। (आचा १-५-१)

११४ साध्वी तीन से कम नही रहे। (व्यवहार-५)

११५ कैंची, उस्तरे आदि से हजामत नही करे, डाढी मूँछ आदि के वाल नही काटे, यदि काटे तो प्रायश्चित्त। (निशीथ ३)

११६ साधु, चित्र, प्रदर्शनी, मेले, उत्सवादि देखे तो प्रायश्चित्त। (निशीथ १२)

११७ साधु, पाँव में जूते आदि नही पहने। (सूय ९-१८)

११८ पानी या कीचड मे बचने के लिए पत्थर आदि रखे या किसी अन्यतीर्थी से या गृहस्थ से रखवावे, तो प्रायश्चित्त (निशीथ १-२)

११९ सदा एक ही घर से आहार ले, तो प्रायश्चित्त (निशीथ २)

१२० दोषी, शिथिलाचारी आदि के साथ स्थडिल या गोचरी आदि जावे, विहार करे, तो प्रा० (नि २)

१२१ शय्यातर के घर का अथवा उसकी दलाली का आहार ले तो प्रा० (नि २)

१२२ बिना प्रतिलेखना किये उपधि रखे तो प्रा० (नि २)

१२३ जो साधु अचित्त पानी से भी पाँव धोवे तो प्रा० (नि ३)

१२४ राजा, मन्त्री आदि उच्चाधिकारी को अर्थी (मुहताज) आदि बनावे तो प्रा० (नि ४)

१२५ पासत्थे आदि के साथ शिष्यादि का आदान प्रदान करे तो प्रा० (निशीथ० उ ४)

१२६ उच्चार प्रस्रवण आदि अविधि से परठे व शुचि नहीं करे तो प्रा० (नि ४)

१२७ सूत आदि का धागा डोरा तकली आदि से कातकर बढ़ावे तो प्रा० (नि ५)

१२८ साधु साध्वी के लिए बनाये अथवा साफ किये हुए मकान में ठहरे तो प्रा० (नि ५)

१२९ रजोहरण को अपने से अधिक दूर रक्खे बिना रजोहरण के गमनागमन करे अथवा रजोहरण का तकिया बनावे तो प्रा० (नि ५)

१३० रोगी साधु की सेवा नहीं करे तो प्रा० (नि १०)

१३१ पर्युषण काल में पर्युषण (संवत्सरी) नहीं करे पर्युषण काल के बिना पर्युषण करे, पर्युषण को गो-रोम जितने भी बाल रक्खे और पर्युषण के दिन चारों प्रकार का आहार करे तो प्रा० (नि १०)

१३२ धर्म का अवर्णवाद और अधर्म की प्रशंसा करे तो प्रा० (नि ११)

१३३ अन्यमतियों उनके तीर्थ तथा व्रतादि की प्रशंसा करे तो प्रा० (नि ११)

१३४ अयोग्य को दीक्षा दे उपस्थापना करे तो प्रा० (नि ११)

१३५ गृहस्थ के उपकरण (बरतन वस्त्र आसन पलंग आदि) काम में लेवे तो प्रा० (नि १२)

१३६ गृहस्थ की औषधि करे, करावे अनुमोदे तो प्रा० (नि १२)

१३७ दो काल के उपरान्त आहार पानी ले जावे तो प्रा० (नि १२)

१३८ गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थी को कला काव्य मन्त्रादि सिखावे तो प्रा (नि १३)

१३९ पासत्थ कुशील आदि की प्रशंसा करे तो प्रा (नि १३)

१४० पात्र आदि उपकरण प्रमाण से अधिक रखे तो प्रा० (नि १४ १६)

१४१ क्लेश करके निकले हुए साधु के साथ संभोग करे तो प्रा (नि १६)

१४२ दुर्गंछनीय कुल का आहारादि ले तो प्रा० (नि १६)

१४३ समान आचारवाले को अपने स्थान पर नहीं उतरने दे तो प्रा० (नि १७)

१४४ साधु गावे बजावे संसार के अनेक प्रकार के गीत गायन और गाजे बाजे तथा रुदनादि सुनने की इच्छा भी करे तो प्रा (नि १७)

१४५ डूबती हुई नावा को निकाले नावा में भरे हुए पानी को उलीचे अथवा रोके तो प्रा० (नि १८)

१४६ अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय नहीं करे। चतुष्काल स्वाध्याय नहीं करे तो प्रा० (नि १९)

१४७ आचारांग सूत्र को छोड़कर पहले दूसरे सूत्र पढ़ावे तो प्रा (नि १९)

१४८ **"अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ"**–इस लोक और परलोक की आकाक्षाओ से विरत रहना चाहिए। (उत्तरा० १६--६३)

१४६ जो लम्बे समय से दीक्षित होकर भी व्रतो मे स्थिर नही है और नियम से भ्रष्ट है, ऐसा साधु, बहुत काल तक आत्मा को क्लेशित करके भी ससार से मुक्त नही हो सकता।

(उत्तरा० २०–४१)

१५० **"आणाए जिणिंदाणं, ण हु बलियतरा उ आयरिय आणा"**–जिनेन्द्र की आज्ञा, जो सूत्रो में उल्लिखित है-निर्दोष है। आचार्य भी उसी आज्ञा का उपदेश करते है, किन्तु कोई आचार्य, उस आज्ञा का अतिक्रमण करके उसके विपरीत आज्ञा दे, तो मानने योग्य नही है। क्योकि आचार्य की आज्ञा से जिनेश्वर की आज्ञा अत्यधिक बलवान है। जिनेश्वर की आज्ञा के सामने, आचार्य की आज्ञा का कोई महत्व नही है। (बृहत्कल्प उ० ४ सूत्र २० भाष्य गाथा ५३७७)

१५१ **"नवणीय तुल्लहियहा साहु"**–साधु का हृदय मक्खन के तुल्य होता है।

(व्यवहार उ० ७ भाष्य)

साधु के हृदय में अहिंसा का निवास होता है, इसलिए वह कोमल होता है-खेदज्ञ होता है। उसमें क्रूरता की कठोरता नही होती, किन्तु कर्मो के साथ युद्ध करने में और परीषहो को सहन करते समय वह वज्र के समान कठोर होजाता है।

१५२ **"असती निव्वाणस्स य, दिक्खा होति निरत्थगा"**–निर्वाण के ध्येय के अभाव में दीक्षा निरर्थक होती है। (व्यवहार उ० ७ भाष्य गाथा० २१८)

१५३ **"अज्जो! उवसमेह। अणुवसमंताण कओ संजमो? कओ वा सज्झाओ?"**

–हे आर्य! शान्त होजा। कषाय की ज्वाला धधकती हो, वहा सयम कैसे रह सकता है और कषाय की तीव्रता में स्वाध्याय भी कैसे हो सकता है? (निशीथ उ० १० भाष्य गाथा २७६१ चूर्णि)

१५४ **"जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडिए।**
तं पि कसाइयमेचो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं॥

(बृहत्कल्प भाष्य गा २७१५)

कुछकम क्रोडपूर्व तक चारित्र का पालन करके जिस चारित्र रूपी ऋद्धि का सग्रह किया जाता है, वह थोडीसी कषाय से, मुहूर्त मात्र में ही नष्ट हो जाती है। अर्थात् कषाय, सुदीर्घ काल के चारित्र को भस्म करनेवाली आग के समान है।

१५५ **"दंसणनाणचरित्ते, जम्हा गच्छम्मि होइ परिवुड्ढी।**
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ॥

—जिस गच्छ (समुदाय) में ज्ञान दर्शन और चारित्र की वृद्धि होती रहती है वही गच्छ उन्नत और धर्म ऋद्धि से महान् शक्तिशाली है। (बृहत्कल्प भाष्य गा २११०)

रयणायरो उ गच्छो, निप्फादओ नाणदसण चरिते। एएण कारणेण, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ।

वही गच्छ रत्न को उत्पन्न करने वाले रत्नाकर (समुद्र) के समान है जिसमें ज्ञान दर्शन और चारित्र रूपी रत्न उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार रत्नों की खान होने के कारण ही गच्छ महान् ऋद्धि-शाली होता है—संख्या बढ़ जाने मात्र से नहीं। (बृहत्कल्प भाष्य गा २१२२)

१२६ "चरणकरणप्पहीणे, पासत्थे जो उ पविसए समणो।
जतमाणए पजहिउ, सो ठाणे परिचयइ तिण्णि"

—सिंह की गुफा व्याघ्र की गुफा और समुद्र आदि खतरे के स्थानों में जाने वाले के लिए मृत्यु निश्चित होती है (पूर्व गाथा का भाव) इसी प्रकार चारित्र से हीन-पार्श्वस्थ (शिथिलाचारी) के पास रहने वाले सुश्रमण के संयमी जीवन की समाप्ति हो जाती है। सिंहादि के द्वारा तो एक ही भव में मृत्यु होती है किन्तु पासत्थों कुशीलों की संगति से तो अनेक भवों में मरण होता है।

(बृहत्कल्प भाष्य गा ५४६५)

१२७ "परकिरिअं च वज्जए नाणी"—हे ज्ञानी! तू अपनी आत्मा की ही क्रिया कर। दूसरी पौद्गलिक अथवा कर्मबंध बढ़ाने वाली क्रिया का त्याग दे। (सूयग १-४-२-२१)

१२८ "आरंभसत्ता गढिया य लोए, धम्मं न जाणंति विमोक्ख हेउं"—जो आरंभ में आसक्त हैं और लोक में ही फँसे हुए हैं वे मोक्ष प्रदायक धर्म को नहीं जान सकते।

(सूयग० १-१०-१६)

१२९ "पणीय भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं"—रस युक्त गरिष्ठ आहार शीघ्र ही विकार बढ़ाता है। (उत्तरा० १६-७)

१३० "माई पमाई पुणएइ गब्भं"—मायावी जीव प्रमादवश बारबार गर्भ में आता रहता है।

(आचारांग १-३-१)

। आराहिअ-खंडिय सक्कियस्स। नमो नमो संजम वीरिअस्स।

मोक्ष मार्ग

पंचम खण्ड

-: तप धर्म :-

अब तक जो वर्णन हुआ, वह सवर धर्म से सम्बन्धित था । अगार धर्म और अनगार धर्म, सवर धर्म से सम्बन्धित है । सवर से मुख्यत आश्रव की रोक होती है, किन्तु पुराने कर्मों की निर्जरा नही होती । आत्मा के साथ पहले के बँधे हुए कर्मों को तोडकर अलग करने का उपाय तो मुख्यत तप ही है । कहा है कि–

"जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे । उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणाभवे ॥५॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे । भवकोडी संचियं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जई ॥६॥

(उत्तराध्ययन अ ३०)

अर्थात् जिस प्रकार बडे भारी तालाव को खाली करने के लिए, पहले उसके पानी के द्वारो को वन्द करके बाहर से आने वाले पानी को रोकने की आवश्यकता रहती है । उसके वाद तालाव मे पहले से भरे हुए पानी को निकालने की क्रिया होती है । वह एक तो उलीचने (निकाल कर बाहर करने) रूप होती है और दूसरी सूर्य के ताप से सुखाने रूप । इसी प्रकार सयमी पुरुष, पहले सवर द्वारा नये पाप कर्मों की आवक रोक देते है, और बाद में अपनी आत्मा मे करोडो भवो के सग्रहित किये हुए कर्मों को तपस्या के द्वारा निर्जरा कर देते है–क्षय करते है ।

तपस्या का फल बतलाते हुए उत्तराध्ययन अ २६ में लिखा है कि–

"तवेण भंते ! जीवे किं जणयइ ? तवेणं वोदाणं जणयइ ॥२७॥

प्रश्न–हे भगवान् ! तप से किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर–तप से व्यवदान=पूर्व के बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है ।

यह है तप का प्रभाव । तप का आचरण पूर्व के सभी महापुरुषों ने किया । भ० ऋषभदेवजी के समय एक वर्ष तक का तप किया जाता था । मध्य के तीर्थङ्करों के समय आठ मास तक का और भ० महावीर के समय छ महीने तक का तप किया जाता था । स्वयं भगवान् ने छ मास का तप किया था ।

तपस्या जो भी की जाय वह विशुद्ध भावों से मात्र कर्म निर्जरा के लिए ही करनी चाहिए । इसके लिए किसी प्रकार की दूसरी भावना नहीं होनी चाहिए । आगमकार महाराज तप समाधि का उपदेश करते हुए फरमाते हैं कि—

"चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, त जहा–१ नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, २ नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ३ नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ४ नन्नत्थ निज्जर-ट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ।" (दशवैकालिक अ ९ उ ४)

अर्थात्–चार प्रकार की तप समाधि है । जैसे–१ इस लोक सम्बन्धी सुखों की कामना से तपस्या नहीं करे २ परलोक में प्रचुर वैभव और उत्तमोत्तम भौतिक सुखों की चाहना रखकर तप नहीं करे ३ अपनी प्रशंसा हो इस भावना से कीर्ति की लालसा से जनता से यशोगान करवाने और धन्य धन्य कहलाने के लिए तप नहीं करे । किन्तु ४ एक मात्र अपने कर्मों की निर्जरा के लिए ही तपस्या करे । कर्म निर्जरा के सिवाय और किसी भी भावना से तपस्या नहीं करे ।

आगे एक गाथा में बताया है कि—

"विविहगुणतवोरए णिच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥४॥

अर्थात्–निर्जरार्थी (मोक्षार्थी) को चाहिए कि इहलौकिक और पारलौकिक (पौद्‌गलिक) सुखों की आशा मनमें नहीं रखते हुए सदैव तपसमाधि में ही संलग्न रहे और विविध गुणों युक्त तप में निरन्तर लगा रहे । वह केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही तप का आचरण करे । इस प्रकार शुद्ध-भाव से किये हुए तप से पूर्व संचित पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

तप समाधि उसी को होती है जो पौद्‌गलिक आकांक्षाओं और क्रोध मान माया तथा लोभ

कषाय से रहित होकर विशुद्ध भावो से, केवल आत्मशुद्धि—निर्जरा के लिए ही तपस्या करे। निर्ग्रन्थ का जीवन ही तप सयममय होता है। जिनेश्वर भगवतो ने उसी को साधु कहा है जो सवर और तप से युक्त हो। जैसे—

"तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू।"

तथा—

'तवे रए सामणिए जे स भिक्खू।" (दशवै० १०)

धर्म साधना में अहिंसा और सयम के साथ तप की भी अनिवार्य आवश्यकता है। इसलिए दशवैकालिक सूत्र के प्रारभ में उसी उत्कृष्ट मगलमय धर्म का उपदेश दिया, जो अहिंसा, सयम और तप से युक्त हो। विना तप के सयम सुरक्षित नही रह सकता। तपस्वी के मन में विकार रूपी विष जोर नही कर सकता। यदि तप का आचरण नही हो और यथेच्छ खानपानादि एव शब्दादि विषय चलते रहे, तो सयम भी सुरक्षित नही रह सकता। सयम की सुरक्षा एव वृद्धि के लिए तप रूपी कवच, प्रबल साधन है। इसीसे विषयो=वासनाओ का निरोध होता है। तप का काम ही भौतिक इच्छाओ का निरोध करना है—**'इच्छानिरोधस्तपः।'** भगवान् महावीर ने वासनाजन्य विकार को नष्ट करने के लिए तप रूपी महोषधि का सेवन करने का विधान किया है।

"उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि णिब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अविउड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दुइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थिसु मणं।"

(आचाराग १-५-४)

अर्थात्—साधु, इन्द्रियो के विषयो से विकार ग्रस्त बन रहा हो, तो उस विकार को नष्ट करने के लिए रूखा सूखा और सत्त्व रहित वस्तु का आहार करे या आहार कम करे अर्थात् ऊनोदरी तप करे, अथवा ऊँचे स्थान पर स्थित हो जाय अर्थात् कायोत्सर्ग पूर्वक शीत और ताप की आतापना ले, या ग्रामानुग्राम विहार करे। यदि इससे भी विकार नही मिटे, तो आहार का सर्वथा त्याग करदे, किन्तु स्त्रियो की ओर मन को नही जाने दे।

इस प्रकार तप रूपी धर्म, एक ओर सयम की रक्षा करता है, तो दूसरी ओर आत्मा की सफाई करता हुआ निर्मल बनाता है। अन्तर्मल की शुद्धि तप से ही होती है—**"तवेण परिसुज्झई"**

(उत्तरा० २८)

जिस प्रकार सम्यक् ज्ञान दर्शन पूर्वक ही चारित्र की आराधना सफल होती है, उसी प्रकार सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र पूर्वक किया हुआ तप ही आत्मा को शुद्ध एव निर्मल बनाता है। जिस

तप के साथ ज्ञान दर्शन और चारित्र का योग नहीं हो तो वैसा तप पुण्य बन्ध तो करवा सकता है किन्तु मोक्ष के निकट नहीं पहुंचा सकता। संयम से नियन्त्रित नहीं किया हुआ और क्षमादि धर्म से सुरक्षित नहीं रखा हुआ तप शस्त्र रूप बनकर अपने आपके लिए (स्वयं तपस्वी के लिए) भी घातक बन जाता है। चण्डकौशिक सर्प पहले एक तपस्वी संत ही था। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने पूर्व भव के तप का दुरुपयोग किया और सातवीं नरक में गया। जितने भी वासुदेव होते हैं वे सब नरक में जाते हैं। इसका मूल कारण तप का दुरुपयोग है। तपरूपी महारसायन संयम और क्षमा रूपी पथ्य सेवन से ही आत्मा को पुष्ट करके अनन्त सुख प्रदान करने वाली होती है। यदि कषाय अथवा विषय रूपी कुपथ्य का सेवन किया तो वही रसायन क्षणिक इच्छा पूरी करके फिर महान दुःखदायक बन जाती है।

तप का ढोंग भी बुरा होता है। तपस्वी नहीं होते हुए भी अपने को तपस्वी बताना पाप है। आगमकार ऐसे व्यक्ति को 'तपचोर' कहते हैं। जैसे—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे। आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिब्बिसं (दशवै० ५-२)

अर्थात्—जो साधु तप चोर व्रत चोर, वचन चोर रूप चोर और आचार भाव का चोर होता है वह किल्बिषी देवों—नीच जाति के देवों में उत्पन्न होता है और वहां से च्यवकर मूक बकरा होता है। इसके बाद नरक गति प्राप्त कर दुःखी होता है।

तप चोर बनकर जनता को धोखा देना बहुत बुरा है। प्रशंसा के लिए या और किसी भावना से तपचोर बनना स्वात्म घात है। इससे महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है। तपचोर के विषय में महामोहनीय कर्म के २४ वें भेद में लिखा है कि—

"अतवस्सी य जे केइ, तवेण पविकत्थइ। सव्वलोए परे तेणे, महामोहं पकुव्वइ (दशाश्रु० ९)

अर्थात्—जो तपस्वी नहीं होता हुआ भी जनता में अपने आपको तपस्वी के रूप में उपस्थित करके सम्मान प्राप्त करता है वह समस्त लोक में बड़ा भारी चोर है। वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

धन के लोभी चोर चोरी करते हुए धर्मात्मा नहीं कहलाते और बाहिर में लोगों से दबते रहते हैं किन्तु तप चोर तो धर्म-ठग होते हैं। वे जनता की श्रद्धा और भक्ति का अपहरण करते हुए पूज्य एवं सिरताज बने फिरते हैं। अतएव ऐसे धर्म-ठग साधारण चोरों की अपेक्षा विशेष चोर हैं।

जिस प्रकार उत्तम फल की प्राप्ति के लिए भूमि भी उत्तम होनी चाहिए। उत्तम भूमि में ही उत्तम फल का बीज अंकुरित होता है और फूलता फलता है उसी प्रकार तप का यथार्थ फल (कर्म निर्जरा) के लिए मन रूपी क्षेत्र विशुद्ध रहना चाहिए। तभी कर्मों का क्षय होकर मोक्ष फल की प्राप्ति होती है।

तप के मुख्यतः दो भेद किये हैं—१ बाह्य तप और २ आभ्यन्तर तप। इनका स्वरूप इस प्रकार है।

बाह्य तप

अनशन

बाह्य तप छ प्रकार का होता है। उसमें पहला प्रकार 'अनशन' का है। यह अनशन दो प्रकार का होता है–१ इत्वर–थोडे समय का और २ जीवन पर्यन्त का

इत्वर–थोडे समय का तप, एक उपवास से लगाकर उत्कृष्ट छ महीने तक का होता है। अपनी शक्ति के अनुसार कोई उपवास करते, कोई दो दिन, तीन दिन, एक महीना, दो महीना करते और कोई छ महीने का तप करते है। उनकी दृष्टि खाने की या देहपुष्टता की ओर नही रहती, किन्तु आत्म-विशुद्धि की ओर ही दृष्टि रहती है। वे पारणा करते है तो भी उनका लक्ष्य तप बढाने का ही रहता है। स्वय गणधर भगवान् गौतमस्वामीजी महाराज, चौदह हजार श्रमण और ३६ हजार श्रमणियो के अग्रसर भी, बेले बेले (दो दो उपवास) तप करते रहते थे। दो दिन तक कुछ भी नही खाते पीते और तीसरे दिन, दिन के तीसरे प्रहर, स्वय गोचरी लाकर, एक बार थोडा खा पीकर फिर तपस्या कर लेते थे। उनका खाना तो बहुत कम और तपस्या बहुत ज्यादा होती थी। उन आत्म वीरो को कभी यह विचार भी नही आया कि–मै बहुत दुर्बल और कमजोर हो गया हू, मेरा शरीर अत्यन्त अशक्त और रोगो का घर हो गया है। अब मुझे तप करना बन्द करके कुछ दिन, घृत दुग्धादि का विशेष सेवन करके कुछ सशक्त बन जाना चाहिये।" इस प्रकार के कमज़ोर विचार उनमें नही थे। वे तप की अग्नि में अपने को झोक ही देते थे। उनका लक्ष्य ही अनाहारी बनने का था, फिर वे आहार और शरीर की परवाह ही क्यो करे ? साधुओ के-आहार करने के निम्न छ कारण होते है।

१ जब क्षुधावेदनीय अति बढ जाय और आत्मशान्ति में बाधक होने लगे, २ वैयावृत्य में बाधा पडने जैसी हो, ३ ईर्यापथिको शोधने में कठिनाई हो, ४ धर्म ध्यान मे विघ्न होता हो, ५ सयम साधना और ६ अपने प्राणो की रक्षा में अडचने आने जैसा लगे, तो इन बाधाओ को दूर करने के लिये आहार किया जाता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ ३० मे इत्वर अनशन के निम्न भेद किये है।

१ श्रेणी तप–क्रम से तप करना श्रेणी तप है। उपवास, बेला, तेला, इस प्रकार क्रम से तप किया जाय उसे श्रेणी तप कहते है, और यह छ महीने तक किया जा सकता है।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

२ प्रतर तप—श्रणी का श्रेणी से गुणन करना प्रतर ह। जो तप प्रतर युक्त हो उसे प्रतर तप कहते हैं। जैसे उपवास बला तेला और चोला इन चार पदों की एक श्रेणी है। इस श्रेणी का श्रेणी से (४ स) गुणन करने पर १६ पद होते है। प्रतर की लम्बाई चौड़ाई बराबर होती है। प्रतर की रचना नक्शे के अनुसार है।

३ घन तप—उपरोक्त प्रतर का श्रेणी से गुणन करने से घन तप होता है अर्थात् १६ का ४ से गुना करने पर ६४ होते हैं। इस प्रकार घन युक्त तप घन तप है।

४ वर्ग तप—घन का घन से अर्थात् ६४ का ६४ से गुणा करने स आई हुई सख्या ४०९६ 'वर्ग' है। इस प्रकार का तप वर्ग तप' कहलाता है।

५ वर्गवर्ग तप—उपरोक्त वर्ग को वर्ग से गुणन करने पर अर्थात् ४०९६ से गुणन करने पर १६७७७२१६ की सख्या होती है। इस प्रकार का तप वर्ग वर्ग तप कहलाता है।

६ प्रकीर्ण तप—श्रेणी आदि से नहीं करके शक्ति के अनुसार फुटकर तप किये जायें उन्हें प्रकीर्णक तप कहते हैं।

गुणरत्न-सम्वत्सर तप

तपदिन	तप	पारणा	सर्व दिन
३२	१६ १६	२	३४
३०	१५ १५	२	३२
२८	१४ १४	२	३
२६	१३ १३	२	२८
२४	१२ १२	२	२६
३३	११ ११ ११	३	३६
३	१० १० १०	३	३३
२७	९ ९ ९	३	३
२४	८ ८ ८	३	२७
२१	७ ७ ७	३	२४
२४	६ ६ ६ ६	४	२८
२५	५ ५ ५ ५ ५	५	३०
२४	४ ४ ४ ४ ४ ४	६	३
२४	३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३	८	३२
२	२ २ २ २ २ २ २ २ २ २	१	३
१५	(१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १)	१५–१	

प्रकीर्णक तप अनेक प्रकार के होते है। पूर्व के महात्माओं और महासतियों के तप का वर्णन सूत्रों में आया है वह प्रकीर्णक तप के अन्तर्गत है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

गुणरत्न सम्वत्सर तप की विधि इस प्रकार है।

प्रथम मास में निरन्तर उपवास करना। दिन में सूर्य के सम्मुख दृष्टि रख कर आतापना लेना और रात्रि में वस्त्र रहित होकर वीरासन से बैठ कर ध्यान करना।

दूसरे मास में बेले बेले तप करना। तीसरे मास में तेले तेले, इस प्रकार प्रत्येक मास में क्रमश एक एक उपवास का तप बढ़ाते हुए सोलहवें मास में सोलह सोलह का (१६।सोलह) तप करना। आतापना आदि पहले की तरह करते रहना।

इस तप में कुल सोलह मास लगते है, इसमें तेरह महीने सत्रह दिन तप के और दो मास तेरह दिन पारने के होते है। (भगवती श० २ उ १)

एकावली तप

एकावली तप की विधि इस प्रकार है।

क्रमश चतुर्थ, षष्ठ और अष्टमभक्त। इसके बाद आठ चौथभक्त। फिर चौथभक्त से लगाकर क्रमश चौतीसभक्त तक चढना। इसके बाद चौंतीस चौथभक्त करना। इसके बाद चौतीस भक्त करके क्रमश चौथभक्त तक नीचे उतरना। इसके बाद आठ चौथभक्त। इसके बाद अष्टमभक्त, षष्ठमभक्त और चतुर्थभक्त। शेष पूर्ववत्।

एक परिपाटी का काल—

१ वर्ष २ महीने और २ दिन।

चार परिपाटी में—

४ वर्ष ८ महीने और ८ दिन।

(उववाई)

प्रथम परिपाटी में पारणे में विगय ली जा सकती है, किन्तु दूसरी परिपाटी में विगय का त्याग होता है। तीसरी परिपाटी में तो विगय का लेप लग गया हो, तो वह भी नही लिया जाता और चौथी परिपाटी तो आयाम्बिल तप युक्त होती है।

१   १
२   २
३   ३
१ १ १ १ १   १ १ १ १ १
१ १ १   १ १ १
१   १
२   २
३   ३
४   ४
५   ५
६   ६
७   ७
८   ८
९   ९
१०   १०
११   ११
१२   १२
१३   १३
१४   १   १४
१५   १ १   १५
१६ १ १ १ १ १६
१ १ १ १ १ १
१ १ १ १ १ १
१ १ १ १ १ १
१ १ १ १ १ १
१ १
१

रत्नावली तप

इसमें पहले उपवास किया जाता है। उपवास का पारणा करके उसके दूसरे दिन बेला किया जाता है। बेले के पारणे के बाद तेला और तेले के पारणे के बाद आठ तेले किये जाते हैं। आठ तेले पूरे होने के बाद उपवास किया जाता है। फिर बेला तेला चौला, पचोला छह सात अठाई नौ दस ग्यारह, बारह तेरह चौदह पन्द्रह और पन्द्रह का पारणा करके सोलह दिन का तप किया जाता है। इसके बाद चौंतीस बेले किये जाते हैं। चौंतीसवें बेले का पारणा कर चुकने के बाद सोलह दिन की तपस्या की जाती है। इसका पारणा करके पन्द्रह दिन का तप किया जाता है। इसी प्रकार चौदह तेरह बारह ग्यारह दस नौ आठ सात छह पांच चार तीन दो और उपवास किया जाता है। उपवास का पारणा करके आठ बेले किये जाते हैं। आठवें बेले का पारणा करके तेला बेला और बेले का पारणा करके उपवास किया जाता है।

यह रत्नावली तप की एक परिपाटी हुई। इसमें पारणे के दिन आहार में घृतादि विगय का त्याग आवश्यक नहीं है। इस एक परिपाटी में एक वर्ष तीन महीना और बाईस दिन लगते हैं। इसमें ३८४ दिन तो तप के होते हैं और ८८ दिन पारणे के होते हैं। कुल दिन ४७२ होते हैं।

रत्नावली तप की दूसरी परिपाटी के तप की विधि भी पहली परिपाटी के अनुसार ही है। इसमें विशेषता यह है कि पारणे में सभी प्रकार की विगयों का त्याग होता है। तीसरी परिपाटी में आहार में विगय का लेप लग गया हो तो उसका

भी त्याग होता है चौथी परिपाटी में भी तप तो उसी प्रकार होता है, किन्तु पारणा आयम्बिल तप पूर्वक किया जाता है ।

इस तप की कुल चार परिपाटी होती है, जिसमें पाच वर्ष दो महीने अट्ठाइस दिन लगते हैं ।

विधि

कनकावली तप भी बहुत कुछ रत्नावली तप के समान है । इसमें विशेषता यह है कि जहाँ रत्नावली तप में दो स्थानो पर आठ आठ और एक स्थान पर चौंतीस बेले आये, वहाँ इस तप में तेले आते हैं । इस तप की एक परिपाटी में एक वर्ष पाँच महीने और बारह दिन लगते है । इसमें पारणे के दिन ८८ होते है और तप के एक वर्ष दो महीने चौदह दिन होते है । चारो परिपाटी में पाँच वर्ष नौ महीने और अठारह दिन लगते है । शेष विधि रत्नावली तप के अनुसार है ।

कनकावली तप

१   १
२   २
३   ३
३ ३ ३ ३ ३   ३ ३ ३ ३ ३
३ ३ ३   ३ ३ ३
१   १
२   २
३   ३
४   ४
५   ५
६   ६
७   ७
८   ८
९   ९
१०   १०
११   ११
१२   १२
१३   १३
१४   ३   १४
१५   ३ ३   १५
१६ ३ ३ ३ ३ १६
३ ३ ३ ३ ३ ३
३ ३ ३ ३ ३ ३
३ ३ ३ ३ ३ ३
३ ३ ३ ३ ३ ३
३ ३
३

लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप

इस लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप में सबसे पहले उपवास किया जाता है। उसके बाद बेला। बेले का पारणा करके उपवास। उसके बाद तेला फिर बेला चोला तेला पचोला चोला छ पांच सात छ अठाई सात नौ अठाई। इसके बाद नौ, फिर सात उसके बाद अठाई फिर छ सात पांच छ चोला पचोला तेला चोला बेला, तेला उपवास बेला और उपवास किया जाता है।

१		१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९	८	९

इस प्रकार इसकी एक परिपाटी होती है। इसमें छ मास और सात दिन लगते हैं। तप के पांच मास चार दिन और पारणे के तेतीस दिन होते हैं। चार परिपाटी में दो वर्ष और २८ दिन लगते हैं।

महासिंह निष्क्रीड़ित तप

१		१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९		९
८		८
१		१
९		९
११		११
१		१
१२		१२
११		११
१३		१३
१२		१२
१४		१४
१३		१३
१५		१५
१४		१४
१६	१५	१६

विधि

लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप में उपवास से लेकर ९ उपवास तक चढ़ा जाता है और नौ से वापिस नीचे उतरा जाता है और महासिंह निष्क्रीड़ित तप में उपवास से लेकर उसी पद्धति से सोलह उपवास तक चढ़ा जाता है और उसी प्रकार उतरा जाता है। इसकी एक परिपाटी में एक वर्ष छ महीने और अठारह दिन लगते हैं। तप के दिन एक वर्ष चार महीना और सतरह दिन और पारणे के कुल ६१ दिन होते हैं। चार परिपाटियों में छ वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते हैं।

(अन्तकृत वर्ग ८)

मुक्तावली

मुक्तावली तप में सर्व प्रथम उपवास किया जाता है। फिर बेला, उसके बाद उपवास। उपवास के बाद तेला, उपवास और चोला, उपवास और पचोला, यों बीच मे उपवास करते हुए पन्द्रह तक बढते है। पन्द्रह के बाद उपवास करते है और उसके बाद सोलह करते है और उसके बाद उपवास करते है। इसके बाद उतरने का क्रम होता है। उपवास और पन्द्रह, उपवास और चौदह, यों बीच में उपवास करते हुए नीचे उतरना होता है। एक परिपाटी में ग्यारह महीने और पन्द्रह दिन होते है। तप के दिन २८६ पारणे के ५९। चारो परिपाटी में तीन वर्ष दस महीने होते है।

१		१
२		२
१		१
३		३
१		१
४		४
१		१
५		५
१		१
६		६
१		१
७		७
१		१
८		८
१		१
९		९
१		१
१०		१०
१		१
११		११
१		१
१२		१२
१		१
१३		१३
१		१
१४		१४
१		१
१५	१६	१५
१	१	१

पहली परिपाटी मे विगय का त्याग नही होता। दूसरी में विगय का त्याग होता है। तीसरी में विगय का लेप लगा हो, वैसा आहार भी नही लिया जाता और चौथी परिपाटी में पारणे में आयम्बिल किया जाता है। (अतगड व ८)

लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा

इस तप में सर्वप्रथम उपवास होता है। उसके बाद बेला, तेला, चोला और पचोला किया जाता है। इसके बाद तेला, चोला, पचोला, उपवास और बेला किया जाता है।

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

इसके बाद पचोला, उपवास, बेला, तेला, और चोला। फिर बेला, तेला, चोला, पचोला और उपवास। इसके बाद चोला, पचोला, उपवास, बेला और तेला किया जाता है।

यह प्रथम परिपाटी हुई। इसमें एक सौ दिन लगते है। जिसमे तप के दिन ७५ और पारणे के २५ होते है। चार परिपाटी में एक वर्ष एक मास और दस दिन लगते है।

महा सर्वतोभद्र प्रतिमा

इस तप मे पहले उपवास, उसके बाद बेला, तेला, चोला, पचोला, छ और सात किये जाते है। यह प्रथम लता हुई।

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

दूसरी लता—चोला, पचोला, छ, सात, उपवास, बेला और तेला।

तीसरी लता—सात उपवास बेला, तेला चोला पचोला और छ ।
चौथी लता—तेला चोला पचोला छ सात उपवास और बेला।
पांचवीं लता— छ सात उपवास बेला तेला चोला और पचोला।
छठी लता—बेला तेला चोला पचोला छ सात और उपवास।
सातवीं लता—पचोला छ. सात उपवास बेला तेला और चोला।

इस प्रकार सात लताओं में उपवास से लगाकर सात तक की तपस्या की जाती है एक परिपाटी में आठ महीने पांच दिन लगते हैं। तप के छ मास बारह दिन और पारण के एक मास उन्नीस दिन होते हैं। चार परिपाटियों में दो वर्ष आठ मास और बीस दिन लगते हैं।

भद्रोत्तर प्रतिमा

इसमें सर्व प्रथम पचोला किया जाता है। उसके बाद छ सात आठ और नौ किये जाते हैं। यह प्रथम लता हुई।

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

दूसरी लता—सात आठ नौ पाँच और छ ।
तीसरी लता—नौ पाँच छ सात और आठ।
चौथी लता—छः सात आठ नौ और पाँच।
पांचवीं लता—आठ नौ पाँच छ और सात।

उपरोक्त पाँच लताओं से एक परिपाटी पूरी होती है। इसमें १७५ दिन तप के और २५ दिन पारणों के कुल छ मास और बीस दिन होते हैं। चारों परिपाटी में दो वर्ष दो मास और बीस दिन लगते हैं।

सप्त-सप्तमिकादि भिक्षु प्रतिमा

इसमें प्रथम सप्ताह में प्रतिदिन एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। दूसरे सप्ताह दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की तीसरे में तीन तीन यों क्रमशः सातवें सप्ताह में प्रतिदिन सात दत्ति अन्न की और सात दत्ति पानी की ली जाती है। ४९ दिन में भिक्षा की १९६ दत्ति होती है।

अष्ट अष्टमिका के प्रथम अष्टक में (आठ दिन तक) एक दत्ति आहार और एक दत्ति पानी

की भिक्षा में ली जाती है। दूसरे अष्टक में दो, तीसरे में तीन, यो क्रमश आठवे अष्टक में आठ आठ दत्ति ली जाती है। इसमे ६४ दिन लगते है और कुल दत्ति २८८ होती है।

नवनवमिका में नौ नौ दिन होते है। प्रथम नवक में आहार पानी की एक एक दत्ति ली जाती है। यो क्रमश बढते हुए नौवे नवक मे नौ नौ दत्ति ली जाती है। इसमें ८१ दिन लगते है। कुल दत्ति ४०५ होती है।

दसदसमिका भी इसी प्रकार होती है, किन्तु इसमे दस दिन के दसक से गिनती होती है और दस दस दत्ति तक बढा जाता है। इसमें एक सौ दिन लगते है। और कुल दत्तियें आहार पानी की ५५० होती है।

आयम्बिल वर्धमान तप

इसमें सर्व प्रथम एक आयम्बिल किया जाता है। उसके बाद उपवास होता है। फिर दो आयम्बिल और उपवास, तीन आयम्बिल और उपवास, चार आयम्बिल और उपवास, यो बीच में उपवास करते जाते है और आयम्बिल क्रमश एक एक बढाते रहते है। इसका क्रम एकसौ आयम्बिल तक जाता है और उसके बाद उपवास किया जाता है। इस प्रकार "आयम्बिल वर्धमान" तप चौदह वर्ष तीन मास और बीस दिन मे पूरा होता है। इसमें आयम्बिल के दिन पाँच हजार और पचास होते है और उपवास के दिन एक सौ होते है। कुल पाँच हजार एक सौ पचास दिन होते है। इस तप मे चढना ही होता है। उतरना नही होता।

लघुमोक प्रतिमा

(प्रस्रवण सम्बन्धी अभिग्रह) द्रव्यत –नियमानुकूल हो तो अप्रतिष्ठापना, क्षेत्रत –ग्रामादि से बाहर, कालत –शीत या ग्रीष्म काल मे भोगकर करे तो चतुर्दश भक्त से और बिना भोगे करे तो षोडश भक्त से या अष्टादश भक्त से पूर्ण होती है। भावत –दिव्यादि उपसर्ग सहना।

महामोक प्रतिमा भी इसी प्रकार की जाती है। अन्तर इतना ही है कि यह षोडश भक्त से या अष्टादश भक्त से पूर्ण होती है।

यवमध्य-चन्द्र प्रतिमा

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ कर चन्द्रकला की वृद्धि हानि के अनुसार दत्ति की वृद्धि हानि से यव के मध्य भाग के आकार में पूरी होने वाली एक महीने की प्रतिज्ञा। जैसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति, द्वितीया को दो दत्ति, इस प्रकार क्रमश एक एक दत्ति बढाते हुए पूर्णिमा के दिन पन्द्रह दत्ति। फिर कृष्ण प्रतिपदा को चौदह दत्ति, इस प्रकार एक एक दत्ति घटाते हुए चतुर्दशी को एक दत्ति

लेना और अमावस्या का उपवास करना।

वज्र मध्य-चन्द्र प्रतिमा

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन प्रारम्भ होकर चन्द्रकला की हानि वृद्धि के अनुसार दत्ति की हानि वृद्धि से वज्राकृति में पूर्ण होने वाली एक महीने की प्रतिमा।

इसमें प्रारम्भ में पन्द्रह दत्ति फिर क्रमशः घटाते हुए अमावस्या का एक दत्ति। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को दो फिर क्रमशः एक एक बढ़ाते हुए चतुर्दशी को पन्द्रह दत्ति और पूर्णमासी को उपवास किया जाता है। (व्यवहार०)

यावज्जीवन अनशन

यावज्जीवन अनशन भयङ्कर उपसर्ग असाध्य रोगादि में मृत्यु निकट जानकर किया जाता है। यह तीन प्रकार का है—१पादपोपगमन २ भक्त प्रत्याख्यान और ३ इंगित मरण।

१ पादपोपगमन—अनशन उसे कहते हैं कि जिसमें शरीर का हलन चलनादि नहीं किया जाता और पादप—कटे हुए वृक्ष की तरह निश्चल पड़ा रहना होता है। इसके दो भेद हैं। १सिंहादि हिंसक पशु तथा राक्षस आदि का उपद्रव होने पर किया जाय वह 'व्याघातिम पादपोपगमन' अनशन है और २ बिना किसी उपद्रव के स्वेच्छा से ही किया जाय वह निर्व्याघातिम पादपोपगमन' अनशन है। इस पादपोपगमन अनशन में न तो किसी से सेवा कराई जाती है और न स्वयं ही अपने शरीर की सार सम्भाल की जाती है।

२ भक्त प्रत्याख्यान अनशन भी व्याघात=उपसर्ग उत्पन्न होने पर और निर्व्याघात=बिना उपसर्ग के भी किया जाता है। इसमें हलनचलन और देह सम्बन्धी आवश्यक क्रिया भी की जाती है।

३ इंगित मरण' यह पादपोपगमन और भक्त प्रत्याख्यान के बीच का है। इसमें पहले से निश्चित स्थान में हलन चलन का आगार रखकर शेष का त्याग कर दिया जाता है। फिर अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते किन्तु एक ही स्थान पर रहकर जीवन पर्यन्त उसी में हलन चलनादि करते हैं। इसमें किसी से सेवा भी नहीं करवाई जाती। (सम० १७)

किन्तु जीवन पर्यन्त आहारादि का त्याग होता है। ये अनशन निर्हारिम और अनिर्हारिम—यों दो प्रकार के होते हैं।

निर्हारिम—यह अनशन ग्रामादि बस्ती के किसी उपाश्रय में होता है जहां से अनशन पूर्ण होने पर अनशन कर्त्ता का शव ग्राम के बाहर निकाला जाता है।*

* इसके अर्थ में मत भेद है स्थानांग २-४-१ २ तथा भगवती २-१ की टीका में ऐसा ही अर्थ किया गया

अनिर्हारिम—यह अनशन जगल, पर्वत अथवा गुफा आदि मे किया जाता है।

यावज्जीवन का अनशन, 'काक्षारहित' होता है। इसमे पारणा करने की इच्छा नही रहती।

ऊनोदरी

इसके दो भेद है, १—द्रव्य ऊनोदरी और २—भाव ऊनोदरी।

द्रव्य—ऊनोदरी—के भी दो भेद है, १—उपकरण द्रव्य ऊनोदरी और २—भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी।

उपकरण द्रव्य ऊनोदरी—इसके तीन प्रकार है, १—एक वस्त्र, २—एक पात्र और ३ प्रीतिकारी ‡

है। श्री स्थानाग की टीका में लिखा कि—

"णीहारिमं' त्ति यद्वसतेरेकदेशे विधीयते तत्' शरीरस्य निर्हरणात्निस्सारणान्निर्हारिम, यत्पुनर्गिरि कन्दरादौ तदनिर्हरणादनिर्हारिम।"

भगवती की टीका में लिखा कि—

"निहारिमे य' त्ति निहरिण निर्वृत्त यत् तद् निर्हारिमम्प्रतिश्रये यो म्रियते तस्य एतत् तत्कडेवरस्य निर्हारणात् अनिर्हारिम तु योऽटव्यां म्रियते इति"।

अर्थात् जो निर्हार से बने वह निर्हारिम। जो साधु उपाश्रय में काल करे, उसके शरीर को उपाश्रय से बाहर निकाल कर सस्कार किया जाय, तो उस साधु के मरण को निर्हारिम कहा जाता है। और जो साधु अपना शरीर अटवी में त्याग देते है, वहा से उनके शरीर को बाहर निकालनें की आवश्यकता नहीं पडती, इसलिए उनके मरण को अनि-र्हारिम कहा जाता है।

अर्धमागधी कोष में तथा हैदराबाद वाले उत्तराध्ययन में भी ऐसा ही अर्थ है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र अ ३० की श्री नेमिचन्द्राचार्य (समय स ११२९) रचित सुखबोधानाम की लघुवृत्तिपत्र ३३९ में निम्न अर्थ किया है।

"निर्हरणम् निर्हार—गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादेर्बहिर्गमन तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारि तदन्यदनिर्हारि यदुत्यातुकामे व्रजिकादौ विधीयते यदुक्तम्—'पाउवगमण दुविहं नीहारिं चेव तह अनीहारिं। बहियागामाईण गिरिकदरमाई नीहारिं॥१॥ वइयाइसु ज अतो उटठेउमणाण ठाइ अणिहारिं।" ऐसा ही अर्थ लुधियाने से प्रकाशित उत्तराध्ययन भाग ३ में है।

पहला अर्थ शव की अपेक्षा से है और दूसरा अनशन कर्त्ता के स्वय निकल जानें की अपेक्षा से।

‡ "चियत्तोवकरण सातिज्जणया"—इसका अर्थ टीकाकार ने "चियत्त—प्रीतिकर त्यक्त वा दोर्षवर्यदुपकरणं—वस्त्रपात्रव्यतिरिक्त वस्त्रपात्रमेव वा तस्य या श्रयणीयता स्वदनीयता वा सा तथा," किया है। हैदराबाद वाली प्रति में "प्रतीतकारी उपकरण रक्खे" किया है और भगवती श० २५ उ० ७ भाग ४ में प० भगवानदास ने "सयतों के त्यागे हुए उपकरणों के सिवाय—दूसरे उपकरण लेना" इस भाव में किया है। "जीर्ण वस्त्र-पात्रादि लेना"—ऐसा अर्थ भी किया जाता है।

सना और अमावस्या का उपवास करना ।

वज्र मध्य-चन्द्र प्रतिमा

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन प्रारम्भ होकर चन्द्रकला की हानि वृद्धि के अनुसार दत्ति की हानि वृद्धि से वज्राकृति में पूर्ण होने वाली एक महीने की प्रतिमा ।

इसमें प्रारम्भ में पन्द्रह दत्ति फिर क्रमशः घटाते हुए अमावस्या को एक दत्ति । शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को दो फिर क्रमशः एक एक बढ़ाते हुए चतुर्दशी को पन्द्रह दत्ति और पूर्णमासी को उपवास किया जाता है । (व्यवहार०)

यावज्जीवन अनशन

यावज्जीवन अनशन भयङ्कर उपसर्ग असाध्य रोगादि में मृत्यु निकट जानकर किया जाता है । यह तीन प्रकार का है—१पादपोपगमन २ भक्त प्रत्याख्यान और ३ इंगित मरण ।

१ पादपोपगमन—अनशन उसे कहते हैं कि जिसमें शरीर का हलन चलनादि नहीं किया जाता और पादप—कटे हुए वृक्ष की तरह निश्चल पड़ा रहना होता है । इसके दो भेद हैं । सिंहादि हिंसक पशु तथा दावानल आदि का उपद्रव होने पर किया जाय वह 'व्याघातिम पादपोपगमन' अनशन है और २ बिना किसी उपद्रव के स्वेच्छा से ही किया जाय वह निर्व्याघातिम पादपोपगमन' अनशन है । इस पादपोपगमन अनशन में न तो किसी से सेवा कराई जाती है और न स्वयं ही अपने शरीर की सार सम्भाल की जाती है ।

२ भक्त प्रत्याख्यान अनशन भी व्याघात=उपसर्ग उत्पन्न होने पर और निर्व्याघात=बिना उपसर्ग के भी किया जाता है । इसमें हलनचलन और देह सम्बन्धी आवश्यक क्रिया भी की जाती है ।

३ इंगित मरण यह पादपोपगमन और भक्त प्रत्याख्यान के बीच का है । इसमें पहले से निश्चित स्थान में हलन चलन का आगार रखकर शेष का त्याग कर दिया जाता है । फिर अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते किन्तु एक ही स्थान पर रहकर जीवन पर्यन्त उसी में हलन चलनादि करते हैं । इसमें किसी से सेवा भी नहीं करवाई जाती । (सम० १७)

किन्तु जीवन पर्यन्त आहारादि का त्याग होता है । ये अनशन निर्हारिम और अनिर्हारिम—यों दो प्रकार के होते हैं ।

निर्हारिम—यह अनशन ग्रामादि बस्ती के किसी उपाश्रय में होता है जहां से अनशन पूर्ण होने पर अनशन कर्त्ता का शव ग्राम के बाहर निकाला जाता है ।*

* इसके अर्थ में मत भेद है स्थानांग २-४-१ व तथा भगवती २-१ की टीका में ऐसा ही अर्थ किया गया

अनिर्हारिम–यह अनशन जगल, पर्वत अथवा गुफा आदि मे किया जाता है।

यावज्जीवन का अनशन, 'काक्षारहित' होता है। इसमें पारणा करने की इच्छा नही रहती।

ऊनोदरी

इसके दो भेद है, १–द्रव्य ऊनोदरी और २–भाव ऊनोदरी।

द्रव्य–ऊनोदरी–के भी दो भेद है, १–उपकरण द्रव्य ऊनोदरी और २–भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी।

उपकरण द्रव्य ऊनोदरी–इसके तीन प्रकार है, १–एक वस्त्र, २–एक पात्र और ३ प्रीतिकारी ‡

है। श्री स्थानाग की टीका में लिखा कि–

"णीहारिमं' त्ति यद्वसतेरेकदेशे विधीयते तत्त शरीरस्य निर्हरणात्निस्सारणान्निर्हारिम, यत्पुर्नागिरि कन्दरादौ तदनिर्हरणादनिर्हारिम।"

भगवती की टीका में लिखा कि–

"निहारिमे य' त्ति निर्हरेण निर्वृत्त यत् तद् निर्हारिमम्प्रतिश्रये यो म्रियते तस्य एतत् तत्कडेवरस्य निर्हरणात् अनिर्हारिम तु योऽटव्या म्रियते इति"।

अर्थात् जो निर्हार से बने वह निर्हारिम। जो साधु उपाश्रय में काल करे, उसके शरीर को उपाश्रय से बाहर निकाल कर सस्कार किया जाय, तो उस साधु के मरण को निर्हारिम कहा जाता है। और जो साधु अपना शरीर अटवी में त्याग देते हैं, वहां से उनके शरीर को बाहर निकालने की आवश्यकता नहीं पडती, इसलिए उनके मरण को अनि–र्हारिम कहा जाता है।

अर्धमागधी कोष में तथा हैदराबाद वाले उत्तराध्ययन में भी ऐसा ही अर्थ है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र अ ३० की श्री नेमिचन्द्राचार्य (समय स ११२९) रचित सुखबोधानाम की लघुवृत्तिपत्र ३३९ में निम्न अर्थ किया है।

"निर्हरणम् निर्हार –गिरिकन्दरादिगमतेन ग्रामादेर्बहिर्गमन तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारि तदन्यदनिर्हारि यदुत्थातुकामे व्रजिकादौ विधीयते यदुक्तम्—'पाउवगमण दुविहं नीहारिं चेव तह अनीहारिं। बहियागामाईण गिरिकदरमाई नीहारिं॥१॥ वइयाइसु जं अतो उटठेउमणाण ठाइ अणिहारिं।" ऐसा ही अर्थ लुधियाने से प्रकाशित उत्तराध्ययन भाग ३ में है।

पहला अर्थ शव की अपेक्षा से है और दूसरा अनशन कर्त्ता के स्वय निकल जाने की अपेक्षा से।

‡ "चियत्तोवकरण सातिज्जणया"–इसका अर्थ टीकाकार ने "चियत्त–प्रीतिकरं त्यक्तं वा दोषैर्यदुपकरणं–वस्त्रपात्रव्यतिरिक्त वस्त्रपात्रमेव वा तस्य या श्रयणीयता स्वदनीयता वा सा तथा," किया है। हैदराबाद वाली प्रति में "प्रतीतकारी उपकरण रक्खे" किया है और भगवती श० २५ उ० ७ भाग ४ में प० भगवानदास ने "सयतों के त्यागे हुए उपकरणों के सिवाय—दूसरे उपकरण लेना" इस भाव में किया है। "जीर्ण वस्त्र पात्रादि लेना"—ऐसा अर्थ भी किया जाता है।

विश्वासकारी और दाप रहित उपकरण रखना ।

भक्तपान–द्रव्य–ऊनोदरी अनेक प्रकार की होती है । जैसे अष्टकवल प्रमाण ही आहार करना–अल्पाहार ऊनोदरी है । बारह कवल प्रमाण आहार अपड्ढ ऊनोदरी है । सोलह कवल प्रमाण आहार अर्ध ऊनोदरी (आधी भूख मिटाकर फिर आगे नहीं खाने रूप तप) चौबीस कवल प्रमाण आहार करना प्राप्त (पाव) ऊनोदरी है । इकत्तीस कवल प्रमाण आहार करना किंचित् ऊनोदरी है । (यहां तक स्वल्प मात्रा में भी तप है) और ३२ कवल प्रमाण आहार करना तो प्रमाणापेक्ष—पूर्ण आहार है। पूर्ण आहार तप नहीं माना जाता । एक कवल आहार भी कम करे वहां तक थोड़ा भी तप अवश्य है। जैन श्रमण तो नित्य तप करने वाले होते हैं । अधिक खाने वाले से ज्ञानादि आचार का पालन बराबर नहीं होता । — — — — —

कुछ मनुष्य एसे भी होते हैं कि जिनका पूर्ण आहार ३२ कवल प्रमाण से कम नहीं होता है। उन्हें भी तप के लिए पेट को कुछ खाली रखने से ही ऊनोदरी होती है । जिनका पेट २४ कवल से भर जाता हो वह यदि ३१ कवल आहार करे तो वह ऊनोदरी नहीं होगी । सूत्र का विधान साधारणतया है। अपनी साधारण खुराक में से एक भी ग्रास कम खाने वाला प्रकाम–रस भोगी नहीं किन्तु ऊनोदरी तप करने वाला कहा जाता है ।

ऊनोदरी के अन्तर्गत अभिग्रह का वर्णन उत्तराध्ययन के ३ वे अध्ययन में इस प्रकार बताया है। स्त्री अथवा पुरुष अलङ्कार सहित या रहित अमुक वय वाला अमुक वर्णवाला अथवा अमुक भाव वाला दाता हो उससे ही भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करके निकलना भाव ऊनोदरी है । इसमें भी प्रतिज्ञानुसार भिक्षा नहीं मिलने पर कषाय को उत्तेजित नहीं होने देकर शान्ति से सहन करना तो है ही ।

ऊनोदरी के–क्षेत्र काल और पर्याय ये तीन भेद इस प्रकार है ।

क्षेत्र ऊनोदरी–ग्राम नगर राजधानी आदि में अमुक प्रकार के घरों में अमुक गलियों में और इतने घरों में ही गोचरी के लिए जाने का निश्चय करना । यह गोचरी निम्न छ. प्रकार के अभिग्रह में से किसी भी प्रकार का अभिग्रह करके की जाती है ।

१ पेटिका–भिक्षा स्थान (ग्राम अथवा मुहल्ले) की पेटी के समान चार कोनों में कल्पना करे, और बीच के स्थानों को छोड़कर चारों कोनों के घरों में भिक्षार्थ जावे ।

२ अर्धपेटिका–उपरोक्त चार कोनों में से केवल दो कोनों (दिशाओं) में ही गोचरी करे ।

३ गोमूत्रिका– * जिस प्रकार चलता हुआ बैल पेशाब करता है वह वक्राकार (टेढ़ा मेढ़ा) पड़ता

---

* पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र पृष्ठ २९६ में गोमूत्र को "वलयाकार" (गोलाकार) बताया किन्तु अन्य साहित्य टीका तथा कोष में और प्रत्यक्ष से यह अर्थ संगत नहीं होता "वक्राकार" ही ठीक लगता है।

है, उसी प्रकार घरो की आमने सामने की दोनो पक्तियो मे से प्रथम एक पक्ति (लाइन) के एक घर से आहार लेवे, उसके वाद सामने की दूसरी पक्ति में के घर से आहार लेवे, इसके वाद फिर प्रथम पक्ति का एक घर छोडकर आहार लेवे। इस प्रकार की वृत्ति को गोमूत्रिका कहते है।

४ पतग विथिका–पतग के उडने की रीति के अनुसार एक घर से आहार लेकर फिर कुछ घर छोडकर आहार लेवे।

५ शम्वूका वर्त्ता–शख के चक्र की तरह गोलाकार घूम कर गोचरी लेना। यह गोचरी दो प्रकार से होती है। १ आभ्यान्तर शम्वूकावर्त वाहर से गोलाकार गोचरी करते हुए भीतर की ओर आवे। २ वाह्य शम्वूकावर्त–भीतर से गोलाकार गोचरी करते हुए वाहर निकले।

६ गत प्रत्यागता–एक पक्ति के अन्तिम घर में भिक्षा के लिए जाकर वहा से वापिस लौटकर भिक्षा ग्रहण करे।

उपरोक्त छ प्रकार के अभिग्रहो मे से किसी एक प्रकार का अभिग्रह ग्रहण करके गोचरी के लिए निकलना 'क्षेत्र ऊनोदरी तप' है। इसमें गोचर क्षेत्र की सीमा में कमी की जाती है।

काल ऊनोदरी–दिन के चार पहर में से अमुक प्रहर में भिक्षा लेना अथवा तीसरे पहर के अन्तिम (चौथे) भाग में भिक्षा लेना और शेष काल में नही लेना–काल ऊनोदरी है। काल ऊनोदरी द्वारा भिक्षा काल में कमी की जाती है।

भाव ऊनोदरी अनेक प्रकार की है, जैसे–अल्प क्रोध, अल्प मान, अल्प माया, अल्प लोभ, अल्प-कलह और अल्प झन्झ। अपनी कषायो को घटाना–कम करना, अपनी आत्मा को कषायो से खाली रखना 'भाव ऊनोदरी' है।

पर्याय ऊनोदरी–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारो प्रकार की ऊनोदरी करने वाले साधु को 'पर्याय ऊनोदरी' तप होता है।

ऊनोदरी का अर्थ है, अपने आहारादि सामग्री में कमी करना,–आवश्यकता को कम करना। उसकी प्राप्ति के क्षेत्र और काल में भी कमी करना।

यद्यपि यह वाह्य तप का भेद है, तथापि इन सव मे आभ्यन्तर तप भी गर्भित है। भाव ऊनो-दरी इसका स्पष्ट प्रमाण है।

भिक्षाचरी

जीवन पर्यन्त तप के अतिरिक्त जो साकाक्ष तप होता है, उसकी पूर्ति होती है और पूर्ति पर भोजन किया जाता है। भोजन, भिक्षाचरी द्वारा ही प्राप्त होता है, किन्तु महात्माओ की भिक्षाचरी

भी तप युक्त होती है। वे खाने के लिए भोजन प्राप्त करते हुए भी कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं। ऐसा नहीं कि घट गये और स भाय। उनके आहार प्राप्ति के नियम भी ऐसे कठोर होते हैं कि जिससे आहार की प्राप्ति सरलता पूर्वक नहीं होकर कष्ट साध्य होती है और आहार भी वैसा होता है कि जिससे 'रस परित्यागादि तप भी हो जाता है।

भिक्षाचारी के अनेक भेद हैं। जैसे कि—

१ द्रव्य से—भिक्षाचरी के लिए तत्पर होने के पूर्व यह निश्चित् कर ले कि मैं अमुक वस्तु अथवा इतने द्रव्य ही लूंगा।

२ क्षेत्र से—अमुक क्षेत्र की सीमा में से ही मिलेगा तो लूंगा।

३ काल से—अमुक समय में ही मिलेगा तो लूंगा।

४ भाव से—अनेक प्रकार के अभिग्रह होते हैं। जैसे कि—

हँसता हुआ बातें करता हुआ प्रौढ़ पुरुष युवा अथवा वृद्ध नगे सिर या पगड़ी आदि पहने हुए इत्यादि किसी प्रकार के भाव युक्त दाता से लेने का अभिग्रह करके निकले।

५ उत्क्षिप्त चरक—गृहस्थ ने अपने या कुटुम्ब के लिए भोजन के पात्र में से भोजन निकाला हो और ऐसे आहार में से देवे तो ही लेना, अन्यथा नहीं लेना।

६ निक्षिप्तचरक—भोजन पकाये हुए पात्र में से निकाल कर दूसरे पात्र में डाल दिया हो उसमें से देवे तो लेना

७ उत्क्षिप्तनिक्षिप्त चरक—भोजन के पात्र में से कुछ भोजन बाहर निकाले हुए और कुछ नहीं निकाले हुए देवे तो लेना। अर्थात् निकालते हुए देवे तो लेना।

८ निक्षिप्त उत्क्षिप्त चरक—* निकाले हुए भोजन का पुनः पात्र में डालकर फिर निकाले और उसमें से देवे तो लेना।

९ वर्त्तमान चरक—खाने के लिए थाली में परोस आते हुए आहार में से देवे तो लेना।

१० साहरिज्जमाण चरक—ठण्डा करने के लिए थाली आदि में लेकर फिर बर्तन में डाल दिया हो वैसे आहार की गवेषणा करना।

११ उपनीत चरक—किसी अन्य को देने के लिए लाये हुए आहार की गवेषणा करना।

१२ अपनीत चरक—बचे हुए आहार को पात्र में से निकाल कर अन्यत्र रखा हो उसे लेना।

१३ उपनीतापनीत चरक—उपरोक्त दोनों प्रकार के आहार की गवेषणा करना अथवा वस्तु के गुण और दोष सुनकर लेना।

---

* जैसे कि भात आदि अधिक निकाल लिया हो तो ठण्डे कर हलका नहीं हो जाय—इस आशय से पुनः पात्र में डालकर फिर निकाला हो।

१४ अपनीतोपनीत चरक-वस्तु के मुख्य अवगुण और सामान्य रूप से गुण सुनकर फिर लेना ।

१५ ससृष्ट चरक-आहार से लिप्त हाथ अथवा पात्र से देवे वैसे आहार की गवेषणा करना ।

१६ असमृष्ट चरक-अलिप्त हाथ से देवे, वैसे आहार को लेना ।

१७ तज्जात ससृष्ट चरक-उसी पदार्थ अथवा उसके समान पदार्थ से लिप्त हाथों से दिया जावे ऐसे आहार को लेना ।

१८ अज्ञात चरक-अपरिचित घरो से आहार लेना ।

१९ मौन चरक-विना बोले हुए, मौन पूर्वक आहार प्राप्त करना ।

२० दृष्ट लाभिक-आहार की जिस वस्तु पर प्रथम दृष्टि पडे वह अथवा जिस दाता पर प्रथम दृष्टि पडे, उसी से प्राप्त हो तो लेना ।

२१ अदृष्ट लाभिक-दिखाई नही देने वाले स्थान मे रहे हुए आहार की गवेषणा करना ।

२२ पृष्टलाभिक-दाता पूछे कि 'आपको किस वस्तु की आवश्यकता है", इस प्रकार पूछने वाले से लेना ।

२३ अपृष्टलाभिक-किसी प्रकार का प्रश्न नहीं पूछने वाले दाता से लेना ।

२४ भिक्षा लाभिक-रूखे, सूखे, तुच्छ आहार की गवेषणा करना ।

२५ अभिक्षा लाभिक-सामान्य आहार लेना ।

२६ अण्णग्लायक-प्रात काल ही गवेषणा करने का निश्चय करना ।

२७ औपनिहितक-निकट रहने वाले दाता से गवेषणा करना ।

२८ परिमितपिण्डपातिक-परिमित आहार की गवेषणा करना ।

२९ शुद्धैषणिक-निर्दोष एव तुच्छ आहार की गवेषणा करना ।

३० सख्यादत्तिक-दत्ति की सख्या निश्चित्त करके गवेषणा करना ।

इस प्रकार कठिन अभिग्रहो के साथ भिक्षाचरी करना भी एक तप ही है । क्योंकि इससे आहार प्राप्ति में कठिनाई होती है । भूख, प्यास तथा परिश्रम की परवाह नही करके इस प्रकार की भिक्षाचरी करने वाले निर्ग्रन्थ अनगार, सचमुच उच्च कोटि के सन्त है ।

रस परित्याग

बाह्य तप का चौथा भेद रसना इन्द्रिय का निग्रह करना है । खाते पीते हुए भी रस-लोलुपता का त्याग करना तप है । स्वादजयी अनगार, रस युक्त आहार का त्याग कर देते है । इस रस-परित्याग तप के अनेक भेद है; किन्तु मुख्यत भेद ये है,-

१ विगयत्याग—घृत गुड़ तेल दूध शक्कर आदि वस्तुओं का त्याग करना।

२ प्रणीत रस त्याग—घृत, चासनी आदि रस में तराबोर—जिसमें से घृतादि झरता हो—ऐसे आहार का त्याग करना।

३ आयम्बिल—रूखी रोटी भात अथवा भूने चने आदि ही लेना।

४ आयाम सिक्थ भोजी—ओसामन आदि के साथ गिरे हुए चावल आदि ही लेना।

५ अरसाहार—मिर्च मसालों से रहित आहार लेना।

६ विरसाहार—पुराना होने के कारण जिसका स्वाभाविक स्वाद भी चला गया हो ऐसे धान्य का आहार लेना।

७ अन्ताहार—हल्का—जिसे गरीब लोग खाते हैं ऐसा आहार लेना।

८ प्रान्ताहार खाने के बाद बचा हुआ आहार लेना।

९ रूक्षाहार—रूखा सूखा आहार लेना। किसी प्रति में तुच्छाहार पाठ भी है, जिसका अर्थ तुच्छ—सत्त्व रहित-नि:सार (छिलके आदि का) आहार लेना।

इस प्रकार का आहार लेकर केवल पेट पूर्ति करना भी तप है। खाते हुए भी जिन मुनिवरों की दृष्टि तप संयम की ओर ही रहती है वे रसों का त्याग कर देते हैं। वे सोचते हैं कि पेट तो रस रहित आहार से भी भर सकता है फिर मीठे मधुरे चरपरे और घृतादि की क्या जरूरत? खाते पीते भी तप धर्म की आराधना क्यों न कर ली जाय? आत्मार्थी अनगार रस रहित आहार लेते हैं और समरस में लीन रहते हुए आत्मा को उन्नत बनाते हैं।

कायक्लेश

जिससे सुखशीलियापन (आरामतलबी) मिटे और शरीर को परिश्रम से बसा जा सके वह कायक्लेश तप है। आराम हराम' का आत्मोत्थानकारी बोध का गुञ्जारव निर्ग्रंथ परम्परा में सदा से है। इस प्रकार के श्रम युक्त तप से अपने श्रमण पद को सार्थक करना—यही श्रमण परम्परा का नियम रहा है। इसके भी अनेक भेद है। मुख्य भेद इस प्रकार हैं।—

१ स्थानस्थितिक—निश्चल रहकर कायोत्सर्ग करना।

२ स्थानातिग—किसी विशेष आसन से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

३ उत्कुटुकासन—पुट्ठे को नहीं टिकाते हुए पैरों पर ही आधार रखकर झुके हुए बैठना।

४ प्रतिमास्थायी—भिक्षु की प्रतिमाओं में से कोई प्रतिमा धारण करके विचरना।

५ वीरासनिक—सिंहासन की तरह केवल पैरों पर शरीर को टिका कर बैठना।

६ नैषेधिकी-निषद्य-किसी प्रकार के एक आसन से भूमि पर बैठना ।

७ दण्डायतिक-पडे हुए दण्ड की तरह लम्बे लेटकर तप करना ।

८ लगण्डशायि-एडियाँ और सिर को भूमि पर टिका कर शेष शरीर कूबड़ की तरह अधर रखते हुए लेटना ।

९ आतापक-शीतकाल मे रात के समय खुले स्थान में बैठकर तथा उष्णकाल में कडकडाती धूप में बैठकर आतापना लेना ।

१० अप्रावृत्तक-खुले शरीर से आतापना लेना, शीत सहन करना ।

११ अकण्डूयक-खाज चलने पर भी शरीर को नही खुजलाते हुए आतापना लेना ।

१२ अनिष्ठीवक-मुह में आये हुए पानी को नही थूकते हुए आतापना लेना।

१३ सर्व गात्र परिकर्म विभूषारहित-शरीर के अगोपाग, दाढी, मूछ आदि के बाल आदि को सम्हारे नही-शोभनिक नही बनावे ।

कायक्लेश तप वही कर सकता है-जिसकी देह दृष्टि नही होकर आत्मा को ही प्रभावित करने की वृत्ति हो ।

प्रतिसंलीनता

अशुभ मनायोग का निग्रह करना-रोकना 'प्रतिसलीनता' है। यह चार प्रकार से होती है। यथा-

१ इन्द्रिय प्रतिसलीनता-श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन, इन पाचो इन्द्रियो को, अपने अपने विषयो में जाती हुई को रोकना । यदि रोकते हुए भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल शब्दादि आ जाय, तो उनमें राग द्वेष नहीं करना-यह 'इन्द्रिय प्रतिसलीनता' है ।

२ कषाय प्रतिसलीनता-क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारो कषायो के उदय के कारणो को रोकना अर्थात् कषाय की परिणति नही होने देना । यदि रोकते हुए भी क्रोधादि का उदय हो जाय, तो उसे क्षमादि के सहारे से निष्फल करना-कषाय प्रतिसलीनता है ।

३ याग प्रतिसलीनता-मन, वचन और काया के भेद से तीन प्रकार की होती है ।

मनोयोग प्रतिसलीनता-बुरे विषयो में जाते हुए मन को रोकना और शुभमनोयोग की प्रवृत्ति करना । (१)

वचन योग प्रतिमलीनता-वचन की अकुशल प्रवृत्ति को रोकना और शुभ प्रवृत्ति में लगाना। (२)

काययोग प्रतिसलीनता-हाथ, पाँव आदि अगो को भलि प्रकार-कछुए की तरह सकोच कर गुप्तेन्द्रिय होना और समाधिपूर्वक स्थिर रहना । (३)

४ विविक्त शय्यासनता—स्त्री पशु और नपुंसक से रहित एसे उद्यान, आराम देवालय और सभा आदि निर्दोष स्थान में प्रासुक और एषणीय शय्या संथारा लेकर रहना यह विविक्त–शय्यासन नामक चौथी प्रतिसंलीनता है। तात्पर्य यह कि उन सभी स्थानों को वर्जना चाहिये जहां विकार की उत्पत्ति होती हो। विविक्त–शय्यासन का उद्देश्य ही विकारोत्पादक निमित्तों से दूर रहना है।

यह छः प्रकार का बाह्य तप हुआ। इसका आचरण भी मोक्ष मार्ग के पथिकों के लिए आवश्यक है। बाह्यतप कहकर इसकी उपेक्षा करना अनुचित है क्योंकि कोई भी बाह्यतप आभ्यन्तर तप से सर्वथा शून्य तो नहीं है। प्रत्येक तप में मनोयोग की अनुकूलता तो है ही। और मनोयोग सम्पन्न तप को केवल बाह्यतप कैसे कहा जाय? बाह्यतप तो इसलिए कहा गया कि इसका प्रभाव शरीर पर अधिक पड़ता है और इसमें आहारादि बाह्य वस्तुओं का त्याग होता है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि इसमें शुभ भावों का योग नहीं है। यदि अशुभ भाव युक्त बाह्यतप हो तो वह सकाम–निर्जरा का कारण नहीं बनता। साधारण व्यक्तियों के लिए बिना बाह्यतप के आभ्यन्तर तप होना कठिन हो जाता है क्योंकि स्वाद विजय प्रतिसंलीनतादि के सद्भाव में, अशुभ मनोयोगादि का निग्रह होकर विनय वैयावृत्य स्वाध्याय ध्यानादि की प्रवृत्ति सुगम हो जाती है। बाह्यतप के अभाव में आभ्यन्तर तप प्रवृत्ति क्षणिक भले हो जाय चिरकाल तक नहीं चलती। इसलिए बाह्यतप आभ्यन्तर तप का उपकारी है। इसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का है। यथा—१ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय ५ ध्यान और ६ व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त

चारित्र में लगे हुए दोषों को दूर करने के लिए जो शुद्धि की जाती है उसका नाम प्रायश्चित्त है। आत्मार्थी मुनि सावधानी पूर्वक चारित्र का पालन करते हैं। वे दोष लगाना नहीं चाहते। फिर भी प्रमाद के चलते अथवा परिस्थितिवश विवश होकर जो दोष सेवन होता है उसकी शुद्धि करने के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है। वह प्रायश्चित्त दस प्रकार का होता है। यथा—

१ आलोचनार्ह—दोष को प्रकट करना। गुरु अथवा रत्नाधिक के समक्ष अपने कार्य की क्रिया को प्रकट करना। भिक्षा व स्थंडिल आदि के लिए गमनागमन करने शय्या संस्तारक वस्त्र पात्रादि

ग्रहण आदि क्रियाओं मे उपयोग रखते हुए भी सूक्ष्म प्रमाद बना हो, उसकी शुद्धि के लिए, आलोचना करके शुद्ध करना। आलोचना, कम से कम प्रायश्चित्त है। जिसे छठे गुणस्थान वर्ती सभी साधु करते है।

२ प्रतिक्रमणार्ह–प्रतिनिवर्तन, दोषो का त्याग कर पुन शुद्धाचार की स्थिति में आना, मिथ्या-दुष्कृत देकर पुन दोष सेवन नही करने की सावधानी रखना।

पाँच समिति, तीन गुप्ति में सहसात्कार–अचानक अथवा अनजानपने से दोष लग जाय, मनोज्ञ शब्दादि विषय इन्द्रिय गोचर हो जाय, और उनमे किञ्चित् रागद्वेष हो जाय, तो वह प्रतिक्रमण-मिथ्या-दुष्कृत से शुद्ध होता है।

३ तदुभयार्ह–जिसकी शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण से हो, वह तदुभयार्ह प्रायश्चित्त है।

निद्रावस्था में साधारण दुःस्वप्न से महाव्रतो में दोष लगने की शङ्का होने पर उसकी शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण से होती हैं।

४ विवेकार्ह–त्यागना। अनजान में अकल्पित–आधाकर्मादि दोष युक्त आहार, वस्त्र, पात्रादि आ जाय, किन्तु पीछे से उसकी सदोषता मालूम हो जाय, तो उस सदोष वस्तु का त्याग कर देना–विवेकार्ह प्रायश्चित्त है।

५ व्युत्सर्गार्ह–कायोत्सर्ग मे जिस दोष की शुद्धि हो–वह व्युत्सर्गार्ह है। उच्चारादि परठने तथा गमनागमन के साधारण दोषो का काउसग्ग करना। नदी उतरने आदि विवशतावश लगे दोषो की शुद्धि कायोत्सर्ग से होती है।

६ तपार्ह–जिस दोष की शुद्धि तपाचरण से हो। सचित्त पृथ्वी आदि का स्पर्श हो जाने से, प्रतिलेखना प्रमार्जना नही करने, आवश्यकी नैषेधिकी नही करने और गुरु को प्रणाम नहीं करने आदि से प्रायश्चित्त आता है।

७ छेदार्ह–दीक्षा पर्याय का कम करना, जिससे कि बाद के दीक्षित को भी नमस्कार करना पडे। सचित्त पृथिव्यादि की विराधना करने और प्रतिक्रमण नही करने आदि से।

८ मूलार्ह–जिससे चारित्र ही नष्ट हो जाय और नई दीक्षा लेनी पडे। किसी भी महाव्रत का भग होना। जान बूझकर हिंसा, झूठ, अदत्त ग्रहण, मैथुन और परिग्रह का सेवन, रात्रि भोजन करना आदि। इसमे नई दीक्षा आती है।

९ अनवस्थाप्यार्ह–ऐसा दुष्कर्म करे कि जिससे साधुता नष्ट हो जाय, फिर उसे साधु वेश में कुछ तपस्या कराकर और गृहस्थभूत बनाकर बाद में दीक्षा दी जा सके।

१० पाराचिकार्ह–गच्छ से बाहर करने के बाद घोर तप करने पर, गृहस्थभूत करके दीक्षा दी जा सके। ऐसा कार्य–उत्सूत्र प्ररूपणा, साध्वी के शील का खण्डन आदि महापापो की शुद्धि जिससे हो सके।

वर्तमान में पूर्व के आठ प्रायश्चित्त ही प्रचलन में हैं। संहनन और धृति बल की हीनता से पिछले दो प्रायश्चित्त अभी नहीं दिये जाते।

उपरोक्त प्रायश्चित्त विधान उन्हीं आत्मार्थियों के लिए है जो दोष सेवन हो जाने पर भी संयमप्रिय हैं। उदय भाव की प्रबलता के कारण दोष लगा किन्तु उसके लिए उनके हृदय में पश्चात्ताप है और वे भविष्य में निर्दोष चारित्र पालना चाहते हैं। उनका प्रायश्चित्त ग्रहण भी हृदय से होता है। वे मानते हैं कि यह प्रायश्चित्त दान हमारी शुद्धि के लिए हम पर उपकार करके दिया गया है। वे बिना मन के अथवा दबाव से प्रायश्चित्त नहीं लेते किन्तु प्रायश्चित्त के द्वारा अपना उद्धार मान कर हृदय से ग्रहण करते हैं। जो प्रायश्चित्त हृदय से ग्रहण नहीं हो और जिस दण्ड मानकर भुगता जाय वह निर्जरा का कारण नहीं होता। उसकी गिनती तप में नहीं होती। आत्म शुद्धि के लिए किया हुआ तप ही निर्जरा एवं तप रूप होता है।

साधु साध्वियों को प्रमत्त दशा के कारण साधारण दोष लगने की सम्भावना है। जिसके लिए आलोचना प्रतिक्रमणादि प्रायश्चित्त रोज लेते हैं। गणधर भगवान श्री गौतम स्वामीजी जैसे भी भिक्षाचरी के बाद स्वस्थान आकर प्रभु के समक्ष आलोचना करते थे। आत्मार्थी मुनिराज प्रायश्चित्त लेने में विलम्ब नहीं करते हैं। दोष को अधिक देर तक दबाकर रखना वे अधिक से अधिक नुकसान मानते हैं। क्योंकि उससे मायाचार का सेवन होकर द्विगुणित पाप होता है।

विनय

जिसके द्वारा आत्मा के कर्म रूपी मैल को हटाया जा सके उसे विनय कहते हैं। यह गुण और गुणों के पात्र की भक्ति आदर एवं बहुमान करने से होता है। इस विनय तप के ७ भेद हैं। जैसे—
१ ज्ञान विनय २ दर्शन विनय ३ चारित्र विनय ४ मन विनय ५ वचन विनय ६ काय विनय और ७ लोकोपचार विनय।

१ ज्ञान विनय—१ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मनःपर्ययज्ञान और ५ केवलज्ञान इस प्रकार ज्ञान विनय के पाँच भेद हैं। इन पाँच प्रकार के ज्ञान और ज्ञानी के प्रति श्रद्धा भक्ति रखना बहुमान करना और ज्ञान की निरतिचार आराधना करना—ज्ञान विनय है।

२ दर्शन विनय—यह दो प्रकार का होता है—१ शुश्रूषा और २ अनाशातना।

शुश्रूषा=सेवा करना। यह अनेक प्रकार से होता है जैसे—गुणाधिकों के आने पर खड़े होकर आदर देना उन्हें आसन देना सत्कार करना बहुमान देना विधि युक्त वंदना करना उनके सामने

हाथ जोड कर रहना, आते हुए जानकर समुख जाना, बैठने पर सेवा करना, और जाते समय कुछ दूर तक पहुँचाने जाना, इत्यादि प्रकार से शुश्रूषा विनय होता है।

अनाशातना विनय—यह पेतालीस प्रकार का है। १ अरिहत, २ अरिहत प्रणीत धर्म, ३ आचार्य, ४ उपाध्याय, ५ स्थविर, ६ कुल, ७ गण, ८ सघ, ९ क्रियावत, १० साभोगिक ११ मतिज्ञानी १२ श्रुतज्ञानी १३ अवधिज्ञानी, १४ मन पर्यवज्ञानी और १५ केवलज्ञानी, इन पन्द्रह की आशातना नही करना=विपरीताचरण नही करना, ३० इन पन्द्रह की भक्ति करना बहुमान करना, (हाथ जोडना आदि भक्ति और हृदय में श्रद्धा एव आदरभाव रखना बहुमान है) और ४५ इनके गुणो का कीर्तन करना। यह अनाशातना विनय है।

३ चारित्र विनय—यह पांच प्रकार का है—१ सामायिक चारित्र का विनय २ छेदोपस्थापनीय-चारित्र विनय, ३ परिहारविशुद्ध, ४ सूक्ष्मसपराय और ५ यथाख्यात चारित्र, इन पांच प्रकार के चारित्र में श्रद्धा रखना, यथाशक्ति पालन करना, उच्चचारित्र पालन करने की भावना रखना, भव्य प्राणियो के सामने चारित्र धर्म की प्ररूपणा करना तथा चारित्रवतो का विनय करना।

४ मनविनय—यह दो प्रकार है—१ अप्रशस्त मनविनय और २ प्रशस्त मन विनय।

अप्रशस्त मन विनय—अप्रशस्त=खराब मन यह बारह प्रकार का होता है, जैसे—१ सावद्य=पापकारी विचार, २ सक्रिय=जिससे कायिकी आदि क्रिया लगती हो, ३ कर्कश=मानसिक कठोरता दयाविहीन मानस, ४ कटुता = अशुभ (कृष्णादि लेश्या युक्त) मानस, ५ निष्ठुर = मृदुता रहित, ६ परुष = स्नेह रहित-क्रूर मानस, ७ हिंसादि आस्रव युक्त, ८ छेदकर = अगादि काटने रूप विचार, ९ भेदकर = नासिकादि भेद करने अथवा फूट डालने के विचार १० परितापनाकारी = प्रणियो को परितापना उत्पन्न करने रूप विचार ११ उपद्रवकारी = किसी पर महान् आपत्ति आजाय—प्राणसकट में पडजाय, बरबाद हो जाय—ऐसे विचार और १२ भूतोपघातक = प्राणियो की घात होजाय, इस प्रकार के विचार करना, अप्रशस्त मन होता है। इस प्रकार के अप्रशस्त भाव, मन में नही आने देना ही अप्रशस्त मन विनय है +।

+ स्थानाग ७ और भगवती २५—७ में अप्रशस्त मन विनय के ७ भेद ही किये हैं। यथा—१ पाप युक्त मन, २ सावद्य, ३ सक्रिय, ४ क्लेशित, ५ अणण्हवकर, ६ छविकर और ७ भूताभिसकणे। इन दोनों पाठों में—"तहप्पगार मणो णो पहारेज्जा"—अर्थात् इस प्रकार के अप्रशस्त विचार मन में नहीं आने दे—यह पाठ नहीं है, जो उववाई सूत्र के मूल में है, तथापि अर्थ तो सर्वत्र यही है कि अप्रशस्त मन का त्याग करना अथवा अप्रशस्त भाव मन में नहीं आने देना ही अप्रशस्त मन विनय है। पापयुक्त, अशुभ मन, विनय रूप तप का कारण नहीं हो सकता। व्यवहार भाष्य गाथा ७७ में कहा है कि—"माणसिओपुणविणओ, दुविहोउ समासओ मुणीयव्वो। अकुसलमणो रोहो, कुसल-मणउदीरण चेव।" अतएव अप्रशस्त मन का निरोध ही मन विनय रूप होता है। कोई कोई अप्रशस्त मनादि प्रयोग को भी विनय रूप मानते है—यह उचित नहीं लगता।

प्रशस्त मन विनय–उपरोक्त बारह प्रकार के अप्रशस्त मन से उल्टे विचार, बारह प्रकार का प्रशस्त मन विनय है। जैसे–१ निरवद्य विचार २ कायिकादि क्रिया से रहित मन ३ अकर्कश मन ४ मधुर) ५ कोमल ६ अक्रूर ७ अनास्रव = संवरयुक्त ८ अछेदकर ९ अभेदकर १० परितापना रहित ११ उपद्रव रहित और १२ भूतोपघात विरत मानस। प्रशस्त मन ही विनय धर्म का साधक है। अतएव ऐसे मन को धारण करना।

५ जिस प्रकार मन विनय के अप्रशस्त और प्रशस्त ऐसे मुख्य दो भेद और प्रत्येक के बारह प्रभेद हैं उसी प्रकार वचन विनय के भी दो भेद और प्रत्येक भेद के बारह प्रभेद हैं।

६ काय विनय–इसके भी मुख्य भेद दो अप्रशस्त–काय–विनय और प्रशस्त–काय–विनय ऐसे दो भेद ही हैं।

अप्रशस्त काय विनय–सात प्रकार का है। यथा–१ असावधानी से चलना २ अनुपयोग पूर्वक ठहरना ३ उपयोग रहित होकर बैठना ४ बैठे हो सोना ५ उलंघन करना ६ प्रलंघन = बारम्बार इधर उधर उलंघन करना और ७ उपयोग शून्य होकर देह और इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना। यह सात प्रकार का अप्रशस्त काय प्रयोग होता है। अप्रशस्त काय प्रयोग का निरोध अथवा त्याग करना ही अप्रशस्त काय विनय रूप आभ्यन्तर तप होता है।

प्रशस्त काय विनय–अप्रशस्त काय विनय से उल्टा 'प्रशस्त काय विनय' है। जैसे आवश्यकता होने पर सावधानी से उपयोग पूर्वक यतना से चलना आदि।

७ लोकोपचार विनय'–गृहस्थ का गृहस्थों के साथ और साधु का साधुओं के साथ होता है। कलाचार्य आदि से कलाग्रहण करने का सम्बन्ध रहता है। इसलिए उनका 'परछन्दानुवर्तिक' आदि विनय करने पड़ते हैं। किन्तु मुनियों का गृहस्थों का विनय नहीं करना है। क्योंकि यह प्रायश्चित्त स्थान है। लोकोपचार विनय भी सात प्रकार का है।

१ अभ्यास वर्तित–गुरु आदि बड़ों के समीप रहकर ज्ञानाभ्यास करना २ परछन्दानुवर्ती–गुरु आदि बड़ों की इच्छानुसार चलना ३ कार्य हेतु–ज्ञानादि कार्य के लिए विनय करना ४ कृतप्रतिकृत्य अपने पर किए हुए उपकारों के बदले आहारादि द्वारा गुरुजनों की सेवा करना और इस इच्छा से कि ये प्रसन्न होंगे तो मुझे विनय ज्ञान दान देंगे आदि ५ आर्त गवेषणा–वृद्ध और रोगी साधु के लिए औषधि एवं पथ्य लाकर देना ६ देशकालज्ञता–देश और समय को देखकर चलना और ७ सर्वत्र अप्रति– लोमता–सभी कार्यों में अप्रतिकूल–अविरोधी रहना।

यह सातवाँ भेद–वर्तमान में कहीं कहीं मत भेद का कारण बन गया है। कोई कोई विद्वान लोकोपचार विनय का सम्बन्ध लोगों से–जनता से जोड़ते हैं *। यह अनुचित है। असंयत अविरत ऐसे

* एक प्रसिद्ध मुनिपुंगव ने ध्वनिप्रसारक यन्त्र के पक्ष में सैद्धांतिक दृष्टि उपस्थित करते हुए 'लोकोपचार विनय'

लोगसमूह से इसका सम्बन्ध नहीं है। यह कैसे हो सकता है कि लोकसमूह का ससर्ग और सम्बन्ध त्यागनेवाला निर्ग्रन्थ, जनता का अनुसरण करे, उसकी इच्छानुसार चले (परछन्दाणुवत्तिय)? वास्तव में इसका सम्बन्ध रत्नाधिक, वृद्ध अथवा रोगी आदि श्रमणो मे ही है-असयत जनता से नहीं। व्यवहार भाष्य गाथा ८५ मे भी लिखा है कि-

"लोगोवयारविणओ, इय एसो वण्णितो सपक्खंमि।

टीका-"इति एवमुक्तेन प्रकारेण एप लोकोपचार विनय स्वपक्षे सुविहित लक्षणे वर्णित"।

इस प्रकार लोकोपचारविनय का सम्बन्ध ससारी लोगो से नही, किन्तु गुर्वादि श्रेष्ठ श्रमणो से ही है। पूर्व के छ भेद, मुख्यत साधक आत्मा के खुद से सम्बन्ध रखते है। उनमें दूसरे श्रमणो से उतना सम्बन्ध नही है, जितना इस सातवे भेद मे है। इसमें औपचारिक क्रिया की मुख्यता है, इसी से लोकोपचार विनय कहते है।

के आखरी भेद 'सर्वत्र अप्रतिलोमता' = सर्वानुकूलता को उपस्थित किया था। उनका तर्क था कि "जनता की अनुकूलता के अनुसार वर्तन करना 'लोकोपचार' विनय का भेद है, और वह निर्जरा में माना गया है। अतएव ध्वनि-विस्तारक यन्त्र का उपयोग, श्रोता की अनुकूलता के कारण होने से उपादेय है"। हमारी दृष्टि में इस प्रकार का तर्क बौद्ध सस्कृति के अनुकूल ती हो सकता है, किंतु निर्ग्रन्थ सस्कृति के अनुकूल नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्ध सस्कृति ने लोकहित को अपनाया, किंतु जैन सस्कृति तो लोक ससर्ग से दूर रहकर निश्रेयस = मोक्ष के ध्येय वाली है और निर्ग्रन्थों की साधना भी निरवद्य होकर सवर युक्त है। उन्हें लोकानुसरण नहीं करने की आज्ञा दी है। अतएव निर्ग्रन्थ लोकानुकूल नहीं हो सकते और 'सर्वत्र अप्रतिलोमता' का यह अर्थ भी नहीं है। व्यवहार भाष्य गाथा ८४ में इस भेद का अर्थ बताते हुए लिखा है कि--

"समायारिपरूवणनिद्देसे चेव बहु विहे गुरुओ।
एमेयत्ति तहत्तिय सव्वत्थणुलोमयाएमा ॥८४॥

इच्छामिच्छाकारादि रूप समाचारी, सिद्धान्तानुकूल प्ररूपणा, गुरु आदि के निर्देश के अनुसार आज्ञा पालक होना-गुर्वादि के सर्व प्रकार से अनुकूल रहना सर्वानुलोमता है। आगे बताया गया कि व्यवहार के विपरीत आचरण नहीं करना भी सर्वानुलोमता विनय है। जैन साधु का सतत सम्पर्क अपने साधुओं के साथ रहता है। अपने साथी साधुओं और समाचारी तथा जिनाज्ञा के अनुकूल रहना-प्रतिकूल बरताव नहीं करना उसका कर्त्तव्य है। और यही सर्वानुकूलता विनय है। जैन श्रमण की जो भी प्रवृत्ति होती है, वह मोक्ष के अपने ध्येय और सवर निर्जरा के आचरण के अनुकूल ही होती है-प्रतिकूल नहीं। जिस व्यवहार से अपने ध्येय एव सवर निर्जरा धर्म को बाधा पहुँचे, उस व्यवहार से पृथक रहना ही अनगार भगवंतो का कर्त्तव्य है।

वैयावृत्य

गुरु तपस्वी वृद्ध आदि साधु को आहार पानी आदि से सेवा करना और संयम पालने में सहायता देना—वैयावृत्य तप कहलाता है। यह पात्र भेद से दस प्रकार का है—

१ आचार्य की वैयावृत्य २ उपाध्याय की ३ शैक्ष (नवदीक्षित) की ४ रोगी की ५ तपस्वी की ६ स्थविर (वृद्ध) की ७ साधर्मी—समान धर्म वाले की, ८ कुल—एक आचार्य के परिवार की ९ गण (कुल के समुदाय को गण कहते हैं) और १० संघ—(गण के समुदाय को संघ कहते हैं) की वैयावृत्य।●

इस प्रकार उपरोक्त साधुओं की यथोचित सेवा करना वैयावृत्य नाम का तप है। यदि वैयावृत्य की आवश्यकता हो तो उस समय स्वाध्यायादि छोड़ कर वैयावृत्य करना चाहिये। वैयावृत्य में भी परिश्रम होता है। इसलिए इसे तप कहा है। यह हितबुद्धि से—भाव पूर्वक की जाय तभी आभ्यन्तर तप होता है।

यद्यपि वैयावृत्य अन्य साधुओं की कीजाती है इसमें दूसरे साधुओं से बाह्य सम्बन्ध रहता है तथापि इस निमित्त से सेवा करने वाले की आत्मा भी प्रभावित होती है। उसकी आत्म शुद्धि बढ़ती रहती है। संयमी की सेवा संयम शुद्धि में सहायक होती है। इस प्रकार आत्मशुद्धि के कारण इसे आभ्यन्तर तप कहा जाता है। यदि वैयावृत्य में आत्मा पूर्ण रूप से लीन होकर एक रस हो जाय तो उत्कृष्ट योग से तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध भी हो सकता है (उत्तरा० २९ ४३)

स्वाध्याय

भाव पूर्वक अस्वाध्याय के कारणों को टालकर आगमों का स्वाध्याय करना—अध्ययन करना स्वाध्याय नाम का तप है। भक्ति और बहुमान पूर्वक जिनवाणी का पठन मनन करने से आत्मा की अगाध पर्यायों का क्षय होता है अर्थात् ज्ञान शक्ति का दबने—दबाने वाले ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है और ज्ञान में वृद्धि होती है। आगमों के अभ्यास से अपनी आत्मा का स्वरूप उसकी शुद्धि के उपाय तथा परमात्म स्वरूप का ज्ञान होता है। आगमों के आधार से हम अपनी आत्मा का स्वरूप तथा हित जान सकते हैं। इसीसे इस क्रिया को स्वाध्याय = स्व (अपना) अध्ययन कहा है। इसके पांच भेद इस प्रकार हैं—

वाचना—शिष्यों को आगमों की वाचना देना और शिष्य का गुरु से भक्ति पूर्वक वाचना लेना

● भगवती २५—७ में भी दस भेदों का वर्णन है किन्तु क्रम में अन्तर है। वहाँ १ आचार्य २ उपाध्याय ३ स्थविर ४ तपस्वी ५ ग्लान ६ शैक्ष ७ कुल ८ गण ९ संघ और १० सार्धर्मिक, इस प्रकार क्रम भेद से वर्णन है।

यह 'वाचना स्वाध्याय' है। आगमो का विधि पूर्वक वाँचन करना भी वाचना ही है। मन को एकाग्र करके वाचना करने से ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होती है और ज्ञान पर्याय खुलती है, जिससे नूतन ज्ञान की प्राप्ति होती है, और तीर्थधर्म का दृढ़ अवलम्बन होकर महान् निर्जरा होती है। (उत्त० २६)

पृच्छना–वाचना ग्रहण करते समय उत्पन्न हुई शका के लिए पूछना अथवा सीखे हुए ज्ञान पर विचारणा करते हुए जो सशयात्मक विकल्प उठे, उन्हें समाधान के लिए पूछना, यह 'पृच्छना' नाम का स्वाध्याय है। इससे शका दूर होकर, ज्ञान में विशुद्धि होती है। तथा काक्षामोहनीय कर्म की निर्जरा होती है।

कुतर्क से सिद्धान्त को बाधित करने के विचार से पूछे जाने वाले प्रश्न, स्वाध्याय के भेद मे नही आते। क्योंकि उसका उद्देश्य स्वाध्याय नही किन्तु "पराध्याय" है। समझने के लिए पूछना ही स्वाध्याय है।

यदि गुरु के समझाने पर भी क्षयोपशम की मन्दता से समझ मे नही आवे, तो अपनी अयोग्यता समझनी चाहिए। कितनी ही बाते (अभव्य, अव्यवहारराशि, ज्ञानदर्शन का क्रमिक उपयोग आदि) ऐसी है कि जो सब की समझ में नही आ सके, तो उनके लिए जिनवाणी पर श्रद्धा रखते हुए यही मानना ठीक है कि–

"तमेव सच्च णीसक ज जिणेहि पवेइय"--भगवान् के वचन सत्य और सन्देह रहित है। मेरी ही बुद्धि का दोष है, जो मेरी समझ में नही आ रहे है। उदय भाव की विचित्रता से समझ में भी विचित्रता होती ही है। सासारिक सभी विषयो का ज्ञान भी किसी एक व्यक्ति को नही होता। भाषा और तर्क में पारंगत व्यक्ति, रोज के उपयोग की वस्तु, दूध, घृत आदि की विशुद्धता की भी परीक्षा नहीं कर सकता, तो सर्वज्ञ के सिद्धान्तो की सभी बाते, एक व्यक्ति नही समझ सके, इसमें अचरज की कोई बात नही है।

परिवर्तना–सीखे हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करते रहना, जिससे भूल न जाय, उस पर अज्ञान का आवरण नही चढ जाय। ज्ञान की स्थिरता इसीसे होती है और वह आत्मसात् हो जाता है।

अनुप्रेक्षा–वाचनादि द्वारा प्राप्त ज्ञान पर चिन्तन–मनन करते रहना, उस पर बारबार विचार करते रहना 'अनुप्रेक्षा' है। आगमो में ससार की अनित्यता, पुद्गल का मिलन विछुडनादि धर्म, द्रव्य की उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक अवस्था तथा गुणादि विषयो पर एकाग्रता पूर्वक मनन करते रहने से अनुभव ज्ञान में वृद्धि होती है। अनुभव ज्ञान थोडा हो, तो भी बहुत फल दायक होता है।

अनुप्रेक्षा में एकाग्रता होने पर आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य सभी कर्मों की स्थिति और रस आदि में कमी हो जाती है। जो अशुभ कर्म, दु ख पूर्वक लम्बे काल तक भुगतने योग्य होते हैं। वे थोडे काल के हो जाते है। उनका यह दु खदायक फल भी बहुत कुछ नष्ट होकर स्वल्प रह जाता है। अनुप्रेक्षा को

बढ़ाते रहने वाली आत्मा इस संसार समुद्र से शीघ्र ही पार होकर मोक्ष के परम सुख को प्राप्त कर लेती है।

धर्मकथा—वाचना पृच्छा परावर्तना और अनुप्रेक्षा द्वारा प्राप्त श्रुतज्ञान का धर्मकथा द्वारा भव्यजीवों को सुनाना—'धर्मकथा' है। इससे श्रुतज्ञान की वृद्धि होती है। मोक्ष मार्ग का प्रवर्तन होता है जिन धर्म की प्रभावना होती है। धर्मकथा अपने कर्मों की निर्जरा के उद्देश्य से ही होनी चाहिए तभी वह स्वाध्याय रूप तप में गिनी जाती है। यदि मान पूजा की भावना से धर्मकथा की जाय तो वह उल्टी कर्मबन्ध की कारण बन जाती है।

धर्मकथा के चार प्रकार श्री स्थानांग सूत्र ४—२ में इस प्रकार बताये हैं।

१ आक्षेपनी धर्म कथा—श्रोताओं के संसार और विषयादि की तरफ बढ़ते हुए मोह को हटा कर धर्म में लगाने वाली कथा—आक्षेपनी धर्मकथा है। इसके द्वारा श्रोता के हृदय में धर्म का प्रवेश कराया जाता है। यह आक्षेपनी कथा भी चार प्रकार की है।

आचार आक्षेपनी—अहिंसादि तथा अस्नान और पादविहारादि आचार का उपदेश करना अथवा दशवैकालिक आचारांगादि आचार प्रदर्शक सूत्रों का उपदेश करना ।१।

व्यवहार आक्षेपनी—प्रतिक्रमादि दोष रूप मल को हटाने की रीति आलोचना प्रायश्चित्त आदि का कथन करके श्रोता को जन धर्म की निर्दोषता समझाना ।२।

प्रज्ञप्ति आक्षेपनी—श्रोता की शंका का समाधान करके तत्त्व श्रद्धा को दृढ़तर बनाने वाली कथा अथवा व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि का उपदेश करके तत्त्वज्ञान का विशेष बोध देने वाली कथा ।३।

दृष्टिवाद आक्षेपनी—नय निक्षेप आदि से जीवादि सूक्ष्म तत्त्वों को समझाना अथवा श्रोता की दृष्टि विशुद्ध हो इस प्रकार कथा कहना अथवा दृष्टिवाद के विषय आदि का निरूपण करना ।४।

२ विक्षेपनी धर्मकथा—श्रोता को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाने वाली कथा—विक्षेपनी कथा है। इसमें कुश्रद्धा को हटाकर सुश्रद्धा स्थापित करने की दृष्टि आती है। इसके चार भेद इस प्रकार हैं।

स्व सिद्धांत के गुण बतलाने के बाद पर-सिद्धांत के दोष बताने रूप प्रथम विक्षेपनी कथा ।१।

पर सिद्धांत का दोष दिखलाने के बाद स्व-सिद्धांत के गुण बतला कर श्रोता के हृदय में जमाना यह दूसरी विक्षेपनी कथा है ।२।

स्व-सिद्धांत की जो बातें घुणाक्षर न्याय से पर-सिद्धांत में आई हुई हैं उन्हें बताकर—उनसे स्व सिद्धांत की सिद्धि करके पर-सिद्धांत के दोष दिखाकर उसकी रुचि हटाने का प्रयत्न करना ।३।

परमत में कही हुई मिथ्या बातों का कथन करके स्व सिद्धान्त के द्वारा उनका निराकरण

करना। इस प्रकार पर-सिद्धान्त की रुचि हटाकर स्व-सिद्धान्त के प्रति रुचि जगाना, यह चौथी विक्षेपनी कथा है ।४।

३ सवेगनी धर्मकथा–श्रोताओ के ससार की ओर बढे हुए राग को मोड कर, धर्म की ओर लगाना, धर्मप्रेम जागृत करना–'सवेगनी' धर्मकथा है। इसके चार भेद इस प्रकार है ।

इहलोग सवेगनी–मनुष्य शरीर और भोगों की असारता, एव अस्थिरता बतला कर विरक्ति को जगाना ।१।

परलोक सवेगनी–देव भी पारस्परिक ईर्षा, भय और वियोग तथा तृष्णा के दुख से दुखी है। वहाँ से मनुष्य और तिर्यंच की दुर्गति में जाने और गर्भ तथा जन्म के कष्ट उठाने की सम्भावना से, चिन्ता तथा क्लेश होना स्वाभाविक है। इत्यादि प्रकार से परलोक के दुख बताकर वैराग्य जगाना ।२।

स्वशरीर सवेगनी–यह शरीर अशुचिमय है, अशुचि से भरा है और अशुचि का कारण है। इस प्रकार मनुष्य शरीर की घृणित अवस्था बताकर वैराग्य उत्पन्न करना ।३।

पर-शरीर सवेगनी–मुर्दे के शरीर की दशा बताकर वैराग्य उत्पन्न करना ।४।

४ निर्वेदनी धर्मकथा–इहलोक, परलोक मय समस्त ससार से विरक्ति पैदा करनें वाली कथा। इसके चार भेद इस प्रकार है ।

यहा किये हुए चोरी आदि दुष्कर्मों का फल यही पर मिल जाता है। इस बात-का वर्णन करने रूप ।१।

इस लोक में किये हुए दुष्कर्मों का फल, नरक तिर्यंच गति मे मिलने का वर्णन सुनाना ।२।

पूर्वभव मे किये हुए दुष्कर्मों के फल स्वरूप रोग, शोक, वियोग, दरिद्रतादि का वर्ण करना ।३।

पूर्वभव के दुष्कर्मों का आगामी भव में फल मिलने रूप। जैसे–पूर्वभव मे पाप किये जिसके फल स्वरूप कौए, गिद्ध तथा तान्दुलमच्छ आदि रूप जन्म पाकर, फिर नारक योग्य बन्ध करके नरक में जाते है। इत्यादि रूप से वर्णन करके निर्वेद उत्पन्न करना ।४।

उपरोक्त प्रकार की जो कथा हो वही धर्मकथा है। इसके सिवाय सभी प्रकार की कथाएँ, विकथा अर्थात् पापकथा मे शामिल है ।

धर्मकथा वही है जो जिनवाणी के अनुकूल हो। जिनवाणी से बाहर की बातें धर्मकथा नही, किन्तु विकथा–पापकथा है ।

जिस कथा में धर्म ज्ञान की वृद्धि नही होकर लौकिक ज्ञान अथवा श्रोताओ का मनोरजन हो, वह धर्मकथा नही, किंतु कर्मकथा है और वह परलक्षी है। परलक्षी कथा "पराध्याय" रूप होती है-स्वाध्याय

रूप नहीं होता। जिस कथा से स्वात्मा की निर्मलता बढ़े और अन्य आत्माओं को भी जागृत करके स्वाध्याय रत होने का निमित्त प्राप्त हो वही कथा धर्मकथा है।

यह पांच प्रकार का स्वाध्याय तप आभ्यन्तर तप का महान् कारण है। इसमें श्रुतज्ञान का महान् अवलम्बन रहा हुआ है। पूर्वाचार्य तो यहां तक कहते हैं कि— न वि अत्थि न वि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं अर्थात्—स्वाध्याय के समान कोई तप नहीं है।

ध्यान

किसी एक वस्तु अथवा विषय पर चित्त को लगा देना—एकाग्र करना ध्यान कहलाता है। ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की मानी है। इसके बाद सरागी और छद्मस्थ जीव का ध्यानान्तर (एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय पर जाना) हो ही जाता है। ध्यान के चार भेद हैं—१ आर्तध्यान २ रौद्रध्यान ३ धर्मध्यान और ४ शुक्ल ध्यान। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आर्त ध्यान

आर्त ध्यान—सुख दुख के निमित्त से होने वाला ध्यान 'आर्तध्यान' है। उदयभाव के कारण भोगादि विषयक चिन्ता इच्छा विचारणा ये सब आर्तध्यान में सम्मिलित हैं। भौतिक सुख दुख कारण जितने भी विचार होते हैं वे सब आर्तध्यान के अन्तर्गत हैं। इस आर्तध्यान के भी चार भेद हैं

अमनोज्ञ संयोग के वियोग की चिन्ता—अरुचिकर शब्द रूप गंध रस और स्पर्श की प्राप्ति (प्रतिकूल विषयों का संयोग) होने पर उनसे बचने उनसे पृथक होने की चिन्ता करना।१।

इष्ट अवियोग चिन्ता—माता पिता पत्नी पुत्र धन सम्पत्ति प्रतिष्ठा एवं इच्छित काम भोगों की प्राप्ति होने पर उनका वियोग नहीं हो जाय वे सदाकाल बने रहें इस प्रकार की चिन्ता।२।

रोग मुक्ति चिन्ता—किसी भी प्रकार के रोग की उत्पत्ति होने पर उससे मुक्त-नीरोग होने की चिन्ता उसके निवारण के उपाय तथा नीरोगता बनी रहे—रोग उत्पन्न नहीं हो—इत्यादि बातों का चिन्तन।३।

काम भोग अवियोग चिन्ता—इन्द्रियों के काम भोग सदाकाल बने रहें—इनका कभी भी वियोग नहीं हो किन उपायों से ये स्थायी रहें इस सम्बन्धी विचार करना। इस भेद में 'निदान' (अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने सम्बन्धी चिन्ता) का समावेश भी होता है। दूसरों के पास उत्तम भोगों को देख कर वैसे भोग प्राप्त करने की चिन्ता करना तथा करणी के फल को भोग प्राप्ति के दाव पर लगाना भी इस भेद में लिया जाता है।४।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण है। यथा-१ आक्रन्दन करना-उच्च स्वर से रोना, २ शोचन-शोकाकुल होकर दीनता धारण करना, ३ अश्रुपात करना और ४ क्लेश युक्त वचन बोलना।

आर्त्तध्यान की सीमा बहुत बडी है। जिसमें रौद्रध्यान नही हो और धर्मध्यान भी नही हो, उसमें आर्त्तध्यान रहता है। केवल रोना और चिन्ता करना ही आर्त्तध्यान नही, किन्तु साधारणतया भौतिक सुखो में रञ्जित होना भी आर्त्तध्यान ही है। अच्छे वस्त्राभूपण पहनकर मोहित होजाना भी आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान

रौद्रध्यान-क्रोधकी परिणति अथवा क्रूरता के भाव जिसमें रहे हो। दूसरो को मारने, पीटने, लूटनें, ठगने, एव दुखी करने की भावना जिस चिन्तन के मूल में हो, ऐसे कुविचार युक्त ध्यान को रौद्रध्यान कहते है। इसके चार भेद ये हैं।

१ हिंसानुबन्धी-किसी प्राणी को मारने पीटने, क्रोधित होकर बांधने, जलाने,डाम लगाने अथवा स्वार्थवश नासिका विंधने, और ऐसे किसी भी प्रकार से किसी जीव को दुखित करने के विचारो का मावेश-हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान में होता है।

२ मृषानुबन्धी-दूसरो को अपमानित करने और उसके हृदय को वचन के बाणो से विंधने र्यात् कठोर वचनो द्वारा किसी को दुख पहुँचाने, तथा सत्य वस्तु का अपलाप करने एव सत्य तथा त्तम सिद्धातो को झुठलाने के लिए मिथ्या भाषण सम्बन्धी विचार करना तथा झूठी योजना बनाना- षानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

३ चौर्यानुबन्धी-तीव्र लोभ के वश होकर किसी की वस्तु का अपहरण करने-चुराने या लूटकर दुखी करने सम्बन्धी विचार करना।

४ सरक्षणानुबन्धी-भौतिक सुख एव विषयेच्छा के साधन तथा उनकी प्राप्ति का प्रमुख साधन-धन सम्पत्ति एव मान प्रतिष्ठा और पद की रक्षा के लिए किसी विरोधी आदि को दबाने, अलग हटानें अथवा मारने आदि का विचार करना।

रौद्र ध्यान को पहिचानने के चार लक्षण इस प्रकार है-

ओसन्न दोष-हिंसा मृषा आदि में से किसी एक दोष मे बहुलता से प्रवृत्ति करना।१।

बहुल दोष-हिंसादि किसी एक या चारो मे प्रवृत्त रहना।२।

अज्ञान दोष-अज्ञान अथवा मिथ्या शास्त्रो के प्रभाव से हिंसादि अधर्म में उत्तरोत्तर वृद्धि करना।३।

आमरणान्त दोष-मृत्युपर्यन्त अनिष्ट तथा क्रूर विचारो में ही लगे रहना।४।

रौद्र ध्यान दूसरों के दुःख की अपेक्षा नहीं करता इसमें क्रूरता मुख्य होते हुए भी यह चारों कषायों से सम्बन्धित है। रौद्र ध्यान नरक गति का कारण होता है।

आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक रहता है तो रौद्र ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक रहता है। जितना भयानक रौद्र ध्यान है उतना आर्तध्यान नहीं है। हाँ आर्तध्यान के निमित्त से रौद्र ध्यान आ सकता है। अनिष्ट संयोग होने पर अनिष्ट के निमित्तभूत बनने वाले के प्रति रौद्र ध्यान हो सकता है। एम समय में सम्यग-दृष्टि को अपने अशुभ कर्म परिणामों का विचार कर के रौद्र ध्यान नहीं आने देना चाहिए यदि आ भी जावे तो निष्फल कर देना चाहिए।

इन दो ध्यानों का छोड़ना आभ्यन्तर तप रूप निर्जरा में है।

धर्म ध्यान

धर्मध्यान—धर्म सम्बन्धी ध्यान धर्मध्यान है। वस्तु का स्वरूप—तत्त्व विचारणा जिनेश्वरों की आज्ञा और आत्मा को निर्मल करने वाला ध्यान—धर्मध्यान है। जिस ध्यान में श्रुतधर्म और चारित्र धर्म सम्बन्धी विचारणा हो आस्रव और बन्ध तथा संवर निर्जरा और मोक्ष सम्बन्धी सम्यग् चिंतन हो हेय उपादेय के विवेक पूर्वक विचारधारा चल रही हो वह धर्मध्यान है। देव और गुरु के गुणचिंतन स्मरण स्तुति भी धर्मध्यान का ही अंग है। इस धर्मध्यान के भी चार प्रकार हैं। यथा—

१ आज्ञा विचय—जिनेश्वरों की आज्ञा को सत्य मानकर उसके प्रति बहुमान की भावना रखते हुए विचार हो कि अहो ! जिनेश्वर भगवत की उत्तम वाणी परम सत्य है तथ्यकारी है। इसमें तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन है। संसार की समस्त वाणियों से जिनेश्वरों की वाणी परमोत्तम और एकदम निराली है। समस्त प्राणियों की हितकर्त्ता शाश्वत सुखों की दाता महान् श्रेय वाणी है। सप्तभंग चार निक्षेप चार प्रमाण एवं सप्तनय युक्त है। संसार समुद्र से पार पहुँचाने वाली महाशक्ति इस जिनवाणी में जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा में सुरक्षित है। भगवान् की आज्ञा पूर्णतया सत्य है शंका रहित है। संसार में परम श्रेय वाली कोई वस्तु है तो एकमात्र जिनेश्वर भगवन्त की परमोपकारी आज्ञा—जिनवाणी ही है। धन्य है परमतारिणी परमार्थ प्रकाशिनी पापपंक-नाशिनी भवजलधि-पार उतारिणी जिनेश्वर भगवंत की वाणी। इस प्रकार जिनेश्वरों की आज्ञा के प्रति बहुमान रखते हुए विचार करना—आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

२ अपाय विचय—अपाय का अर्थ पाप है। राग द्वेष कषाय मिथ्यात्व अविरति आदि आस्रव और उनसे उत्पन्न होने वाले चतुर्गति संसार भ्रमण और दुःख परम्परा का विचार करना और पाप सेवन से होने वाली आत्मा की अधोगति पर यथा उचित विचार कर इनसे बचने की भावना करना—अपाय विचय धर्मध्यान है।

३ विपाक विचय—कर्म के शुभाशुभ फल विषयक चिन्तन करना। जीव कभी शुभ कर्मों के उदय से अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। देवलोक का सुख पाकर उसमे मशगूल हो जाता है और कभी अशुभकर्म के उदय से वही जीव, हीन अवस्था को पाकर दुखी हो जाता है तथा नरक निगोद के असह्य महान् दुखों का भोक्ता बन जाता है। कैसी विचित्र कर्मगति है! आत्मा अपने आप में तो शुद्ध पवित्र एव आनन्द रूप है, किन्तु शुभाशुभ कर्मों के फल स्वरूप ही वह विविध प्रकार के सुख दुख का अनुभव करता है। जो भव्यात्मा, बन्ध के मूल कारण रागद्वेष का मूल काट कर—विभाव दशा को छोडकर स्वभाव की ओर मुडते है, वे शुभाशुभ विपाक मे वचित रहकर परमानन्द को प्राप्त कर लेते हैं। कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

४ सस्थान विचय—लोक का स्वरूप, ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक, द्वीप, समुद्र, नरकादि का स्वरूप आकृति आदि का विचार करना, फिर इसमें जीव गति आगति, आदि का विचार करना, ससार समुद्र मे होती हुई जीव की विडम्बना—डूबने उतराने के भयकर दुखो से परिपूर्ण, इस लोक में धर्म रूपी जहाज का चिंतन करना, इस धर्म रूपी नौका में ज्ञानदर्शनादि रूप रत्न भरकर उत्तम आत्माएँ प्रयाण करती है। सवर रूपी उत्तम साधनो से नावा के छिद्र बन्द कर दिये जाते है, जिससे डूबने का भय नही रहता, फिर तप रूपी अनुकूल पवन से धर्म जहाज कूच करता हुआ मोक्षरूपी महानगर को पहुँच कर, लोक के मस्तक पर स्थिर होकर, परम सुखी हो जाता है। इस प्रकार का ध्यान 'सस्थान विचय' धर्मध्यान है।

धर्म ध्यान के लक्षण

धर्मध्यानी को पहिचानने के चार लक्षण है—१ आज्ञा रुचि—आगमो के विधि—विधानो पर रुचि होना।

२ निसर्गरुचि—विना किसी उपदेश के—स्वभाव से ही जिनेश्वर की आज्ञा के प्रति—धर्म के प्रति रुचि होना।

३ सूत्र रुचि—आगम प्रतिपादित तत्त्वो पर श्रद्धा रखना।

४ अवगाढ रुचि—जिनागमो का विस्तार पूर्वक ज्ञान करके विश्वास करना, अथवा उपदेश सुन-कर धर्म पर श्रद्धा होना।

धर्म ध्यान के अवलम्बन

धर्मध्यान में प्रवेश होने के लिए चार प्रकार के अवलम्बन है, जो इस प्रकार है,—

१ वाचना—श्रुतज्ञान पढना।

२ पृच्छा—समझने के लिए गुरु आदि से पूछना ।

३ परिवर्तना—पढ़ हुए श्रुत ज्ञान का भूल नहीं जाय इसलिए पुन पुन आवृत्ति करना ।

४ * धर्मकथा—श्रुत चारित्र रूप धर्म का उपदेश करना ।

उपरोक्त चार अवलम्बन के सहारे से जीव धर्मध्यान रूपी भवन के शिखर पर पहुँच सकता है।

धर्म ध्यान की भावनाएँ

धर्मध्यान की चार भावनाएँ इस प्रकार हैं —

१ अनित्य भावना— यह घरबार कुटुम्ब परिवार तथा शरीर सब अनित्य है । नाशवान है । सभी सयोग वियोग मूलक है । इनसे वियोग होगा ही । फिर इन पर मोह क्यों करू ' इस प्रकार विचार कर धर्म का अवलम्बन करना ।

२ अशरण भावना—जन्म जरा और मृत्यु के भय से भयभीत तथा आधि व्याधि और उपाधि से पीड़ित जीव को ससार में शरणभूत कोई नहीं है । ससार समुद्र में चारों ओर बड़ विकराल मगर मच्छ मुँह खोलकर खाने को तय्यार हैं । एसी भयङ्कर दशा में परम आश्रयभूत कोई है तो एक मात्र जिनेश्वर का धर्मरूप द्वीप ही । अर्थात् अशरणभूत ससार में धर्मरूपी शरण का अवलम्बन करना ।

३ एकत्व भावना—इस सारे संसार में मैं अकेला हू । मेरा कोई नहीं है और न मैं ही किसी दूसरे का हू । 'एगोह नत्थिमे कोइ माला का चिन्तन करना और पर-भाव का त्यागकर स्वभाव में लीन होना ।

४ ससार भावना—संसार कैसा विचित्र है । इसमें एक जीव दूसरे जीवों के साथ माता पिता पत्नी और पुत्रादि के अनेक सम्बन्ध कर चुका है । जो आज पुत्र है वह कभी पिता माता और पत्नी रूप भी हो चुका है । जो आज मनुष्य है वह कभी कीट पतंग और निगोद का निकृष्टतम प्राणी भी हो चुका है । इस प्रकार संसार की विचित्रता का विचार कर मोक्ष को एकरूपता का चिन्तन करना ।

आर्त्त और रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्मध्यान का आश्रय लेने से आत्मा का उत्थान होता है । धर्मध्यान का आरभ चतुर्थ गुणस्थान से होकर सातवें गुणस्थान तक रहता है ।

शुक्ल ध्यान

शुक्लध्यान—जो आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर करके आत्मा को शुद्ध करता है वह शुक्ल-ध्यान है । शुक्लध्यान का आरंभ पर-सत्ता का छुड़ाकर स्वात्मलीनता में स्थिरता होने के साथ होता है।

* औपपातिक और भगवती २५—७ में चौथा अवलम्बन 'धर्मकथा' है। ठाणांग का ४ उ १ में इसके बदले 'अनुप्रेक्षा' है जिसका अर्थ—सूत्र और अर्थ का चिन्तन एवं मनन करना है ।

इसमें बाह्य दृष्टि का अभाव होता है।

शुक्लध्यान के चार भेद इस प्रकार है,-

१ पृथकत्व वितर्क सविचारी-पूर्वगत श्रुत के अनुसार एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायो का विस्तार से, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय से तथा अनेक भेदो से विचार करना। यह ध्यान विचार सहित होता है। इसमें शब्द से अर्थ में, अर्थ से शब्द में, शब्द से शब्द में और अर्थ से अर्थ में तथा एक योग से दूसरे योग मे सक्रमण होता है।

जिन्हे पूर्वो का ज्ञान नही है, उन्हे अर्थ, व्यजन और योगो मे परस्पर सक्रमण रूप शुक्लध्यान होता है।

२ एकत्व वितर्क अविचारी-किसी एक पदार्थ या पर्याय का स्थिरता पूर्वक चिन्तन करना। इसमें शब्द, अर्थ, व्यजन अथवा योगो में सक्रमण नही होता। इसमें एक ही विषय में ध्यान की स्थिरता होती है।

उपरोक्त दूसरे भेद की प्राप्ति से आत्मा मे स्थिरता आ जाती है। इसके बाद केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति होकर ध्यानान्तर दशा हो जाती है।

३ सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती-जब केवलज्ञानी भगवान् का निर्वाण समय निकट आता है, तब अन्त-र्मुहूर्त पूर्व अर्थात् १३वे गुणस्थान के अतिम अन्तर्मुहूर्त में, यह तीसरा भेद प्राप्त होता है। इस भेद के चलते योग निरुधन होता है। उस समय केवलज्ञानी के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया रहती है। यहा परिणाम विशेष रूप से वृद्धिगत होते है। यहा से पीछे हटने की सभावना ही नही रहती (पहला भेद, यदि उपशम श्रेणी में हो, तो वहा से पीछे हटने का अवकाश रहता है, दूसरे भेद में केवलज्ञान होता है।)

४ समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती-शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवलज्ञानी भगवत, इस भेद में आकर सभी योगो का निरुधन कर लेते है। यहा उनकी सूक्ष्म क्रियाएँ भी नष्ट हो जाती है। इसलिए इसे 'समुच्छिन्न क्रिया' कहा है और यह ध्यान स्थायी हो जाता है, कभी जाता ही नही है। इसलिए 'अप्रतिपाती' कहा है।

प्रथम भेद, सभी योगो में होता है। दूसरा भेद किसी एक योग में होता है। तीसरा भेद केवल काययोग में होता है और चौथा अयोगी अवस्था में होता है।

शुक्ल ध्यान के लक्षण

शुक्लध्यान के चार लक्षण × इस प्रकार है,-

× ये लक्षण स्थानांग ४-१ तथा उववाई सूत्रानुसार है। भगवती २५-७ में उन्हें लक्षण नहीं, किन्तु अवलम्बन

१ विवेक—आत्मा को देह से तथा समस्त सांसारिक सम्बन्धों से भिन्न मानने रूप विवेक लक्षण युक्त।

२ व्युत्सर्ग—शरीर तथा उपधि का त्याग करने रूप व्युत्सर्ग लक्षण युक्त।

३ अव्यथा—परीषह तथा उपसर्ग से चलित नहीं होने रूप लक्षण युक्त।

४ असम्मोह—गहन विषयों में अथवा देवादि कृत छलना में सम्मोह नहीं होने रूप।

तात्पर्य यह कि शुक्लध्यानी अपने ध्यान से विचलित नहीं होकर स्थिर रहते हैं। यह उनका लक्षण है।

शुक्ल ध्यान के अवलम्बन

शुक्लध्यान के चार आलम्बन ‡ इस प्रकार हैं—

१ क्षमा—क्रोध नहीं करना।

२ मुक्ति—लोभ से रहित होना।

३ आर्जव—माया से रहित होकर सरल होना।

४ मार्दव—मान नहीं करना।

उपरोक्त चार कषायों से रहित होता हुआ भव्यजीव शुक्ल ध्यान में उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है।

शुक्ल ध्यान की भावनाएँ

शुक्लध्यान की नीचे लिखी चार भावनाएँ हैं—

१ * अपायानुप्रेक्षा—आस्रवों से तथा कषायों से होने वाले दुःखों का विचार करना। संसार की वृद्धि के कारणभूत पापों का चिन्तन करने रूप भावना (आस्रव भावना)

२ अशुभानुप्रेक्षा—संसार की असारता अशुभ परिणाम आदि (अशुचि भावना) का विचार करना।

माना है और स्थानांग उववाई में जिन्हें अवलम्बन माना है—भगवती में उन क्षमादि को लक्षण माना है। यद्यपि स्थानांग और उववाई में विवेकादि को लक्षण माना है तथापि क्रम में भेद है। उपरोक्त क्रम उववाई सूत्रानुसार है। स्थानांग में १ अव्यथा २ असम्मोह, ३ विवेक और ४ व्युत्सर्ग—इस प्रकार है।

‡ भगवती २५–७ में इन्हें 'लक्षण' माना है। स्थानांग ४–१ में तीसरा भेद 'मार्दव' का और चौथा 'आर्जव' का है।

* स्थानांग ४–१ तथा भगवती २५–७ में क्रम इस प्रकार है। १ अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा २ विपरिणामानुप्रेक्षा ३ अशुभानुप्रेक्षा ४ अपायानुप्रेक्षा।

३ अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा—अनन्त जन्म मरण और अनादि काल से होते हुए, अनन्त भव-भ्रमण (लोक स्वरूप भावना) का विचार करना।

४ विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तुओ के परिणमन की विविधता, शुभ से अशुभ, सयोग से वियोग, तथा देव और मनुष्य सम्बन्धी सुख सामग्री की विनाशकता (अनित्य भावना) का चिन्तन करना।

बारह भावना मुख्यत धर्म ध्यान से सम्बन्धित है। फिर भी शुक्ल ध्यान की भावना में भी क्रमश, आश्रव भावना, अशुचि भावना, लोक स्वरूप भावना और अनित्य भावना का समावेश हो सकता है। शुक्लध्यान पर आरूढ भव्यात्मा, यदि मलीनता को दबावे नही, परन्तु दूर करती जाय, तो मुहूर्तमात्र में आराधक से आराध्य होकर परमानन्द में लीन हो सकती है।

व्युत्सर्ग

तप का अन्तिम भेद 'व्युत्सर्ग' है और व्युत्सर्ग का अर्थ है—त्याग। अन्त करण से ममत्व रहित होकर, आत्म सानिध्य से पर वस्तु का त्याग करना, 'व्युत्सर्ग' नाम का आभ्यन्तर तप है। इसके मुख्यत दो भेद है—१ द्रव्य व्युत्सर्ग और २ भाव व्युत्सर्ग।

द्रव्य व्युत्सर्ग

द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का है। यथा—

१ शरीर व्युत्सर्ग—ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग कर देना।

२ गुण व्युत्सर्ग—सगी साथियो—शिष्यादि का त्याग कर, एकाकी हो जाना, अर्थात् नि सग होकर आत्म निर्भर हो जाना और रोगादि अथवा उपसर्गादि भयङ्कर परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करना।

३ उपधि व्युत्सर्ग—उपकरणो से हल्का होना। अपनी आवश्यकताओ को अत्यन्त कम कर देना अथवा रजोहरण मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त उपकरणो का सर्वथा त्याग कर देना या कम से कम रखना।

४ भक्त पान व्युत्सर्ग—खाने पीने का त्याग कर देना।

यह द्रव्य व्युत्सर्ग है। क्योकि इसका सबध शरीर, गण, उपधि और आहारादि अन्य द्रव्यो से है। इनका त्याग 'द्रव्य व्युत्सर्ग' कहलाता है।

भाव व्युत्सर्ग

भाव व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है। यथा—

१ कषाय व्युत्सर्ग—क्रोध मान माया और लोभ का त्याग करना।

२ संसार व्युत्सर्ग—सांसारिक वासना अथवा नरक व तिर्यञ्च गति के प्रति द्वेष और मनुष्य तथा देव गति के प्रति राग—इनके सुख की कामना का त्याग करना अर्थात् चारों गति के बन्ध के कारण—मिथ्यात्व अविरति प्रमाद और कषाय का त्याग करना।

३ कर्म व्युत्सर्ग—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध के कारणों का त्याग करना एवं कर्म निर्जरा के लिए प्रयत्नशील होना।

उपरोक्त तीन प्रकार का व्युत्सर्ग भाव–परिणाम से संबंधित है। यद्यपि द्रव्य व्युत्सर्ग भी भाव पूर्वक ही होता है क्योंकि यह आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत है किन्तु इसका सम्बन्ध अन्य द्रव्यों से होने के कारण इसे 'द्रव्य त्याग' गिनाया गया और भाव त्याग में आत्मा में रही हुई काषायिक वृत्ति परा–कषाय तथा कर्म संयोग का त्याग लिया गया। जो महात्मा इस व्युत्सर्ग नामक तप में सफल हो जाते हैं उनकी मुक्ति में देर ही क्या लगता है। वे या तो उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं यदि कर्म का कुछ बखेरा शेष रह जाता है तो देव भव के महान् सुखों के भोक्ता बनकर उसके बाद के मानव भव में सिद्ध हो जाते हैं।

प्रत्याख्यान

कर्म निर्जरा के लिए किया जाने वाला तप प्रत्याख्यान पूर्वक होता है। प्रत्याख्यान के दस भेद श्री स्थानांगसूत्र स्था० १० तथा भगवती सूत्र श० ७ उ० २ में इस प्रकार बताये हैं।

(१) अनागत—आगे आने वाले पर्व पर किये जाने वाले तप का कारणवश पहले ही कर लेना।

(२) अतिक्रान्त—वैयावृत्यादि कारणवश निश्चित समय (पर्वादि) पर तप नहीं करके बाद में करना।

(३) कोटी सहित—एक प्रत्याख्यान की समाप्ति और दूसरे का प्रारम्भ एक ही दिन हो उसे कोटी सहित कहते हैं।

(४) नियन्त्रित—जिस दिन जो प्रत्याख्यान करना हो वह उसी दिन करना। रोगादि बाधा खड़ी हो जाने पर भी प्रत्याख्यान का पालन करना।

(५) सागार-प्रत्याख्यान में आगार रखना और कारण उपस्थित होने पर आगार को काम में लेना।

(६) अनागार-जिसमें महत्तरागार आदि आगार नही हो। (अनाभोग और सहसात्कार तो उसमें भी होता है)

(७) परिमाण कृत-दत्ति, काल, द्रव्य आदि की मर्यादा करना।

(८) निरवशेष-अशनादि चारो प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करना। शेष कुछ भी नही रखना।

(९) संकेत-अगूठा, मुट्ठी, गाठ, अगुठी बदलना आदि संकेतयुक्त प्रत्याख्यान करना।

(१०) अद्धा प्रत्याख्यान-काल का नियम बनाकर प्रत्याख्यान करना, जैसे-नमुक्कारसी, पोरिसी आदि।

इस अद्धा प्रत्याख्यान के दस भेद इस प्रकार है,-

(१) नमस्कार सहित-सूर्योदय से लगाकर मुहूर्त (४८ मिनिट) तक चारो आहार का त्याग करना। इसे साधारण बोलचाल में "नवकारसी" तप कहते है। आहार के चार भेद ये हैं,-

१ अशन-रोटी, चावल, दाल, दूध, + दही, मट्ठा और मिष्ठान्नादि भोजन सामग्री।

२ पान-पानी, छाछ का आछ और काजी के ऊपर का निथरा हुआ जल, जिससे प्यास मिटती है।

३ खादिम-बादाम, दाख और आम आदि फल।

४ स्वादिम-सुपारी, इलायची, लौंग, स्वादिष्ट चूर्ण, गोली आदि।

आहार के ये चार भेद है। 'चौविहार' मे खाने पीने का सर्वथा त्याग हो जाता है। इस त्याग में नीचे लिखे दो आगार रहते हैं।

१ अनाभोग-प्रत्याख्यान को भूल कर कुछ खा पी लेना। यह आगार तब तक ही रहता है, जब कि याद आने पर खाना बन्द कर दिया जाय और मुंह में रही हुई वस्तु थूक कर प्रत्याख्यान का पालन करने को तत्पर हो जाय।

२ सहसात्कार-अचानक मुंह में किसी वस्तु का प्रवेश हो जाना। जैसे मुंह खुला हो और दूध, दही, छाछ आदि प्रवाही वस्तु, एक पात्र में से दूसरे पात्र म लेते समय छीटा उडकर मुंह मे पड जाय, अथवा शक्कर जैसी बारीक वस्तु उडकर मुंह में पहुँच जाय।

+ तिविहार में प्यास बुझाने के लिए पानी, धोवन या आछ ही लिया जाता है। दूध, मट्ठा आदि नहीं लिया जाता। जो लोग "पान" के भेद में दूध आदि भी बतलाते हैं, वे अनर्थ करते है। पच्चाशक में "खीराइ" शब्द से दूध, दही, घृत, छाछ और ओसामन को भी 'अशन' (भोजन) में लिया है।

इन दो आगारों से यह प्रत्याख्यान होता है।

(२) पौरुषी—सूर्योदय से लगाकर एक प्रहर तक के प्रत्याख्यान 'पौरुषी' के प्रत्याख्यान कहलाते हैं। इसके छः आगार होते हैं। इनमें दो आगार तो वे ही हैं शेष ये हैं –

३ प्रच्छन्न काल—बादल से घिर जाने या आँधी आदि के कारण सूर्य नहीं दिखाई दे अर्थात् पौरुषी काल हो जाने का सही ज्ञान कराने वाले (घड़ी आदि) साधन के अभाव में पौरुषी हो जाने का भ्रम हो जाय तो आगार।

४ दिशामोह—दिशा सम्बन्धि भ्रम हो जाय तो आगार।

५ साधु वचन—पौरुषी आगई है —इस प्रकार किसी बड़ व्यक्ति के कहनपर पार लेना।

६ सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—अकस्मात् असह्य रोग उत्पन्न हो जाय और उसकी शान्ति के लिए औषधि आदि लेना पड़े।

(३) पूर्वार्ध—सूर्योदय से लगाकर दोपहर दिन चढ़े वहां तक अर्थात् दिन के दो भागों में से पूर्व का आधा भाग व्यतीत होने तक के प्रत्याख्यान। इसके सात आगार हैं। छः तो पोरिसी के अनुसार और सातवाँ 'महत्तरागार' है। वैयावृत्य आदि किसी विशेष कार्य के लिए गुरु आदि बड़े की आज्ञा होने पर समय के पूर्व ही प्रत्याख्यान पारना पड़े तो यह आगार है।

(४) एकाशन—एक बार भोजन करना 'एकाशन' है। यह पौरुषी या दो पौरुषी अथवा तीन पौरुषी से भी किया जाता है। इसमें अचित्त भोजन पानी ही लिया जाता है। यह चौविहार भी होता है और तिविहार भी। तिविहार हो तो बाद में पानी पिया जा सकता है। इसके आठ आगार हैं। इनमें से—१ अनाभोग २ सहसाकार ३ महत्तरागार और ४ सर्व-समाधि प्रत्ययाकार ये चार आगार तो पहले के ही हैं। शेष इस प्रकार हैं।

५ सागारिकागार—× गृहस्थ के देखते हुए आहार नहीं किया जाता। यदि गृहस्थ आ जाय और वह वहां जम जाय तो वहां से उठकर अन्यत्र जाकर भोजन करना। इस प्रकार वहां से उठकर दूसरी जगह बैठकर भोजन करे तो इस आगार से व्रत का भंग नहीं होता।

६ आकुञ्चन प्रसारण—भोजन करते समय हाथ पाँव सिकोड़ना या फैलाना पड़े तो।

७ गुर्वभ्युत्थान—गुरुजन या किसी बड़े आदमी के आने पर आदर देने के लिए उठना पड़े तो।

× प्रत्याख्यान करने वाला गृहस्थ हो और वह किसी भुक्खड़ या क्रूरदृष्टि वाले व्यक्ति के सामने भोजन करना नहीं चाहता हो तो उसके लिए भी यह आगार है।

८ परिष्ठापनिकाकार--यदि साथ वाले मुनि के पास अधिक आहार आ गया हो और वह परठना पड रहा हो, उस समय गुरु आज्ञा से उस आहार को करना पडे, तो आगार।

यह आठवाँ आगार साधुओ के लिए है। एकाशना कर चुकने से बाद कभी किसी के ऐसा प्रसग आ सकता है।

एकासन की तरह बियासन (दो बार भोजन) के प्रत्याख्यान भी किये जाते है।

(५) एक स्थान--एक स्थान पर एक ही आसन से बैठकर भोजन करना। जिस आसन से बैठे हो उसी आसन से बैठे रहकर भोजन करना, उस आसन को बदलना नही। यह चौविहार भी किया जाता है और तिविहार भी।

इसके सात आगार है। एकाशन के आठ आगारों में से 'आकुञ्चन प्रसारण' का आगार इसमें नही है।

(६) आयम्बिल--दिन में एक बार बिना नमक, मिर्च, मशाले और घृत, तेल, गुड, शक्कर, दूध, दही, छाछ आदि के, केवल रूखी रोटी, चावल, भूने चने, या ऐसी ही वस्तु से आयम्बिल किया जाता है। उबाल कर सिझाये हुए, गेहूँ, मक्की, जुवार या उडद के बाकले, बिना नमक आदि के इसमें लिये जाते है। आयम्बिल में रस और स्वाद रहित आहार किया जाता है और केवल आटा पानी में घोलकर भी पिया जाता है।

प्राप्त रूखे सूखे आहार, पकाये गए बरतन के पेंदे मे जमे हुए चावल खिचडी आदि का जम कर कडा हुआ अश (खुरचन) लेकर पानी में धोकर खाना और उसी पानी को पीना। ऐसा आचाम्ल तप, बेले बेले के पारने में श्री धन्नाअनगार करते थे (अनुत्तरोववाई)

आयम्बिल के आठ आगारो में पाँच तो पहले में के है। शेष तीन इस प्रकार है।

१ लेपालेप--आहार पर तो घृत आदि का लेप नही हो, किन्तु जिस वर्तन पर कुछ लगा हो या आहार देने वाले का हाथ घृतादि लेप युक्त हो, तो-पात्र या हाथ पोछ कर देने पर भी लेप का अश रहता है। ऐसे लेपालेप वाले पात्र या हाथ से लेना पडे तो आगार।

२ उत्क्षिप्त विवेक--रोटी आदि पर रक्खे हुए सूखे गुड या शक्कर को अलग करके दिया जाय तो लेने का आगार।

३ गृहस्थ ससृष्ट--जिसमें गृहस्थ के द्वारा स्वल्प मात्र घृतादि का लेप लग गया हो या घृतादि से लिप्त रोटी आदि का लेप, रूखी रोटी के लग गया हो अथवा सिझाये हुए चावल या किसी धान्य में या रोटी में पहले नमक डाल दिया हो, या बघार में कुछ

घी या तेल डाला हो तो उसका आगार। विगय स्पर्श का अंश बिलकुल स्वल्प हो तभी आगार रूप होता है।

ये आगार प्रायः साधु के लिए हैं।

(७) अभक्तार्थ–भोजन का त्याग करना अर्थात् उपवास करना। यह चौविहार भी होता है और तिविहार भी। चौविहार के उपवास में पाँच आगार होते हैं। जैसे–१ अनाभोग २ सहसाकार ३ परिस्टापनिकाकार (यह गृहस्थ के नहीं रहता) ४ महत्तरागार और ५ सर्वसमाधि प्रत्ययाकार।

तिविहार में निम्न आगार विशेष हैं।

१ लेपकृत–जो चावल लेपकारी हो जिसमें धोई हुई वस्तु का पात्र में लेप लगता हो वसा पानी।

२ अलेपकृत–छाछ का निथरा हुआ आछ और काँजी का पानी जो बिलकुल निथर गया हो और जिसका लेप पात्र का नहीं लगता हो।

३ अच्छ–गर्म किया हुआ जल।

४ बहुल–तिल चावल जौ आदि का धावन।

५ ससिक्थ–आटा आदि लगे हुए हाथ या पात्र का धोया हुआ धोवन जिसमें आटे का कुछ अंश भी हो।

६ असिक्थ–आटे आदि के धोवन को छानकर ऐसा कर दिया हो कि जिसमें उसका अंश नहीं रहा हो।

(८) दिवस चरिम–दिन अस्त होने के पूर्व किया जाने वाला प्रत्याख्यान। इसमें बाकी रहे हुए दिन और पूरी रात का त्याग हो जाता है। यह चौविहार भी होता है और तिविहार भी।

इसका दूसरा भेद 'भव चरिम' भी है। जब भव का–इस जीवन का अन्तिम समय निकट हो तब भवान्त तक=सदा के लिए प्रत्याख्यान करना और संथारा ग्रहण करके आराधक बनना है। भव-चरिम प्रत्याख्यान का उत्तम रीति से पालन किया जाय तो फिर अधिक होने में विशेष भव नहीं करने पड़ते। थोड़े ही भवों में वह भव्यात्मा भवान्त करके सिद्ध भगवान् बन जाती है।

(९) अभिग्रह–किसी प्रकार का नियम बनाकर मनमें निश्चय कर लेना कि अमुक प्रकार का योग मिलेगा तभी आहारादि लूंगा। इस प्रकार निश्चय करके प्रत्याख्यान करना अभिग्रह है। अभिग्रह का कुछ उल्लेख पृ. ४५८ में हुआ है। उनके सिवाय भी अभिग्रह हो सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि अभिग्रह किसी प्रकार के दोष से युक्त नहीं हो। अभिग्रह में दिनों की मर्यादा भी होती है। मर्यादित काल के मध्य में अभिग्रह पूरा हो जाय तो पूर्ण होने पर पार लिया जाता है अन्यथा निर्धारित समय तक तप चलता रहता है।

(१०) निर्विकृतिक—जिन वस्तुओं के खाने से मनमें विकृति उत्पन्न हो उनका त्याग करना 'निर्विकृतक' है। दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड, और मधु। दुग्धादि से बनी खीर, मावा (खोया) आदि और गरिष्ठ वस्तु का त्याग करना। इसके नौ आगार है। आठ आगार तो पहले की तरह है और नौवाँ है—'प्रतीत्यम्रक्षित'—भोजन बनाते समय यदि घृत तेल आदि का अगुली से लेप लग गया हो तो लिया जा सकता है।

(यह विषय 'प्रवचन सारोद्धार' के प्रत्याख्यान द्वार और आवश्यक हारिभद्रीय के आधार से 'जैन—सिद्धान्त बोल सग्रह' में भिन्न भिन्न स्थलो पर आया है और उसके आधार से यहाँ उपस्थित किया है।)

छोटे बडे किसी भी प्रत्याख्यान से आत्मा को सतत प्रभावित करते रहने से उत्तरोत्तर विशुद्धि होती रहती है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वे अध्ययन के १३ वे प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि—

"पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयई, इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरई।"

अर्थात् प्रत्याख्यान से आश्रव द्वारो को बन्द किया जाता है और इच्छा का निरोध हो जाता है। इच्छा निरोध होने से जीव की तृष्णा मिट जाती है। वह सभी प्रकार के द्रव्यों से तृष्णा रहित, शान्त, निश्चिन्त और शीतल हो जाता है।

अतएव परम शांति प्राप्त करने के लिए प्रत्याख्यान से आत्मा को सतत प्रभावित करते ही रहना चाहिए।

प्रत्याख्यान का विशुद्ध रीति से निर्वाह करने विषयक नियम, इसी ग्रथ के पृ १९७ में देखना चाहिए।

तप, शक्ति के अनुसार करना चाहिए। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्यायादि और अन्य धार्मिक क्रिया में विक्षेप नही पडे, मनमें उत्साह बना रहे और अपने सभी काम स्वय ही कर लिया करे, इस स्थिति को कायम रखते हुए तप हो, तो वह साधारणतया चलता रहता है। इसमे न तो किसीसे वैयावृत्य कराने की आवश्यकता होती है, न विहारादि ही रुकता है, बल्कि अन्य रोगी या वृद्ध संतों की वैयावृत्य भी हो सकती है। विशेष स्थिति मे वैयावृत्य करानी पडे, तो वह विवशता है।

आगमो में बताये हुए तप के भेदो को जानकर—समझ कर जो महानुभाव यथाशक्ति शुद्ध तप करते रहेगे, वे अपने कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त हो जावेगे।

"एव तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्व संसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ"॥ (उत्तरा० ३०)

॥ कम्म दुमुम्मूलण कुंजरस्स, नमो नमो तिव्व तवोभरस्स॥

उपसंहार

ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इन चार अंगों से परिपूर्ण धर्म ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है। इसीसे जीव संसार रूपी भयानक अटवी और रोग शोक जन्म जरा मरण तथा सभी प्रकार के भय से मुक्त होकर परमात्म दशा को प्राप्त होता है।

धर्म के चार अंगों का फल बतलाते हुए आगमकार महाराज फरमाते हैं कि—

"नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥३५॥
खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो" ॥३६॥ (उत्तरा० २८)

उत्तराध्ययन के 'मोक्ष मार्ग गति' नाम के २८ वें अध्ययन का उपसंहार करते हुए फरमाया है कि—जीव ज्ञान से वस्तु तत्त्व और हेय ज्ञेय और उपादेय को जानता है और दर्शन से श्रद्धा करता है। ज्ञान से जानी हुई और दर्शन से श्रद्धा की हुई हेय वस्तु—आस्रवद्वार को संयम से रोकता है और तप से आत्मा की शुद्धि करता है।

जो महर्षि हैं वे संयम और तप से अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय करते हैं और समस्त दुःखों का नाश करके सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं। उनकी मुक्ति हो जाती है।

इस प्रकार श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 'मोक्ष मार्ग गति' नामक २८ वें अध्ययन की प्रथम गाथा—"मोक्खमग्गगइं तच्चं" से प्रारम्भ हुआ यह ग्रंथ इसकी अन्तिम गाथा के उपसंहार से पूर्ण हो रहा है। इस ग्रंथ में जो कुछ वर्णन हुआ है वह मुख्य अथवा गौण रूप से इसी अध्ययन का विस्तार है। जो भव्यात्मा जिनेश्वर भगवन्त की परमपावनी पवित्र वाणी को हृदय में धारण कर विश्वास कर आचरण में लावेंगे—मोक्ष मार्ग पर चलेंगे वे मोक्ष प्राप्त करके परमानन्द में लीन होंगे।

॥ सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥

परिशिष्ट

(१)

आगम साहित्य

श्रुतज्ञान का वर्णन करते हुए पृ १०६ से 'अगप्रविष्ट' और 'अगवाह्य' सूत्रो की सूची दी है, किंतु वे सभी सूत्र उपलब्ध नही है। इस समय उपलब्ध सूत्रो में प्रमाण कोटि में आने वाले सूत्रो के विषय में श्वेताम्बर जैन समाज में दो मत है–१ स्थानकवासी जैन समाज और तेरापथी जैन समाज का और २ मूर्तिपूजक जैन समाज का।

स्थानकवासी और तेरापथी समाज की मान्यतानुसार सूत्र निम्न लिखित ३२ है,–

११ अङ्गसूत्र–जिनेश्वर भगवत महावीर स्वामी के द्वारा अर्थ रूप से उपदिष्ट और गणधर भगवत द्वारा सूत्र रूप से निर्मित ग्यारह अग के नाम––

१ आचाराग, २ सूयगडाग, ३ ठाणाग, ४ समवायाग, ५ विवाहप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञाताधर्मकथा, ७ उपासकदसा, ८ अतगडदसा, ९ अनुत्तरोपपातिकदसा, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाक।

१२ उपांग–गणधर और अन्य श्रुतधर आचार्यों द्वारा रचित बारह उपाग।

१ उववाई, २ रायप्रसेनी, ३ जीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७ सूर्यप्रज्ञप्ति, ८ निरयावलिका, ९ कल्पावतसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका, १२ वह्निदशा।

४ छेद सूत्र–१ व्यवहार, २ बृहद्कल्प, ३ निशीथ, ४ दशाश्रुतस्कन्ध।

४ मूलसूत्र–१ दशवैकालिक, २ उत्तराध्ययन, ३ नन्दी, ४ अनुयोगद्वार।

१ आवश्यक।

११ अग, १२ उपाग, ४ छेद, ४ मूल और १ आवश्यक--ये कुल ३२ हुए।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज-मान्य आगमो में उपरोक्त ३२ सूत्र तो है ही। इनके अतिरिक्त १३ सूत्र वे विशेष रूप से मानते है।

२ छेद सूत्र की सख्या वे ६ मानते है। उपरोक्त ४ के अतिरिक्त ५ महानिशीथ और ६ जीतकल्प को मिलाकर छ मानते है। इसमें भी उनमें मतभेद है। कोई जीतकल्प को छेद में स्थान देते है, तो कोई 'पचकल्प' को।

१ **'पिंडनिर्युक्ति,'**–इसके स्थान पर कोई 'ओघनिर्युक्ति' मानते है और इसे मूल में स्थान देते है। साथ ही आवश्यक को भी मूल में स्थान देकर मूल की सख्या भी ६ कर देते हैं, तब एक पक्ष

उपसंहार

ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इन चार अंगों से परिपूर्ण धर्म ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है। इसीसे जीव संसार रूपी भयानक अटवी और रोग शोक जन्म जरा मरण तथा सभी प्रकार के भय से मुक्त होकर परमात्म दशा को प्राप्त होता है।

धर्म के चार अंगों का फल बतलाते हुए आगमकार महाराज फरमाते हैं कि—

> "नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
> चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥३५॥
> खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
> सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो" ॥३६॥ (उत्तरा॰ २८)

उत्तराध्ययन के 'मोक्ष मार्ग गति' नाम के २८ वे अध्ययन का उपसंहार करते हुए फरमाया है कि—जीव ज्ञान से वस्तु तत्त्व और हेय ज्ञेय और उपादेय को जानता है और दर्शन से श्रद्धा करता है। ज्ञान से जानी हुई और दर्शन से श्रद्धा की हुई हेय वस्तु—आस्रवद्वार को संयम से रोकता है और तप से आत्मा की शुद्धि करता है।

जो महर्षि हैं वे संयम और तप से अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय करते हैं और समस्त दुःखों का नाश करके सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं। उनकी मुक्ति हो जाती है।

इस प्रकार श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 'मोक्ष मार्ग गति' नामक २८ वें अध्ययन की प्रथम गाथा—"मोक्खमग्गगइं तच्चं" से प्रारम्भ हुआ यह ग्रंथ इसकी अन्तिम गाथा के उपसंहार से पूर्ण हो रहा है। इस ग्रंथ में जो कुछ वर्णन हुआ है वह मुख्य अथवा गौण रूप से इसी अध्ययन का विस्तार है। जो भव्यात्मा जिनेश्वर भगवन्त की परमपावनी पवित्र वाणी को हृदय में धारण कर विश्वास कर आचरण में लावेंगे—मोक्ष मार्ग पर चलेंगे वे मोक्ष प्राप्त करके परमानन्द में लीन होंगे।

॥ सिद्धा सिद्धिं मम दिसतु ॥

पुण्यानुबन्धी पुण्य

पुण्यानुबन्धी पुण्य, वह दशा है कि जिसमें पुण्य का उदय हो और साथ ही प्रवृत्ति भी शुभ हो, जिससे पुण्य का बन्ध भी होता रहे, जो भविष्य में सुख का कारण बने। इस प्रकार के जीव वर्तमान में सुखी होते है और भविष्य में भी सुखी होते है। जिन्होने पूर्व जन्म मे सदाचार का पालन करके पुण्य का सचय किया, उस पुण्य का सुख रूप फल यहा भोग रहे है। यहा सुखानुभव करते हुए वे सदाचार का पालन करके आगे के लिए पुण्य का अनुबन्ध करते-है। श्री स्थानाग सूत्र स्थान ४ उ० ४ में एक चतुर्भंगी के प्रथम भग का नाम-**'सुभे नाम मेगे सुभे'** है। इसे हम "पुण्यानुबन्धी पुण्य" रूप मान सकते है। टीकाकार श्री अभयदेव सूरिजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है,-

"शुभं-पुण्यप्रकृतिरूपं पुनः शुभं-शुभानुबन्धित्वाद् भरतादिनामिव।"

श्री हरीभद्रसूरिजी के 'अष्टक प्रकरण' के अन्तर्गत 'पुण्यानुबन्धी-पुण्यादि विवरण' नामक २४वें अष्टक की टीका में इसका अर्थ करते हुए लिखा कि-जो शुभ से शुभतर की ओर ले जाय-**"शोभनात् रमणीयात्.....अधिकं शोभनतरं, "मनुष्यादि शुभ भावानुभवहेतुर्भवति तदनन्तरं देवादिगति परंपरा कारणं तत्पुण्यानुबन्धिपुण्यमुच्यते"** मनुष्यादि शुभ गति में सुखानुभव करते हुए देवगति अथवा मोक्ष के लिए परम्परा कारण रूप बने, उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते है।

प्रश्न-पुण्यानुबन्धी पुण्य, किस प्रकार होता है?

उत्तर-ज्ञान सहित और निदान रहित, धर्म का आचरण करने से पुण्यानुबन्धी पुण्य होता है-**"ज्ञानपूर्वक निर्निदान कुशलानुष्ठानावद्भवति भरतादेरिवेति"** इस अष्टक के अन्तिम श्लोक में स्वय हरीभद्रसूरिजी लिखते है कि-

"दयाभूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरुपूजनम्। विशुद्धाशीलवृत्तिश्च, पुण्यंपुण्यानुबन्ध्यदः।"

तात्पर्य यह है कि शुद्ध रीति से श्रावक और साधु के आचार का पालन करने से पुण्यानुबन्धी-पुण्य होता है।

शका-श्रावक और साधु का आचार (धर्म) बन्ध का कारण नही होता। श्री भगवती सूत्र श० २ उ० ५ में लिखा है कि-"सयम का फल आस्रव रहित=सवर है और तप का फल व्यवदान = कर्म छेदन = निर्जरा है, तथा श० १ उ० ४ में भी स्पष्ट लिखा है कि-"जीव, बालवीर्य से ही परलोक गमन करता है किन्तु पण्डित वीर्य अथवा बालपण्डित वीर्य से नही, इसका भाव भी यही है कि श्रावक और साधु का धर्म, बन्ध का कारण नही है। फिर आप धर्म को बन्ध का कारण कैसे कहते है?

मूल तो चार ही मानता है किन्तु आवश्यक को मूल में स्थान देकर नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र को चूलिका सूत्र के रूप में मानते हैं।

१० प्रकीर्णक— १ चउसरणपइन्ना २ आतुरप्रत्याख्यान ३ भक्तपरिज्ञा ४ संथारगपइन्ना ५ तन्दुलवेयालिय ६ चन्द्रवेध ७ देवेन्द्रस्तव ८ गणीविद्या ९ महाप्रत्याख्यान और १० वीरस्तव।

इसमें भी मतभेद है। कोई 'चन्द्रवेधक' का स्थान गच्छाचारपइन्ना को देते हैं और वीरस्तव का स्थान 'मरणसमाधि पइन्ना' को देते हैं।

इस प्रकार छेद में २ मूल में १ और प्रकीर्णकसूत्र १० य १३ बढ़कर कुल ४५ हुए। इसके सिवाय भी अनेक ग्रन्थों निर्युक्ति भाष्य टीका चूर्णि और अवचूरि आदि को भी प्रमाण रूप मानते हैं।

[२]

पुण्य पाप के भेद

विश्व में ऐसा कौन प्राणी है—जो दुःखी रहना चाहता हो? समस्त प्राणी सुख—वैभव चाहते हैं दुःख कोई भी नहीं चाहता। फिर भी जीवों की दुःखी हालत देखी सुनी तथा अनुभव की जाती है। इसका मूल कारण जीव की विभाव-दशा है। विभाव-दशा से वह दुष्कर्म करता है और दुःखी होता है। जो सुखी दिखाई देते हैं उन्होंने भी कर्म बन्ध तो किया है किन्तु वह बन्ध अशुभ नहीं होकर शुभ बन्ध है जिसके परिणाम स्वरूप जीव सुख का अनुभव करता है। जीव कर्म बाँधने में स्वतन्त्र है, किन्तु भोगने में स्वतन्त्र नहीं है।

संसार के विविध दृश्य देखकर विचारक सोचता है— "यह कैसी विचित्र बात है कि दुष्कर्म करने वाले सुखी और सदाचारी दुःखी हैं। धूर्त रिश्वतखोर और अत्याचारी सुखी और सरल शील तथा ईमानदारी दुःखी हैं इसका क्या रहस्य है? क्या दुष्कर्म का फल सुख और सदाचार का फल दुःख है?" ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तुम ऊपरी दशा देखकर सोचते हो इसलिए तुम्हें अचरज होता है। वास्तव में सुख की प्राप्ति शुभ कर्म के उदय से होती है और दुःख अशुभ कर्मों से मिलता है। यदि तुम कर्म बन्ध के निम्न चार प्रकारों को ठीक तरह से समझ लो तो फिर तुम्हें आश्चर्य नहीं होगा।

१ पुण्यानुबन्धी पुण्य २ पापानुबन्धी पुण्य ३ पुण्यानुबन्धी पाप ४ पापानुबन्धी पाप।

उपरोक्त भंगों पर कुछ विचार किया जाता है।

पुण्यानुबन्धी पुण्य

पुण्यानुबन्धी पुण्य, वह दशा है कि जिसमें पुण्य का उदय हो और साथ ही प्रवृत्ति भी शुभ हो, जिससे पुण्य का बन्ध भी होता रहे, जो भविष्य में सुख का कारण बने। इस प्रकार के जीव वर्तमान में सुखी होते है और भविष्य मे भी सुखी होते है। जिन्होने पूर्व जन्म में सदाचार का पालन करके पुण्य का सचय किया, उस पुण्य का सुख रूप फल यहा भोग रहे है। यहा सुखानुभव करते हुए वे सदाचार का पालन करके आगे के लिए पुण्य का अनुबन्ध करते है। श्री स्थानाग सूत्र स्थान ४ उ० ४ में एक चतुर्भंगी के प्रथम भग का नाम–**'सुभे नाम मेगे सुभे'** है। इसे हम "पुण्यानुबन्धी पुण्य" रूप मान सकते है। टीकाकार श्री अभयदेव सूरिजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है,–

"शुभं-पुण्यप्रकृतिरूपं पुनः शुभं–शुभानुबन्धित्वाद् भरतादिनामिव।"

श्री हरीभद्रसूरिजी के 'अष्टक प्रकरण' के अन्तर्गत 'पुण्यानुबन्धी-पुण्यादि विवरण' नामक २४वें अष्टक की टीका में इसका अर्थ करते हुए लिखा कि–जो शुभ से शुभतर की ओर ले जाय–**"शोभनात् -रमणीयात्.....अधिकं शोभनतरं, "मनुष्यादि शुभ भावानुभवहेतुर्भवति तदनन्तरं देवादिगति परंपरा कारणं तत्पुण्यानुबन्धिपुण्यमुच्यते"** मनुष्यादि शुभ गति में सुखानुभव करते हुए देवगति अथवा मोक्ष के लिए परम्परा कारण रूप बने, उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते है।

प्रश्न–पुण्यानुबन्धी पुण्य, किस प्रकार होता है ?

उत्तर–ज्ञान सहित और निदान रहित, धर्म का आचरण करने से पुण्यानुबन्धी पुण्य होता है–**"ज्ञानपूर्वक निर्निदान कुशलानुष्ठानावद्भवति भरतादेरिवेति"** इस अष्टक के अन्तिम श्लोक में स्वय हरीभद्रसूरिजी लिखते है कि–

"दयाभूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरुपूजनम्। विशुद्धाशीलवृत्तिश्च, पुण्यंपुण्यानुबन्ध्यदः।"

तात्पर्य यह है कि शुद्ध रीति से श्रावक और साधु के आचार का पालन करने से पुण्यानुबन्धी-पुण्य होता है।

शका–श्रावक और साधु का आचार (धर्म) बन्ध का कारण नही होता। श्री भगवती सूत्र श० २ उ० ५ में लिखा है कि–"सयम का फल आस्रव रहित=सवर है और तप का फल व्यवदान = कर्म छेदन = निर्जरा है, तथा श० १ उ० ४ में भी स्पष्ट लिखा है कि–"जीव, बालवीर्य से ही परलोक गमन करता है किन्तु पण्डित वीर्य अथवा बालपण्डित वीर्य से नही, इसका भाव भी यही है कि श्रावक और साधु का धर्म, बन्ध का कारण नही है। फिर आप धर्म को बन्ध का कारण कैसे कहते हैं ?

समाधान—वास्तव में विरति और तप का फल 'बंध' नहीं है किन्तु सकषाय अवस्था में बंध होता ही है। जहां कषाय है वहां साम्परायिकी क्रिया लगती है (भ० ८-८) आपने श० २ उ० ५ का उल्लेख किया किन्तु उसके बाद ही लिखा है कि—'जो जीव संयम और तप का आचरण करके स्वर्ग में जाते हैं वे—१ पूर्व के तप (बाह्यतप) २ पूर्व संयम (सराग संयम) ३ सकर्मीपन और ४ संगीपन (पर से सम्बन्धित होने) के कारण संयम और तप का आचरण करते हुए भी बंध करके देवगति में जाते हैं। पूर्व के संयम अर्थात् सराग संयम और पूर्व के तप अर्थात् बाह्य तप ऐसी साधना है कि जिसके होते हुए भी अनादिकाल से लगा हुआ कषाय का अंश बाकी रहता है। अतएव बंध होता है। संयमी जीवन में सरागता लगी रहने के कारण ही सराग-संयम कहा गया है। संयम संवर का कारण है और राग बंध का कारण है। इसलिए सराग-संयम शुभ बंध का कारण कहा जाता है। यह बात भगवती श० ७ उ० ६ से भी सिद्ध होती है। वहां लिखा है कि—'प्राणातिपातादि १८ पाप की विरति से अकर्कश वेदनीय (सुख रूप वेदने योग्य) कर्म का बंध होता है। वास्तव में विरति अपने आप में बंध का कारण नहीं है किन्तु उसके साथ जीव में रहे हुए 'पर संयोग—संयोगता सवीर्यता सद्रव्यता (पुद्गल का साथ) प्रमाद कर्म योग भव और आयुष्य ये बंध के कारण हैं। (भगवती ८-६) अतएव शंका जैसी कोई बात नहीं है। जीव के अपने स्वभाव से बन्ध नहीं होता विभाव परिणति से बंध होता है। भ० श० ४१ उ० १ में लिखा कि जीव जो जन्म मरण करते हैं वे अपने यश (प्रशंसनीय गुण-स्वरूप के सामर्थ्य) से नहीं किन्तु अयश (अप्रशंसनीय आधार पराधसम्बन्ध) से करते हैं। यदि हम समझें तो यहां निश्चय व्यवहार का सुमेल दिखाई देगा।

बंधन मात्र हेय है फिर भले ही वह शुभ हो या अशुभ पुण्यानुबन्धी हो या पापानुबन्धी। साधक दशा में पुण्यानुबन्धी पुण्य से क्रमिक विकास सम्भव होता है। कई प्रकार के खतरों से बचाता है और होते होते पूर्णता प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार एक दरिद्री को—जिसके पास एक कौड़ी भी नहीं है लोह का टुकड़ा मिल जाय तो वह प्रसन्न होता है और सोचता है कि—इसे बेचकर एक समय का भोजन पा सकूंगा। यदि उस लोह के बाद पारस मिल जाय तो वह फिर लोहा लेने का लालायित नहीं होगा। अगर चांदी मिल जाय तो फिर पीतल की ओर नहीं देखेगा और स्वर्ण मिलने लगे तो चांदी की चाह नहीं करेगा। बहुमूल्य रत्न मिलने लगे तो वह सोने की इच्छा नहीं करेगा। इस प्रकार क्रमशः समृद्ध होते होते वह अपनी दरिद्रता मिटाकर स्वयं समृद्ध हो जाता है। इस प्रकार पुण्यानुबन्धी पुण्य भी बन्धन है किन्तु उस अधमाधम पापानुबंधीपाप दशा से (जो अत्यन्त दरिद्र होकर भयंकर दरिद्रता की ओर ही बढ़ रही है) बहुत ही उत्तम है। पुण्यानुबन्धी पुण्य वाला सराग संयमी अथवा संयमासंयमी जीव निदान का अनन्त पर वस्तुओं से निवृत्त होकर थोड़ी सी वस्तुओं तक ही अपना सम्बन्ध रखता है और उसे भी त्यागने योग्य मानता है। उसने जिन अनन्त वस्तुओं से अपने को अलग किया

उनसे वह निर्वन्ध हो जाता है। इस दृष्टि से उसके शुभ वन्ध भी कम और सकाम निर्जरा उससे भी असंख्य गुण अधिक होती है। पुण्यानुवन्धी पुण्य वाली भव्यात्मा, अपनी शुभ परिणति के चलते, वध थोडा और निर्जरा वहुत अधिक करती है। तीर्थंकर नामकर्म, मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती और वे सद्-गृहस्थ जो यहाँ सुखी, यशवन्त, समृद्ध, होते हुए, त्याग विराग और विरति से शुभ से शुभतर की ओर अग्रसर होते है। वे सब सकाम निर्जरा करने के साथ पुण्यानुवन्धी पुण्य का सचय करते हैं। उनका ध्येय तो निर्वन्ध होने का होता है, लेकिन नही चाहते हुए भी उनको ऐसा शुभ वन्ध हो ही जाता है।

पुण्यानुवन्धी पुण्य का महान् फल, तीर्थंकरपना होता है। इससे उतरता फल मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती रूप होता है। वर्तमान सुख रूप अवस्था से विशेष सुख रूप अवस्था की ओर ले जाने वाला यह पहला प्रकार है, फिर भले ही वह जघन्य हो या उत्कृष्ट।

श्रीमद् हरीभद्रसूरिजी भव्य जीवों को उपदेश करते हुए लिख गये कि-

"शुभानुवन्ध्यतः पुण्यं, कर्त्तव्यं सर्वथा नरैः। यद् प्रभावादपातिन्यो, जायन्ते सर्व सम्पदः"।

जिसके प्रभाव से शाश्वत सुख और मोक्ष रूप समस्त सम्पदा की प्राप्ति हो-ऐसे पुण्यानुवधी पुण्य का मनुष्यो को सभी प्रकार से सेवन करना चाहिए अर्थात् श्रावक और साधु के धर्म का विशेष रूप से पालन करना चाहिए।

पापानुबन्धी पुण्य

कर्म वन्ध का दूसरा भेद "पापानुवन्धी" पुण्य है। जो पूर्व पुण्य का सुखरूप फल पाते हुए, वर्त्तमान में पाप का अनुवन्ध कर रहे है, वे इस भेद मे आते है। श्री अभयदेवसूरिजी और हरीभद्र-सूरिजी इस विषय में 'ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती' का उदाहरण प्रस्तुत करते है। ब्रह्मदत्त ने पूर्वभव में सयम और तप का उग्र रूप से पालन किया था कि जिससे वह महान् चक्रवर्ती हुआ। पुण्य के महान् उदय मे उसे उत्कृष्ट भोग सामग्रिया प्राप्त हुई, किन्तु वह भोगो मे अत्यन्त गृद्ध हो गया और पाप का भयकर अनुवध करके नरक में गया। यह पापानुवन्धी पुण्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। वर्त्तमान मे जो लोग शरीर, धन, कुटुम्ब और अधिकार आदि से सम्पन्न और सुखी देखे जाते है, उनके पूर्वोपार्जित पुण्य का उदय है। यदि ऐसे मनुष्य, इस प्रकार की सामग्री पाकर, भोगविलास और अन्याय अत्याचार करके पापो का उपार्जन करते है, तो वे पापानुवधीपुण्य के स्वामी है। उनकी दुर्गति होती है। पूर्व के पुण्य रूप फल का जो दुरुपयोग करते है, उनको पाप का अनुबध होता है। ऐसे व्यक्तियो को देख कर साधरण जनता, भ्रम में पड जाती है। उसके मनमें सन्देह उत्पन्न होता है कि "धर्म कर्म सव

समाधान—वास्तव में विरति और तप का फल, बन्ध नहीं है किन्तु सकषाय अवस्था में बन्ध होता ही है। जहां कषाय है वहां साम्परायिकी क्रिया लगती है (भ० ८–८) आपने श० २ उ० ५ का उल्लेख किया किंतु उसके बाद ही लिखा है कि— जो जीव संयम और तप का आचरण करके स्वर्ग में जाते हैं वे–१ पूर्व के तप (बाह्यतप) २ पूर्व संयम (सराग संयम), ३ सकर्मीपन और ४ संगीपन (पर से सम्बन्धित होने) के कारण संयम और तप का आचरण करते हुए भी बंध करके देवगति में जाते हैं। पूर्व के संयम अर्थात् सराग संयम और पूर्व-के तप अर्थात् बाह्य तप ऐसी साधना है कि जिसके होते हुए भी अनादिकाल से लगा हुआ कषाय का अंश शेष रहता है। अतएव बन्ध होता है। संयमी जीवन में सरागदशा लगी रहने के कारण ही सराग–संयम कहा गया है। संयम संवर का कारण है और राग बन्ध का कारण है। इसलिए सराग–संयम शुभ बन्ध का कारण कहा जाता है। यह बात भगवती श० ७ उ० ६ से भी सिद्ध होती है। वहां लिखा है कि— प्राणातिपातादि १८ पाप की विरति से अकर्कश वदनीय (सुख रूप वदने योग्य) कर्म का बन्ध होता है। वास्तव में विरति अपने आप में बन्ध का कारण नहीं है किन्तु उसके साथ जीव में रहे हुए 'पर संयोग'—सयोगता सवीर्यता सद्रव्यता (पुद्गल का साथ) प्रमाद कर्म योग भव और आयुष्य ये बन्ध के कारण हैं। (भगवती ८–९) अतएव शंका जैसा कोई बात नहीं है। जीव के अपने स्वभाव से बन्ध नहीं होता विभाव परिणति से बन्ध होता है। भ श ४१ उ १ में लिखा कि जीव जो जन्म मरण करते हैं वे अपने यश (प्रशंसनीय गुण=स्वत के सामर्थ्य) से नहीं किन्तु अयश (अप्रशंसनीय आचार परावलम्बन) से करते हैं। यदि हम समझें तो यहां निश्चय व्यवहार का सुमेल दिखाई देगा।

बंधन मात्र हेय है फिर भले ही वह शुभ हो या अशुभ पुण्यानुबन्धी हो या पापानुबन्धी। साधक दशा में पुण्यानुबन्धी पुण्य से क्रमिक विकास सरल होता है। कई प्रकार के खतरों से बचाता है और होते होते पूर्णता प्राप्त करा देता है। जिस प्रकार एक दरिद्री का—जिसके पास एक कौड़ा भी नहीं है लोह का टुकड़ा मिल जाय तो वह प्रसन्न होता है और सोचता है कि—इस बेचकर एक समय का भोजन पा सकूंगा। यदि उस लोह के बाद पीतल मिल जाय तो वह फिर लोहा लेने का लालायित नहीं होता। मगर चांदी मिल जाय तो फिर पीतल का भार नहीं उठावेगा और स्वर्ण मिलने लगे तो चांदी की चाह नहीं करेगा। बहुमूल्य रत्न मिलने लगे तो वह सोने की इच्छा नहीं करेगा। इस प्रकार क्रमशः समृद्ध होते होते वह अपनी दरिद्रता मिटाकर स्वयं समृद्ध हो जाता है। इस प्रकार पुण्यानुबन्धी पुण्य भी बन्धन है किन्तु उस अधमाधम पापानुबन्धीपाप दशा से (जो परम्परा दरिद्री होकर भीषण दरिद्रता की धार ही भोग रही है) बहुत ही उत्तम है। पुण्यानुबन्धी पुण्य वाला सराग संयमी अथवा संयमासंयमी जीव दुनिया की अनन्त पर वस्तुओं से निवृत्त होकर थोड़ीसी वस्तुओं तक ही अपना सम्बन्ध रखता है और उसे भी त्यागभाव मानता है। उसने जिन अनन्त वस्तुओं से अपने का सम्बन्ध किया

उनसे वह निर्बन्ध हो जाता है। इस दृष्टि से उसके शुभ बन्ध भी कम और सकाम निर्जरा उससे भी असख्य गुण अधिक होती है। पुण्यानुबन्धी पुण्य वाली भव्यात्मा, अपनी शुभ परिणति के चलते, बध थोडा और निर्जरा बहुत अधिक करती है। तीर्थकर नामकर्म, मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती और वे सद्-गृहस्थ जो यहाँ सुखी, यशवन्त, समृद्ध, होते हुए, त्याग विराग और विरति से शुभ से शुभतर की ओर अग्रसर होते है। वे सब सकाम निर्जरा करने के साथ पुण्यानुबन्धी पुण्य का सचय करते है। उनका ध्येय तो निर्बन्ध होने का होता है, लेकिन नही चाहते हुए भी उनको ऐसा शुभ बन्ध हो ही जाता है।

पुण्यानुबन्धी पुण्य का महान् फल, तीर्थंकरपना होता है। इससे उतरता फल मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती रूप होता है। वर्तमान सुख रूप अवस्था से विशेष सुख रूप अवस्था की ओर ले जाने वाला यह पहला प्रकार है, फिर भले ही वह जघन्य हो या उत्कृष्ट।

श्रीमद् हरीभद्रसूरिजी भव्य जीवो को उपदेश करते हुए लिख गये कि—

"शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं, कर्त्तव्यं सर्वथा नरैः। यद् प्रभावादपातिन्यो, जायन्ते सर्व सम्पदः"।

जिसके प्रभाव से शाश्वत सुख और मोक्ष रूप समस्त सम्पदा की प्राप्ति हो—ऐसे पुण्यानुबधी पुण्य का मनुष्यो को सभी प्रकार से सेवन करना चाहिए अर्थात् श्रावक और साधु के धर्म का विशेष रूप से पालन करना चाहिए।

पापानुबन्धी पुण्य

कर्म बन्ध का दूसरा भेद "पापानुबन्धी" पुण्य है। जो पूर्व पुण्य का सुखरूप फल पाते हुए, वर्त्तमान में पाप का अनुबन्ध कर रहे है, वे इस भेद मे आते है। श्री अभयदेवसूरिजी और हरीभद्र-सूरिजी इस विषय मे 'ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती' का उदाहरण प्रस्तुत करते है। ब्रह्मदत्त ने पूर्वभव में सयम और तप का उग्र रूप से पालन किया था कि जिससे वह महान् चक्रवर्ती हुआ। पुण्य के महान् उदय से उसे उत्कृष्ट भोग सामग्रिया प्राप्त हुई, किन्तु वह भोगो में अत्यन्त गृद्ध हो गया और पाप का भयकर अनुबध करके नरक में गया। यह पापानुबन्धी पुण्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। वर्त्तमान मे जो लोग शरीर, धन, कुटुम्ब और अधिकार आदि से सम्पन्न और सुखी देखे जाते है, उनके पूर्वोपार्जित पुण्य का उदय है। यदि ऐसे मनुष्य, इस प्रकार की सामग्री पाकर, भोगविलास और अन्याय अत्याचार करके पापो का उपार्जन करते है, तो वे पापानुबधीपुण्य के स्वामी है। उनकी दुर्गति होती है। पूर्व के पुण्य रूप फल का जो दुरुपयोग करते है, उनको पाप का अनुबध होता है। ऐसे व्यक्तियो को देख कर साधरण जनता, भ्रम में पड जाती है। उसके मनमें सन्देह उत्पन्न होता है कि "धर्म कर्म सब

व्यर्थ की बातें हैं। यदि पाप का फल दुःखदायक होता तो ऐसे पापी सुखी और समृद्ध क्यों होते?" वे यह नहीं सोचते कि इन्हें सुख मिला है वह पाप के फल स्वरूप नहीं किन्तु पूर्वभव में किये हुए पुण्य के फल विपाक से है। जब पुण्य का खजाना खाली हो जायगा और पाप का भयंकर प्रकोप होगा तब वर्त्तमान सुख नष्ट होकर दुःख परम्परा में फँस जाएँगे। जिस प्रकार बाप की कमाई पर गुलछर्रे उड़ानेवाला बेटा आगे चलकर दिवालिया और दरिद्री होकर दूसरों का मुहताज हो जाता है उसी प्रकार इस भेद वाले बाद में दुःखी होते हैं। हिटलर मुसोलिनी आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। शुभ से अशुभ की ओर ले जाने वाला यह दूसरा भेद है।

धर्म-सिद्धांत पर अश्रद्धा रखनेवाले तार्किक इस सिद्धांत से असहमत होकर कहते हैं कि धनादि की प्राप्ति पुण्य के फलस्वरूप नहीं किन्तु पाप के फलस्वरूप है। पाप छल प्रपञ्च काला-बाजार या भ्रष्टाचार करने से ही इतना अधिक धन प्राप्त होता है। सदाचार-सचाई और ईमानदारी से इतनी सम्पत्ति नहीं मिल सकती। इसलिए यह मानना चाहिए कि सम्पत्ति की प्राप्ति पाप का परिणाम है-पुण्य का नहीं। इस प्रकार के विचार वाले प्रत्यक्ष को ही देखते हैं। उनकी दृष्टि परोक्ष की ओर नहीं जाती। यदि वर्त्तमान प्रवृत्ति के फल स्वरूप ही धनादि की प्राप्ति होती है तो वे लोग उन्हें क्या मानेंगे जो चोरी जारी या भ्रष्टाचार करते समय पकड़े जाकर दुःखी होते हैं और पाते कुछ नहीं? यदि इच्छित वस्तु की प्राप्ति होना पाप का परिणाम है तो जिन्हें प्राप्त तो कुछ नहीं होता उल्टा घर का गँवाना पड़ता है उनको किसका परिणाम मानेंगे? वास्तव में किसी भी प्रकार की इच्छित वस्तु की प्राप्ति पुण्य के फलस्वरूप ही होती है फिर भले ही वह पापमय साधनों-निमित्तों से हो या और किसी प्रकार। एक मनुष्य को बिना काला धोला या बेईमानी के ही अनायास बाजार भाव के बढ़ जाने से अथवा सम्बन्धी का वारिस हो जाने से सम्पत्ति की प्राप्ति हो जाती है और दूसरे को भ्रष्टाचार के निमित्त से मिलती है तथा तीसरा भ्रष्टाचार करके भी कुछ नहीं पाता उल्टा घर का गँवाकर दण्डित होता है। इन तीनों की दशा पर सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार किया जाय तो पहले के दो व्यक्तियों को जो प्राप्ति हुई, वह पुण्य के उदय से ही हुई है। किन्तु दोनों के पुण्य में अन्तर है। प्रथम व्यक्ति का शुभोदय उत्तम प्रकार का है, इससे वह बिना ही किसी अशुभ परिणति के इच्छित वस्तु पा गया किन्तु दूसरे व्यक्ति का शुभोदय कषाय की काली कालिमा लिए हुए हुआ और तीसरे व्यक्ति के तो शुभोदय है ही कहाँ वहाँ का तो पाप का उदय है।

लगभग आठ वर्ष पूर्व उपाध्याय कवि श्री अमरचन्दजी म० से जोधपुर में मेरी बातचीत हुई थी। वे भी एसे ही विचार वाले थे। उन्होंने हमारे सामने एक सैद्धान्तिक समस्या उपस्थित की। उन्होंने कहा कि "धन सम्पत्ति और स्त्री पुत्रादि की प्राप्ति यदि पुण्य के फल स्वरूप होती है तो

उन देवों को पुण्य का उदय नहीं मानकर पाप का उदय मानना पड़ेगा–जहाँ देवियों का अस्तित्व ही नहीं है। यदि उन ऊपर के वैमानिक और कल्पातीत देवों को महान् पुण्यशाली मानते हो, तो यह भी मानना पड़ेगा कि स्त्रियादि की प्राप्ति पुण्य के फल स्वरूप नहीं है।" यदि कविश्री, गहराई तक पहुँचते, तो समाधान असंभव नहीं था। सबसे पहले यह समझने की आवश्यकता है कि 'इच्छित तथा अनुकूल वस्तु की प्राप्ति होना पुण्य का फल है"। इस अर्थ को केन्द्रीभूत करके हम एक उदाहरण लेवें, तो सरलता से समझ में आ जायगा।

आत्माराम और भोगीलाल नाम के दो व्यक्ति हैं। दोनों सदाचारी और धर्मात्मा हैं, किन्तु उनकी परिणति में तरतमता है। आत्माराम की इच्छा है कि उसकी साधना बढ़ती रहे। भौतिक सुख सुविधाओं को वह अन्त करण में हेय मानता है। उसकी कामभोग में रुचि ही नहीं है। यदि कहीं वैसे संयोग उपस्थित हो जायँ, तो उसे अरुचिकर लगते हैं और वह उन्हें छोड़कर एकान्त साधना में लगना चाहता है। स्वाध्याय ध्यान और व्युत्सर्ग में ही उसकी रुचि है। इसकी अनुकूलता मिल जाय, तो वह प्रसन्न होता है। दूसरा भोगीलाल, भोगों की कामना रखता है, यदि उसे इच्छित भोग सामग्री मिले, तो वह प्रसन्न होता है। अब सोचिए कि पुण्य का फल इच्छित वस्तु की प्राप्ति है, तो आत्माराम की इच्छित वस्तु स्वाध्यायादि की अनुकूलता है, और भोगीलाल की इच्छित वस्तु है स्त्री आदि उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति। दोनों की इच्छा में कितना अन्तर है? दोनों की इच्छानुसार संयोग मिलना ही पुण्य का फल है। यदि आत्माराम को भोग सामग्री मिल जाय, तो वह उसकी इच्छा के प्रतिकूल होती है। इस उदाहरण पर विचार करने से यह समझना सरल होगा कि जिन महान् आत्माओं की साधना में भोग कामना जितनी कम होगी, वे उतने ही उच्च स्थिति को प्राप्त होंगे और उनको वही स्थिति संतोषप्रद होगी। 'चित्त' मुनिराज, त्याग करके प्रसन्न हुए और 'ब्रह्मदत्त' भोग में प्रसन्न था। दोनों को इच्छित फल की प्राप्ति पुण्य से हुई। किन्तु चित्त मुनि का पुण्य फल, पुण्यानुबन्धी था, तब ब्रह्मदत्त का था पापानुबंधी। ब्रह्मदत्त का भोग चाहिए थे, और चित्त मुनि को त्याग। निदानों की पूर्ति भी पुण्य के फल स्वरूप होती है। आदि के निदान भोग प्राप्ति के कारण है और अन्त के त्याग के संयोग प्राप्त होने के। दोनों की इच्छा पूर्ति होती है। यह इच्छा पूर्ति पुण्य के फल स्वरूप होती है, परन्तु दोनों की इच्छा में अन्तर है। एक जिसे हेय मानता है, दूसरा उसे गले लगाता है। यदि सन्निपात के रोगी को खीर या हलुआ मिल जाय, तथा भूखे को कड़वा कुनैन मिल जाय, तो वह पाप का उदय मानना चाहिए। रोगी को कुनैन और भूखे का भोजन मिलना (अनुकूल वस्तु मिलना) ही पुण्य का परिणाम हो सकता है।

व्यक्ति की धर्म साधना में कामना की मात्रा जितनी कम होगी, वह उतना ही ऊपर उठेगा

और वसे ही स्थान पर उत्पन्न होगा—जहाँ उसकी अनुकूलता हो। ऊपर के देवों की स्त्री सम्बन्धी काम भोगों की इच्छा नीचे के देवों जैसी नहीं होती, और कल्पातीत में तो होता ही नहीं। इसलिए वहां देवांगना का नहीं होना पुण्य का उदय है।

परिणामों की विचित्रता से पुण्य के प्रकारों और फलों में विविधता तथा तरतमता होती है। अतएव तर्क के आधार पर सिद्धांत से अश्रद्धालु बनने वालों को गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिए।

पुण्यानुबंधी पाप

कर्म बन्ध का तीसरा भेद 'पुण्यानुबंधी पाप' है। पूर्व भव में किये हुए पाप रूप अशुभ कर्मों का फल पाते हुए भी जो शुभ प्रवृत्ति से पुण्य बन्ध करते हैं वे इस भव के अंतर्गत आते हैं। इस विषय में चण्डकौशिक सर्प का उदाहरण प्रसिद्ध है। तीव्र कषाय से पाप कर्म का बन्ध करके सर्प रूप में उत्पन्न होने वाला चण्डकौशिक पाप का फल भोग रहा था किंतु भ. महावीर के निमित्त से उसकी परिणति पलटी और इस अशुभ दशा में भी उसने शुभ का अनुबन्ध कर लिया। पाप प्रधान स्थिति में भी धर्म का आचरण करके शुभ भव का अनुबन्ध कर लेना इस भेद का लक्षण है। नन्दन मनिहार का जीव मेंढक भी इसी भव का स्वामी था। आज वह दैविक सुख का अनुभव कर रहा है और अंत में मोक्ष लाभ कर लेगा।

इस भेद में उन मनुष्यों का भी समावेश हो सकता है जो धर्मात्मा होते हुए भी शारीरिक आर्थिक और मानसिक दुःखों का अनुभव करते हैं। यद्यपि उनको प्राप्त हुआ मनुष्य भव उत्तम-कुल आदि पुण्य के परिणाम स्वरूप है तथापि असातावेदनीय और अन्तराय कर्म के उदय से वे पीड़ित होते हैं। यह अशुभ कर्मों के उदय का ही परिणाम है। सम्यग्दृष्टि तो समझते हैं कि हमें जिन प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है वह सब हमारे पूर्व के पापों का ही परिणाम है। हम अपने ही दुष्कर्मों का फल भोग रहे हैं। हमें किसी दूसरे ने दुःखी नहीं बनाया। हम स्वयं अपने ही कुकृत्यों का फल पा रहे हैं। किन्तु अनसमझ लोग अथवा धर्म के प्रति अश्रद्धालु भौतिकवादी बन्धु कहा करते हैं कि यदि धर्म या पुण्य का सुफल होता तो ये धर्मात्मा दुःखी क्यों होते? सती साध्वी स्त्री को खाने पीने के लाले क्यों पड़ते? इसलिए धर्म पुण्य सब व्यर्थ की विडम्बना है। इस प्रकार की मान्यता वाले बन्धु जब पापानुबन्धी पुण्य नामक दूसरे भेद वालों से अपना मिलान करते हैं तो वे बगावत के स्वर में बोल उठते हैं कि ये सफेदपोश व्यक्ति अपनी चालाकियों से अथवा पापों से सम्पत्ति को दबा बैठे हैं और हम दुःखी हो रहे हैं। हमारे दुःख का कारण कर्मजन्य फल नहीं किन्तु इन संग्रह खोरों के पापों का फल है इत्यादि। इस प्रकार के बन्धु प्रत्यक्ष पर ही आधार रखते हैं। उन्हें पूर्वकृत कर्म पर

विश्वास नहीं है। वे नहीं सोचते कि यह दुःखपूर्ण अवस्था, वर्त्तमान सदाचार का परिणाम नहीं, किन्तु पूर्व के दुराचारों का कटु फल है। यदि हम दीर्घ दृष्टि से देखेंगे, तो हमें प्रत्यक्ष में भी इसके उदाहरण मिल सकेंगे। जैसे कि—

एक व्यक्ति को लाखों रुपयों की सपत्ति अपने पिता के वारसे में मिली। भव्य भवन और वाहनादि अनेक प्रकार के उत्तम साधन प्राप्त हुए। किन्तु उसने कुसंगति से दुराचार में पड़कर, सब बरबाद कर दिए, और वह दुखी होगया। ऐसी दुरावस्था में उसको समझ आई। वह लुटजाने, बरबाद हो जाने और कर्जदार बनजाने के बाद मार्ग पर आया। अब वह सदाचार का पालन करता है, फिर भी वह दुखी ही है। अपना व अपने बच्चों का पेट पालना भी उसके लिए कठिन है। वह परिश्रम करने को तय्यार है, फिर भी उसे नौकरी नहीं मिलती। बीमार बच्चों की दवाई की कौन कहे, तन ढकने को साबित वस्त्र का प्रबन्ध भी वह नहीं कर सकता, तब कर्जदारों का कर्जा वह कैसे चुकावे? मकान का भाड़ा कहाँ से देवे? उसकी यह दशा वर्तमान सदाचार के कारण नहीं बनी। उसकी वर्तमान दशा का कारण पूर्व का दुराचार है। यदि वह पहले दुराचारी नहीं होता, तो यह दुर्दशा नहीं होती। तीर्थङ्कर भगवान् जैसे अनंतबली को भी कर्म का कर्जा राईरत्ति चुकाना पड़ा, तो आज के क्षुद्र प्राणी किस गिनती में है?

एक व्यक्ति को अपने पडौसी से झगडा होगया। उसने क्रोधावेश में भरकर उसकी हत्या करदी। जब आवेश उतरा, तो हत्या के परिणाम की भीषणता का भान हुआ। वह भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ। विदेश में जाकर उसने प्रामाणिकता के साथ जीवन बिताया और अपनी सेवा से उसने जनता के हृदय में उच्च स्थान बना लिया। वह जनता का विश्वास पात्र बन गया। पुलिस उसकी तलाश में थी ही, पता लगते ही गिरफ्तार कर लिया। जनता सहम गई। उसने पुलिस पर 'अत्याचार' का आरोप लगाया। किन्तु हत्या का आरोप सही सिद्ध हुआ, और उसे दण्ड भोगना ही पड़ा। वास्तव में उसे कुछ वर्ष पूर्व की हुई हत्या का दण्ड अब मिलता है—बाद के सदाचार का नहीं, किन्तु भोली एवं अनसमझ जनता यह नहीं समझी।

इस प्रकार यदि वास्तविकता के अनुरूप विचार किया जाय, तो सत्य समझ में आ सकता है। कम्युनिज्म विचारधारा से प्रभावित कुछ नवशिक्षित जैन नामधारी भी धर्म और कर्मसिद्धांत के प्रति अश्रद्धालु बनकर विपरीत प्रचार करते हैं। कोई कोई मुनि नामधारी भी दुनिया के प्रपञ्च में पड़कर महल और झोंपडी को बराबर करने के चक्कर में पड़े हैं। वे यह नहीं सोचते कि जब तक जीव, कर्म पास में बँधा हुआ है, तबतक विषमता रहेगी ही। संसार की कर्म-भूमि में ऐसा कोई देश नहीं, जहाँ सभी मनुष्यों को, सभी वस्तुएँ, समानरूप से ही मिलती हों। धन के सर्वोत्तम स्वामी, अमेरिका में भी अभाव पीड़ित है, और साम्यवादी रूस में भी बहुत से दुखी हैं। इन देशों में एक को उत्तमोत्तम अनेक साधन प्राप्त हैं, तो दूसरे को बहुत ही कम मिलता है। एक सत्ताधारी है, तो दूसरा उस सत्ताधारी

द्वारा कुचला हुआ सताया और नष्ट किया हुआ है। साम्यवाद के मूल क्षेत्र में ही विचार वैभिन्न के कारण मौत के घाट उतारने के अगणित काण्ड बने हैं। श्रद्धा विहीन लोग कितने ही तर्क उपस्थित करें किंतु कर्म की करारी चोट व्यर्थ नहीं जाती। खोटे तर्क से कर्म फल अन्यथा नहीं हो जाता। जिन "कडाण कम्माण ण मुक्ख अत्थि" सिद्धांत पर विश्वास है वे आस्तिक तो समझते हैं कि किए हुए कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा। यह जो कुछ दशा सामने है यह सब जीव की अपनी खुद की करणी का फल है। ऐसा नहीं हो सकता कि किसी जीव के शुभ कर्मों का उदय हो उसे कोई दूसरा व्यक्ति मिटा सके और उसे बरबस दुःखी कर सके।

कर्म सिद्धांत का एक सुफल यह भी है कि जीव अपनी हीन दशा का कारण अपने पूर्व के दुष्कृत्य को मानकर शांति पूर्वक सहन करता है। वह किसी पर दुर्भाव नहीं लाता और वर्तमान परिणति में सुधार कर भविष्य को उज्ज्वल बनाने में प्रयत्नशील रहता है। किन्तु अश्रद्धालु लोग अपनी या दूसरों की दुर्दशा का कारण किसी अन्य को मानकर ईर्षा द्वेष और मात्सर्य को बढ़ाकर कषायों की वृद्धि करते हुए अधिक पापों का उपार्जन करते हैं। वे सम्पन्न को देखकर जलते हैं और उसे भी दुःखी अवस्था में लाने की भावना रखते हैं। उनके महल आदि उन्हें खटकते हैं। वे चाहते हैं कि इनके महल नष्ट होकर ये भी झोंपड़ी वाले बन जायें। पुण्यानुबन्धी पाप के सिद्धांत को मानने वाले ऐसी बुरी परिणति से बच सकते हैं।

कर्म सिद्धांत का श्रद्धालु सम्पन्न को सलाह देगा कि 'तुम्हें प्राप्त साधनों का सदुपयोग कर भविष्य को भी सुन्दर बनाना चाहिए। यदि सम्पत्ति के मोह में फँसे रहे तो दुर्गति हो जायगी।' और विपन्न को भी कहेगा कि भाई! घबड़ाता क्यों है! तुझे किसी दूसरे ने दुःखी नहीं किया। यह सब तेरी अपनी करणी का ही फल है। अब भी संयम और सदाचार का पालनकर धर्म का आचरणकर समय पाकर विपत्ति के बादल हट जायेंगे और तू सुखी हो जायगा। इस प्रकार वह दोनों का हितैषी है। दोनों के बीच में वैर विरोध को पनपने नहीं देता। इसके विपरीत भौतिकवादी सम्पन्नों और विपन्नों में द्वेष भाव को बढ़ाकर कर्म बन्धनों को बढ़ाने के निमित्त बन रहे हैं। समझदारों को इनसे बचना चाहिए।

पापानुबन्धी पाप

पापानुबन्धी पाप अन्तिम भेद है। 'यहाँ भी दुःखी और वहाँ भी दुःखी' ऐसे प्राणी पाप कर्म के उदय से कुत्ता बिल्ली व्याघ्र सिंहादि गति प्राप्त करके दुःखी होते हैं और हिंसादि अशुभ व्यापार में रत रहकर पुनः अनुभतर अथवा अशुभतम ऐसी नरक गति अथवा निगोद के बन्ध कर लेते हैं।

तन्दुल-मत्स्य इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जो थोडे से जीवन में ही सातवी नरक के योग्य बन्ध कर लेता है।

यद्यपि मनुष्य भव की प्राप्ति पुण्य प्रकृति के उदय के फल स्वरूप मानी गई है, तथापि मनुष्यो में भी असातावेदनीय, अन्तराय तथा नीच-गोत्र का उदय होने और तदनुसार अधमाधम दशा के कारण मनुष्य गति भी दुर्गति मे मानी गई है। अशुभ कर्मों के उदय से वैसे मनुष्य अनेक प्रकार के दुख भोगते हैं और वर्त्तमान मे जीव हत्यादि कृत्यो से, कसाई कर्म आदि से, अशुभतर पाप कर्म का अनुबध करते है, वे भी इस भेद मे गिने जा सकते है। स्थानाग सूत्र ४-३ में-"**अत्थमियत्थमिते णाम मेगे... कालेणं सोयरिये अत्थमितत्थमिते**" और "**नीए णाममेगे णीयच्छन्दे**" इत्यादि से उन दुर्विपाक एव पापानुबन्धक मनुष्यो का उल्लेख है। दरिद्रतायुक्त और कीर्ति, समृद्धि, सुलक्षण और तेज से वचित तथा हत्यादि कार्य करने वालो में 'काल' नाम के सौकरिक (वधिक) का उदाहरण दिया है। पहले से जिसकी पुण्य फल प्रदायक प्रकृतिये अस्त है, जीवन की सारी अनुकूलताएँ डूब गई है, और वर्तमान में अधिकतम डूबने की प्रवृत्तिये हो रही है, जो पूर्व के अशुभोदय के कारण वर्तमान में नीच है और पुन नीच आचरण कर रहे है, वे मनुष्य भी इस श्रेणी मे हैं।

कोई स्वतन्त्र विचारक बन्धु प्रचार करते है कि "खोटे विचार, बेईमानी तथा अधिक तृष्णा में पाप है। किसी धधे में पाप नही है। कमाई पशुवध करता है, तो मात्र आजीविका के लिए। उसके विचार खोटे नही है। वह किसी मनुष्य को धोखा नही देता, न बेईमानी करता है। शास्त्रकारो ने (विपाकसूत्र में) उन्हे नरक गामी बताया, यह ठीक नहीं है," इत्यादि। ऐसे बन्धुओ-खासकर गोपालदास जीवाभाई पटेल की दृष्टि में वधिको के धन्धे में बेईमानी, धोखादेही अथवा तृष्णा नहीं होती और न पशु वध करते समय क्रूरता ही होती है। मानो उनका हृदय कोमल-अनुकम्पा युक्त ही है। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नही है। वधिक, पशु को खरीदते समय भी कम मूल्य देने के विचार से विक्रेता के साथ छल प्रपञ्च करता है। मारने के पूर्व भी निर्दयता का व्यवहार करता है। मारते समय कठोर एव क्रूर हृदयी होता है और बाद मे भी अधिक पैसे प्राप्त करने के लिए प्रपञ्च रचता है। जहा तक हमारा अनुभव है, ऐसा कोई धन्धा नही कि जिसमें बेईमानी, धोखाबाजी या छल के लिए किञ्चित् भी अवकाश नही हो। मजदूरो मे भी ये बुराइयें होती हैं। जब कुत्ता, बिल्ली, व्याघ्रादि पशुओ में भी भक्ष्य प्राणी को मारने के लिए घात लगा कर और लुकछिप कर दबोचने की वृत्ति होती है, तो मनुष्यो में हो, उसमें शंका ही क्या है ? वधिको में तो क्रूरता की मात्रा अधिक होने से वे पाप का अनुबन्ध अधिक रूप से करते हैं।

इस प्रकार कर्म बन्ध के चार प्रकार माने गये है। जीव अपने पूर्व के उपार्जित कर्मों के अनुसार सुख दुख का अनुभव करते है और वर्त्तमान में शुभाशुभ परिणति के अनुसार भविष्य का निर्माण

तो सिद्धि लाभ कर ही ले। जिस प्रकार ऊँचे महल पर चढकर ऊँडे कुएँ मे गिरने वाले प्रशमनीय नही होते, उसी प्रकार पुण्य से स्वर्ग लाभ करके फिर नरक तिर्यञ्च के दुखो में पडने वाले पुण्यानुबन्धी पुण्य के भेद मे नही आते।

सम्यग्दृष्टि और देशविरत में पुण्यानुबन्धी पुण्य की भजना है। जिनमें मोहनीय के विशिष्ट उदय की सभावना है और इस उदय के चलते जो नरक तिर्यञ्च में जा सकते है, उनमे पुण्यानुबन्धी-पुण्य का भेद नही पाता और पापानुबन्धी पाप का भेद भी नही पाता, शेष दो भेद तो पाते है।

प्रमत्त-सयती, चारित्र परिणति के चलते वर्धमान परिणाम में निर्जरा के साथ शुभ दलिको का सञ्चय करते है। इसमें साधारण भी हो सकते है और पुण्यानुबन्धी पुण्य भी। हीयमान परिणाम से और मोहनीय कर्म के उदय से आसक्ति हो जाय अथवा निदान करले, तो पापानुबन्धी पुण्य का सचय भी कर लेते है, किन्तु इसे चारित्र परिणति नही कहते। उस समय वेश से साधु होने पर भी भाव से असाधु होते है। वास्तव में साधुता की परिणति मे अघाति कर्मों का अशुभ वन्ध नही होता। अप्रमत्त में तो पुण्यानुबन्धी पुण्य बन्धता है।

नौ प्रकार के पुण्य पाँचवे गुण स्थान तक होते है। छठे मे एक साधु, दूसरे साधु की आहार पानी आदि से सेवा करता है। वह वैयावृत्य नाम की निर्जरा कहलाती है।

प्रश्न-इच्छा पूर्वक पुण्य बन्ध किस अवस्था मे होता है?

उत्तर-सज्ञी पचेन्द्रिय अवस्था मे, प्रथम गुणस्थान से सातवे गुणस्थान तक। किन्तु क्रिया में गुणस्थानानुसार भेद होता है। सयत गुणस्थान में असयती को आहारादि दान अथवा शरीर से सेवा आदि नही होती।

असज्ञी अवस्था में तथाप्रकार की योग्यता के अभाव मे इच्छा पूर्वक पुण्य क्रिया नही होती।

प्रश्न-अनिच्छा पूर्वक पुण्यबन्ध किस अवस्था में होता है?

उत्तर-असज्ञी अवस्था मे और सवर निर्जरा की आराधना मे लगे हुए श्रमणोपासक तथा श्रमण निर्ग्रंथो को अनिच्छा पूर्वक पुण्य का बन्ध होता है।

प्रश्न-पुण्य बाधने की इच्छा और सुख भोग की इच्छा, कषाय भाव मे है या नही?

उत्तर-हाँ, कषाय भाव में है।

प्रश्न-पुण्य प्रशस्त है या अप्रशस्त है?

उत्तर-पाप की अपेक्षा पुण्य प्रशस्त है, किन्तु सवर निर्जरा रूप धर्म की अपेक्षा पुण्य अप्रशस्त है। पुण्य बन्धन रूप है, धर्म मुक्ति रूप है। इसलिए धर्म की अपेक्षा पुण्य अप्रशस्त है। आगे बहुश्रुत फरमावे वह सही है।

[३]

खादिम स्वादिम की अग्राह्यता

अशन पान खादिम और स्वादिम में से खादिम और स्वादिम यह दो प्रकार का आहार श्रमण निग्रन्थों के लिए, साधारण अवस्था में अग्राह्य है। इन्हें रोगादि प्रसंग उपस्थित होने पर ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा "पञ्चाशक" ग्रन्थ के प्रत्याख्यानाधिकार की ३२वीं गाथा से स्पष्ट होता है। यह यथार्थ है। इसका पालन अवश्य होना चाहिए। जब श्रावक भी खादिम और स्वादिम की मर्यादा करते हैं। चौदह नियम में रोज प्रत्याख्यान करते हैं तो साधु साध्वियों को तो रोगादि खास कारण के बिना लेना ही नहीं चाहिए।

जिनकी पर्याय ही अनाहारक बनने की है जो संयम पालने के लिए ही शरीर को आहार देते हैं उन्हें बादाम पिस्ता दाख काजू सुपारी इलायची लौंग आदि की आवश्यकता हो क्या है? किन्तु खेद है कि कई साधु साधारण अवस्था में लेते हैं और श्रमणोपासक उन्हें भक्ति पूर्वक देते हैं। तेरापंथी समाज में तो कोई कोई हरे फलों को भी गर्म पानी में डालकर अचित्त बनाकर देते हैं। यह सब अनुचित है। संयम से गिराने की प्रवृत्ति है। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि स्था० समाज के उपाध्याय कविरत्न पं० श्री अमरचन्दजी म० ने अपने 'श्रमणसूत्र' के पृ. ३०४ में स्पष्ट रूप से लिख दिया कि—

"संयमी साधक प्रस्तुत (स्वादिम) आहार का ग्रहण स्वाद के लिए नहीं प्रत्युत मुख की स्वच्छता के लिए करता है।

इस प्रकार लिखना कहां तक ठीक है? यह तो 'स्वादुता' को 'स्वच्छता' के नाम पर प्रोत्साहन देना है। मुख की स्वच्छता पानी से हो सकती है। स्वच्छता के नाम पर लौंग इलायची सुपारी आदि का साधुओं में प्रचलन करना तो शिथिलाचार बढ़ाना है। ऐसे विधान शिथिलाचार के पोषक हैं।

उपासक वर्ग में कई ऐसे हैं कि भक्ति में विवेक भुला देते हैं। कई पक्के फलों को साधु साध्वी को देने के लिए ही छिलकर चारें या फांकें बनाकर और बीज आदि निकाल कर तय्यार रखते हैं और साधुजी के आने पर उन्हें देते हैं। साधुजी केवल इतना पूछते हैं कि— 'सुझता है' या 'यह किस लिए बनाया?' उपासक कह देता है— 'हां महाराज! सुझता है और हमारे ही खाने के लिए बनाया है' बस छुट्टी हुई। ले लिया। वे समझते हैं—"हमने तो पूछ लिया। गृहस्थ झूठ बोले तो यह पाप उसके सिर।" किन्तु यह दम्भ है। उनके मन में भी यह विश्वास होता है कि— 'गृहस्थ झूठ बोला उसने हमारे ही लिए बनाया है।' इस प्रकार जानते हुए भी वे लेकर अपनी आत्मा को धोखा देते हैं। कोई कोई तो 'चार' सिक्रम' भी लेते हैं।

जब शास्त्रकार कहते है कि साधुओ को बिना रोगादि कारण के खादिम स्वादिम नही लेना, तब वे लेते ही क्यो है ? क्या यह आचार शिथिलता नही है ? वास्तव में यह स्वादुता है । इसके चलते वे श्रावको के असत्य को प्रोत्साहन देते है ।

श्रमणोपासक वर्ग को चाहिए कि वह सावधान रहे और शिथिलाचार को प्रोत्साहन देने के पाप बचे । वह स्वय सोचे कि दोष लगाने से, झूठ बोलने से और साधुओ से सयम की मर्यादा भग करवाने । धर्म कैसे होगा । जिस प्रवृत्ति में असत्य, कपट और मर्यादा का उल्लघन हो, वह भी क्या धर्म हो कती है ?

अनगार धर्म के पालक अनगार भगवंत की स्तुति

ऐसे निर्ग्रन्थ गुरुजी हमारे, जो आप तिरे पर तारे ॥टेर॥

अज्ञान तिमिर भर्यो घट भीतर, सो सब टारन हारे ।
मोह निवार भये जग त्यागी, स्वपर स्वरूप निहारे ॥१॥

त्रस थावर की हिंसा परिहर, अनुकम्पा रस प्यारे ।
झूठ अदत्त परिग्रह आदि, अष्टादस अघ टारे ॥२॥

नव विध वाड़ सहित ब्रह्मचारी, नारी नागन वारे ।
बाह्य आभ्यन्तर एक स्वभावे, चरण करण मग धारे ॥३॥

ध्यान धर्म को ध्यावे निशदिन, आरत रौद्र निवारे ।
आनन्द कन्द चिदानन्द सुमरे, अघ मल पंक प्रजारे ॥४॥

द्वाविंश परीषह पञ्च इन्द्रिय को, जीते सम अनगारे ।
घोर तपोधन सम दम पूरे, पण परमाद विडारे ॥५॥

श्रमण धर्म में लीन रहे नित, दिनकर धर्म उजारे ।
क्षमा दया वैराग्य समाधि, धारक तत्त्व विचारे ॥६॥

अनाचिर्ण बावन नित टाले, समिति गुप्ति दृढ़ पारे ।
नन्दसूरि रज 'सूर्य मुनि' यों, सद्गुरु सुगुण उचारे ॥७॥

श्रमण भगवान् महावीर की जय ।

अनगार भगवत की जय

निर्ग्रन्थ धर्म की जय।